भारत-निर्माता

भारतीय संस्कृति और राष्ट्र के निर्माण में योग देनेवाले
प्रतिनिधि महामानवों की गौरव-प्रशस्ति

भाग-२
[आधुनिक युग]

लेखक
कृष्णवल्लभ द्विवेदी
संपादक, 'हिन्दी विश्व-भारती'

प्रकाशक
हिन्दी विश्व-भारती कार्यालय
चारबाग़, लखनऊ

चित्रकार

श्री पन्नालाल

[आवरण-पृष्ठ का चित्र श्री वीरेश्वर सेन द्वारा]

प्रथम संस्करण

मार्च, १९४९ ई०

मूल्य
पंद्रह रुपए

प्रकाशक

श्री राजराजेश्वरप्रसाद भार्गव

हिन्दी विश्व-भारती कार्यालय,

चारबाग़, लखनऊ

श्री० भृगुराज भार्गव द्वारा 'भार्गव-प्रिंटिंग-वर्क्स, लखनऊ, में मुद्रित

विनु

की याद में

जो एक बीते हुए मधुर स्वप्न की याद है

विषय-क्रम

वक्तव्य

'महापुरुषों की चरितावली ही इतिहास है'—उन्नीसवीं सदी के प्रख्यात पाश्चात्य लेखक और विचारक टॉमस कार्लाइल द्वारा प्रस्तुत इतिहास की परिभाषा-विषयक यह प्रसिद्ध उक्ति आधुनिक वैज्ञानिक पैमाने से नापने-जोखने पर यद्यपि सर्वथा उपयुक्त और सर्वमान्य प्रमाणित न हो पाएगी, फिर भी इस ध्रुव-सत्य का पुट तो उसमें निहित है ही कि 'जिस राह से महान् पुरुष जा चुके हैं, वही यथार्थ मार्ग है !' वस्तुतः ऋषि-पत्नी मैत्रेयी के उस अमर संप्रश्न—'येनाहं नामृतास्यां तेनाहं किं कुर्याम्' (अर्थात् जिससे अमरत्व की प्राप्ति न हो उसे लेकर मैं क्या करूँ)—के अनुसार ऐसे इतिहास को लेकर हम करें भी क्या, जोकि हमें ऊँचा उठाने में समर्थ न हो; जो असत्य से सत्य, अंधकार से ज्योति और मृत्यु से अमृत-तत्त्व की ओर हमें ले जाने में योग न दे सके ? अतः यह अनिवार्य-सा हो जाता है कि अपने अब तक के संचित इतिवृत्त को उन उज्ज्वल प्रकाशपुञ्ज चरित्रों के आलोक ही में हम देखें-परखें, जोकि हमारी प्रगति की पगडंडी के आसपास के दीपस्तंभ हैं ! यही है इस पुस्तक के सर्जन की पृष्ठभूमि में काम करनेवाली मुख्य प्रेरणा और यही है इसकी रचना की मूल भित्ति !

किन्तु दुर्भाग्य की बात है कि इस महादेश की संस्कृति की आधार-शिला के संस्थापक अनेक पुरातन लोकनायक आज के इतिहास-समीक्षकों की दृष्टि में केवल कपोलकल्पित पौराणिक गढ़न मात्र हैं—उनकी कोई ऐतिहासिक सत्ता इन पंडितों द्वारा स्वीकार नहीं की जाती ! इसका कारण हैं उनके नाम के चारों ओर लिपटी हुई वे अनेक भावनाप्रधान अतिमानवीय गाथाएँ, जिनसे कि बहककर सहज ही आधुनिक इतिहासवेत्ता उनके अस्तित्व ही को शंका-दृष्टि से देखने लगते हैं ! उदाहरणार्थ मनु ही को लीजिए अथवा वाल्मीकि, व्यास, श्रीकृष्ण, आदि के संबंध ही में देखिए ! भला कितने समीक्षक ऐसे न होंगे, जो उनकी ऐतिहासिकता के विषय में कुछ-न-कुछ मीन-मेख न निकालते हों ? सच तो यह है कि इन पंडितों को मान्य हैं केवल खँडहरों से प्राप्त मिट्टी के ठीकरों के स्थूल प्रमाण ही—उन्हें परितुष्ट करने के लिए चाहिए केवल हड़प्पा या मोहेंजोदड़ो के कंकड़-पत्थर ही; युग-युग की पैतृक निधि के रूप में प्राप्त अनुश्रुति की जीती-जागती परंपरा नहीं ! कैसे समझाएँ उन्हें कि मनुष्य-जाति के प्रभात-युग का सारा इतिहास उन रहस्यमयी अतिरंजित गाथाओं और पौराणिक अनुश्रुतियों ही में लिखा हुआ है, जो संसार की सभी प्राचीन जातियों के पैतृक कोषों में यत्नपूर्वक संचित हैं ? ये ही मानव की आत्मकहानी की वे बिखरी हुई पंक्तियाँ हैं, जिन्हें बटोरकर पहुँच से परे के युगों की बहुत-कुछ सही झाँकी देख पाने में हम सफल हो सकते हैं ! माना कि वे आदि से अंत तक भावों के ही रंग में रँगी हुई हैं—भावना ही उनकी भित्ति है, शुष्क ऐतिहासिक तथ्य नहीं ! किन्तु इसीलिए तो वे हैं और भी अधिक मूल्यवान् ! कारण, यदि मानव की आत्मकथा में से भावों का पुट संपूर्णतया हटा दिया जाय तो जो कुछ बचेगा उसका महत्व ही क्या होगा ? क्या वाल्मीकि और व्यास जैसे मनीषि आज के इतिहासकारों की कसौटी पर पूरे उतरनेवाले अपने युग के तिथिपत्र नहीं बना सकते थे ? किन्तु यदि वे ऐसा करते तो उन 'रोज़नामचों' का क्या उतना ही मूल्य होता, जितना 'रामायण' और 'महाभारत' का ? इतिहास के पंडित हमें क्षमा करें, किन्तु हमारी यह ध्रुव मान्यता है कि युग-युग से आकुल मानव को अपनी बात कहने के लिए अंतस्तल की उर्मियों की अभिव्यक्ति का यदि एकमात्र सफल साधन कोई दिखाई दिया है तो वह भावों ही का साधन रहा है—इन्हीं की डोर पकड़कर वह लिख सका है शिल्प, साहित्य, संगीत, कला और काव्य के रूप में अपनी और अपने युग की सच्ची कहानी ! यह तथ्य प्राचीन भारतीय मनीषियों के ललाट पर स्पष्टतः अंकित था, तभी तो उन्होंने जो इतिहास रचे वे रामायण, महाभारत और पुराणों के रूप में सामने आए, जिन्हें एक साथ ही काव्य, इतिहास, धर्मशास्त्र और गाथाओं के भाण्डार की संज्ञा हम प्रदान कर सकते हैं !

अतः विनम्रतापूर्वक हम यह स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि चाहे इतिहास के पंडितों का आशीर्वाद हमें प्राप्त हो सके या न हो सके, हमने इस महादेश की संस्कृति और राष्ट्रीयता के निर्माण में भाग लेनेवाली प्रमुख विभूतियों की इस लघु प्रशस्ति को, साथ में दिए गए रेखा-चित्रों की भाँति, प्रस्तुत किया है मुख्यतया एक भाव-चित्रपट के रूप में ही—वह है मूलतः एक भावना-प्रधान आलेख और यदि यहाँ-वहाँ बीच-बीच में ऐतिहासिक विवरण या तिथिपत्र के-से आँकड़ों का भी पुट उसमें आता गया है तो केवल प्रसंगवश और गौण रूप में ही ! साथ ही इस बात का भी खुलासा कर देना हम आवश्यक समझते हैं कि इस कृति के सर्वाङ्गसम्पूर्ण होने का दावा हम कदापि नहीं करते, कारण रत्नगर्भा भारतभूमि वस्तुतः इतने अधिक महापुरुषों

की जननी है कि इस पुस्तक के परिमित कलेवर में उन सबकी आरती उतारना कठिन ही नहीं असंभवप्राय है! वास्तव में यहाँ तो हमने एक लघु प्रयास किया है केवल प्रत्येक युग के उन विशिष्ट प्रतिनिधि महामनीषियों ही का परिचयात्मक चित्र प्रस्तुत करने का, जोकि हमारी मातृभूमि की रत्नजटित जयमाला के प्रधान मनके हैं! उदाहरण के लिए, साहित्य-क्षेत्र के स्वर्णकलश के रूप में प्राचीन युग में, वाल्मीकि और व्यास के बाद, जहाँ हमने केवल महाकवि कालिदास ही की अर्चना करके वाङ्मय के क्षेत्र की लगभग एक सहस्राब्दिव्यापी विशद साधना की वेदी पर श्रद्धापुष्प चढ़ाए हैं, वहाँ आधुनिक काल के साहित्य-सुमेरु के रूप में हमें संतोष कर लेना पड़ा है केवल कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ ही की नीराजना करके—यद्यपि इस तथ्य को क्योंकर हम भुला सकते हैं कि जिस प्रकार प्राचीन युग ने कालिदास के अतिरिक्त भवभूति, माघ, हर्ष, भारवि, बाणभट्ट, प्रभृति और भी अनेक दिग्गजों की भेंट हमें दी, उसी तरह आधुनिक काल में भी रवीन्द्रनाथ के अतिरिक्त बंकिम, शरदचन्द्र, प्रेमचन्द, आप्टे, गडकरी, नानालाल, खबरदार, प्रसाद, मैथिलीशरण, सुब्रह्मण्य भारती, आदि-आदि और भी अनेक नक्षत्र बँगला, हिन्दी, मराठी, गुजराती, तामील आदि की साहित्य-कक्षाओं में जगमगाए, जिन पर हमें सदैव गर्व रहेगा! इसी प्रकार धर्म और अध्यात्म के क्षेत्र के नरसी मेहता, दादूदयाल, तुकाराम, जैसे अन्य कई संत महापुरुषों, विज्ञान के आँगन के चंद्रशेखर व्यंकट रामन, प्रफुल्लचन्द्र राय, रामानुजन्, आदि अन्य कई जगमगाते सितारों तथा राजनीति के क्षेत्र के चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य, अबुल क़लाम आज़ाद, अब्दुल ग़फ़्फ़ार ख़ाँ, जयप्रकाशनारायण जैसे अन्य अनेक प्रथम कोटि के जननायकों के भी परिचय देने में हम यहाँ असमर्थ रहे हैं, जिसका यह अर्थ कदापि नहीं कि हम उनकी महत्ता का किसी भी अंश में कम मूल्य आँकते हों! वास्तव में, स्थान की कमी ने ही हमें बाध्य किया है केवल कुछ चुने हुए व्यक्तित्वों का चित्र यहाँ प्रस्तुत करने के लिए!

इस ग्रंथ को प्रकाशन की सुविधा के लिए दो भागों में विभक्त कर दिया गया है। प्रथम भाग में, जोकि वर्षों पहले निकल चुका था तथा जिसकी दूसरी आवृत्ति अब छापी गई है, प्राचीन और मध्यकालीन युग की विशिष्ट विभूतियों का परिचय है; दूसरे भाग में, इस महादेश के निर्माण-यज्ञ में हाथ बँटानेवाले मुख्य-मुख्य आधुनिक मनीषियों की गौरव-प्रशस्ति प्रस्तुत की गई है। इन दोनों भागों के प्रकाशन की तिथियों में जो कालान्तर हुआ है, उसका प्रमुख कारण रहा है समय पर काग़ज़ का न मिलना, जो कि युद्धोत्तरकाल के इस संकटापन्न युग में प्रकाशकों के लिए एक विषम समस्या बन गई है। इसी बेबसी के कारण प्रथम भाग के परिचय-चित्र द्वितीय की तुलना में अति संक्षेप में लिखे गए हैं। इस प्रकाशन को मूर्त्त रूप देने के लिए सबसे अधिक धन्यवाद के पात्र हैं 'हिन्दी विश्व-भारती कार्यालय' के संचालक श्री० राजराजेश्वरप्रसाद भार्गव! साथ ही उदीयमान चित्रकार श्री० पन्नालाल का भी उल्लेख किए बिना मैं नहीं रह सकता, जिनके परिश्रम से पुस्तक को यह कलापूर्ण रूप मिल सका है। चित्रों में से अधिकतर प्रामाणिक फ़ोटो, प्राचीन चित्रों, मुद्राओं अथवा मूर्त्तियों के आधार पर ही बनाए गए हैं, किंतु जहाँ कोई भी आधार न मिला, वहाँ विवश हो कल्पना ही का सहारा लिया गया है।

अंत में सुज्ञ पाठकों से दो शब्द मुझे कहना है इस संबंध में भी कि इस छोटी-सी भेंट को वे केवल कुछ महापुरुषों के तितर-बितर जीवन-परिचयात्मक चित्रों के संकलन के रूप में ही न ग्रहण कर उन्हें एक ही डोर में पिरोनेवाली उस संस्कृति के एक क्रमबद्ध चित्रपट के रूप में ही अपनाएँ, जिसका कि गौरव-वर्णन वस्तुतः इसका मूल उद्देश्य है! मेरी यह दृढ़ भावना है कि भारत की युग-युगान्तव्यापी बहुमुखी साधना में जिस प्रकार एकता का एक शाश्वत भाव पिरोया हुआ है, उसके महान् साधकों की विविधस्वरयुक्त वाणी और कृतियों में भी उसी प्रकार एक विशिष्ट धारा-प्रवाह है। अतएव जिसे हम 'भारतीय संस्कृति' कहकर पुकारते हैं उसके निर्माण और विकास के महान् यज्ञ में मनु, वाल्मीकि, व्यास, श्रीकृष्ण और याज्ञवल्क्य आदि से लेकर रामकृष्ण, गांधी, अरविंद घोष, रवीन्द्रनाथ और जगदीशचन्द्र वसु तक सभी का हाथ है। महापुरुषों की इस परंपरा को ही हमारे जातीय मंदिर में ज्ञान और जीवन की अमर ज्योति शत-शत युगों से प्रज्वलित रखने का श्रेय प्राप्त है। वही हमारी जाति के दीर्घ आयु-सूत्र की रक्षक है! मैं अपना यह लघु प्रयास सार्थक समझूँगा, यदि इस पुस्तक से मेरे देशवासियों के मन में अपने पूर्वजों और उनसे प्राप्त पैतृक निधि का परिचय पाने की जिज्ञासा भर जाय!

महाशिवरात्रि, सं० २००५ वि०
चारबाग़, लखनऊ

कृष्णवल्लभ द्विवेदी

*

राममोहनराय

अब हम अपनी लंबी कहानी के उस महत्त्वपूर्ण मोड़ पर आ पहुँचे हैं, जहाँ उसका पूर्वार्द्ध समाप्त हो जाता है—हम अपनी मातृभूमि की इस गौरव-गाथा के प्राचीन और मध्य-कालीन महासर्ग का सीमान्त लाँघकर अब आ खड़े हुए हैं अपने आज के ही युग-द्वार पर! तो फिर आइए, अतीत से विदा हो अब वर्त्तमान ही की ओर डग भरने की तैयारी करें।

हमने प्रागैतिहासिकता की धुँधली पृष्ठभूमि से आरंभ कर लगभग आठ हज़ार वर्ष के दीर्घ अंचल में पसरी हुई इस देश की सांस्कृतिक विकास-धारा का दिग्दर्शन पिछले प्रकरणों में किया है, और हम यह देखकर चकित हैं कि रह-रहकर हमारे राष्ट्रीय जीवन में चढ़ाव के बाद उतार और वसन्त के बाद पतझड़ का चक्र विघूर्णित होता रहा है, किन्तु उसके कारण न तो हमारी प्राण-वाही संस्कृति के इस अक्षुण्ण धाराप्रवाह का ही ताँता कभी टूटते पाया गया है, न इस पुण्यभूमि की अन्तरात्मा के मौलिक स्वरूप ही में कोई विषम अंतर पड़ते दिखाई दिया है! सच तो यह है कि बाहरी या भीतरी किसी भी प्रकार के व्यतीपातों के फलस्वरूप जब कभी भी इस महादेश के आँगन में संकट की घड़ी आ खड़ी होती है, तब सदैव ही हमारी राष्ट्र-शक्ति की सोई हुई कुण्डलिनी किसी संचित पुण्य के प्रभाव से बिजली की तरह तड़पकर जाग उठती है और कभी वाल्मीकि, व्यास, बुद्ध और शंकर जैसे महान् शिक्षकों के रूप में प्रकट होकर तो कभी मनु, राम, कृष्ण, अशोक, विक्रम और शिवाजी जैसे कर्मयोगी लोक-नायकों का स्वरूप धारण कर वह हमें उस आड़े समय में फिर से सजग और सशक्त बना जाती है! अपने आज के युग में प्रवेश करने पर भी हम इसी ऐतिहासिक सत्य की पुनरावृत्ति होते देखते हैं। कौन नहीं जानता कि अठारहवीं शताब्दी के उस धूमिल संध्याकाल में बीते युग की संधि-रेखा को लाँघकर जब हमने पहले-पहल वर्त्तमान की ओर पैर बढ़ाया था, हम किस प्रकार अपनी प्राणशक्ति का संतुलन खोकर एक जरा-ग्रस्त रोगाक्रान्त व्यक्ति की भाँति निश्चेष्ट भाव से परिस्थिति के ढलुवा मार्ग पर लुढ़कने लगे थे—हमारे पैर लड़खड़ा रहे थे और हमारी शक्ति के तार ढीले पड़ गए थे! हमारी राज्यश्री तो श्रीहत हो ही चुकी
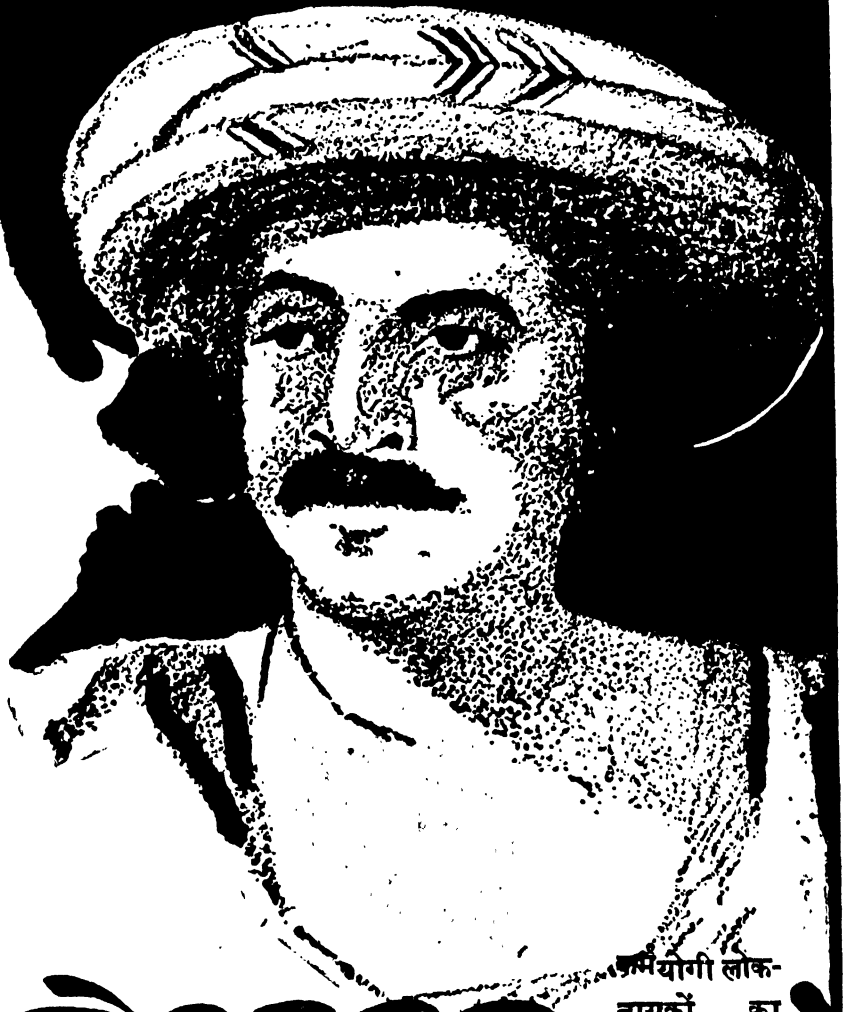
थी, साथ ही धर्म और समाज के क्षेत्र में भी हम अन्धरूढ़ियों की ज़ंजीरों में अपने आपको जकड़कर केवल भूतकाल ही की ओर टकटकी बाँधे खड़े थे। हमारी वह साहित्य-वाटिका, जिसने कुछ ही समय पहले 'रामचरितमानस' जैसा पुष्प प्रदान किया था, वीरान पड़ी थी, और हमारी वह कला की खान भी, जो अभी-अभी तक ताजमहल जैसे रत्नों को उपजाती रही, मानों बाँझ हो चली थी! हम हतप्रभ थे और एक नवागन्तुक आक्रमणकारी के हाथ न केवल अपना घर-आँगन ही गँवा बैठे थे, बल्कि उसकी भौतिक चमक-दमक से चौंधिया-कर अपने व्यक्तित्व का भी भान भूलते चले जा रहे थे! निस्संदेह हमारे लिए वह एक विषम संकट की घड़ी थी!

किन्तु यह सब कुछ था फिर भी क्या, हमारे राष्ट्र के मूल तने में तो अब भी उस प्राणदा संस्कृति का अमोघ जीवन-रस प्रवाहित हो रहा था, जो समय पाकर पुनः उसे हरा-भरा बना सकता था--केवल हमारे पुण्य-संस्कारों के फिर से एक बार ज़ोर करने भर की देर थी। कहने की आवश्यकता नहीं कि शीघ्र ही वह नवजागरण का समय भी आया और इस देश के आँगन में फिर से पुनरुज्जीवन का एक ज्वार-सा उमड़ पड़ा। पहले केवल धर्म और समाज के ही क्षेत्र में नवचेतना की वह लहर उच्छ्वसित हुई। तब हमारी राष्ट्र-वीणा के अन्य तार भी झनझनाए और राममोहन-राय, दयानन्द, रामकृष्ण, विवेकानन्द आदि की युगवाणी के बाद दादाभाई, तिलक, गोखले, लाज-पतराय और गांधी आदि के नवसंदेश का भी स्वर हिमालय से कन्याकुमारी तक गूँज उठा! साथ ही रवीन्द्र और अरविन्द के आर्षमंत्र उद्-घोषित हुए और जवाहर तथा सुभाष जैसे अन्यतम राष्ट्रीय कुसुम खिल उठे! इस प्रकार आरंभ हुआ नूतन उमंगों की विद्युत्चेतना से उल्लसित-ऊर्जित इस पुरातन राष्ट्र के पुनरुत्थान का वह महान् अनुष्ठान, जिसने हमारे इतिहास के एक नवीन पर्व का उद्घाटन कर दिया। यह सच है कि अभी हमारे राष्ट्रोद्यान में इस नववसन्त का सुप्रभात पूरी तरह नहीं निखर पाया है—अब भी हमारे क्षितिज पर अनेक काली घटाएँ अवशिष्ट हैं। किन्तु उषःकाल की इस आरंभिक अरुणिमा के बाद निश्चय ही मध्याह्न की प्रखर किरणें भी प्रस्फु-टित होंगी ही! क्या हमारे दिन पर दिन उमड़ते हुए सर्वतोमुखी जीवन-ज्वार की ऊर्मियाँ उस उज्ज्वल भविष्य ही की पूर्व-सूचना नहीं हैं?

जिस महान् व्यक्ति का परिचय अब हम पाने जा रहे हैं, वह था हमारे इस पुनर्जागरण का पहला अग्रदूत! न केवल इसलिए ही कि कालक्रम में वह आधुनिक युग के हमारे सभी राष्ट्र-निर्माताओं से पहले अवतीर्ण हुआ, बल्कि अपने प्रखर व्यक्तित्व, असाधारण चरित्र और युगान्तरकारी विचारों के कारण भी आज के इतिहास के पन्ने उलटते समय सबसे पहले वही हमारा ध्यान आकर्षित करता है। वही हमारी वर्त्तमान पीढ़ी का पहला शिक्षागुरु और आज की जागृति का आध्यात्मिक पिता है। उसके ही हाथों हमें पहले-पहल इस नए युग की कुञ्जी मिली। उसने हमारी प्रसुप्त चेतना के स्वर जगाकर फिर से हमें स्वतन्त्रतापूर्वक विचारने, विचरने और कार्य करने की सीख दी। साथ ही भुलाए हुए तहखानों में से प्राचीन ज्ञान-निधि को उबारकर फिर से हमारे मन में आत्मसम्मान का भाव जागरूक करने में भी उसने प्रखर योग दिया। हमारे सभी महान् युगस्रष्टाओं की भाँति वह भी समन्वय और एकता का संदेश लेकर आया था। उसके मन में कट्टरपंथियों की-सी विचार संकीर्णता का लवलेश भी न था। उसका तो कहना था कि सारी मानव-जाति एक ही परम पिता के अधीन एक विशद परिवार के समान है और संसार के सभी महान् धर्म उसी एक परमात्मा की उपासना का निर्देश करते हैं। अपनी इस सार्वभौम उदार विचारधारा में वह बहुत-कुछ हमारे उपनिषद्-कालीन तत्त्वचिन्तकों और मध्ययुग के संतों के समकक्ष था और उन्हीं की भाँति एकेश्वरवाद की भित्ति पर प्रस्थापित एक उदार विश्व-धर्म का स्वप्न उसने अपनी आँखों में बसा रक्खा था। यद्यपि अन्य अनेक स्वप्न-द्रष्टाओं की तरह उसका भी यह सपना एक सीमा तक ही साकार बनकर रह गया-- उसकी चरम सिद्धि न हो पाई, फिर भी इस देश को जो युग-दान वह दे गया, उसका प्रकाश चिर-काल तक हमारे इतिहास को आलोकित करता

रहेगा, इसमें किसे संदेह हो सकता है? निश्चय ही जब कभी भी हमारी मातृभूमि की आत्मकथा के आधुनिक पर्व का प्रथम पृष्ठ खोलकर देखा जायगा, वहाँ पहली पंक्ति में सदैव उज्ज्वल अक्षरों में अंकित दिखाई देगा इस महान् युगस्रष्टा ही का नाम 'राममोहनराय !'

अठारहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्धकाल—आज से लगभग पौने दो सौ वर्ष पूर्व का युग ! भारत में अंग्रेज़ी साम्राज्य की नींव पड़ चुकी थी और पश्चिम की राजनीतिक सत्ता की प्रस्थापना के साथ-साथ उसकी संस्कृति की भी आँधी आकर इस देश के कलेवर को पहले-पहल झकझोरने लगी थी। हम अपने उतार की निम्नतम अवस्था में थे और हमारे नवसृजन की शक्ति एकदम शिथिल और निश्चेष्ट-सी पड़ी थी। हम एक अभूतपूर्व सांस्कृतिक संकट की चिन्ताजनक दशा में से गुज़र रहे थे—यदि एक ओर हमारा कट्टरपंथी जनवर्ग केवल धार्मिक कूपमण्डूकता और अंध कुरीतियों के साथ चिपके रहने ही में जीवन की सार्थकता समझकर किसी भी प्रकार के पुनर्संस्कार को स्वीकार न करने पर तुला बैठा था, तो दूसरी ओर क्रमशः ऐसा एक वर्ग भी हमारे समाज में पैदा होने लगा था, जो अपनी निजी संस्कृति को हेय मानकर प्रत्येक बात में पश्चिम ही की ओर सतृष्ण नेत्रों से निहारने और उसी के रंग के अनुसार अपना रंग बदलने की ओर प्रवृत्त हो रहा था। इसी अंधकारपूर्ण वातावरण की डावाँडोल स्थिति में बंगाल के एक छोटे-से गाँव राधानगर के एक ब्राह्मण ज़मींदार, रामकान्तराय, के घर २२ मई सन् १७७२ ई० (अथवा किसी-किसी के मतानुसार १७७४ ई०) के दिन हमारे चरितनायक राममोहनराय का जन्म हुआ।

उन दिनों का बंगाल क्या था, मानों विविध बेमेल संस्कृतियों के घालमेल का एक अजीब नमूना था, जिसका सबसे बढ़िया उदाहरण वहाँ के विभिन्न वर्गों पर अपना-अपना सिक्का जमाए बैठी उन विविध भाषाओं की कशमकश में पाया जा सकता था, जो वहाँ प्रचलित हो रही थीं। अभी-अभी वहाँ मुस्लिम नवाबी का अंत और अंग्रेज़ी सत्ता का दबदबा स्थापित हुआ था, अतएव जहाँ नवागन्तुक गोरे शासकों के निकट संसर्ग में आनेवाले कुछ लोग अंग्रेज़ी बोली से ही काम लेने लगे थे, वहाँ शासन-तंत्र के अधिकांश क्षेत्र में फ़ारसी-अरबी का ही आधिपत्य था—वहाँ अब भी मानों नवाबी ही का ज़माना बना हुआ था ! इसी तरह जब कि जनसाधारण में प्रान्तीय बोली बँगला का ही प्रचलन था, वहाँ धर्म और पाण्डित्य के क्षेत्र में अब भी संस्कृत ही का प्रभुत्व प्रस्थापित था, जिसमें कि सारा हिन्दू धार्मिक साहित्य सुरक्षित है ! दैवयोग से हमारे चरितनायक का जन्म एक ऐसे परिवार में हुआ, जिसमें पिछली पाँच पीढ़ियों से लगातार राजकीय संपर्क रहने के कारण फ़ारसी-अरबी ही का बोलबाला था। अतएव अपने कुटुंब के वायुमंडल के अनुसार उनकी आरंभिक शिक्षा मातृभाषा बँगला के अलावा इन्हीं दो भाषाओं की छत्रछाया में हुई। वह बचपन से ही एक मौलवी के अधीन पढ़ने के लिए रक्खे गए और जब उसके हाथ से छूटे तो उच्च शिक्षा के लिए पटना भेज दिए गए, जो उन दिनों फ़ारसी-अरबी का एक प्रमुख शिक्षा-केन्द्र था। किन्तु जहाँ पितृपक्ष की ओर से उन्हें इस प्रकार मौलवियों के मक़तबों में बैठने को मिला, वहाँ मातृपक्ष की बदौलत सौभाग्य से संस्कृत का भी अध्ययन करने का उन्हें समुचित अवसर मिलता रहा, कारण उनकी माता तारिणी देवी एक ऐसे कुल से आई थीं, जहाँ ब्राह्मणोचित धर्म-कर्म और पूजा-पाठ की परंपरा जारी रहने के फलस्वरूप अब भी संस्कृत-विद्या के पठन-पाठन की परिपाटी प्रचलित थी। इसी दोहरे प्रभाव के कारण पटना में फ़ारसी-अरबी के काव्य, साहित्य, दर्शन और इस्लामी धर्मशास्त्र का अध्ययन कर चुकने पर दो-ढाई वर्ष तक संस्कृत के महान् केन्द्र काशी में विद्याभ्यास कर उन्होंने वेद, उपनिषद्, वेदान्त आदि का भी मनोयोगपूर्वक अनुशीलन किया। इस बहुमुखी शिक्षा का एक सुफल यह हुआ कि आरंभ ही से उनका दृष्टिकोण बहुत ही सन्तुलित और विशद बन गया और सूफ़ी रहस्यवाद तथा औपनिषदिक तत्त्वज्ञान की गहराई में पैठकर वह उस परम सत्य की झाँकी पा गए, जिसे जान लेने पर फिर विविध मत-मतान्तरों का बाह्याडंबर एक थोथा ढकोसला-सा प्रतीत होने लगता है !

अतः जब पढ़-लिखकर वह वापस घर आए तो अपने

इस प्रगतिशील दृष्टिकोण के कारण स्वभावतः ही उन्हें अपने परिवार और समाज में उग्र रूप से प्रचलित धार्मिक रूढ़िवाद, बहुदेवोपासना तथा मूर्त्तिपूजा आदि बातें बेहद खटकने लगीं और इनकी पग-पग पर प्रखर आलोचना करते हुए उन्होंने अपने प्राचीन धर्म-ग्रंथों के अनुसार खुल-कर यह उद्घोषित करना आरंभ किया कि धर्म का वास्तविक स्वरूप केवल एक ही अनिर्वचनीय अद्वितीय परमात्मा के अमूर्त्त रूप की आराधना करना ही है, बाक़ी सब निरा संप्रदायवादियों का जंजाल है! ज़रा सोचिए तो कि जो व्यक्ति केवल पंद्रह-सोलह वर्ष की अल्पायु ही में इस प्रकार धर्म के जटिल प्रश्न पर एक रूढ़िवादी कट्टर समाज की उग्र आलोचना करने और उसे एक नया पाठ पढ़ाने का साहस दिखा सकता हो, उसमें प्रतिभा और विचार-स्वातंत्र्य के क्या-क्या बीज न छिपे होंगे? साथ ही अपने इन विद्रोही विचारों के मूल्य के रूप में उसे उस समाज के हाथों क्या-क्या दंड भी न भुगतना पड़ा होगा? हमें राममोहन के उन दिनों के जीवन-संग्राम का अधिक हाल उप-लब्ध नहीं है, फिर भी इतना हम जानते हैं कि अपने इन उग्र विचारों के कारण उन्हें अंत में एक दिन अपना घर-द्वार तक छोड़ देने को विवश हो जाना पड़ा—उनकी न केवल समाज ही से बल्कि स्वयं अपने परिवार ही से न पट सकी! वह लग-भग चार वर्ष तक यहाँ से वहाँ भटकते हुए देश-विदेश की खाक छानते रहे और ज्ञानार्जन की चिर-पिपासा से प्रेरित हो इन्हीं दिनों हिमालय की बर्फ़ीली श्रेणियों को लाँघ तिब्बत के वर्जित प्रदेश का भी एक चक्कर लगा आए! वहाँ बौद्ध मत के प्रचलित विकृत रूप के संबंध में उनकी कटु आलो-चना और एकेश्वरवाद के उनके सिद्धान्त से कुछ धर्मान्ध लामा पुरोहित इतने अधिक चिढ़ गए कि वे उनकी जान लेने पर ही उतारू हो गए! कहते हैं, बड़ी कठिनाई से कुछ दयालु स्त्रियों की सहायता द्वारा अपने प्राण बचाकर वह वहाँ से भाग पाए और लौटकर स्वदेश वापस आए!

इस बीच पिता रामकान्तराय ने स्थान-स्थान में हरकारे भेजकर अपने इस विद्रोही पुत्र की गहरी खोज करवाई और जब उन्हें उसका पता लगा तो बड़े आग्रहपूर्वक वापस घर बुलाकर उन्होंने फिर से उसे गले लगा लिया। साथ ही यह सोचकर कि संभवतः गृहस्थी के मायाजाल में उलझकर वह अपनी उन विद्रोही भावनाओं को सदा के लिए छोड़ दे, उन्होंने उसका विवाह भी कर दिया। परन्तु युवक राममोहन के मन में जो क्रान्तिमूलक सुधारवादी प्रवृत्ति जड़ जमा चुकी थी, वह यों सहज ही में उखड़नेवाली न थी। वह हिन्दू जाति का पूर्णतया पुनर्संस्कार कर उसे फिर से अपने प्राचीन आदर्श तक ऊँचा उठाने का स्वप्न मन ही मन देख रहे थे। अतएव ज्योंही अवसर मिला, वह फिर से अपनी पुरानी आवाज़ बुलन्द करते हुए समाज के मैदान में उतर पड़े। लोहे की चोट लोहे पर बजी और पुनः उनके शत्रु कट्टरपंथियों ने उन्हें घर से निकलवाकर ही दम लिया! साथ ही इस बार भाग्य ने एक और भी बला उनके सिर मढ़ दी—उनके उसी वर्ष एक पुत्र भी पैदा हो गया, जिसके कारण अपने साथ-साथ परिवार के भरण-पोषण की भी चिन्ता अब उनके सामने आ खड़ी हुई। किन्तु राममोहन इन सब आपदाओं से विच-लित होनेवाले जीव न थे। उन्होंने इस निर्वासन-काल में भी ज्यों-त्यों अपना संग्राम जारी रक्खा और इन्हीं दिनों मुर्शिदाबाद से अपनी वह प्रसिद्ध फ़ारसी पुस्तिका—'तुहफ़तुलमुवहिद्दीन' (अथवा एकेश्वरवादियों को एक उपहार)—प्रकाशित की, जो उनकी अब तक प्राप्त कृतियों में सबसे प्रारंभिक मानी जाती है। इस छोटी-सी रचना द्वारा हमें राममोहनराय के धर्म-विषयक दृष्टिकोण तथा उनकी एकेश्वरवादी प्रस्थापना का बहुत-कुछ आभास मिल जाता है। साथ ही उसमें हमें उनके गहन पांडित्य, अकाट्य तर्क और सुलझे हुए मस्तिष्क की भी काफ़ी झलक देखने को मिल सकती है। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस पुस्तक के प्रका-शन के बाद से उनके और कट्टरपंथी समाज के बीच की खाई और भी अधिक चौड़ी हो चली। परन्तु साथ ही साथ इस देश की उगती हुई नई पीढ़ी पर क्रमशः उनका प्रभाव भी पड़ने लगा और अनेक सच्चे ज्ञानपिपासुओं का ध्यान उनके विचारों की ओर गहराई के साथ आकृष्ट होने लगा।

इसके कुछ ही समय बाद अपनी आर्थिक उल-

झनों से छुटकारा पाने के उद्देश्य से राममोहन ने ईस्ट इंडिया कंपनी के अधीन रंगपुर की कलक्टरी में नौकरी कर ली और शीघ्र ही अपनी प्रतिभा के बल से वह एक साधारण क्लर्क की स्थिति से उठकर ज़िले की दीवानगीरी के ऊँचे पद तक पहुँच गए। इस बीच अंग्रेज़ी के साथ-साथ लैटिन, ग्रीक और हीब्रू भाषा की भी जानकारी पाकर उन्होंने ईसाई धर्म का गहन अध्ययन करना आरंभ किया, साथ ही जैन-मत और तंत्र-संप्रदाय के प्रमुख ग्रंथों के अनुशीलन की ओर भी अपना हाथ बढ़ाया। इसके अतिरिक्त पंडितों से मिलकर रात-दिन धर्म के विभिन्न पहलुओं पर शास्त्रार्थ करने, अपने विचारों के प्रतिपादन के लिए बँगला और फ़ारसी में छोटी-छोटी पुस्तिकाएँ लिखने तथा वेदान्त-विषयक संस्कृत-ग्रंथों के पठनीय महत्त्वपूर्ण अंशों का अनुवाद प्रस्तुत करने का भी उनका कार्यक्रम लगातार जारी था। इस प्रकार जब सभी धर्मों और मत-मतान्तरों की विचारधाराओं के समुचित ज्ञान तथा अपने शेष जीवन को आर्थिक कठिनाइयों से मुक्त रखने के लिए आवश्यक संपत्ति से वह सुसज्जित हो लिये, तब निश्चिन्त होकर अपना सारा समय लोकहित और जीवनादर्श की सिद्धि में ही लगाने के उद्देश्य से उन्होंने चालीस वर्ष की आयु में अपने उस उच्च सरकारी पद से त्यागपत्र दे दिया! यह एक उल्लेखनीय बात है कि इस अवकाश-ग्रहण के बाद भी राममोहन ने पुनः अपने पैतृक गाँव ही में जाकर रहने का निश्चय किया, जहाँ उनके पिता तो अब नहीं रह गए थे, किन्तु माता अब भी विद्यमान थीं। परन्तु राधानगर का दक़ियानूस समाज और स्वयं उनका अपना परिवार उन्हें अब भी अपनाने को राज़ी न था। अतएव विवश हो उन्होंने कलकत्ते में अपर सर्कूलर रोड पर एक कोठी ख़रीद ली और १८१४ ई० के लगभग वहीं स्थायी रूप से अपना आसन जा जमाया!

यहीं से उनके जीवन का दूसरा और सबसे महत्त्वपूर्ण अध्याय आरंभ हुआ। अब उनके पास प्रचुर अवकाश था, धन भी था, और था लगभग तीस वर्ष के अध्यवसाय द्वारा कमाया गया संसार के प्रमुख धर्मों, दार्शनिक विचारधाराओं और पूर्व-पश्चिम की अनेक नई-पुरानी भाषाओं का प्रकाण्ड ज्ञान! उन्हें अब कोई नई कमाई करने की आवश्यकता न थी, बल्कि अब तक संचित अपनी ज्ञान-निधि ही को वितरित कर देश की सोई हुई आत्मा को फिर से जगा देने ही का काम उनके सामने अवशेष था। इसके लिए कलकत्ते से अधिक उपयुक्त दूसरा कोई कार्यक्षेत्र भी नहीं हो सकता था, क्योंकि वह भारत में अंग्रेज़ी सत्ता की राजधानी होने के नाते उन दिनों पूर्व और पश्चिम के सम्मिलन का मानों प्रधान संगम-स्थल हो रहा था। राममोहन ने देखा कि उन्हीं की भाँति इस देश के पुनरुत्थान की कामना मन में बसाए हुए कुछ ऐसे लोग भी समाज में हैं, जो भारतीय जीवन को तत्कालीन निष्क्रियता के दलदल में से निकालकर एक नवीन गति देने के लिए हृदय से उत्कंठित हैं, किन्तु उपयुक्त नेतृत्व के अभाव में कुछ कर-धर नहीं पा रहे हैं। अतएव कलकत्ते में डेरा-तंबू गाड़ते ही सबसे पहले उन्होंने इस प्रकार के उत्साही लोगों को एक ही सामान्य मंच पर संगठित करने का निश्चय किया और इसी उद्देश्य से 'आत्मीय सभा' के नाम से एक सुधारक संस्था की प्रस्थापना उन्होंने की, जिसका लक्ष्य वेदों और उपनिषदों में वर्णित एक ही अलख अगोचर ब्रह्म की उपासना करना घोषित किया गया। इसके अलावा भारत की प्राचीन ज्ञान-गंगा को संस्कृत की दुरूह घाटी से उतारकर जनक्षेत्र में लाने के अभिप्राय से उन्होंने एक साथ ही बँगला और अंग्रेज़ी में उपनिषदों और वेदान्त-सूत्रों का अनुवाद भी प्रकाशित करना शुरू किया। सबसे पहले वेदान्त-सूत्रों पर १८१५ ई० में उनका एक ग्रंथ बँगला में प्रकाशित हुआ। तदुपरान्त दूसरे वर्ष उसके उर्दू और अंग्रेज़ी संस्करण भी निकल आए और तब क्रमशः केन, ईश, कठ, मुण्डक और माण्डूक्य नामक उपनिषदों के भी अंग्रेज़ी और बँगला अनुवाद उन्होंने प्रस्तुत कर दिए। इन प्रकाशनों के एक के बाद एक धड़ाधड़ सामने आने और उनकी पांडित्यपूर्ण भूमिकाओं में राममोहन की लौह लेखनी द्वारा धर्म के बाह्याडम्बर में उलझे हुए लोगों पर अनवरत प्रहार के फलस्वरूप हिन्दू समाज के तथाकथित कर्णधारों का दिल दहल उठा और उन्होंने इस नए मोर्चे पर भी

इस विद्रोही का सामना करने के लिए कमर बाँधना शुरू किया। सबसे पहले मद्रास के गवर्नमेंट कॉलेज के शंकर शास्त्री नामक किसी अध्यापक ने दिसंबर, १८१६ ई०, के 'मद्रास कूरियर' नामक अंग्रेज़ी पत्र में कटु आलोचना करते हुए उन पर आक्रमण किया, जिसका प्रत्युत्तर राममोहन ने 'ए डिफ़ेन्स आफ़ हिन्दू थीइज़्म' (अर्थात् हिन्दू आस्तिकवाद का मण्डन) शीर्षक अपनी सुप्रसिद्ध अंग्रेज़ी रचना द्वारा दिया। इसके शीघ्र ही बाद मद्रास के पंडितों का पक्ष लेते हुए स्वयं उनके ही अपने प्रान्त बंगाल के कई धर्मध्वजी गोस्वामी और भट्टाचार्य भी एक साथ ही उन पर टूट पड़े। इस प्रकार मूर्त्तिपूजा और बहुदेवोपासना के पक्ष-विपक्ष में वाद-विवाद का एक घोर संग्राम-सा छिड़ गया, जिसमें एक ओर थे अकेले राममोहनराय, जो अपने गहन शास्त्र-ज्ञान और अकाट्य तर्क के बल पर प्राचीन भारतीय धर्म के अनुसार केवल एक ही निर्गुण ब्रह्म का प्रतिपादन कर हमारी धर्म-मंदाकिनी में बाद को उत्पन्न हो जानेवाली पंकरूपी अंध भावनाओं का खंडन कर रहे थे, तो दूसरी ओर हर प्रकार के प्रगतिशील परिवर्त्तन की राह में रोड़ा अटकाने के लिए उद्यत हमारा वह कट्टर अंध समाज था, जिसकी एकमात्र युक्ति थी उन रूढ़ियों की दुहाई देना, जो शास्त्रों से भी अधिक उनके मन पर अपना आधिपत्य जमाए हुए थीं।

इसी बीच ईसाई मत के त्रिमूर्त्तिवाद और ईसा मसीह की अलौकिकता के प्रश्न को लेकर कलकत्ते के समीप सीरामपुर में अड्डा जमाए हुए विदेशी ईसाई मिशनरियों के साथ भी उनका एक लम्बा और कटु विवाद छिड़ गया। बात यह हुई कि सभी धर्मों के शाश्वत सत्य के प्रति श्रद्धा का भाव रखनेवाले उदारमना राममोहन ने अपने एक ईसाई मित्र पादरी आदम और अन्य एक योरपीयन की सहायता से बाइबिल के कुछ अंशों का बँगला में अनुवाद करने के अलावा अलग से 'प्रिसेप्ट्स् ऑफ़ जीसस' (अर्थात् ईसा के धर्म-नियम) के नाम से एक अंग्रेज़ी पुस्तक सन् १८२० ई० में प्रकाशित की थी, जिसमें उन्होंने बाइबिल में से ईसा के प्रमुख उपदेशों को चुनकर एक संकलन के रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया था। इस संग्रह में उन्होंने बाइबिल के ऐसे अंशों को जानबूझकर छोड़ दिया था, जिनमें किसी प्रकार के अलौकिक चमत्कारों अथवा अन्य करामातों का उल्लेख था। कारण, एक तो इन बातों में उनका विश्वास न था, दूसरे हमारे लिए इन बातों का कोई महत्त्व भी न था। परन्तु यह काँट-छाँट भला उन धर्मान्ध मिशनरियों को क्योंकर सहन हो सकती थी! उन्होंने इस चेष्टा से रुष्ट होकर 'फ्रेंड ऑफ़ इन्डिया' और 'समाचार-दर्पण' नामक अपने पत्रों में अत्यन्त कटुतापूर्वक राममोहनराय पर धावा बोल दिया। साथ ही मानों बदला चुकाने के लिए हिन्दू धर्म और संस्कृति पर भी अशोभनीय रीति से कीचड़ उछालना शुरू किया। पर राममोहन इन प्रहारों से दब जानेवाले व्यक्ति न थे। उन्होंने जहाँ एक ओर 'ए सेकण्ड डिफ़ेन्स ऑफ़ दी मॉनोथीस्टीकल सिस्टम ऑफ़ दी वेदाज़' (अर्थात् वेदों के एकेश्वरवाद का पुनर्मण्डन) शीर्षक एक ट्रैक्ट लिखकर अपने सहधर्मी आलोचकों का मुँह बन्द कर दिया, वहाँ दूसरी ओर अपने नवसंस्थापित 'ब्राह्मनिकल मॅगेज़ीन' नामक अंग्रेज़ी पत्र में ईसाई जगत् के नाम क्रमशः अपनी तीन प्रसिद्ध 'अपीलें' निकालकर न केवल इन मिशनरियों के मिथ्या आरोपों का ही करारा जवाब दे दिया, बल्कि ईसाई धर्मसम्बन्धी अपने गहन ज्ञान का परिचय देकर सुदूर अमेरिका और इंगलैण्ड तक के धर्मशास्त्रियों की आँखें खोल दीं!

उनके इस विवाद का उनके अन्तरंग मित्र पादरी आदम पर इतना गहरा प्रभाव पड़ा कि वह सीरामपुर के 'ट्रिनिटेरियन' (त्रिमूर्त्तिवादी) चर्च से किनारा कसकर 'यूनिटेरियन' (एकेश्वरवादी) बन गया और अपने कुछ मित्रों के सहयोग से उसने कलकत्ते में एक पृथक् यूनिटेरियन उपासनालय भी प्रस्थापित कर लिया, जिसकी नियमित प्रार्थनाओं में राममोहन भी शरीक होने लगे। इस पर लोगों में यह भ्रम फैलने लगा कि वह (राममोहनराय) विधिवत् ईसाई बना लिये गए! परन्तु राममोहन-जैसे उदारचेता महापुरुष का व्यक्तित्व भला साधारण जनों की समझ में क्योंकर आ सकता था—वह कोई मामूली व्यक्तित्व तो था नहीं! वस्तुतः यह महान् सत्यान्वेषक यदि किसी

भी मत-मतान्तर के आँगन की ओर उत्साहपूर्वक अपने क़दम बढ़ाता था तो इसका यह तो अर्थ था नहीं कि वह उसके बाह्याडम्बर के जंजाल में भी उलझने जा रहा हो ! वह तो केवल इसीलिए प्रत्येक मत की तह में छिपे हुए शाश्वत तत्त्व के प्रति श्रद्धापूर्वक शीश झुकाता था कि उसमें उसे अपने उस महान् आदर्श की कुछ-कुछ आभा दिखाई पड़ती थी, जिसे पिछले चालीस वर्षों से उसने अपने अन्तस्तल में बसा रक्खा था। उसका वह आदर्श विश्व-धर्म ही उसकी आत्मा की प्यास पूरी तरह बुझा सकता था, किसी विशिष्ट संप्रदाय या मत विशेष की मृगमरीचिका नहीं। वह तो देख रहा था एक ऐसी सार्वभौम विश्व-वेदी का सपना, जिसका मंच संकीर्ण सांप्रदायिकता, अंध-रूढ़िवादिता और ऊँच-नीच की भेद-भावमूलक भावनाओं के दलदल से एकदम ऊपर उठा हुआ हो और जिसके अन्तर्गत एकेश्वरवाद के अडिग सिद्धान्त पर स्थापित सभी धर्मों के शाश्वत सत्य जगह पा सकें ! अपने उस कल्पनालोक के सार्व-जनीन धर्म-आँगन का कुछ-कुछ आभास वह अब से चौदह वर्ष पूर्व 'आत्मीय सभा' के रूप में एक प्रयोगात्मक संस्था की प्रस्थापना कर दे चुका था। परन्तु उसकी संपूर्ण रूपरेखा तो अब भी वाष्पीभूत नीहारिका की भाँति अभिव्यक्ति का मार्ग खोजते हुए उसके मानसाकाश में उमड़-घुमड़कर मूर्त्त स्वरूप ग्रहण करने के लिए उपयुक्त अवसर की प्रतीक्षा कर रही थी। अन्त में वह चिरप्रतीक्षित शुभ घड़ी भी आ पहुँची और २० अगस्त, सन् १८२८ ई०, के दिन सभी जातियों, वर्णों और संप्रदायों के लोगों का एक ही अलख अद्वितीय परमात्मा की आराधना-उपासना के लिए आह्वान् कर राममोहनराय ने अपने चिरस्मारक 'ब्राह्म समाज' के रूप में उस विश्व-वेदी का उद्घाटन कर दिया ! निश्चय ही वह दिन न केवल उनके ही अपने जीवन का प्रत्युत् सारे संसार के धार्मिक इतिहास का एक महत्त्वपूर्ण पर्व-दिवस था !

इस महान् धर्म-संस्था की प्रतिष्ठा कर राममोहन ने किसी नए मत-मतान्तर या पृथक् संप्रदाय का जंजाल खड़ा करने का प्रयास नहीं किया था, बल्कि सभी धर्मों की उच्च शिक्षाओं के तत्त्व से अभि-सिंचित एक सामान्य पृष्ठभूमि मात्र उन्होंने तैयार की थी, जिसकी परिधि में एकत्रित होकर सब कोई बिना किसी भेदभाव के कंधे से कंधा मिला-कर उस जगन्नियंता की आराधना-उपासना में प्रवृत्त हो सकें। स्वयं उन्होंने ही डेढ़ वर्ष बाद कलकत्ते के प्रथम ब्राह्म-मंदिर के उपासनालय के उद्घाटन के अवसर पर उसके प्रख्यात विधान-पत्र (ट्रस्ट-डीड) में निम्न ज्वलन्त शब्दों द्वारा अत्यन्त व्यापक रूप में इस महान् संस्था के आदर्श और उद्देश्यों का सुस्पष्ट आलेख कर दिया था:—

"…………(यह स्थान) बिना किसी भेद-भाव के सभी जातियों और वर्णों के ऐसे व्यक्तियों के एकत्रित होने के लिए है, जो उस विश्व-नियन्ता जगद्पालक, अनंत, अज्ञेय, अविनश्वर परमात्मा की सद्भावनापूर्वक आराधना-उपासना करने के लिए प्रस्तुत हों, किन्तु किसी विशिष्ट व्यक्ति या संप्रदाय द्वारा आरोपित विशेष नाम-रूप के आधार पर नहीं। न इस उपासनालय की परिधि में कभी किसी की मूर्त्ति, प्रतिमा या चित्र आदि का प्रवेश होने दिया जाय,………न किसी प्राणी की यहाँ हिंसा होने दी जाय,………न पूजा-आराधना के क्रम में किसी भी व्यक्ति या संप्रदाय द्वारा मान्य किसी भी जड़-चेतन वस्तु की निन्दा के रूप में कभी कोई बात कही जाय,………न उक्त आराधना के समय ऐसे प्रवचनों, प्रार्थनाओं और धर्म-स्तोत्रों के सिवाय कि जो हमें उस विश्व-स्रष्टा जगद्पालक के स्मरण-चिन्तन की ओर प्रवृत्त कर अधिकाधिक परोपकार, नीतिपालन, धार्मिकता, उदारता और सदाचरण की ओर ही अग्रसर कर सकें और सभी धर्मों एवं जातियों के मनुष्यों में परस्पर एकता का बंधन सुदृढ़ बनाने में योग दे सकें, अन्य किसी प्रकार के प्रवचनादि का ही यहाँ कभी प्रयोग किया जाय !"

इस प्रकार बहुत दिनों से उजाड़-सी पड़ी हुई हमारी धर्म-वाटिका में फिर से एक नवीन पौधा अंकुरित हुआ, जो अभी था तो बहुत ही नन्हा-सा, फिर भी हमारे लिए एक नए युगान्तर का द्योतक था ! क्योंकि वह हमारे लिए और कुछ लाया हो या न लाया हो, परन्तु इस बात की सूचना तो अवश्य ही लेकर आया था कि फिर से हमारे

राष्ट्रीय जीवन में एक नूतन वसंत का प्रस्फुटन होने वाला था। वह हमारी दृष्टि में एक नवीन युगधारा का प्रतीक था। यद्यपि उसका उद्भव और विकास एक विशुद्ध धर्म-संस्था के ही रूप में हुआ, किन्तु उसका व्यापक प्रभाव हमारे राष्ट्रीय जीवन के समूचे आँगन पर पड़ा। उसने परोक्ष अथवा अपरोक्ष भाव से हमारे प्रत्येक अंग में एक नूतन चेतना का स्वर जगाने में योग दिया। यही हमारे लिए उसकी सबसे अधिक महत्त्व की देन थी, जिसके कारण युग-युग तक हमारे इतिहास का एक पूरा अध्याय उसकी गौरव-प्रशस्ति से आलोकित रहेगा, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं।

इस सार्वजनीन धर्म-संस्था की प्रस्थापना में जिन लोगों ने प्रमुख रूप से राममोहनराय का हाथ बँटाया था, उनमें महाकवि रवीन्द्रनाथ के पितामह प्रिंस द्वारकानाथ ठाकुर, रामचन्द्र विद्यावागीश, कालीनाथ राय, चंद्रशेखर दे, प्रसन्नकुमार ठाकुर और ताराचन्द्र चक्रवर्त्ती के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। आरंभ में इसका नाम 'ब्राह्म सभा' रक्खा गया था, पर बाद में बदलकर वही 'ब्राह्म समाज' कर दिया गया। प्रति शनिवार को सायंकाल ७ से ९ बजे तक उसकी नियमित बैठक होती थी, जिसमें उपनिषदों के कुछ चुने हुए अंशों के पाठ तथा बँगला में उनकी व्याख्या के अतिरिक्त बँगला ही में एक धर्म-प्रवचन भी होता था और राममोहन द्वारा रचित कुछ धर्मगीत भी गाए जाते थे। लगभग सभी वर्ण और जाति के लोग इस उपासना में सम्मिलित होते थे और उन पर किसी भी प्रकार के शुल्क, प्रवेश-नियम आदि का बंधन न था। इस नई संस्था का आगे चलकर क्या स्वरूप बन गया और वह क्या से क्या हो गई, यह हम उसके अन्य दो भावी महान् नेता देवेन्द्रनाथ ठाकुर और केशवचन्द्र सेन से परिचय पाते समय देखेंगे। यहाँ तो एक पाश्चात्य विद्वान् प्रो० ज़करियास के शब्दों में केवल यही भर सूचित कर उसके महत्त्व की ओर निर्देश कर देना पर्याप्त होगा कि "राममोहनराय और उनका यह ब्राह्म समाज ही हिन्दू धर्म, समाज या राजनीति के क्षेत्र में समुच्छ्वसित उन सभी सुधारमूलक आंदोलनों की युग-धाराओं के मूल स्रोत के रूप में हमें दिखाई देते हैं, जिन्होंने विगत सौ वर्षों में भारत को हिलाया और जगाया है, और जिनके कारण इस देश का वर्त्तमान युग में आकर ऐसा अद्भुत पुनरुत्थान हो पाया है।"*

यह तो हुआ हमारे इस महान् चरितनायक की दिव्य देन के केवल एक ही विशिष्ट पहलू—धर्म के क्षेत्र में उसके महत्त्वपूर्ण कार्य—का ही संक्षिप्त दिग्दर्शन, जबकि वस्तुतः क्या धर्म और दर्शन, क्या समाज और राजनीति, क्या शिक्षा और साहित्य, आदि हमारे राष्ट्रीय जीवन का ऐसा कोई अंग नहीं, जो उसके कार्यक्षेत्र की परिधि से बाहर छूट गया हो! उसने सभी की ओर अपना सुधारवादी हाथ बढ़ाया और उन्हें अपनी प्रतिभा द्वारा अनुप्राणित कर दिया! कौन नहीं जानता कि उसके ही अनवरत आंदोलन की बदौलत 'सती-दाह' जैसी उस अमानुषिक सामाजिक कुप्रथा का राजकीय विधान द्वारा इस देश में अंत हुआ, जिसकी आड़ में हमारा अंध-समाज प्रति वर्ष हज़ारों नवविधवाओं को ज़बरन डंडों से धकेलकर मृत पति की चिता पर ज़िन्दा ही जला डालता था। स्वयं राममोहन ही के अपने परिवार में उनके बड़े भाई जगमोहन की अबला पत्नी का इसी प्रकार दारुण अंत हुआ था और प्रयत्न करने पर भी वह बेचारे उसे चिता की आग से बचाने में सफल न हो सके थे! तभी से उन्होंने यह दृढ़ संकल्प कर लिया था कि इस गर्हित अनाचार की जड़ उखाड़कर ही वह चैन लेंगे। उन्होंने इस क्रूर प्रथा को भारतीय संस्कृति के बिल्कुल विरुद्ध और शास्त्र द्वारा अवैध प्रमाणित करते हुए सन् १८१८ ई० में एक ट्रैक्ट (पुस्तिका) प्रकाशित कर उसके ख़िलाफ़ ज़ोरदार आंदोलन शुरू किया और उसके हिमायतियों के लाख हाथ-पैर पटकने पर भी लगातार दस वर्ष तक जूझकर तत्कालीन गवर्नर-जनरल लार्ड बैन्टिक द्वारा एक निषेधक क़ानून बनवा सन् १८२९ ई० में सदा के लिए हिन्दू समाज के इस निन्दनीय कलंक को धोकर ही दम लिया। इसी तरह बंगाल के सामाजिक जीवन में महामारी की भाँति प्रचलित 'कुलीन-प्रथा' के विरुद्ध भी उन्होंने

* देखिए प्रो० एच० सी० ई० ज़करियास कृत 'रिनासेंट इंडिया' (पृ० २३)।

अपनी आवाज़ उठाई और भारतीय स्त्रियों की वर्त्तमान शोचनीय दशा के प्रति ध्यान आकर्षित करते हुए आज से एक शताब्दी पूर्व ही विधवाओं के पुनर्विवाह, अंतर्जातीय विवाह, स्त्रियों के संपत्ति-विषयक अधिकार तथा शिक्षा-दीक्षा के महत्त्व पर भी उचित प्रकाश डाला। इस संबंध में 'वर्त्तमान समाज द्वारा स्त्रियों के प्राचीन अधिकारों के अपहरण संबंधी कुछ विचार' (१८२२ ई०) तथा 'बंगाल के सामाजिक विधानानुसार पैतृक संपत्ति-विषयक हिन्दुओं के अधिकार' (१८३० ई०) नामक उनके दो निबन्ध पढ़ने योग्य हैं। वस्तुतः स्त्रियों के हितों की रक्षा के लिए लड़ाई लड़नेवाला राममोहनराय से अधिक उत्साही दूसरा कोई नेता इस देश में आज के युग में न हुआ।

इसी प्रकार शिक्षा के क्षेत्र में भी 'हिन्दू कॉलेज', 'इंग्लिश स्कूल', 'वेदान्त कॉलेज', आदि कलकत्ते की विविध आरंभिक शिक्षण-संस्थाओं के जन्म और विकास के कार्य में योग देकर तथा देश की वर्त्तमान आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए पाश्चात्य विज्ञान के अध्ययन के लिए ज़ोर देते हुए उन्होंने हमें प्रगति का एक नया रास्ता दिखाया। और तो और, आधुनिक ढंग की उचित पाठ्य-पुस्तकों का अपने यहाँ अभाव देखकर उन्होंने स्कूलों में पढ़ाने के लिए अपनी मातृभाषा बँगला में भूगोल, ज्यामिति, खगोल विज्ञान और व्याकरण पर अनेक छोटी-छोटी सरल पोथियाँ तक लिखीं— ऐसा था उनका शिक्षा-संबंधी अदम्य उत्साह! उनके हाथों हमारे साहित्य को कितना अधिक बल मिला, इसका अनुमान तो उनकी लेखनी के प्रसाद के रूप में हमारी राष्ट्रीय निधि में संचित बँगला, उर्दू, फ़ारसी, अरबी, संस्कृत और अंग्रेज़ी में लिखित उनकी उन विविध कृतियों ही से लगाया जा सकता है, जिनमें उनके जीवन-कार्य का वास्तविक लेखा अंकित है। उन्होंने ही १८१९ ई० में 'संवाद-कौमुदी' के नाम से भारतीय तत्त्वावधान में निकलनेवाले सर्वप्रथम बँगला साप्ताहिक पत्र को जन्म दिया और तीन वर्ष बाद फ़ारसी भाषा में 'मिरातुल अख़बार' नामक अन्य एक पत्र का भी प्रकाशन आरंभ किया! इस प्रकार धार्मिक और सामाजिक सुधार तथा शिक्षा-प्रसार की भाँति पत्रकला के क्षेत्र में भी वह हमारे सर्वप्रथम अग्रदूत थे। कहते हैं, जब १८२३ ई० में भारतीय समाचारपत्रों पर प्रतिबंध लगानेवाला एक काला क़ानून जारी हुआ था और उसके अंतर्गत 'कलकत्ता जर्नल' नामक अंग्रेज़ी पत्र के संपादकों का दमन किया गया था तो राममोहन ने विचार-स्वातंत्र्य का नारा बुलन्द करते हुए तत्कालीन सुप्रीम कोर्ट और सम्राट् की कौंसिल तक अपने विरोध का मेमोरंडम भेजा था! इससे अनुमान किया जा सकता है कि वह किस कोटि के सार्वजनिक कार्यकर्त्ता और नेता थे!

धर्म और समाज की भाँति राजनीति के क्षेत्र में भी यह महान् राष्ट्रनायक एक ऊँचे मानदण्ड पर स्थित था और उसकी विशद राजनीति केवल एक जाति-विशेष के हित-अहित के संकीर्ण घिरौंदे ही में बंद राजनीति न थी, बल्कि वह एक प्रकार के अंतर्राष्ट्रीय आदर्श से ओतप्रोत थी, जिसमें संसार भर के पीड़ित और शोषित जनों के प्रति समवेदना और सौहार्द्र की एक सच्ची भावना निहित थी। उसके निकट संसर्ग में आनेवाले पादरी आदम ने लिखा है कि 'स्वतंत्रता की लगन उसकी अंतरात्मा की सबसे ज़ोरदार लगन थी,' और यह प्रबल भावना उसके धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक, सभी कार्यों में फूट-फूटकर टपकी पड़ती थी। उसके अंतराल में धधकती हुई स्वतंत्रता की इस आग का यह हाल था कि जब उसने सुदूर स्पेन की जनता द्वारा स्वायत्त शासन की प्राप्ति का समाचार पाया था तो उसकी ख़ुशी में कलकत्ते के टाउनहॉल में एक शानदार सार्वजनिक प्रीतिभोज दिया था! इसी प्रकार जब ऑस्ट्रियन सैनिक सत्ता द्वारा नेपल्स नगर के निवासियों के अधिकारों के कुचले जाने की ख़बर उसे सुनने को मिली थी तो विक्षुब्ध होकर अपने एक पत्र में निम्न शब्दों में मानों निराशा और क्रोध के मारे वह चीख़-सा उठा था—'इस हृदयविदारक समाचार को पाकर मैं विवश हो इस नतीजे पर पहुँच रहा हूँ कि संभवतः मुझे अब अपने जीवन में वह दिन देखने को न मिलेगा जब योरप और एशिया के समग्र कुचले हुए राष्ट्रों को, विशेषकर उन राष्ट्रों को जो योरपवालों के अधीन उपनिवेश बने हुए हैं, फिर से अपनी खोई हुई स्वतंत्रता प्राप्त

हो सकेगी ! परिस्थिति को देखते हुए उन पीड़ित नेपल्सवासियों के हित-अहित और संघर्ष को मैं अपने ही हित-अहित और संघर्ष-जैसा समझता हूँ और उनके दुश्मनों को अपना दुश्मन मानता हूँ। स्वाधीनता के शत्रु और निरंकुशता के हिमायती अंततः न कभी सफल हुए हैं और न होंगे !' और तो और, अपने पत्र 'मिरातुल अख़बार' में उसने आयर्लैगड तक के कष्ट और असंतोष पर एक लेख प्रकाशित किया था ! तो फिर क्या उसके हृदय में स्वयं अपने ही मातृप्रदेश की राजनीतिक अधोगति देखकर एक कसक-सी न उठती रही होगी? निश्चय ही वह अपने देश के राजनीतिक अभ्युदय के लिए भी उसी प्रकार चिन्तित और उत्कंठित था जिस प्रकार उसके धार्मिक और सामाजिक पुनरुत्थान के लिए। किन्तु इस आकांक्षा की पूर्त्ति के लिए वह बाद के अन्य अनेक उदार-नीतिधर्मी राष्ट्रनेताओं की भाँति नव-संस्थापित विदेशी शासन-तंत्र के साथ सहयोग की नीति बरतने और उसकी सद्भावनाओं पर विश्वास रखने का विशेष रूप से हिमायती था। इसका कारण यह था कि उसका विश्वास था कि इस राजतंत्र की छत्रछाया में देश का अभ्युत्थान कहीं अधिक तीव्रतर गति से हो सकेगा। परन्तु उसकी यह भावना किसी प्रकार की कायरता अथवा देशभक्ति की कमी के कारण न थी। वस्तुतः वह किस हद तक आगे बढ़ने को तैयार था इसका कुछ-कुछ आभास हमें स्व० रामानन्द चटर्जी द्वारा लिखित 'राममोहनराय और आधुनिक भारत' नामक पुस्तक में उल्लिखित इस राष्ट्रनेता की उस खुली प्रतिज्ञा में मिल जाता है जो उसने तत्कालीन प्रस्तावित 'रिफ़ार्म बिल' (शासन-सुधार सम्बन्धी विधान) के सिलसिले में की थी। कहते हैं, उसने स्पष्टतः यह घोषित किया था कि 'यदि यह विधान न बन पाया तो मैं इँगलैंड के साथ सदा के लिए अपना संबंध तोड़ दूँगा !' ऐसी थी उस सच्चे देशभक्त राजनीतिज्ञ की साहसपूर्ण राजनीति और ऐसा उत्कट था समस्त संसार के प्रति सम-वेदना का भाव रखनेवाले उस महान् विश्वधर्मी का स्वयं अपनी मातृभूमि के प्रति हार्दिक प्रेम !

यह एक उल्लेखनीय बात है कि पूर्व और पश्चिम को एक-दूसरे के समीप लाने में विशिष्ट योग देनेवाले इस महापुरुष ही के पल्ले यह कार्य भी पड़ा कि वही इस युग में सबसे पहले इस देश से पश्चिम की दुनिया में जाकर यहाँ का भ्रातृत्व का संदेश सुनाए और आगे आनेवाली पीढ़ियों के लिए उस नई दुनिया से परिचय पाने के मार्ग का उद्घाटन करे। राममोहन ही सर्वप्रथम उच्चवर्ण के भारतीय थे, जिन्होंने आधुनिक युग में समुद्र-यात्रा के सामाजिक निषेध का उल्लंघन कर पहले-पहल पाश्चात्य जगत् की ओर क़दम बढ़ाया था। वह विलायत की यात्रा करने के लिए तो बहुत दिनों से उत्सुक थे, परन्तु इसके लिए अब तक कोई उपयुक्त अवसर उन्हें नहीं मिला था। तब १८३० ई० के अन्तिम दिनों में दिल्ली के तत्कालीन नाममात्र के बादशाह, अकबर द्वितीय, द्वारा सौंपे गए एक राजकीय कार्य के रूप में अनायास ही वह मौक़ा उनके हाथ लग गया। बात यह थी कि ईस्ट इण्डिया कंपनी के प्रति अपनी कुछ शिकायतों को दिल्ली का यह कठ-पुतली मुग़ल सम्राट् इंगलैण्ड के बादशाह के आगे पेश करना चाहता था और इस काम के लिए उसे भला राममोहनराय से अधिक योग्य व्यक्ति दूसरा कौन मिल सकता था? अतएव उसने उन्हें 'राजा' की पदवी देकर विधिपूर्वक अपने राजदूत के रूप में इंगलैण्ड के लिए रवाना किया। वह १५ नवम्बर, सन् १८३० ई०, के दिन अपने दत्तक पुत्र राजाराम-राय और दो अनुचरों के साथ जहाज़ द्वारा अपनी इस लम्बी यात्रा पर रवाना हुए और अनेक कठि-नाइयों का सामना करते हुए लगभग डेढ़ वर्ष बाद इंगलैण्ड पहुँच लिवरपुल के बन्दरगाह पर उतरे। कहने की आवश्यकता नहीं कि उनके आगमन से वहाँ के समाज में एक अभूतपूर्व खलबली-सी मच गई और शीघ्र ही उनके प्रभावशाली व्यक्तित्व, प्रकाण्ड पाडित्य एवं उच्च दार्शनिक विचारों की ऐसी धाक जमी कि जैरेमी बैन्थम जैसे समसाम-यिक ब्रिटिश विद्वान् तक उनसे भेंट करने में गौरव का अनुभव करने लगे। जहाँ-जहाँ भी वह गए, उन्हें सम्मान ही प्राप्त हुआ। इस बीच जिस कार्य के लिए मुग़ल सम्राट् ने उन्हें भेजा था, उसके अतिरिक्त स्थान-स्थान में अपने व्याख्यानों, प्रवचनों आदि द्वारा भारत के हितसाधन के लिए जो कुछ

भी यहाँ किया जा सकता था, उसे करने में उन्होंने कोई कसर न उठा रक्खी। उन्होंने सती-दाह-निषेधक क़ानून के विरुद्ध अपने देश के कट्टरपंथी समाज द्वारा पेश की गई अपील को रद्द कराया; ईस्ट इंडिया कम्पनी के चार्टर की पुनरावृत्ति के सिलसिले में नियुक्त शाही जाँच-कमिटी के सामने गवाही देकर तत्कालीन रेवेन्यू और जुडीशियल व्यवस्थाओं पर अपने स्पष्ट विचार प्रकट करते हुए देश की जनता की यथार्थ स्थिति और आवश्यकताओं पर भरपूर प्रकाश डाला; पार्लमेंट में भारतीय शासन-सुधार के सम्बन्ध में पेश प्रस्तावित 'रिफ़ार्म-बिल' को पास कराने में समुचित योग दिया; और भारत के संबंध में पश्चिम में फैली हुई ग़लत धारणाओं को दूर करते हुए वहाँ के सामयिक पत्रों में लेख लिखकर हर प्रकार से अपने देश की प्रतिष्ठा बढ़ाने का प्रयास किया। इन्हीं दिनों उन्होंने फ्रान्स और उसकी राजधानी पेरिस का भी एक चक्कर लगाया, जहाँ जनता और शासक दोनों की ओर से उन्हें समुचित आदर प्रदान किया गया। किन्तु जलवायु की प्रतिकूलता, अत्यधिक श्रम तथा आर्थिक कठिनाइयों के कारण उनका यह विलायत का प्रवासकाल दुर्भाग्य से बहुत थोड़ी ही अवधि का रहा। वह सख्त बीमार पड़ गए और उस सुदूर विदेश ही में २७ सितम्बर, सन् १८३३ ई०, के दिन ब्रिस्टल नगर के समीप स्टेपल्टन ग्रुव नामक स्थान में ६२ वर्ष की आयु में कराल काल ने सदा के लिए उन्हें इस लोक से उठा लिया! वहीं मातृभूमि से हज़ारों मील दूर उनके पार्थिव शरीर की सम्मानपूर्वक अंत्येष्टि क्रिया की गई और उनके समाधिस्थल पर बाद में उनके भक्तों द्वारा निर्मित किया गया वह छोटा-सा सुन्दर स्मारक, जो आज के दिन विलायत जानेवाले भारतवासियों के लिए एक तीर्थस्थल-सा बन गया है!*

इस प्रकार एक महान् जीवन का अंत हुआ, किन्तु उसके जादूभरे प्रभाव से साथ ही साथ आरंभ हुआ हमारे देश की आत्मकथा का एक ऐसा नूतन अध्याय भी, जिसने इस दुर्दिन में हमारी आशा के पौधे को एकदम झुलसकर मुरझा जाने से बचा लिया! जैसा कि उनकी मृत्यु के सौ वर्ष बाद उनकी स्मृति में आयोजित एक सार्वजनिक सभा के मंच से श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए स्व० कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ ने कहा था, "राममोहनराय ही को भारतवर्ष के आधुनिक युग का उद्घाटन करने का अद्वितीय सम्मान प्राप्त है। उनका जन्म एक ऐसे समय में हुआ था जब हमारा देश अपने प्राणतत्त्व का संस्पर्श खोकर केवल परिस्थिति की गुलामी करता हुआ अज्ञान के भारी बोझ के नीचे दबकर छटपटा रहा था! उन दिनों क्या सामाजिक रीति-रिवाजों में, क्या राजनीति में, और क्या धर्म और कला के क्षेत्र में हम एक ऐसी उतार की मंज़िल पर आ पहुँचे थे, जहाँ एक जर्जरीभूत परंपरा के वशीभूत हो हम अपनी सारी सृजनात्मक प्रवृत्ति गँवा मानव-धर्म से किनारा कसने लगे थे! पतन के उस अंधकारपूर्ण घटाटोप में ऋषियों की-सी पुनीत दिव्य दृष्टि और दुर्द्धर्ष आत्मतेज से युक्त एक ऐसे ज्वाज्वल्यमान नक्षत्र के रूप में इस देश के ऐतिहासिक गगन में राममोहन का उदय हुआ, जिसकी आभा से यह भूमि फिर से प्रदीप्त हो उठी! इस महापुरुष ने हमें अपने निजी अज्ञानान्धकार में लीन हो जाने की दुर्दशा से बचा लिया और अपने व्यक्तित्व के दिव्य प्रभाव तथा आत्मा के निर्द्वन्द्व स्वातंत्र्य प्रकाश से हमारी राष्ट्रीय जीवनधारा को एक नूतन सृजन की भावना से अनुप्राणित कर फिर से हमें आत्मोपलब्धि के कठोर अनुष्ठान में सन्नद्ध कर दिया! वही इस शताब्दी का हमारा सबसे महान् मार्ग-शोधक था! उसने पग पग पर हमारी उन्नति में बाधा डालनेवाले रोड़ों को राह से अलग हटाकर हमें विश्व-सहयोग और निखिल मानवता के युग में ला खड़ा कर दिया! वह था इस देश के उन महान् क्रान्तदर्शी ऋषियों की परंपरा का व्यक्ति, जिन्होंने समय-समय पर इतिहास के आँगन में उतरकर हमें शाश्वत मानव का अमर संदेश सुनाया है।............तो फिर आज जबकि हमारी पुरानी पड़ गई सामाजिक रूढ़ियाँ एकता की सशक्त पुकार के आगे दिन प्रति दिन घुटने टेक

* अभी हाल ही में ज़ोरों के साथ यह प्रस्तावित किया गया है कि इस महान् राष्ट्र-निर्माता की अस्थियों को विलायत से हटाकर स्वदेश लाया जाय और यहाँ उसका एक भव्य स्मारक निर्मित किया जाय।

रही हैं, जबकि जातिगत भेदभाव की दीवारें हमारी उमड़ती हुई भ्रातृभावनाओं का वेग रोकने में अपने आपको असमर्थ पा रही हैं, जबकि इस देश के निवासियों के बीच एकता की आवश्यकता का प्रश्न अपने प्रबलतम रूप में उठ खड़ा हुआ है, और फलतः इस भूमि के इस छोर से उस छोर तक एक नूतन चेतना की लहर दौड़ गई है, ऐसे समय में हमें यह न भूल जाना चाहिए कि हमारे पुरुषत्व का यह पुनरोदय ऐक्य के उस महान् विधायक राममोहनराय ही के अदम्य प्रताप से संभव हो पाया है! उसे ही भारत के अंतराल की उस सर्वोपरि पुकार को, जोकि सबके हृदय में निवास करनेवाले और एक ही कल्याणसूत्र में सबको ग्रंथिबद्ध करनेवाले परमात्मा की भक्ति-उपासना के क्षेत्र में सभी मनुष्यों की समानता विषयक इस देश की चिर-अमर भावना में निहित है, इस प्रकार सशक्त रूप से फिर से प्रतिष्ठापित करने का श्रेय दिया जाना चाहिए!"*

राममोहनराय न केवल भारत ही के प्रत्युत् संसार भर के अन्यतम महापुरुषों की श्रेणी में प्रतिष्ठित किए जाने योग्य एक अद्वितीय रत्न थे। इतना व्यापक था उनका व्यक्तित्व कि उनके जीवन के किसी एक विशेष पहलू ही को लेकर उनका पूरा परिचय देना असंभव है। वह धर्म, समाज, राजनीति, शिक्षा, साहित्य, पत्रकला, दर्शन और तत्त्वज्ञान—सभी क्षेत्रों में समान रूप से अपना प्रभुत्व प्रस्थापित करने में सफल हुए थे और यदि एक ओर कुसंस्कारजनित अंध-रूढ़ियों के विध्वंसक के रूप में उग्र रूप से समाज के मकड़ी-जालों को झाड़ते-बुहारते दिखाई दिए थे तो साथ ही साथ दूसरी ओर सभी क्षेत्रों में रचनात्मक कार्यों की एक ऐसी अनमोल वसीयत भी अपने पीछे छोड़ते गए थे कि विरला ही कोई एक व्यक्ति इतने विभिन्न प्रकार की देन किसी जाति या राष्ट्र को कभी प्रदान कर गया हो! वह हर दृष्टि और पहलू से इस देश के आधुनिक युग के पिता थे। उन्हीं के हाथों पहले-पहल सुधार और संगठन का मंत्र सीखकर हमने नवयुग का वह विधान पाया, जिसके बल पर हम आज उन्नति की कक्षा में प्रवेश कर सके। उन्होंने ही कूपमण्डूकता के दायरे से बाहर क़दम बढ़ाने का साहस कर हमें विचार-स्वातंत्र्य के स्वस्थ वातावरण में ला खड़ा किया और अपने हाथों अपना गला घोंट लेने की दुर्गति से बचाया। परन्तु एक महान् समाज-सुधारक, शिक्षा-शास्त्री, पत्रकार, राजनीतिज्ञ तथा साहित्य-महारथी होने के बावजूद वह यथार्थ में थे विशुद्ध धर्म और दर्शन के ही क्षेत्र के व्यक्ति—वह थे एक सच्चे साधक, उपासक और तत्त्व-चिन्तक, जिनका कि व्यक्तित्व अपने पूर्वगामी संत कबीर और बाद के महापुरुष गांधी की भाँति किसी लघु साम्प्रदायिक सीमा में समानेवाला व्यक्तित्व न था—वह एक सार्वभौमिक व्यक्तित्व था। तभी तो, जैसा कि विलायत के लिए रवाना होते समय अपने एक मित्र, नन्दकिशोर वसु, से उन्होंने स्वयं ही भविष्यवाणी करते हुए कहा था, सचमुच ही मृत्यु के बाद हिन्दुओं ने उन्हें एक महान् 'वेदान्ती' हिन्दू, मुसलमानों ने एक पहुँचा हुआ 'सूफी' मुसलमान, और ईसाइयों ने एक सच्चा 'यूनिटेरियन' ईसाई समझा! सच तो यह था कि यह महापुरुष अपने विशद दृष्टिकोण और उच्च आदर्श के कारण सभी जाति और धर्मवालों को ऐसा जँचता था कि वह सारे संसार की सम्पत्ति बन गया था। उसका धर्म था एक निखिल विश्व-धर्म, उसकी जाति थी सम्पूर्ण मानव-जाति, और उसका देश था भौगोलिक सीमाओं से मुक्त यह सारी वसुन्धरा! वह था वस्तुतः 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के आदर्श को सामने रखनेवाला एक महान् विश्व-नागरिक! यदि वह मध्ययुग में पैदा हुआ होता तो आश्चर्य नहीं कि शंकर जैसा एक महान् दार्शनिक अथवा कबीर, नानक, दादू जैसा एक संत होता। तो फिर कैसे हम उसकी महानता को नापें-जोखें? किस प्रकार उसके प्रति अपने अगाध राष्ट्र-ऋण का अनुमान करें? वस्तुतः हम केवल यही भर कह सकते हैं कि इस देश के लिए अपनी आयु की बलि चढ़ाकर यह महामनीषि मानों सदियों के लिए अपनी जर्जराक्रान्त मातृभूमि की फिर से आयु-वृद्धि कर गया!

* १८ फरवरी, सन् १९३३ ई०, के दिन कलकत्ते में राममोहनराय-शताब्दी के अवसर पर आयोजित सार्वजनिक सभा में सभापति-पद से कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ द्वारा दिए गए भाषण का एक अंश।

दयानन्द

"मैं सादर प्रणाम करता हूँ उस महागुरु दयानन्द को, जिसकी दिव्य दृष्टि ने भारत की आत्मगाथा में सत्य और एकता का बीज देखा ; जिसकी प्रतिभा ने भारतीय जीवन के विविध अंगों को प्रदीप्त कर दिया ; जिसका उद्देश्य इस देश को अविद्या, अकर्मण्यता और प्राचीन ऐतिहासिक तत्त्व-विषयक अज्ञान से मुक्त कर सत्य और पवित्रता के जागृति-लोक में लाना था, उस गुरु को मेरा बारंबार प्रणाम है"— ये ज्वलंत शब्द विश्व-कवि रवीन्द्रनाथ की अमर वाणी द्वारा अभिव्यक्त अपने उस महान् युग-पुरुष के प्रति अर्पित नवीन भारत की श्रद्धाञ्जलि के प्रतीक हैं, जो एक पाश्चात्य समीक्षक की दृष्टि में आया था हमारे कारागार की दीवारें तोड़ने, हमारी आत्मा के बंधन छुड़ाने, हमारे समाधि-स्थानों के पाषाण हटाकर हमें पुनर्जीवन का दान देने ! ऋषि दयानन्द का आधुनिक भारत के निर्माण में कितना गहरा हाथ है, उनके द्वारा प्रस्तुत की गई सर्वतोमुखी क्रान्ति का स्वरूप कितना उज्ज्वल है, और अपने इस पुनरुद्धार के लिए हम उनके कितने अधिक ऋणी हैं, इसका विस्तारपूर्वक समुचित विवेचन करने के लिए तो अलग से पूरा एक ग्रंथ चाहिए, वह इस छोटे-से जीवन-चित्र में समा पाने जैसा लघु विषय नहीं है। दयानन्द प्राचीन और अर्वाचीन के बीच के हमारे युग-सेतु के एक महत्त्वपूर्ण आधार-स्तंभ हैं। वह हमें अपने भव्य अतीत के महान् आदर्शों के अनुरूप अपने भविष्य को रचने के लिए प्रेरित करनेवाले इस युग के प्रधान आचार्य हैं। उन्होंने ही फिर से हमें वैदिक कर्मयोग का पाठ पढ़ाकर सदियों से बिसराए हुए अपने पुरातन धर्म-मार्ग पर लाने का सबसे सबल प्रयास किया और उस पाश्चात्य भौतिकवादी आँधी के संकट से सचेत करने में भी

महत्त्वपूर्ण योग दिया, जिसने हमारी संस्कृति, भाषा, वेशभूषा आदि सभी कुछ पर छापा मारना शुरू किया था और जिसकी लपेट में आकर हम अपनापन खो क्या से क्या होते चले जा रहे थे! इस प्रकार वह न केवल हमारे एक महान् शिक्षक ही थे, प्रत्युत् पितृतुल्य संरक्षक भी थे। उनका हमारे राष्ट्रीय इतिहास में वही स्थान है, जो योरप के इतिहास में मार्टिन लूथर का है। जिस प्रकार लूथर ने ईसाई जगत् में एक महान् क्रान्ति का सूत्रपात कर योरप को मध्ययुग की धार्मिक कूप-मण्डूकता और पुरोहिततंत्र के चंगुल से छुटकारा दिलाया, उसी तरह दयानन्द ने भी अंध रूढ़िवादिता और महन्तों, मठाधीशों एवं पंडे-पुजारियों के जंजाल में उलझे हुए भारतीय समाज को एक नया प्रकाश देकर फिर से अपने पैरों पर खड़ा करने का सत्प्रयास किया। लूथर ने ईसाइयत में पैदा हो जानेवाली कुसंस्कारजनित अंध धारणाओं के विरुद्ध आवाज़ बुलन्द करते हुए जिस प्रकार बाइबिल की मूल शिक्षा की ओर वापस लौट चलने का आह्वान किया था, दयानन्द ने भी वैसे ही भारतीय धर्म में बाद को घुल-मिल जानेवाली अनेक खटकने-जैसी बातों का विरोध कर वेदों की मौलिक आधारशिला का ही अवलंब लेने के लिए हमें उद्बोधित किया था। किन्तु इसका यह अर्थ न था कि अतीत के प्रति अपनी प्रगाढ़ श्रद्धा के आगे उन्हें देश-काल के अनुसार आज की हमारी आवश्यकताओं का ध्यान ही न रहा हो। वस्तुतः हमारे वर्त्तमान और भविष्य की चिन्ता ही उनकी सर्वोपरि चिन्ता थी। यदि उन्होंने हमें अपने भूतकाल की ओर प्रेरित किया था तो इसका मूल कारण यही था कि उनके विचार में हमारी उस पुरातन युग की कमाई ही में आज की और इसके बाद आनेवाली समस्याओं की सच्ची औषधि संचित थी। उनका यह निदान कहाँ तक ठीक था, यह तो समय ही बता सकेगा, क्योंकि अब भी हम पूरी तरह रोगमुक्त नहीं हो पाए हैं और दिन पर दिन नई समस्याएँ हमारे वातावरण में पैदा होती जा रही हैं। किन्तु हमारे पुनर्जागरण के महायज्ञ में जो महत्त्वपूर्ण भाग उन्होंने लिया और उसके कारण हमारे इतिहास में जो उच्च आसन सदा के लिए उन्हें प्रदान किया गया, उसकी महत्ता और गौरवगरिमा को कौन अस्वीकार करेगा? ऋषि दयानन्द राममोहनराय और गांधी के बीच की युग-संधि के हमारे सबसे महान् राष्ट्र-निर्माता हैं। यदि दयानन्द न हुए होते तो हम बहककर कहाँ से कहाँ जा पहुँचते इसकी कल्पना मात्र से हमारे रोंगटे खड़े हो जाते हैं!

यह एक उल्लेखनीय बात है कि पिछले सौ साल की अल्प अवधि ही में इस पुण्यभूमि के एक ही प्रान्त ने दो ऐसी अन्यतम विभूतियों की भेंट हमें दी, जिनके नाम मानव-जाति का हृदयमंथन करनेवाले असाधारण मनीषियों की तालिका में युग-युग तक अमर रहेंगे! विश्ववंद्य गांधी की तो जन्मभूमि गुजरात (काठियावाड़) प्रख्यात है ही, किन्तु बहुत कम लोग यह जानते होंगे कि महर्षि दयानन्द भी उसी ऋषिप्रसविनी गुर्जरभूमि के एक छोटे-से गाँव की उपज थे! दयानन्द का वास्तविक नाम था मूलशंकर और उनका जन्म संवत् १८८१ वि० (अर्थात् १८२४ ई०) में काठियावाड़ (सौराष्ट्र) के मोरवी राज्य के टंकारा नामक गाँव में एक उच्च कोटि के ब्राह्मण-परिवार में हुआ था। उनके पिता अंबाशंकर एक कट्टर वेदपाठी सामवेदी औदीच्य ब्राह्मण और मोरवी राज्य के एक सम्माननीय पदाधिकारी थे। स्वयं दयानन्द ही का कथन था कि उनकी अपनी शिक्षा पाँच वर्ष की आयु ही में आरंभ हो चुकी थी और आठवें वर्ष में उपनयन-संस्कार के बाद तो वह विधिवत् वेदाध्ययन में संलग्न हो गए थे। कहते हैं, जब मूलशंकर चौदह वर्ष के हुए तो उनके जीवन में एक ऐसी घटना घटी, जिसने उन्हें सदैव के लिए एक दिशा विशेष की ओर मोड़कर धर्म और समाज के क्षेत्र में प्रचलित अंध भावनाओं का कट्टर विरोधी और एक सच्चा सत्यान्वेषक बना दिया। बात यह हुई कि प्रति वर्ष की भाँति जब उस साल भी महाशिवरात्रि का महान् पर्व-दिवस आया तो अंबाशंकर ने, जो एक कट्टर शिवभक्त और पक्के रूढ़िवादी थे, अपने पुत्र को भी व्रत रखकर सारी रात जागरण में बिताने तथा उपवास करने के लिए विवश किया और उसे साथ लेकर वह पूजा-पाठ के निमित्त अन्य उपासकोंसहित

गाँव के बाहर एक शिवालय में जा डटे। परन्तु आधी रात के लगभग क्रमशः उस मण्डली के सभी लोग नींद के झोंकों के आगे लड़खड़ाकर एक के बाद एक लोट-पोट हो गए—केवल जागता रहा अपने संकल्प का धनी, सच्चा धर्मव्रती वह चौदह-वर्षीय किशोर मूलशंकर ही, जो आँख से आँख मिलाए एकटक शिव-प्रतिमा को निहारता रहा और मन ही मन उस महेश्वर की आराधना के मंत्र जपता रहा। मंदिर के चारों ओर अंधकार और सन्नाटा छाया हुआ था। केवल उस मूर्त्ति के समीप एक घी का दीपक टिमटिमाते हुए थोड़ा-बहुत उजाला किए हुए था। इतने में कुछ ही समय बाद यह व्रती बालक देखता क्या है कि एक छोटी-सी चुहिया नैवेद्य की तलाश में आकर उस शिव-मूर्त्ति पर उछल-कूद मचा रही है और अचरज की बात तो यह है कि जिनके भ्रू विक्षेप के तनिक संकेत मात्र से तीनों लोकों का विनाश हो सकता है, वह महारुद्र उसकी इस ढिठाई पर चूँ भी नहीं करते! तो फिर क्या यह प्रतिमा केवल एक खिलौना ही है? बालक मूलशंकर के मन में इस शंका के साथ ही विचारों का एक तूफ़ान-सा उठ खड़ा हुआ। उससे चुप न रहा गया और तत्काल ही पिता को जगाकर उसने अपने संशय का समाधान करने के लिए उनसे पचीसों प्रश्न पूछ डाले! परन्तु पिता के टकसाली उत्तर उसे संतुष्ट न कर पाए। निदान उसी समय वह उस देवालय से उठकर अपने घर पर चला आया और शिवरात्रि का अपना वह व्रत उसने तोड़ डाला! उसके मन में मूर्त्ति-पुजा की निस्सारता और पुराणों में वर्णित देवी-देवताओं की कथा-कहानियों के प्रति घोर अश्रद्धा का बीज अंकुरित हो गया और वह संशयांकुर अधिकाधिक बल ही पाता गया, मुरझा नहीं पाया!

पिता ने डाँट-फटकारकर उसे राह पर लाने का भरसक प्रयास किया, किन्तु इसका उस पर कोई अनुकूल प्रभाव पड़ते न दिखाई दिया। उल्टे अब वह उनकी ओर से और भी अधिक खिंचा-खिंचा-सा ही रहने लगा। उसका एकमात्र विश्वास-भाजन और पृष्ठपोषक यदि कोई था तो वह उसके एक चाचा थे, जो काफ़ी उदार वृत्ति के व्यक्ति थे। परन्तु दुर्भाग्य से कुछ ही वर्ष बाद महामारी के प्रकोप से उनका असमय ही देहान्त हो गया, जिसका मूलशंकर के भावुक हृदय पर बहुत ही गहरा प्रभाव पड़ा। इसके दो वर्ष पूर्व अपनी एक प्यारी बहन को भी इसी तरह कालकवलित होते देखकर इस नवयुवक का मन दुःखमूलक संसार की ओर से एकदम उदासीन हो गया था और तब से वह वास्तविक सुख के किसी सुदृढ़ आधार की निरंतर खोज करता हुआ इस जरा-मृत्युग्रस्त संसृति के बन्धनों से छुटकारा पाने की औषधि जानने के लिए विकल हो रहा था। उसकी इस असामयिक विरक्ति से घबड़ाकर अन्त में उसके माता-पिता ने वही एक उपाय सोचा, जो ऐसी स्थिति में आम तौर से प्रयोग में लाया जाता है। उन्होंने तुरन्त ही उसका विवाह कर देने का निश्चय किया, ताकि गृहस्थी के मोहजाल में फँसकर वह इस वैराग्य के भाव को तिलांजलि दे दे। परन्तु जो व्यक्ति आग से जले की दवा खोजने जा रहा था, वह भला स्वयं आग में क्यों कूदने लगा! मूलशंकर ने विवाह की बेड़ियों को सामने आते देखकर अपने भरसक टालमटूल की नीति से काम लेने का प्रयत्न किया। उसने वर्ष भर के लिए विवाह को और स्थगित रखने की अवधि पिता से माँगी और जब वह अवधि भी समाप्त हो गई तो विशेष शिक्षा के लिए काशी जाने की अपनी चाह प्रकट की। पिता ने उसे काशी तो न जाने दिया; हाँ, पड़ोस ही के एक गाँव के एक नामांकित पण्डित के पास उसे पढ़ाई के लिए भेजने को वह राज़ी हो गए। परन्तु जब उस शिक्षक से भी उन्हें यही सूचना मिली कि यह युवक किसी भी दशा में अपना विवाह करने को राज़ी नहीं है, बल्कि शीघ्र ही किसी युक्ति से घर से निकल भागने ही के फेर में वह है, तब तो शीघ्रता करने ही में उन्होंने अपनी भलाई समझी और तुरन्त ही ब्याह के बाजे-गाजे बजने लगे। लेकिन यह दृढ़संकल्पी युवक भी अपने निश्चय पर मानों तुला बैठा था। वह लग्न-तिथि के एक सप्ताह पूर्व ही चुपके से एक दिन घर से भाग निकला और गेरुआ धारण कर साधु-वेष में, उसने उपयुक्त गुरु की तलाश में यहाँ से वहाँ भटकना शुरू किया! कहते हैं, पिता ने टोह

पाकर सिद्धपुर नामक स्थान में फिर से उसे जा पकड़ा और एक कोठरी में बन्दकर उन्होंने उस पर कड़ा पहरा बिठा दिया। पर न जाने किस तरह यह विद्रोही पहरेदारों को चकमा देकर उसी रात को फिर से अपनी राह पर चलता बना और अन्त में नर्मदा-तट पर चाणोद-कल्याणी नामक स्थान में परमहंस परमानन्द के आश्रम में पहुँचकर कई दिनों तक वह वेदांत का अध्ययन करता रहा तथा अन्ततः वहीं उसने दंडी स्वामी पूर्णानन्द के हाथों विधिवत् संन्यास ग्रहण कर लिया!

इस प्रकार चौबीस वर्ष की आयु ही में ब्रह्मचारी मूलशंकर एक साथ ही आश्रम-धर्म की बीच की दो सीढ़ियाँ लाँघकर संन्यासी दयानन्द के रूप में परिणत हो गया! इसके बाद किस प्रकार बरसों अपने परमध्येय की खोज में यहाँ से वहाँ भटकते हुए वह नर्मदा से गंगा और विन्ध्यमेखला से हिमालय तक इस देश की खाक छानता रहा, वह है इतिहास की यवनिका की ओट में छिपी हुई एक अज्ञात कहानी! कहते हैं, इस बीच उसने कुछ समय तक योगानंद, ज्वालानंद और शिवानंद पुरी नामक योगविद्या के आचार्यों से दुश्कर योग सीखा और तदनंतर कृष्णशास्त्री नामक एक पंडित से व्याकरण और दर्शन के गहन तत्त्वों का अध्ययन किया; तो कुछ दिनों तक अरावली की पर्वतश्रेणी में आबू के गिरि-शिखर पर ही उसने आसन जा जमाया और इसके अनंतर काफ़ी समय तक हिमालय की दुर्गम चट्टानों ही से लोहा लेते हुए वह कठोर तप करता रहा। किन्तु इस पर भी जब उसे उपयुक्त प्रकाश न मिला तो निराश हो वह पुनः मैदानों में उतर आया और हरद्वार, कानपुर, प्रयाग आदि स्थानों का चक्कर काटता हुआ पंडितों के पुरातन गढ़ काशी पहुँचा। पर वहाँ भी कोई उसकी उत्कट जिज्ञासा और मुक्ति की प्यास न बुझा सका। सच तो यह था कि अब तक उसे अपने मन के उपयुक्त कोई गुरु ही न मिला था। उसके जैसे असामान्य सत्यशोधक के लिए तो उसी जैसे असाधारण पथ-प्रदर्शक की आवश्यकता थी! आखिरकार घूमते-भटकते वह काशी से मथुरा आया और वहाँ एक कंकालवत् वृद्ध अंध संन्यासी के चरणों में उसने अपने आपको डाल दिया। अपनी अब तक की सारी छानबीन के बाद उसे केवल यही एक व्यक्ति ऐसा मिला था, जो सचमुच ही उसे राह बता सकता था। इस प्रज्ञाचक्षु दण्डी संन्यासी, विरजानन्द सरस्वती, के रूप में उसे यथार्थतः अपने अनुरूप गुरु और पथ-प्रदर्शक मिल गया और उसकी ही उँगली पकड़कर अंत में वह उस कल्याण-मार्ग का सफल पथिक बन सका, जिसके कि लिए घर-द्वार, स्वजन, आदि को ठुकराकर चुपके से उस दिन वह एकाकी घर से भाग निकला था!

यह डेढ़ पसलियों का विकट साधु—विरजानंद—अपने युग का एक अत्यन्त विलक्षण और असाधारण महापुरुष था, जिसका अपना जीवन भी दयानन्द की अब तक की जीवनलीला से किसी अंश में कम रोमांचक न था! वह अपने बचपन ही में मा-बाप के साथ-साथ आँखों की ज्योति भी खोकर एक निस्सहाय अनाथ हो गया था, परन्तु उस असहायावस्था में भी उसने अपनी दुर्द्धर्ष संकल्पशक्ति, असामान्य बुद्धि और अदम्य साहस के बल पर क्रमशः संस्कृत-व्याकरण जैसे दुरूह विषय पर प्रभुत्व प्राप्त कर वेदों के विषय में एक नवीन पाण्डित्यपूर्ण दृष्टिकोण प्रस्थापित किया था! वह वेदों की मौलिक शिक्षा ही को महत्त्व देता और मानता था, उनकी बाद की विविध संप्रदायमूलक व्याख्याओं को नहीं। इसी तरह पुराणों का वह घोर विरोधी था और उनके द्वारा पोषित बहुदेवोपासना, मूर्त्तिपूजा आदि बातों को खुलकर वह वेद-विरुद्ध एवं अधार्मिक घोषित करता था। वह देश की वर्त्तमान धार्मिक पतनावस्था पर आँसू बहाया करता और एक ऐसे साहसी शिष्य की खोज में था, जो कि उसका नया संदेश सुनाकर दिन पर दिन बढ़ते जा रहे पाखण्ड का डेरा-तंबू उखाड़ फेंके और फिर से इस पुण्यभूमि में विशुद्ध वेदों की धर्म-पताका फहरा दे! अतः जब विधाता ने अंततः युवक दयानन्द के रूप में वह मनचाहा शिष्य उसके हाथों में ला सौंपा तो वृद्धावस्था के कारण जर्जर हो जाने पर भी इस अंधे साधु ने जी-जान से अपने विशेष दृष्टिकोण के अनुसार संस्कृत व्याकरण से लेकर वेदों तक की महती शिक्षा उसे देना शुरू किया! किन्तु वह था एक अत्यन्त कठोर शासक और महाक्रोधी शिक्षक! कहते हैं, कभी-कभी वह

साधारण-सी बात पर शिष्य को डंडे से मार तक बैठता था ! पर दयानन्द सब-कुछ सहन करते हुए गुरुकुल के प्राचीन आदर्श के अनुसार तन-मन से गुरु की सेवा करते रहे और शिक्षाकाल की समाप्ति पर और कुछ न पा गुरुदक्षिणा के रूप में केवल आधा सेर लौंग ही लेकर विरजानन्द से विदा माँगने पहुँचे ! उस समय का दृश्य अत्यन्त कारुणिक साथ ही एक महान् दृश्य था। गुरु अपने इस महामेधावी शिष्य को इतने सस्ते दामों ही छूट जाने देने को तैयार नहीं थे, अतएव अपनी सच्ची गुरुदक्षिणा के रूप में इस कठोर प्रतिज्ञा का बोझ उन्होंने दयानन्द पर लाद दिया कि वह इस देश में पुनः विशुद्ध वैदिक धर्म की प्रतिष्ठा कर किंकर्त्तव्यविमूढ़ आर्यजाति को अपने पैरों पर खड़ा करने तथा संसार में वैदिक ज्ञान-निधि का प्रचार करने के हेतु ही अपना जीवन उत्सर्ग कर दें। कहने की आवश्यकता नहीं कि योग्य शिष्य ने गुरु की इस मनचाही दक्षिणा को चुकाने में कहाँ तक अपना वचन निभाया। उन्होंने गुरु से विदा लेने के कुछ ही वर्ष बाद सन् १८६७ ई० में हरद्वार के महाकुम्भ के अवसर पर अपनी प्रख्यात 'पाखंडखंडिनी पताका' फहराकर जिस दिन कुसंस्कारग्रस्त आर्यजाति को पहले-पहल पुनरुत्थान का अपना मंत्र सुनाया था, उस दिन से मृत्युपर्यन्त उनके जीवन का एक-एक क्षण उसी महाप्रतिज्ञा की पूर्त्ति के प्रयास में ही बीता। अपने इस महासंकल्प को पूरा करने के लिए कितनी लड़ाइयाँ उन्होंने न लड़ीं और क्या-क्या आपत्तियाँ न उठाईं ? और तो और, इसी अनुष्ठान की वेदी पर अन्त में उन्होंने अपने प्राणों तक की आहुति चढ़ा दी ! निश्चय ही आधुनिक युग में जातीय उद्धार के लिए जीवन उत्सर्ग कर देने का सबसे उज्ज्वल पाठ यदि हमें पहले-पहल किसी ने पढ़ाया तो इस वीतराग संन्यासी महान् राष्ट्रधर्मी ऋषि दयानन्द ने ही !

स्वामीजी ने अन्य सभी मत-मतान्तरों का खण्डन कर केवल वेदों की भित्ति पर प्रस्थापित प्राचीन आर्यधर्म का ही प्रतिपादन किया और इस उद्देश्य से आचार्य शंकर की भाँति देश के अधिकांश भाग का भ्रमण कर उन्होंने स्थान-स्थान में विरोधियों को शास्त्रार्थ के लिए ललकारा। यहाँ इतनी जगह नहीं कि हम उनकी उस विशद दिग्विजय-यात्रा का सुविस्तृत वर्णन दे सकें। केवल यही भर कह देना पर्याप्त होगा कि पण्डितों के प्रधान पीठस्थान काशी से लेकर आधुनिक भारत की कलकत्ता और बम्बई जैसी महानगरियों तक जहाँ-जहाँ भी वह पहुँचे वहाँ उन्होंने अपनी निर्भीक आवाज़ से शत्रुओं का दिल दहला दिया और जनता में एक नई जागृति पैदा कर दी। उनकी वेदों की व्याख्या अपने ढंग की सबसे निराली होती थी। वह अपने संस्कृत-विषयक अगाध ज्ञान और व्याकरण के गूढ़ मर्म की सूक्ष्म जानकारी के बल पर वैदिक मंत्रों का ऐसा अनूठा अर्थ प्रस्तुत कर देते थे कि प्रतिस्पर्द्धियों को हतप्रभ और श्रोताओं को चकित रह जाना पड़ता था ! वह पहले तो विशुद्ध संस्कृत ही में बोलने और लिखने-पढ़ने के अभ्यस्त थे, किन्तु बुद्ध की भाँति शीघ्र ही जब वह यह अनुभव करने लगे कि जनसाधारण के हृदय तक पहुँचने का एकमात्र साधन जनबोली ही हो सकती है, पण्डितों की भाषा नहीं, तब से जन्म के गुजराती होते हुए भी उन्होंने उत्तरी भारत की प्रधान बोली हिन्दी को ही अपनाकर उसी में धाराप्रवाह रूप से भाषण देना, वादविवाद करना और अपनी अनेक कृतियाँ लिखना आरम्भ किया। कालान्तर में उनका नाम इस देश के धार्मिक क्षेत्र में घर-घर की वस्तु बन गया: किन्तु जहाँ पीड़ित त्रस्त मानवता ने उन्हें अपना एक नवीन त्राता और उद्धारक मानकर स्थान-स्थान में उनके लिए पलक-पाँवड़े बिछाए और साधारण जनों से लेकर अनेक बड़े-बड़े राजा-महाराजा तक उन्हें गुरुभाव से पूजने लगे, वहाँ कुछ स्वार्थान्ध अविद्याग्रसित दुष्टजनों ने उन्हें अपनी आँखों का खटकनेवाला काँटा समझकर नीचतापूर्वक उन पर पत्थर भी बरसाए और विष देकर अथवा अन्य साधनों द्वारा उन्हें मार डालने तक का प्रयास किया ! पर उस महान् संन्यासी ने उनके प्रति सदैव क्षमा-भाव ही रक्खा। इसी प्रकार प्रतिस्पर्द्धियों ने शास्त्रार्थों और विवादों में कई बार उसके हाथों मात खा चुकने पर भी प्रायः हार स्वीकार न की और उल्टे उस पर कीचड़ ही उछाला, फिर भी यह महापुरुष अपने सत्पथ से विचलित नहीं किया जा सका ! उसने स्वयं काशी

ही में हज़ारों दर्शकों की उपस्थिति में सुप्रसिद्ध स्वामी विशुद्धानन्द के नेतृत्व में शास्त्रार्थ करने के लिए आगे आनेवाले लगभग तीन सौ उद्भट पंडितों से अकेले ही हाथ लोहा लेकर अपने पूर्वगामी राजा राममोहनराय की भाँति निर्भीक स्वर में मूर्त्ति-पूजा, बहुदेवोपासना, आदि को मूल भारतीय धर्म के विरुद्ध घोषित करते हुए समाज में प्रचलित अंध प्रथाओं पर एक सच्चे संस्कारक की तरह ज़ोरों से प्रहार किया और जातिगत ऊँच-नीच संबंधी भावनाओं की जड़ उखाड़ने के सत्कार्य से लेकर शिक्षा-प्रसार, बालविवाह-निषेध, स्त्रियों के पुनरुद्धार आदि विविध राष्ट्रहितमूलक सुधारों की ओर खुलकर अपना हाथ बढ़ाया ! इस प्रकार भारतीय समाज को एक ही सूत्र में संगठित करने के महान् अनुष्ठान में इस प्रखर संन्यासी ने अपने ढंग से अभूतपूर्व योग दिया और विरोधियों के लाख हाथ-पैर पटकने पर भी उसका दुर्द्धर्ष तेज किसी के दबाए न दबाया जा सका ! उसने इस देश के धर्म-आँगन में एक व्यापक क्रान्ति का सूत्रपात कर दिया, जिसने कालान्तर में हमारे जीवन के अन्य अंगों को भी हिलाने में परोक्ष अथवा अपरोक्ष भाव से अमूल्य सहायता दी। निश्चय ही राममोहनराय, दयानन्द, रामकृष्ण परमहंस, देवेन्द्रनाथ ठाकुर, केशवचन्द्र सेन, विवेकानन्द और रामतीर्थ जैसे धर्मनेताओं द्वारा प्रज्वलित चिनगारियों ही ने आगे चलकर उस प्रचण्ड सर्वव्यापी क्रान्ति की लपट को जन्म दिया, जिसने आधुनिक भारत के कलेवर में फिर से एक विद्युत्चेतना का संचार कर दिया !

राममोहनराय की तरह ऋषि दयानन्द ने भी सार्वजनिक क्षेत्र में आते ही अपने देश की प्राचीन ज्ञान-निधि की ओर जनसाधारण का ध्यान खींचने और उसका यथार्थ तत्त्व संसार को समझाने का महत्त्व और मूल्य परखा, और इसी उद्देश्य से अगाध परिश्रम कर उन्होंने स्वयं ही जनवाणी हिन्दी में अपने विशिष्ट दृष्टिकोण से वेदों का भाष्य प्रस्तुत करने का बीड़ा उठाया ! किन्तु हमारे दुर्भाग्य से केवल पूरी यजुर्वेद-संहिता और ऋग्वेद-संहिता के आरंभिक सात मंडलों व अन्य कुछ अंशों का ही भाष्य वह प्रस्तुत कर पाए—शेष कार्य उनकी असामयिक मृत्यु के कारण ज्यों-का-त्यों पड़ा रह गया। उनके इन वेद-भाष्यों में ऋषि, देवता, छन्द और पदच्छेद सहित मूलमंत्रों के साथ-साथ संस्कृत में पदों के प्रमाणयुक्त अर्थान्वय और पदयोजना के बाद अन्त में हिन्दी में भावार्थ दिया गया है, और उनकी सबसे बड़ी विशेषता है निरुक्त की विधि से मंत्रों के शब्दों के यौगिक अर्थ की वह व्याख्या, जिसके द्वारा कई स्थलों पर उन्होंने सायण आदि पूर्वगामी भाष्यकारों से एकदम पृथक् अर्थ प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। उनका यह प्रयत्न कहाँ तक सही था, यह विद्वानों की दृष्टि में एक विवाद का विषय है। किन्तु वेदों-संबंधी उनके अगाध ज्ञान तथा उनके उद्देश्य की सच्चाई के विषय में शायद ही कोई उँगली उठा सकता है। साथ ही आज से लगभग एक शताब्दी पूर्व राष्ट्रभाषा हिंदी में, जिसे वह गर्व के साथ 'आर्य-भाषा' कहकर पुकारते थे, इन महान् ग्रंथों का अनुवाद प्रस्तुत कर उन्होंने जिस दूरदर्शिता का परिचय दिया था, उसकी महत्ता को भी कौन अस्वीकार कर सकता है ? वेदों के इन भाष्यों के अतिरिक्त दयानन्द की अन्य कृतियाँ 'सत्यार्थ-प्रकाश', 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका', 'वेदांगप्रकाश', 'संस्कार-विधि', 'आर्याभिविनय', 'पंचमहायज्ञ-विधि', 'गोकरुणानिधि', तथा कई एक खण्डन-मण्डनात्मक छोटी-बड़ी पुस्तक-पुस्तिकाएँ हैं, जिनमें 'सत्यार्थप्रकाश' उनके विचारों का प्रतिपादन करनेवाला प्रतिनिधि ग्रन्थ है। इस पुस्तक में प्रथम दस समुल्लासों (अध्यायों) में क्रमशः परमेश्वर के नाम-गुण, माता-पिता और संतान के परस्पर कर्त्तव्य, शिक्षा, ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास आदि आश्रमों के धर्म, राजधर्म, वेद और ईश्वर, सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय, विद्या-अविद्या, मोक्ष-बन्धन, आचार-अनाचार आदि का विशद विवेचन है और अन्तिम चार प्रकरणों में विभिन्न मतों (जिनमें बौद्ध, जैन, ईसाई और इस्लाम धर्म भी संमिलित हैं) की खण्डनात्मक आलोचना है। यह संपूर्ण ग्रन्थ हिन्दी में है और उसके अन्त में 'स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश' शीर्षक से उन्होंने एक परिशिष्ट भी दिया है, जिसमें उनके अपने व्यक्तिगत मत विशेष का एक प्रकार से

सारांश-सा आ गया है। इस ग्रन्थ के कारण समय-समय पर काफ़ी कटु विवाद उठा है और उसमें अन्य मत-मतान्तरों की जो उग्र आलोचना की गई है, उस पर विशेष रूप से आपत्तियाँ उठाई गई हैं। इसमें संदेह नहीं कि इस ग्रंथ का यह आलोचना-भाग कहीं-कहीं पर अत्यन्त कटु हो गया है और उसमें वितण्डावाद की-सी ध्वनि सुनाई देने लगती है। परन्तु इसका बहुत-कुछ दोष उस युग के धर्म-विवादों में अधिकतर प्रयोग में लायी जानेवाली उस ध्वंसात्मक शैली ही के मत्थे मढ़ा जाना चाहिए, जो अन्य मत-मतान्तरों पर आक्रमण करने में अग्रणी विदेशी ईसाई मिशनरियों के हाथों में पड़कर और भी अधिक कटु बन गई थी। वस्तुतः दयानन्द का उद्देश्य किसी भी मत-मतान्तर पर अनुचित आक्रमण कर धार्मिक क्षेत्र में खामख्वाह कटुता बढ़ाने का न था- वह तो केवल असत्य का भंडा फोड़कर सत्य-मार्ग की ओर संकेत करने के लिए ही सबसे अधिक उत्कंठित थे और विविध धर्मों की बुराइयों से किनारा कसने का जहाँ उपदेश देते थे वहाँ साथ ही साथ उनकी अच्छाइयों को अपनाने के लिए जी खोलकर प्रोत्साहन देने में भी वह किसी से पीछे नहीं हटते थे, जैसा कि सत्यार्थप्रकाश के अंत में लिखित उनके निम्न वाक्यों से स्पष्ट हो जाता है—"मेरा कोई नवीन कल्पना या मत-मतान्तर चलाने का लेशमात्र भी अभिप्राय नहीं है, किन्तु जो सत्य है उसको मानना-मनवाना और जो असत्य है उसको छोड़ना-छुड़वाना ही मुझको अभीष्ट है।" निश्चय ही इन शब्दों में हमें उस महान् सुधारक के व्यापक दृष्टिकोण एवं उसके उद्देश्य की सच्चाई का समुचित प्रमाण मिल जाता है।

सन् १८७२ ई० के दिसम्बर मास में स्वामीजी घूमते-फिरते भारत की तत्कालीन राजधानी कलकत्ते पहुँचे और वहाँ उन्होंने अपने युग के धर्म के क्षेत्र के अन्य तीन प्रमुख भारतीय महापुरुषों रामकृष्ण परमहंस, देवेन्द्रनाथ ठाकुर और केशवचन्द्र सेन—से भेंट की। केशवचन्द्र के नेतृत्व में ब्राह्म समाज ने उनका हृदय से स्वागत किया और अपने कार्य में सहयोग की आशा से उनकी ओर भ्रातृत्व का हाथ बढ़ाया। किन्तु दयानन्द की उनके साथ पटना मुश्किल था, कारण वह स्वयं पाश्चात्यीकरण के घोर विरोधी और वेदों की भित्ति पर प्रस्थापित विशुद्ध आर्य-धर्म ही के प्रबल उपासक थे, जब कि केशव के नेतृत्व में ब्राह्म समाज अधिकाधिक ईसाइयत और पाश्चात्य विचारों की ओर ही झुकता चला जा रहा था। वस्तुतः उन्हें अब दिन पर दिन देश में बढ़ते चले जा रहे पश्चिम के प्रभाव और ईसाई मत की ओर कुछ शिक्षित लोगों के खतरनाक झुकाव को राष्ट्रीय हित की दृष्टि से रोकने के लिए एक निश्चित सुसंगठित प्रयास करने की आवश्यकता दिखाई देने लगी थी और वह स्वयं एक ऐसी धर्म-वेदी की संस्थापना करने के लिए उत्कंठित थे, जो वेदों की नींव पर फिर से आर्य-धर्म का झंडा खड़ाकर सारे देश को क्रमशः एक ही धर्मसूत्र में बाँध दे, साथ ही इस महाराष्ट्र की मूल संस्कृति को भी ज्यों-की-त्यों अक्षुण्ण बनाए रख सके। उनका यह विचार उनके अंतस्तल में से बाहर आकर अब स्थूल रूप में मूर्त्तिमान होने के लिए मौक़ा ढूँढ़ रहा था। अंत में वह सुअवसर भी आ पहुँचा और दो वर्ष बाद बंबई में १० अप्रैल, सन् १८७५ ई०, के दिन अपने सबसे महान् स्मारक 'आर्यसमाज' की नींव डालकर उन्होंने उस धर्म-वेदी की प्रस्थापना कर दी, जिससे कि आज दिन सब कोई परिचित हैं। इस नवीन संस्था के विधान के रूप में स्वामीजी ने आरंभ में २८ मूल धर्म-नियम निर्धारित किए थे, किन्तु दो वर्ष बाद १८७७ ई० में लाहौर में 'समाज' की प्रस्थापना के बाद उनमें उचित संशोधन कर केवल निम्न १० नियम ही बाँध दिए गए, जो कि तब से 'समाज' की इमारत की मुख्य आधारशिला जैसे बने हुए हैं:—

१. सब सत्य विद्या और जो पदार्थ उक्त विद्या से जाने जाते हैं, उन सब का आदि मूल परमेश्वर है।

२. ईश्वर सच्चिदानन्दस्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्त्ता है। उसी की उपासना करना उचित है।

३. वेद सब विद्याओं के आदि ग्रंथ हैं। वेदों का पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है।

४. सत्य ग्रहण करने और असत्य को छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिए।

५. सब काम धर्मानुसार अर्थात् सत्य और असत्य को विचार कर करना चाहिए।

६. संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है, अर्थात् शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना।

७. सबसे प्रीतिपूर्वक धर्मानुसार यथायोग्य बरतना चाहिए।

८. अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि करना चाहिए।

९. प्रत्येक को अपनी ही उन्नति से संतुष्ट न रहना चाहिए, वरन् सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझना चाहिए।

१०. सब मनुष्यों को सामाजिक सर्वहितकारी नियम पालने में परतंत्र रहना चाहिए और प्रत्येक वैयक्तिक हितकारी नियम के पालन में सब स्वतंत्र रहें।

इन दस प्रधान नियमों के अलावा 'समाज' की रचना, शासन-व्यवस्था, उपासना-विधि आदि के संबंध में कुछ उपनियमों तथा प्रजासत्तात्मक सिद्धान्तों पर निर्धारित एक मोटे-से विधान का भी निर्माण साथ ही साथ कर दिया गया, ताकि यह संस्था एक सच्ची जन-प्रतिनिधि अनुशासनबद्ध धर्मवेदी का स्वरूप ग्रहण कर सके। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस महान् संस्था की प्रस्थापना के बाद सन् १८७७ ई० से १८८३ ई० तक स्वामीजी के जीवन के अंतिम छः-सात वर्ष देश के विभिन्न भागों में भ्रमण कर स्थान-स्थान में उसके केन्द्र और उपासना-मंदिर प्रस्थापित करने, उसके मंच पर से धर्म, समाज और सुधार संबंधी अपने विचारों का प्रचार करने और अपने बाद भी वैदिक धर्म की पताका को फहराए रखने के लिए उसका सुदृढ़ संगठन करने ही में व्यतीत हुए। इस कार्य में उन्हें सबसे अधिक सफलता पंजाब, संयुक्त प्रान्त और राजपूताना में मिली और शीघ्र ही उत्तरी भारत के बड़े-बड़े नगरों में आर्यसमाज-मंदिरों का एक ताँता-सा बँध गया, जहाँ सप्ताह में एक बार नियमित रूप से वेदपाठ, मंत्र-स्तवन और हवन आदि के साथ एक ही अनंत अनादि ईश्वर की आराधना का एक नया क्रम देखने को मिलने लगा। इन प्रार्थनाओं में जातिगत भेदभाव का कोई अटकाव नहीं था, अतएव क्रमशः सभी वर्ग के लोग उनमें सम्मिलित होकर 'आर्य-धर्म' के झंडे के नीचे आने लगे और 'समाज' द्वारा प्रवर्त्तित शुद्धि की प्रथा ने तो अन्य धर्मावलम्बियों के लिए भी उसका द्वार खोल दिया। कालान्तर में किस प्रकार इस महान् जनसंस्था ने अपनी अनगिनत सेवाओं द्वारा देश के पुनर्जागरण के यज्ञ में हाथ बँटाया और निद्राग्रस्त आर्य-जाति की आँखें खोलने में योग दिया—किस प्रकार शुद्धि, संगठन, शिक्षा-प्रसार, अछूतोद्धार, बालविवाह-निषेध, विधवा-विवाह-प्रचार, आदि द्वारा हिन्दू जाति को ऊपर उठाकर ईसाई मिशनरियों और इस्लाम के घातक प्रहारों से बचाया तथा देश की आज़ादी के लिए भी समय-समय पर सैनिकों को तैयार कर एवं राष्ट्र-यज्ञ के लिए सबसे आगे बढ़कर आहुतियाँ दे मातृ-भूमि का ऋण चुकाया—इसके पूरे विवरण के लिए तो पिछले पचहत्तर वर्ष के उसके घटनापूर्ण इतिहास के साथ-साथ आधुनिक भारत के विगत अर्द्ध-शताब्दी के समूचे व्यापक इतिवृत्त पर एक विहंगम दृष्टि डालने की आवश्यकता है। उसी से हमें लाजपतराय और श्रद्धानन्द जैसे महान् लोकनेता और गुरुकुल काँगड़ी-जैसी अद्वितीय शिक्षण-संस्था का उपहार मिला—उसने ही अंध कुप्रथाओं के विरुद्ध अनवरत संग्राम छेड़कर हिन्दू-समाज को पुनर्संस्कार के लिए तैयार करने में इस युग में सबसे अधिक रक्तदान दिया! और यह सब था उस महान् युगस्रष्टा नैष्ठिक ब्रह्मचारी स्वाधीन-चेता ऋषि दयानन्द के ही बीजारोपण का सुफल, जो आधुनिक भारत के अन्य एक दिव्य तपस्वी योगिराज अरविन्द घोष के शब्दों में 'परमात्मा की इस विचित्र सृष्टि का एक अद्वितीय योद्धा तथा मनुष्य और मानवीय संस्थाओं का संस्कार करनेवाला एक अद्भुत शिल्पी था।'

सन् १८८३ ई० के अंतिम दिनों में मारवाड़-नरेश का आमंत्रण पाकर स्वामीजी उपदेश के लिए

जोधपुर पहुँचे और वहाँ राज्य के अतिथिगृह में टिककर कई दिनों तक नियमित रूप से नित्य हज़ारों की उपस्थिति में धर्मप्रवचन करते रहे। इन्हीं दिनों की बात है कि उनके कतिपय विरोधियों और एक दुष्ट वेश्या के षड़यंत्र से, जिसके साथ महाराजा के अनुचित संबंध पर स्वामीजी ने घोर विरोध प्रकट किया था, उन्हें गुप्त रीति से घातक विष पिला दिया गया, जिससे उन्हें एक प्राणान्तक व्याधि लग गई! महाराजा साहब ने उनका उपचार कराने के लिए भरसक परिश्रम किया, परन्तु कोई लाभ न हुआ। अंत में वह उसी हालत में अजमेर लाये गए और वहीं संवत् १९४० वि० की दीपावली (३० अक्टूबर, सन् १८८३ ई०) के दिन इस नाशवान शरीर को त्यागकर उन्होंने महानिर्वाण प्राप्त कर लिया। इस प्रकार आधुनिक भारत के उस अद्वितीय ऋषितुल्य राष्ट्र-निर्माता के रोमांचक जीवन-नाटक का अंतिम यवनिकापात हुआ, जो उन्नीस वर्ष की आयु में ही गौतम बुद्ध की भाँति घर से निकला तो था स्वयं अपनी ही मुक्ति की खोज में, किन्तु शीघ्र ही अपना निजी सुख-दुःख भुलाकर जो समस्त जाति और राष्ट्र ही के मोक्ष के प्रश्न को अपना एकमात्र प्रश्न बना बैठा और जीवनभर उसी के समाधान के प्रयास में जूझते हुए अंत में उसकी ही बलिवेदी पर निछावर तक हो गया!

राममोहनराय की भाँति दयानन्द भी मूलतः एक धर्म-संस्कारक ही थे, परन्तु उनका व्यापक प्रभाव धर्म के साथ-साथ हमारे राष्ट्र के अन्य अंगों पर भी पड़े बिना न रह सका। उनकी 'स्वधर्म', 'स्वभाषा' और 'स्वदेश' की आवाज़ ने कालान्तर में इस देश में 'स्वराज्य' का नारा बुलन्द करने में परोक्ष अथवा अपरोक्ष रूप से मूल्यवान योग दिया। वह पश्चिम के प्रभाव और पाश्चात्य शिक्षा-दीक्षा से मुक्त विशुद्ध आर्य संस्कृति ही की उपज थे, अतएव भारतीय संस्कृति के मूल आदर्शों की पुनर्स्थापना के कार्य में जो प्रेरणा उन्होंने दी, वह दूसरा कोई न दे पाया। वस्तुतः उनका काम हमारे आगे आनेवाले सर्वांगीण राष्ट्रीय संग्राम के लिए अग्रिम रणशिविर तैयार करने का था और यह प्रमाणित करने की आवश्यकता नहीं कि इस कठिन कार्य को एक महान् सेनानी की भाँति उन्होंने कितनी खूबी के साथ पूरा कर दिखाया। उनकी अपनी यह धारणा थी कि जिस जाति और राष्ट्र को अपने अतीत का अभिमान न हो, उसका भविष्य उज्ज्वल नहीं हो सकता। इसीलिए उन्होंने अपने देश की गौरवपूर्ण पुरातन कमाई के प्रति फिर से गर्व और सम्मान का भाव जागरूक करने तथा मूल भारतीय परंपरा में बाद को घुल-मिल जानेवाली अनैसर्गिक धाराओं के प्रभाव को झाड़-बुहारकर दूर करने के महत्कार्य के हेतु ही अपना सारा जीवन उत्सर्ग कर दिया! उन्होंने मूर्त्ति पूजा, बहुदेवोपासना, अंधरूढ़िवादिता, अशिक्षा, परदा-प्रथा, बाल-विवाह, छुआछूत, आदि विविध कुसंस्कारजनित कुरीतियों पर जमकर प्रहार किया और 'आर्यसमाज' के रूप में तो एक स्थायी मोर्चा उन्होंने इन सबसे लोहा लेने के लिए इस देश में खड़ा कर दिया! राममोहन की तरह उन्होंने भी स्त्रियों के उत्थान के लिए ज़ोरों से अपनी आवाज़ उठाई और उनको समान अधिकार देने के लिए समाज को ललकारा। उन्होंने विधवा-विवाह, स्त्री-शिक्षा, अंतर्जातीय विवाह आदि का जी खोलकर समर्थन किया, और स्त्रियों के लिए मातृत्व-प्राप्ति ही परम धर्म तथा विवाह का एकमात्र ध्येय उद्घोषित कर विशेष परिस्थितियों में 'नियोग' द्वारा संतान उत्पन्न करने की प्राचीन प्रथा तक का अनुमोदन किया! इसी प्रकार अन्य धर्मावलम्बियों को, विशेषकर उन लोगों को जो कि विवश होकर ईसाई या मुसलमान बन गए थे, शुद्ध करके 'आर्य धर्म' में सम्मिलित कर लेने की उनकी साहसपूर्ण नीति ने भी इस देश के धार्मिक और सामाजिक क्षेत्र में एक नवीन क्रान्ति का स्वर जगाया! तात्पर्य यह है कि हर दृष्टि से वह हमारे एक महान् युग-निर्माता राष्ट्र-नायक थे। उनकी क्रान्तदर्शिता का इससे बढ़कर और क्या प्रमाण हो सकता है कि जो प्रश्न आज के दिन हमारे मस्तिष्क में लगातार उमड़-घुमड़कर समाधान की राह खोज रहे हैं, जैसा कि राष्ट्र-भाषा हिन्दी का प्रश्न, उनके प्रति आज से सत्तर-पचहत्तर वर्ष पूर्व ही वह रचनात्मक प्रयास के रूप में काफ़ी ठोस क़दम बढ़ा चुके थे! और तो और, देश के भविष्य

को मानों पहले ही से पहचानकर आर्थिक दृष्टि से औद्योगीकरण और यंत्रों के अधिकाधिक प्रयोग की आवश्यकता तक के पक्ष में उन्होंने अपनी आवाज़ बुलन्द की थी ! तो फिर किस प्रकार हम उस ऋषि की क्रान्तदर्शिता और उसके प्रति अपने अगाध ऋण का सही-सही अनुमान करें ? निश्चय ही उसने अपने अमोघ मंत्रों का दान देकर युग-युग के लिए हमें फिर से कंगाल से धनी बना दिया !

स्वामीजी के बाद आर्यसमाज की वृद्धि और विकास करने तथा उनके द्वारा आरंभ किए गए कार्य को आगे बढ़ाने में जिन्होंने सबसे अधिक योग दिया, उनमें इस जनवेदी के आगे आनेवाले प्रमुख नेता पं० गुरुदत्त विद्यार्थी, महात्मा मुंशीराम (स्वामी श्रद्धानन्द), लाला लाजपतराय, महात्मा हंसराज, आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण नाम निस्संदेह महात्मा मुंशीराम अर्थात् स्वामी श्रद्धानन्द का है, जिनका आर्यसमाज के इतिहास में वही स्थान है, जो कांग्रेस के इतिहास में महात्मा गांधी का है। जिस प्रकार गांधीजी ने कांग्रेस को एक बृहत् वादविवाद-समिति की स्थिति से उबारकर स्वातंत्र्य-संग्राम के एक सच्चे रणशिविर में परिणत कर दिया तथा देश के सर्वतोमुखी उत्थान के दायित्व का काँटों का ताज पहनाकर कोरे स्वप्न देखने के बजाय रचनात्मक रूप से कुछ करने-धरने के लिए उसे सबल रूप से प्रेरित किया, उसी प्रकार श्रद्धानन्द ने भी गुरुकुल-काँगड़ी जैसी अद्वितीय आदर्श शिक्षण-संस्था की प्रस्थापना कर तथा आर्यजाति को अपनी वर्त्तमान शिथिलावस्था की दयनीय स्थिति से ऊपर उठाने के हेतु उसके कानों में संगठन का मंत्र फूंककर आर्यसमाज को सप्ताह में एक बार हवन-प्रार्थना करनेवाली धर्म-सुधारक-मंडली मात्र बने रहने के बजाय देश और जाति के पुनरुत्थान के एक सबल मंच में बदल देने का एक ज़ोरदार प्रयास किया ! उनके महान् त्याग और अपने सदुद्देश्य के प्रति उनकी लगन की सच्चाई का इससे अधिक प्रमाण और क्या चाहिए कि अपने इस अनुष्ठान की सिद्धि के हेतु उन्होंने अपना सर्वस्व त्याग संन्यासी का चोला धारण कर लिया और शुद्धि तथा संगठन के एक प्रबल आन्दोलन का प्रवर्त्तन कर अंत में उसकी ही वेदी पर अपने प्राणों तक की आहुति चढ़ा दी ! श्रद्धानन्द का व्यक्तित्व आर्यसमाज के इतिहास में उसके प्रवर्त्तक ऋषि दयानन्द के बाद सबसे बड़ा व्यक्तित्व है। वह एक सच्चे कर्मयोगी और लोककल्याण के लिए अपने प्राणों तक की बाज़ी लगा देनेवाले बेजोड़ नेता थे। यह हमारे लिए अत्यन्त दुर्भाग्य की बात थी कि एक धर्मान्ध हत्यारे की छुरी के शिकार होकर वह सन् १९२६ ई० के दिसंबर मास में सदा के लिए हमारे बीच से उठ गए, अन्यथा आज के दिन उनके महान् व्यक्तित्व, अद्भुत साहस और जाति-कल्याण विषयक उत्कट लगन के द्वारा हमें एक अद्वितीय नेतृत्व का लाभ मिलता, कारण वह कोरे धर्म अथवा समाज-सुधार के क्षेत्र ही के व्यक्ति न थे—वह हमारे एक सच्चे राजनेता भी थे, जैसा कि सन् १९१९-२० के पंजाब के दमन के ज़माने में प्रदर्शित उनके साहसपूर्ण रवैये से स्पष्ट है।

स्थानाभाववश हम यहाँ आर्यसमाज की पिछली अर्द्धशताब्दीव्यापी महान् सेवाओं का सुविस्तृत विवरण देने में असमर्थ हैं। केवल यही भर सूचित कर देना पर्याप्त होगा कि यद्यपि स्वामी श्रद्धानन्द के निधन के बाद से उसका मोर्चा उपयुक्त नेतृत्व के अभाव में एक प्रकार से ठंढा-सा पड़ गया है और इन दिनों उसकी वह धूम नहीं है, जो स्वामीजी द्वारा प्रवर्त्तित महान् शुद्धि-संगठन के आन्दोलन के समय थी, फिर भी इस विशाल संस्था की लगभग डेढ़ हज़ार विभिन्न शाखाएँ आज भी स्थान-स्थान में प्रस्थापित हैं, उसके द्वारा विधवा-विवाह, अछूतोद्धार, शुद्धि-संस्कार आदि के रूप में निरंतर सुधार-संगठन का न्यूनाधिक क्रम जारी है, और अनेकों बड़े-बड़े कॉलेज, स्कूल और गुरुकुल उसके तत्त्वावधान में शिक्षण-कार्य कर रहे हैं। और उसकी बलिवेदी पर समय-समय पर अब भी श्रद्धानन्द और लेखराम की तरह कितने ही रत्न जो अपनी आहुतियाँ देते चले जा रहे हैं, वह तो एक कहानी ही दूसरी है। कहना न होगा कि अभी आर्यसमाज के इतिहास का अंतिम अध्याय नहीं पहुँच पाया है—उसे वस्तुतः आवश्यकता है एक और महान् नेता की ! और वह भी कभी आएगा ही, क्योंकि उसका खेत अब भी उर्वर है, वह ऊसर नहीं हो पाया है !

रामकृष्ण

बंग देश के हुगली ज़िले में रेल की सड़क से पच्चीस मील दूर, ताड़ और आम के वृक्षों तथा धान के खेतों की हरियाली में छिपा हुआ एक छोटा-सा गाँव है—कामारपुकुर। यहीं आज से लगभग सौ वर्ष पूर्व १८ फरवरी, सन् १८३६ ई०, के दिन ब्राह्म मुहूर्त्त में एक निर्धन किन्तु निष्ठावान् ब्राह्मण खुदीराम चट्टोपाध्याय की कुटिया में आधुनिक भारत के एक ऐसे महाप्राण युगपुरुष ने जन्म लिया था, जिसकी तुलना यदि किसी से की जा सकती है तो केवल अपने उन वैदिककालीन क्रान्तदर्शी ऋषियों अथवा मध्यकालीन महान् भक्त संत पुरुषों से ही, जिन्होंने अपनी आत्म-वीणा में विश्व-विपञ्ची के निगूढ़तम स्वरों का अनुसंधान कर हमें मर्त्य से अमृत स्थिति प्राप्त करने का दिव्य पथ सुझाया था! विश्व-साहित्यकार रोम्या रोलाँ के शब्दों में 'यह महापुरुष भारत के तीस कोटि नर-नारियों की दो सहस्राब्दिव्यापी आध्यात्मिक तपस्या के चिरवांछित वरदान के रूप में प्रकट हुआ था!' वह मानों इस वृद्धकाय महादेश का आड़े दिनों के लिए संचित अमूल्य पुण्यफल था और था एक दूसरा दधीचि, जिसने अपने महान् तप का सार अर्पित कर भौतिकवाद की भूलभुलैया में लड़खड़ाते हुए मानव को पुनः पार्थिव धरातल से एक स्तर ऊपर उठने के लिए नवीन बल प्रदान किया। उसने हमें फिर से उस शाश्वत टोह की याद दिला दी, जिसकी पुकार ने दो हज़ार वर्ष पूर्व कपिलवस्तु के एक करुणार्द्र राजकुमार को सब-कुछ ठुकराकर आधीरात को विजन की राह लेने के लिए विवश कर दिया था! वह महावीर, बुद्ध, सुकरात, चैतन्य और संत फ्रान्सिस जैसी विभूतियों की कोटि का एक महासाधक था, जिसकी महानता उसकी तपोमय जीवन-साधना ही में निहित थी, कोरे तर्क-वितर्क और सूखे बुद्धिवादी विचार-मंथन में नहीं। यह हमारा परम सौभाग्य था कि वह हमारे राष्ट्रीय इतिहास के इस संकटपूर्ण संक्रांतिकाल में पैदा हुआ! उसने

संशय, अश्रद्धा और पारस्परिक मतभेद के अंध-कूप की ओर लुढ़कते जा रहे संसार को, और विशेषकर इस देश को, फिर से सब धर्मों की मूल-भूत एकता, ईश्वर की अलौकिक सत्ता एवं आध्यात्मिक जीवन की महत्ता में विश्वास जमाने की सबल प्रेरणा दी और निर्गुण-सगुण, एक-अनेक, मूर्त्त-अमूर्त्त, सभी का मूल्य बतलाकर हमें समन्वय का एक असामान्य पाठ पढ़ाया । कितने अचरज की बात थी कि इस सीधे-सादे पगले-जैसे ग्रामीण पुजारी ने, जिसने न तो कभी किसी ऊँचे दर्जे के स्कूल, कॉलेज या विश्व-विद्यालय में शिक्षा पाई, न किसी पुस्तकालय की पोथियाँ ही उलटी-पलटीं, न दूर-दूर देशों का भ्रमण-पर्यटन किया, न लम्बे-चौड़े व्याख्यान दिए और न कभी कोई पुस्तक-पुस्तिकाएँ ही लिखीं, मानों जादू के प्रभाव से दिग्गज तार्किकों तक को श्रद्धा की राह पर ला दिया और पूर्व से पश्चिम तक अपनी आभा फैला दी ! निश्चय ही यह उसकी अलौकिक सिद्धि और जन्मजात महानता का ही प्रकाश था। वस्तुतः धर्म और संस्कृति के विभिन्न पहलुओं में एकता का सत्य खोज निकालने तथा मानव को देवत्व की कक्षा तक ऊँचा उठा ले जाने का जैसा सफल प्रयास इस अद्‌भुत संत—परमहंस रामकृष्ण—ने किया, कम-से-कम इस युग में दूसरा शायद ही कोई कर पाया हो ! और यदि उसकी अन्य देनों को हम क्षण भर के लिए भूल भी जाएँ तो यही क्या कम महत्त्व की बात है कि उसी से हमें विवेकानन्द जैसा महान् जननायक और शिक्षागुरु प्राप्त हुआ ! रामकृष्ण एक महात्मा ही नहीं, वह इस देश के एक सच्चे युग-निर्माता भी थे। उनसे जो-जो स्थायी वरदान हमने पाए, उनका संपूर्ण मूल्य आँकने के लिए अभी हमें अपने विकासक्रम की कई सीढ़ियाँ लाँघना होंगी !

रामकृष्ण के जीवन के आरम्भिक सोलह वर्ष कोई विशेष घटनापूर्ण नहीं कहे जा सकते, यद्यपि यह सच है कि इन आरम्भ के दिनों ही में उनके उस असामान्य भावावेग और लोकोत्तर आवेश के लक्षण स्पष्ट हो चले थे, जिससे आगे चलकर उनका सारा जीवन परिप्लावित हो गया । कहते हैं, जब वह छः या सात वर्ष ही के थे, तभी एक दिन आसपास के धान के खेतों में घूमते-फिरते अचानक सामने आकाश में छा जानेवाली एक काली घटा और उसके सन्मुख उड़कर जाते हुए श्वेत बगुलों की पंक्तियों के सुहावने दृश्य को देखकर इतने अधिक आनन्द-विभोर हो गए कि समाधिस्थ हो वहीं धरती पर गिर पड़े थे और गाँववालों को उठाकर उन्हें उनके घर पहुँचाना पड़ा था ! इसी तरह एक और अवसर पर किसी धार्मिक स्वाँग में शिव का अभिनय करते समय भी इस अद्‌भुत बालक की कल्पना उसे अपने मनोराज्य की उस ऊँची भूमिका तक उड़ा ले गई थी कि वह सचमुच ही अपने आपको शिव मानकर उस अनुभूति की अवस्था में ज्यों-का-त्यों थकित-चकित सा लगभग तीन दिन तक बेसुध पड़ा रह गया था ! उसका यह अलौकिक असामान्य बर्त्ताव देखकर जहाँ गाँव के अन्य लोगों को केवल विस्मय ही होता, वहाँ उसके माता-पिता को अत्यधिक चिन्ता भी होने लगती ! उसे पढ़ने-लिखने का विशेष अनुराग न था, यद्यपि उसकी बुद्धि कुंठित न थी। उसे तो बचपन ही से यदि किसी बात की अभिरुचि थी तो केवल धार्मिक क्रियाकलापों की ही—वही उसका खेल-कूद था ! प्रायः वह गाँव के कुम्हारों से देवी-देवताओं की मिट्टी की मूर्त्तियाँ बनाना सीखा करता अथवा अपनी उम्र के लड़कों को जुटाकर किसी पौराणिक कथा के नाट्याभिनय का खेल रचा करता। उसे गाँव के पास से निकलनेवाले तीर्थ-यात्रियों और साधु-संन्यासियों की सेवा करने तथा उनकी संगति में समय बिताने का विशेष चस्का था । वह ध्यानपूर्वक उनके भजन-गीत, धर्म-संवाद, कथा-वार्त्ता आदि सुनता और स्वयं भी भक्ति-रस से सने हुए गीत गा-गाकर गाँववालों को विमुग्ध किया करता था। इस प्रकार आसपास के गाँवों में दूर-दूर तक वह एक अलौकिक बालक के रूप में प्रख्यात हो चला था और स्वयं अपने ही गाँव में तो प्रत्येक घर का वह मानों दुलारा ही बन गया था !

इस अनोखे व्यक्ति का बचपन का नाम था 'गदाधर', यद्यपि आज के दिन सब कोई उसके बाद को मशहूर होनेवाले नाम 'रामकृष्ण' ही से उसका उल्लेख करते हैं। कहते हैं, जब गदाधर

की उम्र केवल सात वर्ष की थी तभी उसके पिता इस लोक से चल बसे थे । परिवार की आर्थिक परिस्थिति, जो पहले ही कोई बहुत अच्छी न थी, तब से और भी अधिक बिगड़ चली, और कुछ ही दिनों में वह इस हद तक गिर गई कि खाने-पीने के भी लाले पड़ने लगे । अन्त में सबसे बड़े लड़के रामकुमार ने कलकत्ते जाकर एक छोटी-सी संस्कृत-पाठशाला खोल ली और १८५२ ई० के लगभग वहीं उसने छोटे भाई गदाधर को भी बुला लिया । इस समय तक गदाधर की उम्र लगभग सत्रह वर्ष की हो चुकी थी और किशोरावस्था को लाँघकर वह अब युवावस्था के द्वार पर आ खड़ा हुआ था । परन्तु न तो उसने अब तक कोई विशेष शिक्षा पाने का ही प्रयास किया था, न धन-दौलत, पांडित्य आदि के द्वारा सांसारिक उत्कर्ष प्राप्त करने की ही अभिलाषा उसके मन में जग पाई थी ! वह था एक ठेठ देहाती युवक, जो अपनी बालोचित सरलता, असाधारण भावुकता, और सांसारिक विषयों के प्रति सुस्पष्ट अनासक्त भाव के कारण साधारण जनों की निगाह में निरे पगले-जैसा लगता था ! बड़े भाई ने उसे पढ़ाने-लिखाने का भरपूर प्रयास किया, किन्तु इस काम में उसका तनिक भी जी न लगा ! उसे तो मन-ही-मन एक अनोखी प्यास सता रही थी । वह सांसारिक धरातल से ऊपर उठकर इस दृश्य प्रपंच से परे के अमरलोक में जा बसने के लिए उत्कण्ठित हो रहा था । उसने भाई से स्पष्ट शब्दों में कह दिया कि मुझे रोटी कमाने की कोई विद्या नहीं सीखना है, मेरा तो लक्ष्य भगवान् को प्राप्त करना है । और विधि की कृपा से शीघ्र ही उसे अपने मन के अनुकूल उपयुक्त कार्यक्षेत्र भी मिल गया… वह बन गया एक काली-मन्दिर का प्रधान पुजारी । बात यों हुई कि सन् १८५५ ई० में रामकुमार को कलकत्ते से चार मील दूर दक्षिणेश्वर में रानी रासमणि नामक एक धनाढ्य और धर्मपरायण महिला द्वारा प्रस्थापित एक नवीन काली-मंदिर के मुख्य पुजारी का पद प्राप्त हो गया और फलतः गदाधर को साथ लेकर उसने वहीं अपना डेरा-आसन जा जमाया । परन्तु अभी मुश्किल से एक वर्ष भी न बीत पाया होगा कि रामकुमार की मृत्यु हो गई और मंदिर की पूजा का सारा भार अचानक आ पड़ा बेचारे गदाधर के ही कन्धों पर ! यहीं से हमारे चरितनायक के जीवन में एक युगान्तरकारी पटपरिवर्त्तन का क्रम आरम्भ हुआ । अब उसे नित्य ही बड़े तड़के से नौ-दस बजे रात तक लगातार भगवती काली की सेवा-अर्चना ही में लगा रहना पड़ता । उसके ही साथ उसका उठना-बैठना होता, उसी के साथ सोना और जागना । प्रति दिन वही प्रधान पुजारी की हैसियत से उस महामाया का अभिषेक करता, तरह-तरह के वस्त्रालंकारों और पुष्प-मालाओं के शृंगार से उसे सजाता, अगर-धूप-दीप आदि से उसकी आरती उतारता, नैवेद्य आदि चढ़ाता और इस प्रकार की षोड़शोपचारयुक्त पूजा के अंत में विधिवत् उसे शयन कराता ! इस नित्यप्रति के निकट संपर्क और मंदिर के भक्ति-रस-परिप्लावित वातावरण का प्रभाव उस जैसे जन्मजात भावुक व्यक्ति के संवेदनशील हृदय पर पड़े बिना आखिर कब तक रहता ? कब तक वह सुबह से शाम तक अपने आस-पास गूंजते रहने-वाले उस घण्टा-निनाद, मन्त्रोच्चार और गायन-स्तवन के हृदयहारी स्वर एवं श्रद्धाभक्तिपूर्वक अर्पित किए गए धूप-दीप-नैवेद्य के मादक सौरभ के नशे से अपने आपको बचाए रखता ? अतः शीघ्र ही उसका हृदय हिल चला और गहराई के साथ अब दिन पर दिन उस पर भगवती की भक्ति का रङ्ग चढ़ने लगा ! वह पागल-सा हो चला और अंत में स्थिति इस सीमा तक पहुँच गई कि उस पाषाण-प्रतिमा ही में वह उस जगद्धात्री का प्रत्यक्ष साक्षात्कार करने के लिए आकुल हो उठा ! अब उसे न तो अपने तन की सुध थी न मन की ! वह घण्टों उस देवी की प्रतिमा के आगे पागलों की तरह लोटपोट होकर छटपटाता रहता । उसकी आँखों से आँसुओं का प्रवाह नहीं थमता था और मुँह से 'माँ' शब्द नहीं छूटता था । संसार की सभी वस्तुएँ अब उसके लिए फीकी और नीरस थीं—केवल उस पत्थर की मूर्त्ति को एक बार जीवन के स्वर से स्पंदित होते देखने भर के लिए ही उसकी आँखें तरस रही थीं ! पर क्योंकर वह निर्मम पाषाण पसीजता ! 'वस्तुतः इस

पत्थर के भीतर कोई है भी ?' उसके मन में रह-रहकर यह विचार उठता और करुणार्द्र स्वर में वह उसी से पूछने लगता– 'माँ, क्या सचमुच ही तुम इसमें हो भी, या यह कवियों और भक्तों की कोरी कल्पना मात्र है ? क्या सच ही तुम्हारा कोई अस्तित्व भी है ? और यदि है तो फिर तुम मौन क्यों हो, क्यों नहीं अपने भक्त के सन्मुख प्रकट हो उसे निहाल कर देतीं ? क्या इस विश्व का भरण-पोषण करनेवाली कोई शक्ति भी है, या वह एक निरा सपना ही है ?' और जब महीनों इस प्रकार छटपटाते, तड़पते, चीखते, आँसू बहाते बीत जाने पर भी वह पत्थर न हिला तब एक दिन अपने इस निरर्थक जीवन का अंत करने का दृढ़ संकल्प कर उसने समीप ही मंदिर की दीवार पर टँगी हुई नंगी तलवार को उठा लिया ! किन्तु यह क्या—दूसरे ही क्षण ऐसा प्रतीत हुआ मानों उसके आसपास की सभी वस्तुएँ, वह मंदिर का कक्ष, वे द्वार और खिड़कियाँ, सभी-कुछ एकदम लुप्त-सी हो गईं और उसके बदले चारों ओर से लोकोत्तर तेज का एक अगाध अनंत महासागर-सा उमड़ पड़ा, जिसमें वह एकबारगी ही डूब-सा गया ! वह अचेत-सा होकर धरती पर गिर पड़ा। पर उस दशा में भी वह अपनी अन्तरात्मा की गहराई में एक अभूतपूर्व नूतन चेतना का अनुभव करता रहा—उसे अपने भीतर और बाहर सर्वत्र एक अलौकिक तेजोमयी शक्ति की विद्यमानता का सजग भान हो रहा था ! स्पष्टतया कोई उसके हृदय पर मानों प्रेम की मीठी थपकियाँ-सी दे रहा था ! भक्त को भगवान मिल गया था और उसका रोम-रोम एक अनिर्वचनीय आनन्द की पुलक से सिहर उठा था ! कहते हैं, इस समाधि की अवस्था में गदाधर तीन दिन तक संज्ञाशून्य की भाँति पड़ा रहा !

किन्तु ज्योंही उसे पुनः चेत हुआ, अपने उपास्य को सामने से अंतर्धान हुआ देख अब वह और भी अधिक व्याकुल हो उठा। उसके लिए अब अपने इष्ट का क्षण भर का भी विरह असह्य था। वह घायल की तरह तड़पने लगा, 'माँ, माँ' पुकार-पुकारकर सिर धुनने लगा, यहाँ तक कि धरती पर पछाड़ खाकर और मस्तक रगड़-रगड़कर उसने अपने आपको लोहूलुहान कर लिया ! लोगों ने समझा कि निश्चय ही अब वह पागल हो गया है। परन्तु उसकी व्यथा का मर्म तो केवल वही जानता था। अंत में उसके लिए मंदिर के पूजा-अनुष्ठान-संबंधी विधिवत् क्रियाकलापों का उत्तरदायित्व निभाना नितान्त कठिन हो गया और उसका स्वास्थ्य भी दिन पर दिन चिन्ताजनक हो चला। उसकी देह प्रायः अंगारे की तरह तपा करती और कभी-कभी तो उसके रोमकूपों से रक्त की छोटी-छोटी बूँदें तक बाहर उभर आतीं ! इस तड़पन की दशा में यदि कोई एक अवलंब उसे प्राप्त था तो केवल यही कि जब भी उसकी वेदना की पराकाष्ठा हो जाती तब मानों किसी पारलौकिक शक्ति की अनुकंपा से उसका शरीर संज्ञाहीन-सा हो जाता और समाधि के महासागर में उतरकर वह इष्ट के साथ आत्म-साक्षात्कार करते हुए उतने समय के लिए चिदानन्द में लीन हो जाता था ! इस प्रकार साधना के धधकते पथ पर अग्रसर होकर उसने क्रमशः अपने और अपने उपास्य के बीच का पर्दा फाड़ फेंकने में अंततः सफलता पा ली और एक दिन आया जब वह 'महाभाव' की उस उच्च भूमिका पर पहुँच गया, जहाँ उसे इष्ट-दर्शन के लिए अब किसी बाहरी प्रयत्न की आवश्यकता ही न रह गई। अब तो आठों पहर भगवती उसकी आँखों में रमने लगीं—वह सदा के लिए उसके मन-मंदिर में आ बसीं ! उसके लिए वह जड़ पत्थर पिघलकर सजीव हो उठा और अब वह घंटों उसके साथ बातचीत, अनुनय-विनय, और हँसी-ठठोली तक करने लगा !

उसके इस असामान्य वर्त्ताव और दिन पर दिन गिरते चले जा रहे स्वास्थ्य से घबड़ाकर मंदिर की संस्थापिका रानी रासमणि ने अपने दामाद माथुर बाबू की सहायता से कलकत्ते के अच्छे से अच्छे डॉक्टरों को बुलवाकर उसका उपचार कराने का प्रयत्न किया। किन्तु सब-कुछ बेकार सिद्ध हुआ ! तब अज्ञानवश यह सोचकर कि संभवतः कठोर इन्द्रिय-दमन के कारण ही उसकी यह दशा हो रही हो, उन्होंने एकान्त में उसके पास युवती वारांगनाओं तक को भेजा ! किन्तु इसका भी उस पर कोई प्रभाव न पड़ा—उल्टे

चौंककर वह और भी अधिक आतुरतापूर्वक अपनी साधना में तल्लीन हो गया। अंत में सब उपाय विफल होने पर मंदिर के इन व्यवस्थापकों ने पूजा का भार उसके भतीजे—हृदय—को सौंपकर वायु-परिवर्त्तन के लिए उसे कुछ दिनों के वास्ते वापस अपने गाँव कामारपुकुर भेज दिया। वहाँ आकर जब कुछ समय बाद यह युवक पुजारी फिर से सामान्य बर्त्ताव करने लगा तो उसकी माता तथा अन्य अभिभावकों ने यह विचारकर कि संभवतः विवाह से उसके स्वास्थ्य में अनुकूल परिवर्त्तन हो जाय, उसके आगे शादी का प्रस्ताव रक्खा और सबको महान् आश्चर्य हुआ जबकि अपने भोले स्वभाव के कारण वह न केवल उनकी बात से सहमत ही हो गया, बल्कि स्वयं ही उसने उस कन्या को भी चुन लिया, जिसके भाग्य में उसकी जीवन-सहचरी होना बदा था! इस प्रकार तेईस वर्ष के इस पागल-जैसे युवक का शारदामणि नामक एक पाँच वर्ष की बालिका के साथ सदा के लिए गठबंधन हो गया! पर यह विवाह क्या था, एक खिलवाड़-सा था! वस्तुतः जीवन भर कभी भी इस अनोखी जोड़ी में सांसारिक दाम्पत्य-संबंध स्थापित न हो पाया! बल्कि इस अद्भुत तपस्वी ने अपनी इस जीवन-संगिनी को भी भगवती काली का ही एक रूप मानकर उसी भाव से उसकी पूजा-अर्चना की और कालान्तर में उसे भी उसने अपने ही रंग में बहुत-कुछ रँग लिया!

डेढ़ वर्ष बाद गाँव से लौटकर गदाधर ने जब पुनः दक्षिणेश्वर के अपने उस सुपरिचित मंदिर के प्रांगण में क़दम रक्खा तो क्षण भर ही में उसका वह पुराना पागलपन मानों फिर से हरा हो उठा और एक बवण्डर की तरह उसके अंतस्तल में जग पड़ा फिर से वही दुर्द्धर्ष आध्यात्मिक साधना का तूफ़ान! फिर से वह उसी प्रकार कातर वाणी में 'माँ, माँ' पुकारकर सिर धुनने लगा, बात-बात में अचेत होने लगा, और इष्टसिद्धि के लिए अपने आपको तरह-तरह की कठोर साधनाओं के शिकंजे में कसने लगा! कहते हैं, इन्हीं दिनों अपने मन के अहंकार को कुचलने के लिए उसने लुक-छिपकर कई बार अपने सिर के बालों से मेहतरों के घर-आँगनों को झाड़ा-बुहारा और अपने हाथों उनके पाखानों तक को साफ़ किया! इस कठोर तपश्चर्या के फलस्वरूप जहाँ उसका अंतःकरण कसौटी पर चढ़ाए गए सोने की भाँति दुगुने तेज के साथ दमकने लगा, वहाँ उसके शरीर को बदले में काफ़ी गहरा मूल्य भी चुकाना पड़ा। उसकी देह क्रमशः सूखकर काँटा हो चली और सबसे अधिक चिन्ता-प्रद बात तो यह थी कि उसकी आँखें अब पागलों की तरह चौबीसों घंटे खुली ही रहने लगीं—उसके लिए अपने पलक गिराना असंभव हो गया! कालान्तर में उसकी तंदुरुस्ती इतनी अधिक बिगड़ गई कि फिर डॉक्टर-वैद्यों की शरण लेना अनिवार्य हो गया। परन्तु कठिनाई तो यह थी कि कोई भी उसके रोग का ठीक से निदान ही नहीं कर पाता था! और वस्तुतः कोई उसकी बीमारी को समझता भी तो कैसे? उसकी व्यथा का मर्म समझने के लिए तो दरअसल आवश्यकता थी आध्यात्मिक क्षेत्र के किसी जानकार चिकित्सक की—एक सच्चे पहुँचे हुए गुरु की! वही अँधेरे में टटोल-टटोलकर आगे बढ़ते चले जा रहे इस अनाड़ी-जैसे साधक को योग की विज्ञानसिद्ध पगडंडी पर लाकर उस संकट की स्थिति से उबार सकता था!

तब दैवयोग से अनायास ही विधाता ने एक दिन घर-बैठे ही उसे वह मनचाहा पथप्रदर्शक भी ला दिया और उसकी उँगली पकड़ते ही हमारे इस चरितनायक की जीवनसाधना के क्रम में एक नया पट-परिवर्त्तन हो गया। कहते हैं, एक दिन यह पागल पुजारी दक्षिणेश्वर के मंदिर की अगासी पर खड़ा हो गंगा के वक्षःस्थल पर अठखेलियाँ करती हुई लहरों और नौकाओं का दृश्य निहार रहा था कि इतने में एक नौका आकर नीचे घाट पर लगी और उसमें से उतरकर ऊपर मंदिर के प्रांगण में आ खड़ी हुई गेरुआ धारण किए, खुले केशपाश से युक्त, लगभग चालीस वर्ष की एक तेजस्वी भैरवी संन्यासिनी, जो गदाधर को देखते ही इस प्रकार आतुर हो उसकी ओर दौड़ पड़ी जैसे बरसों से बिछुड़ी हुई कोई माँ अचानक अपने बच्चे को सामने पाकर लपक पड़े! 'आह बेटा! कितने लंबे अरसे से मैं तुम्हें खोजती यहाँ से वहाँ भटक रही थी'—उसने आनन्दाश्रुओं से अवरुद्ध कण्ठ से गद्गद स्वर में कहा, और आश्चर्य की बात तो यह थी

कि स्वयं गदाधर ने भी उसे देखते ही इस प्रकार उसके प्रति व्यवहार करना शुरू किया मानों वह बरसों से उसे जानता-पहचानता रहा हो ! उसने अपने आपको वैसे ही उसके हाथों में सुपुर्द कर दिया, जैसे कोई बालक पूरे विश्वास के साथ माँ की गोद में अपने को छोड़ दे ! इस तरह बात ही बात में दोनों में माँ-बेटे का-सा संबंध प्रस्थापित हो गया और उसी क्षण से उस अजनबी महिला ने इस तरुण साधक की सारी देखरेख का भार अपने ऊपर ले लिया !

यह नवागन्तुक स्त्री प्राचीन तंत्र और भक्तियोग के निगूढ़ तत्त्वों में पारंगत एक अन्यतम विदुषी थी, जो पूर्वीय बंगाल के एक उच्च ब्राह्मण-कुल में पैदा हुई थी और पिछले कई दिनों से संसार त्याग-कर एक ऐसे अलौकिक व्यक्ति की खोज में यहाँ से वहाँ भटकती फिर रही थी, जिसे एक गुह्य संदेश देने के लिए उसे स्वप्न में एक ईश्वरीय आदेश मिला था। उसके आनंद का पारावार न रहा जब उस दिन अनायास ही उसे दक्षिणेश्वर के उस ग्रामीण युवक पुजारी के रूप में अपने स्वप्न-लोक का वह दिव्य पुरुष मिल गया, और जब उसने उसमें स्पष्टतः भक्ति-ग्रंथों में वर्णित 'महाभाव' की उच्च स्थिति पर पहुँचे हुए महात्माओं के-से लक्षण देखे तब तो उसका मन एक अनिर्वचनीय उल्लास से नाच उठा ! उसने तुरन्त ही इस प्रकार की भाव-स्थिति पर पहुँचे हुए व्यक्ति की शारीरिक शुश्रुषा के लिए शास्त्रों में निर्दिष्ट विशेष उपचारों द्वारा गदा-धर को उन व्याधियों से मुक्त करने में अपना हाथ लगाया, जो बड़े-बड़े डॉक्टरों तक की समझ में नहीं आ रही थीं, और जब वह शीघ्र ही फिर से एकदम तंदुरुस्त हो गया तब उँगली पकड़कर उसने उसे तंत्र और योग के दुरूह पथ पर विधिपूर्वक क़दम-क़दम आगे बढ़ाना शुरू किया। इस प्रकार जब अल्पकाल ही में वह तंत्र और योग की क्रियाओं में पूर्ण निष्णात हो गया तब उस महिला ने धर्म-तत्त्व के ज्ञाता ख्यातनामा पंडितों की एक सभा आमंत्रित कर उनके सामने सप्रमाण यह सिद्ध कर दिया कि भावोद्रेक की अन्यतम अवस्था में पागल-सा दिखाई पड़नेवाला यह युवक वास्तव में कोई सामान्य व्यक्ति नहीं, बल्कि बड़े भाग्य से कभी-कभी ही पृथ्वीतल पर अवतीर्ण होनेवाला एक दिव्य अवतारी पुरुष है, जिसकी समता इतिहास में चैतन्य जैसे भक्त महापुरुषों ही में पाई जाती है। कहने की आवश्यकता नहीं कि सभी विद्वानों ने एक स्वर से उस विदुषी का यह निर्णय स्वीकार कर इस नवीन संत के आगे शीश नवाया और तब तो दक्षिणेश्वर का वह काली-मंदिर धर्मपिपासु लोगों के लिए मानों एक तीर्थस्थल बन गया, जहाँ मुक्ति की कामना लिये हुए अगणित नर-नारी दूर-दूर से आकर उस महापुरुष की एक झलक मात्र पा अपने आपको कृतार्थ मानने लगे !

किन्तु इस महासाधक की साधना का क्रम यहीं तक पहुँचकर समाप्त नहीं हो गया। वस्तुतः ईश्वर की ओर ले जानेवाली जितनी भी पगडंडियाँ बताई जाती हैं, उन सबको क्रमशः आरंभ से अंत तक नापकर उनकी यथार्थता सिद्ध करने के लिए यह अनोखा तपस्वी उत्कंठित था ! अतएव अब एक के बाद एक प्रायः सभी मत-मतान्तरों की साधन-प्रणालियों से उसने ईश्वर-प्राप्ति के लिए विधिपूर्वक प्रयोग करना आरंभ किया। पहले लगभग तीन वर्ष तक ऊपर उल्लिखित भैरवी ब्राह्मणी को अपनी पथ-प्रदर्शिका बनाकर तंत्र की विधि से तो वह साधना कर ही चुका था ; तदनंतर उसी के तत्त्वावधान में शांत, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर भावों की उपलब्धि द्वारा वैष्णव पद्धति से भी इष्ट-प्राप्ति का सफल प्रयोग उसने किया। इसके बाद अचानक ही एक दिन तोतापुरी नामक एक पहुँचा हुआ अद्वैत वेदान्ती संन्यासी घूमता-फिरता वहाँ आ पहुँचा और इस अद्वितीय साधक को देखकर वह ऐसा प्रभावित हुआ कि परिव्राजक होने के कारण यद्यपि नियमानुसार वह तीन दिन से अधिक किसी भी स्थान में नहीं टिकता था, फिर भी इस प्रतिभावान् युवक के आकर्षण से लगभग ग्यारह महीने तक वह दक्षिणेश्वर में डटा रहा ! उसने केवल तंत्र और भक्ति की राह से अब तक द्वैतमूलक उपासना के पथ पर अग्रसर होते चले जा रहे इस नवयुवक को वेदान्तसम्मत शुद्ध ज्ञानमार्ग की ओर मोड़कर उस उच्च अद्वैतसिद्धि की भूमिका तक पहुँचाने का निश्चय किया, जिसे पा लेने पर फिर किसी भी साधक के लिए कुछ

करना शेष नहीं रह जाता—जहाँ जगत्, जीव और माया विषयक सभी बंधन छूट जाते हैं और साधक तथा साध्य के बीच का व्यवधान सदा के लिए मिट जाता है। इस नवीन साधना में प्रवृत्त करने के पहले उसने गदाधर को 'रामकृष्ण' के नाम से आश्रम-धर्मानुसार विधिवत् दीक्षित कर पहले अपनी ही भाँति एक दण्डी संन्यासी में परिणत किया और तब शास्त्रीय पद्धति से उसे वेदान्त का पाठ पढ़ाना शुरू किया। पर उसके आश्चर्य का ठिकाना न रहा जब इस अनूठे शिष्य ने बात ही बात में 'निर्विकल्प समाधि' की उच्च स्थिति तक ऊपर उठकर कुछ दिनों ही में उस दुरूह साधना में अपने आपको पूर्ण पारंगत बना लिया, जिस पर विजय पाने में उसके गुरु को पूरे चालीस वर्ष लगे थे! इस प्रकार द्वैत और अद्वैत, सगुण और निर्गुण, भक्ति और ज्ञान, सभी की पगडंडियों से आत्म-साक्षात्कार कर यह महापुरुष अल्पकाल ही में भारतीय धर्म और साधना के क्षेत्र की सर्वोच्च अवस्था—परमहंस स्थिति—पर पहुँचकर जीवन्मुक्त हो गया! परन्तु इस पर भी उसके अनुष्ठानों की अभी इतिश्री नहीं हुई। उसने अब हिन्दू-धर्म की परिधि को लाँघकर संसार के अन्य महान् धर्मों की भी राहों को आजमाने के लिए अपना हाथ बढ़ाया और इसी उद्देश्य से क्रमशः इस्लाम और ईसाइयत की विधिपूर्वक दीक्षा ले उक्त दोनों मतों की निर्दिष्ट पद्धतियों से भी साधना करने का सफल प्रयास किया! सारांश यह कि अपनी साधना द्वारा मानों ताल ठोककर उसने यह प्रमाणित कर दिया कि चाहे जिस मार्ग को भी अपनाया जाय, सभी उसी एक परमपिता परमात्मा ही की ओर ले जानेवाले हैं, जो सब धर्मों का मूल ध्येय और आधार है! और अंत में जब सभी धर्मों की मूल-भूत एकता के सत्य को परखकर तथा विविध प्रणालियों से अदृष्ट के महासागर में डुबकी लगाकर यह महापुरुष उस परम सत्ता के 'सत्य', 'शिव' और 'सुंदर' स्वरूप की मनचाही झाँकी पा चुका, तब अपनी खोज के क्रम में बटोरे गए कुछ अनमोल मोती आसपास एकत्रित मुमुक्षु साधकों और शिष्यों में वितरण करते हुए अब अविद्याग्रस्त त्रस्त मानवता को उबारने के लिए वह आगे बढ़ा। परन्तु इसके लिए न तो उसने कोई संप्रदाय या मठ ही प्रस्थापित किया, न लंबी-चौड़ी वक्तृताएँ देने का ही मार्ग अपनाया और न दूर-दूर के देशों का भ्रमण-पर्यटन ही किया! उसने तो जो कुछ भी कहा मानों 'गागर में सागर' की कहावत चरितार्थ करते हुए एक ऐसे सरल और अनूठे ढंग से केवल वार्त्तालाप के बीच छोटे-छोटे चुभते हुए उपाख्यानों और चुने हुए नीतिपरक उपदेश-वचनों की पुट देकर कहा कि ऐसा प्रतीत होने लगा मानों उपनिषद्काल का कोई अरण्यवासी ऋषि ही फिर से इस युग में हमारे बीच उतर आया हो! और उसके वचनामृत से भी अधिक जादू तो था उसके उस महान् व्यक्तित्व में, जो केवल एक ही बार की भेंट में किसी के भी जीवन को आध्यात्मिकता की ओर मोड़ देने की असाधारण सामर्थ्य से युक्त था। तो फिर क्या आश्चर्य था यदि साधारण जनों से लेकर समसामयिक बंगाल के केशवचन्द्र सेन जैसे महान् जननायक तक उसकी ओर आकृष्ट हुए बिना न रह सके, और विवेकानन्द जैसे ऊर्ध्व-चेता मनीषि ने तो उसके नाम पर अपना सारा जीवन ही न्यौछावर कर संसार में उसका संदेश फैलाने के लिए गेरुआ तक धारण कर लिया!

श्री रामकृष्ण परमहंस के जीवन के अंतिम बीस वर्ष उस महान् ज्ञान की कमाई को मनुष्य मात्र के हित के लिए वितरित करने ही में व्यतीत हुए, जिसे प्राप्त करने में उन्होंने अपनी आयु के पिछले तीस वर्ष खर्च किए थे। इस बीच सिर्फ एक बार फिर से छः-सात महीनों के लिए विश्राम के हेतु अपने जन्मस्थान कामारपुकुर में जाकर रहने और उसके बाद कुछ समय तक माथुर बाबू के साथ प्रयाग, काशी, मथुरा, वृन्दावन आदि तीर्थों की यात्रा करने के सिवा इस लम्बी अवधि भर वह दक्षिणेश्वर के अपने उस आश्रम ही में अधिकतर रहे, जहाँ रहकर उन्होंने इष्ट-सिद्धि की थी। इस अवधि में कलकत्ते के कई समसामयिक विशिष्ट व्यक्तियों—जैसे देवेन्द्रनाथ ठाकुर, केशवचन्द्र सेन, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, माइकेल मधुसूदन दत्त, बंकिमचन्द्र चटर्जी आदि—से भेंट करने का अवसर उन्हें मिला, जिनमें मुख्यतया केशव के साथ उनका सम्बन्ध कालान्तर में विशेष रूप से

प्रगाढ़ हो गया। परन्तु इन भेंट-मुलाक़ातों में यदि सबसे महत्त्वपूर्ण कोई थी तो वह थी अनायास ही एक दिन अठारह-उन्नीस वर्ष के एक ऐसे बंगाली नौजवान से उनकी भेंट, जिसके साथ आगे चल-कर युग-युग तक के लिए उनके नाम का गहरा गठबन्धन हो गया और जिसने स्वयं भी इनकी उँगली पकड़ने का सौभाग्य पाकर अपने-आपको युग-युगान्त के लिए अमर बना लिया! यह उद्-भट युवक था कलकत्ते के एक सुसंस्कृत बंगाली कायस्थ परिवार का वह अद्वितीय प्रतिभाशाली सपूत नरेन्द्रनाथ दत्त, जो आगे चलकर 'विवेका-नन्द' के नाम से प्रख्यात हो इस देश का एक प्रधान लोकनायक बना और जिसने इस महान् संत की वाणी को हमारे घर-घर की वस्तु बनाकर इस युग में एक महान् धार्मिक क्रांति प्रस्तुत कर दी! इस महामनस्वी का किस प्रकार उद्भव और विकास हुआ और किस प्रकार तर्क-वितर्क के तूफ़ानी झंझावात के चक्र से छुटकारा पाकर वह दक्षिणेश्वर के उस ऋषितुल्य तपस्वी के प्रभाव से श्रद्धामूलक ज्ञान के कल्याणमार्ग का पथिक बन अंत में उसके प्रमुख उत्तराधिकारी के रूप में सुदूर योरप-अमेरिका तक इस देश के आत्मवाद का संदेश पहुँचाने में सफल हुआ, इसका सम्पूर्ण विवरण तो आपको आगे चलकर अलग से उस महापुरुष का जीवन-परिचय पाते समय ही मिलेगा—उसके लिए आवश्यकता है एक पूरे पृथक् अध्याय की! अभी हाल तो केवल इतना ही सूचित कर देना पर्याप्त होगा कि वह था मानों दक्षिणेश्वर के उस महासाधक की साधना का मूर्त्तिमान सुफल—वह उस संत द्वारा आरम्भ किए गए अनुष्ठान की सम्पूर्त्ति कर उसके आदर्शों को निखिल मानवता के द्वार तक पहुँचानेवाला एक देवदूत था, जिसने इस युग में भारतीय धर्म और तत्त्वविचारों के क्षेत्र में वही कार्य किया जो बारह सौ वर्ष पूर्व आचार्य शंकर ने किया था। उसने इस देश के बिखरते हुए धर्म-सूत्रों को वेदांत की महान् तत्त्व-वेदी पर लाकर एक कर दिया! और यह सब-कुछ था कामारपुकुर के उस पागल-जैसे दुबले-पतले ब्राह्मण के ही जादू का प्रताप, जिसका सारा जीवन ही मानों विविधता में एकता का सत्य खोज निकालने का एक जीता-जागता दीर्घ प्रयोग था!

सन् १८८४ ई० के लगभग रामकृष्ण के स्वास्थ्य में उतार का एक चिन्ताजनक क्रम आरम्भ हुआ और अब किसी प्रकार भी वह सँभाले नहीं सँभाला जा सका। वस्तुतः चालीस-पचास साल के अनवरत तप की अग्नि में तपकर उनका शरीर एक ऐसी असाधारण संवेदना से परिव्याप्त हो गया था कि वह सदैव धधकता ही रहता था! उनके जीवन का न जाने कितना अंश तो समाधि की अवस्था ही में बीता था—कहते हैं, एक बार वह लगातार छः महीने तक संज्ञाशून्य दशा में पड़े रहे थे! और उनकी असामान्य संवेदनशीलता का यह हाल था कि प्रायः दूसरों को दुःख या वेदना से तड़पते देखकर वह स्वयं भी उसी तरह तड़पने लगते थे, मानों उन्हें भी वैसी ही पीड़ा हो रही हो! कहते हैं, निर्विकल्प समाधि की दशा से चेतनावस्था में आने के बाद एक बार दो मल्लाहों को आपस में क्रोधपूर्वक लड़ते-झगड़ते और मारपीट करते देखकर वह इस प्रकार वेदना से चीत्कार करने लगे थे मानों वह मार उन्हीं पर पड़ रही हो, और इसी तरह अपनी तीर्थयात्रा के समय देव-घर के समीप अकाल-पीड़ित त्रस्त संथाल नर-नारियों को देखकर वह ऐसे विगलित हो उठे थे कि घण्टों उनके बीच बैठकर फूट-फूटकर रोए थे—इतनी गहराई के साथ अपने आपको निखिल विश्व की वेदना के साथ एक कर चुके थे वह! तो फिर अपनी उस निरंतर झंकृत काया-रूपी वीणा के तारों को आख़िर कब तक समेटकर रख सकते थे वह? उनका वह अस्थिपंजर एक बार जो खड़खड़ाया सो फिर बिगड़ता ही चला गया और विशेषकर उनका गला तो इतना अधिक ख़राब हो गया कि उनके लिए अब खाना-पीना तक दूभर हो गया! किन्तु इस पर भी उन्होंने आसपास जुटी रहनेवाली शिष्य-मंडली और ज्ञान-पिपासुओं की भीड़ को अपनी अमृत-वाणी से परितुष्ट करते रहने का क्रम नहीं छोड़ा। तब १८८५ ई० के अंतिम दिनों में उनकी हालत अत्यंत ख़राब होते देख दक्षिणेश्वर से हटाकर उन्हें समीप ही काशीपुर नामक एक बस्ती के एक बँगले में ले

जाया गया और वहाँ डॉक्टर महेन्द्रलाल सरकार की देखरेख में सावधानीपूर्वक उनका उपचार शुरू हुआ। परन्तु इससे भी कोई लाभ होते नहीं दिखाई दिया! सच तो यह था कि उनकी जीवन-गंगा अब साधना की दुर्गम घाटियों को पार कर अनन्त के महासागर में विलीन होने के लिए आख़िरी मंज़िल पर आ पहुँची थी। अंत में वह महामिलन की घड़ी भी आ पहुँची और १५ अगस्त, सन् १८८६ ई०, के दिन अपने महान् उत्तराधिकारी नरेन्द्र (विवेकानन्द) को जीवन की सारी कमाई का सार एवं बचे हुए कार्य का भार सौंपकर यह महामनस्वी अपना नश्वर शरीर त्याग सदा के लिए ब्रह्म में लीन हो गया!

श्रीरामकृष्ण परमहंस की जीवन-कहानी, आधुनिक भारत के सर्वोच्च युग-प्रतिनिधि महात्मा गांधी के शब्दों में, धर्म को व्यवहार के क्षेत्र में उतारकर मूर्त्त स्वरूप देने के महान् प्रयास की एक अमर गाथा है! और इस महान् साधक की शिक्षा का सारा निचोड़ हमें विवेकानन्द द्वारा उल्लिखित उसके निम्न ज्वलन्त शब्दों में मिल जाता है—"आत्मोन्नति करो और निजी साधना द्वारा सत्य-निदर्शन का प्रयास करो!" उसका अपना सारा जीवन इसी महान् शिक्षा का मानों एक साकार उदाहरण था और सभी धर्म-प्रणालियों द्वारा कल्याण-मार्ग के अन्वेषण-संबंधी अपने सफल प्रयोगों द्वारा उसने सदा के लिए यह महान् सत्य प्रस्थापित कर दिया कि चाहे किसी भी धर्म या संप्रदाय को अपनाकर चलो, यदि तुम्हारी लगन में दृढ़ता और सच्चाई है तो निश्चय ही तुम प्रत्येक मार्ग से अंततः उस एक ही परम लक्ष्य—ब्रह्म—के सन्निकट पहुँच जाओगे। यह महापुरुष सगुण और निर्गुण, एक और अनेक, साकार और निराकार सभी के समन्वय के लिए प्रयास करनेवाला एक असाधारण साधक था और जहाँ एक ओर काली की उस पाषाण-प्रतिमा ही में परम शक्ति का साक्षात्कार करने की क्षमता रखता था, जिसमें कि राममोहन और दयानन्द जैसे विचारक केवल विमूढ़ जनता की अंधभावनाओं का एक प्रतिबिम्ब मात्र देखते थे, वहाँ साथ ही साथ वह निर्विकल्प समाधि की अवस्था में विरले ही साधकों के भाग्य में आनेवाली उस परम अद्वैतानुभूति की भूमिका तक उठने की भी सामर्थ्य से युक्त था, जो कम से कम इस युग में इने-गिने ही महापुरुषों को उपलब्ध हुई है। वस्तुतः उसकी दृष्टि में असीम और ससीम, सान्त और अनन्त में कोई भेद नहीं रह गया था, तभी तो अपनी उस निर्गुण-निराकार-ब्रह्म की वेदान्त-मूलक अद्वैत-साधना के साथ भगवती काली की अपनी जीवन-व्यापी सगुण उपासना के अद्भुत सम्मिश्रण का समाधान करते हुए वह कहा करता था—"जिसे तुम 'ब्रह्म' कहकर पुकारते हो वही तो मेरी 'काली' है! वह आदिशक्ति आख़िर उसके सिवा और दूसरी है कौन?……………वस्तुतः जब मैं उस परम सत्ता को उस निश्चेष्ट रूप में देखता हूँ जब कि वह न तो सृजन, न पालन और न संहार ही करती है तब मैं उसे पुकारता हूँ 'ब्रह्म', 'पुरुष' या 'निर्गुण' कहकर, और जब उसके उस स्वरूप की धारणा करता हूँ जबकि वह मुझे सृष्टि के एकमात्र सृजन, पालन और संहार करनेवाले के रूप में दिखाई देती है तो उसे ही 'शक्ति', 'माया', 'प्रकृति' या 'सगुण ब्रह्म' के नाम से मैं पुकारने लगता हूँ! परन्तु इन दोनों में यथार्थ में भेद कहाँ है? सच पूछो तो सगुण और निर्गुण दोनों उसी एक ही सत्ता के तो द्योतक हैं! वे उसी तरह एक-दूसरे से अभिन्न हैं, जैसे दूध और उसकी सफ़ेदी!" और इसी प्रकार ईश्वर के संबंध में सभी धर्मों की मूलभूत विचार-समानता और एकता के प्रति संकेत करते हुए वह कहता था—"मैंने हिन्दू-धर्म, इस्लाम और ईसाइयत सभी के अनुसार साधना करने का प्रयास किया है……और अंत में इसी नतीजे पर मैं पहुँचा हूँ कि यद्यपि सबकी पगडंडियाँ अलग-अलग हैं, फिर भी जिसके प्रति सब धर्म अपने-अपने क़दम बढ़ा रहे हैं, वह ईश्वर एक ही है!……मैं जिधर देखता हूँ, हिन्दू, मुसलमान, ब्राह्मण, वैष्णव आदि धर्म के नाम पर आपस में लड़ते-झगड़ते दिखाई देते हैं, किन्तु उनमें से कोई विचार करके देखे तो यह जानते देर न लगेगी कि जिसे 'कृष्ण' कहकर पुकारा जाता है, वह उससे कदापि पृथक् नहीं है, जिसे कि 'शिव' कहकर अभिहित किया जाता है!

इसी तरह 'आदि शक्ति', 'ईसा', 'अल्लाह' भी उसके ही विविध नाम हैं वही 'राम' हज़ारों नाम से पुकारा जाता है। वस्तुतः एक ही सरोवर के कई घाट हैं, जिनमें से एक पर हिन्दू अपने घड़े में नीर भरकर उस पदार्थ को 'जल' के नाम से पुकारते हैं तो दूसरे पर मुसलमान अपनी मशक में भरकर उसे कहते हैं 'पानी', और तीसरे पर ईसाई अपने पात्र में भरकर उसे 'वॉटर' का नाम देते हैं। पर क्या कोई यह कल्पना भी कर सकता है कि वह वस्तु 'वॉटर' या 'पानी' तो है, पर 'जल' नहीं? कैसी हास्यास्पद बात होगी यह यदि हम ऐसा सोचें! सच तो यह है कि पदार्थ एक ही है, जिसके कि लिए हम सब उत्कंठित हैं, केवल उसके नाम अनेक और भिन्न हैं—सिर्फ़ वातावरण, स्वभाव और नाम का ही भेद है, और कुछ अंतर नहीं। अतः प्रत्येक को अपनी-अपनी राह चलने दो—यदि वह अपने दिल की तह से सच्चाई के साथ ईश्वर को चाहता है तो अवश्य ही उस प्रभु को पाने में सफलीभूत होगा और उसका कल्याण होगा।" और इस महान् तथ्य का उद्घाटन कर इस महापुरुष ने भारतीय धर्म के परंपरागत ढाँचे को ज्यों-का-त्यों क़ायम रखते हुए ही पिछले दिनों में ढीले पड़ गए हमारे सांस्कृतिक तारों को फिर से धर्म के बंधन में कस एक नूतन स्वर-लहरी से अनुप्राणित कर दिया! उसने विध्वंस की ओर क़दम बढ़ाने के बजाय अपनी परंपरागत दीवारों पर ही इस राष्ट्र की नवीन इमारत को उठाने के लिए हमें एक नई प्रेरणा दी और इस दृष्टि से वह अपने पूर्वगामी लोकनेता राममोहन और दयानन्द दोनों ही से कहीं अधिक ऊँचा उठकर उनसे कहीं अधिक लोकप्रिय और पूजनीय बन गया!

श्रीरामकृष्ण की स्तुति में उनके महान् उत्तराधिकारी विवेकानन्द के निम्न ज्वलन्त शब्दों से अधिक और क्या कहा जा सकता है, जिनमें कि संक्षेप में पूर्ण रूप से इस देवोपम युगपुरुष का यथार्थ चित्रण हमें मिल जाता है—"समय आ पहुँचा था एक ऐसे महामनीषि के अवतीर्ण होने के लिए, जो कि अपने व्यक्तित्व में एक ही साथ आचार्य शंकर के-से अद्भुत प्रज्ञाबुद्धिसंपन्न मस्तिष्क और महाप्रभु चैतन्य के-से विशाल भावविभोर हृदय के समागम का अद्वितीय उदाहरण प्रस्तुत कर सके,......जो कि प्रत्येक मत-मतान्तर के मूल में एक ही धर्म-भावना तथा एक ही परमेश्वर का निदर्शन करते हुए चराचर में उस जगन्नियंता ही की झाँकी देख सके और जिसका हृदय इस संसार के सभी दीन-हीन पददलित प्राणियों के लिए विगलित हो आँसुओं की नदियाँ बहा सके!... और श्रीरामकृष्ण के रूप में वह अंत में हमारे सामने आ प्रकट हुआ! इस महापुरुष का केवल जीवन ही उसकी शिक्षा से हज़ार गुना अधिक महत्त्वपूर्ण था—वह था उपनिषदों का मानो एक जीता-जागता भाष्य! ......वह जीवनभर स्त्री और पुरुष, ग़रीब और अमीर, अपढ़ और पंडित, ब्राह्मण और चाण्डाल, आदि के बीच की भेदभाव की दीवार को मिटाने के लिए ही लथड़ता रहा!...... ...वह पौर्वात्य और पाश्चात्य संस्कृतियों के समन्वय का स्वप्न सार्थक करने के लिए ही इस युग में हमारे बीच उतरा था! सचमुच ही, विगत कई शताब्दियों से धार्मिक एकता की सिद्धि करनेवाला इतना महान् और अद्भुत दूसरा कोई शिक्षक भारत में पैदा न हुआ!"

रामकृष्ण ने न तो कभी कोई पुस्तकें ही लिखीं, और न औरों की तरह पंडिताई ही का दावा करने का कभी प्रयास किया। फिर भी साधारण बातचीत ही के बीच उन्होंने जब-तब जो कुछ भी कहा, वह अध्यात्म और दर्शन के गहन तत्त्वज्ञान में पगा हुआ इस देश के लिए ज्ञान का एक अमूल्य वरदान साबित हुआ। उनके उन अमृत-वचनों की जो सबसे अनमोल विशेषता थी, वह यह थी कि वे कोरी दिमाग़ी उधेड़बुन या बुद्धि की ऊहापोह की थोथी उपज न थे, बल्कि साधना की निर्धूम अग्नि में से उठे हुए जगमगाते स्फुलिंगों जैसे थे! यह हमारे लिए एक परम सौभाग्य की बात है कि उनके शिष्यों ने उनके मुखारविन्द से समय-समय पर बरसनेवाले उन अमृत-बिन्दुओं का संकलन कर 'श्रीरामकृष्णवचनामृत' नामक एक विशद संग्रह के रूप में प्रस्तुत कर दिया है। श्री रामकृष्ण की सद्शिक्षा का लाभ पाने के लिए उनकी जीवन-कथा के साथ-साथ उनकी वाणी के इस दिव्य आलेख का भी अनुशीलन अत्यावश्यक है।

देवेन्द्रनाथ ठाकुर

आधुनिक भारत के निर्माण-यज्ञ के लिए जिन महापुरुषों ने आरंभिक समिधा जुटाने का कार्य किया है, उन्नीसवीं शताब्दी के बंगाल के महान् समाजधर्मी लोकनायक महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर भी उन्हीं में से थे। देवेन्द्रनाथ राममोहनराय के बाद ब्राह्म-समाज की पतवार सँभालनेवाले बंगाल के एक प्रधान धर्मनेता और अपने युग की सांस्कृतिक हलचल के एक प्रखर रूप-निर्माता थे। यदि राममोहन ने ब्राह्म-समाज की नींव डालकर इस युग में सुधार की आवाज़ बुलन्द करने-वाली सर्वप्रथम जनवेदी प्रस्तुत की थी तो देवेन्द्र ने उक्त धर्मवेदी को एक सु-संगठित सार्वजनिक हित-कारी संस्था का रूप देकर अपने प्रान्त के सर्वाङ्गीण अभ्युत्थान के एक प्रमुख पीठस्थान में परिणत कर दिया था। यह उनकी तथा उनके शिष्यों की प्रतिभा, कार्यक्षमता और उत्कट लगन का ही सुफल था कि बंगाल की उस रूढ़िग्रस्त भूमि में धार्मिक और सामाजिक सुधार का राम-मोहनराय द्वारा बोया गया बीज अल्पकाल ही में अंकु-रित हो पुष्पित-पल्लवित हो सका। तो फिर आइए, आज के युगान्तर की आरं-भिक पृष्ठभूमि के दिग्दर्शन के इस क्रम में अन्य विभू-तियों के साथ-साथ ब्राह्म-समाज के इस महामनस्वी को भी श्रद्धा के दो पुष्प अर्पित कर उसकी महत्त्व-पूर्ण जीवनलीला की एक झाँकी लेते चलें, जो कि न केवल अपनी धवल केशपाशयुक्त बाह्याकृति के द्वारा ही प्रत्युत अपने विचारों की गहन क्रान्तदर्शिता, आध्यात्मिक प्रतिभा एवं चरित्र की ऊँचाई की दृष्टि से भी सचमुच ही उपनिषद्काल की याद दिलानेवाला एक पहुँचा हुआ ऋषि-सा प्रतीत होता था!

देवेन्द्रनाथ का जन्म मई, सन् १८१७ ई०, में कल-कत्ते के उस प्रख्यात ठाकुर-परिवार में हुआ था, जो आगे चलकर रवीन्द्र और अवनीन्द्र जैसे रत्नों की

भेंट दे बंगाल की सांस्कृतिक हलचल का एक प्रमुख केन्द्रस्थान-सा बन गया और जिसे प्रयाग के सुप्रसिद्ध नेहरू-परिवार की भाँति हमारे आधुनिक इतिहास में सदा के लिए एक गौरव का स्थान पाने का सौभाग्य प्राप्त हो सका। उनके पिता द्वारकानाथ राममोहनराय के घनिष्ठ मित्रों में से थे और अपने राजसी ठाटबाट तथा खर्चीलेपन के कारण 'प्रिंस द्वारकानाथ' के नाम से मशहूर थे। ऐसे अमीर घराने में जन्म लेकर देवेन्द्र के लिए विलास-वैभव के पथ पर ढुलक पड़ना आसान था. परन्तु आश्चर्य की बात थी कि बचपन ही से उनका झुकाव स्वाभाविक रूप से आध्यात्मिक मनन-चिन्तन और परमार्थ-साधन की ओर ही अधिक रहा. और फलतः सांसारिक विषय-सुख के प्रति उदासीनता का भाव रखते हुए उन्होंने आत्मोपलब्धि के कंटकाकीर्ण मार्ग पर ही अपना क़दम बढ़ाया! उनकी इस प्रवृत्ति में बढ़ावा देने में सबसे अधिक सहायक हुई उनकी वृद्धा दादी (प्रिंस द्वारकानाथ की माँ), जो निरंतर व्रत-अनुष्ठान और भजन-कीर्त्तन में रत रहनेवाली पुराने ढंग की एक कट्टर धर्मपरायण स्त्री थी। उसकी मृत्यु के समय देवेन्द्रनाथ को वैसा ही आत्मानुभव हुआ जैसा कि उपनिषदों में वर्णित ऋषिकुमार नचिकेता को यम का साक्षात्कार करते समय हुआ था। उनके मन में वैराग्य का एक प्रबल भाव जग गया और तब से भौतिक वस्तुओं की विनश्वरता तथा सांसारिक ऐश्वर्य-सुख की निस्सारता की ऐसी गहरी छाप उनके मानस-पटल पर अंकित हो गई कि अपने अंतस्तल में टिमटिमाती हुई आध्यात्मिकता की उस लौ ही में अब आशा की एकमात्र ज्योति उन्हें दिखाई पड़ने लगी, जिसके प्रति संकेत करते हुए बालक नचिकेता ने यम द्वारा समक्ष रक्खे गए धन-वैभव, स्त्री-पुत्रादिक के लोभ को ठुकराते हुए कहा था—'नान्यो वरस्तुल्य एतस्य कश्चित्,' अर्थात् इसकी समानता का दूसरा कोई वरदान नहीं है।*

इसी प्रकार कुछ ही समय बाद अनायास ही एक दिन किसी फटी-पुरानी पुस्तक के यहाँ से वहाँ उड़ते हुए एक पन्ने द्वारा ईशोपनिषद् की आरंभिक पंक्तियों† की गहन दार्शनिकता का परिचय पाकर, प्राचीन भारतीय धर्म और ज्ञान के प्रति उनके मन में ऐसी प्रगाढ़ आस्था का भाव जम गया कि अतीत के गर्भ में छिपी हुई उस अगाध ज्ञान-राशि को सामने लाकर अपने युग की आँखें खोलने के लिए उनकी कामना बलवती हो उठी। इसी आकांक्षा को लेकर सन् १८३९ ई० में कुछ मित्रों के सहयोग से कलकत्ते में 'तत्त्वबोधिनी सभा' के नाम से एक सुधारक सार्वजनिक संस्था की प्रस्थापना उन्होंने की, जिसमें महीने में एक बार उपासना के अतिरिक्त आध्यात्मिक और सामाजिक विषयों पर भाषण, वाद-विवाद और लेख-पठन आदि का नियमित कार्यक्रम होता था। साथ ही वर्ष भर बाद उसी के तत्त्वावधान में 'तत्त्वबोधिनी पत्रिका' नामक एक मासिक पत्र भी उन्होंने निकालना शुरू किया, जिसका संपादन करते थे बँगला के एक उदीयमान साहित्यकार बाबू अक्षयकुमार दत्त और जिसके लेखक-मंडल में पं० ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, डा० राजेन्द्रलाल मित्र, बाबू राजनारायन बोस आदि समसामयिक बंगाल के गण्यमान्य विद्वान् भी सम्मिलित थे। इस पत्र ने जहाँ सामाजिक क्षेत्र में स्त्री-शिक्षा, विधवा-विवाह आदि सुधारों के पक्ष में और मद्यपान, बहुविवाह आदि कुरीतियों के विपक्ष में जमकर आन्दोलन करना शुरू किया, वहाँ विद्वत्ता के क्षेत्र में आज से सौ वर्ष पूर्व ही, जब कि मैक्समूलर अभी अंधकार ही में था, धारावाही रूप से पहलेपहल ऋग्वेद का अनुवाद प्रकाशित करने की ओर क़दम बढ़ाकर इस देश की प्राचीन ज्ञाननिधि के प्रति ध्यान आकृष्ट करने तथा पूर्वकालिक इतिहास की गवेषणापूर्ण समीक्षा की परिपाटी चलाने में भी मानों एक अग्रदूत का काम किया। इन आरंभिक प्रयासों द्वारा देवेन्द्रनाथ ने प्रान्त की सांस्कृतिक, धार्मिक और सामाजिक जागृति को आगे बढ़ाने में अमूल्य योग दिया और फलतः उनके तथा अक्षयकुमार दत्त के नेतृत्व में बुद्धिवाद की नींव पर स्थापित एक प्रबल प्रगतिशील आन्दोलन बंगाल के युवक-समाज में उठ खड़ा हुआ।

* देखो कठोपनिषद् (१।२२)।

† वे पंक्तियाँ हैं:—'ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंचित् जगत्यां जगत्, तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्।'

इसी बीच सन् १८४२ ई० के लगभग उन्होंने अपना हाथ बढ़ाया राममोहनराय की मृत्यु के बाद से पूरे दस वर्षों से शिथिल पड़े हुए सुप्रसिद्ध 'ब्राह्म-समाज' की ओर भी, जिसके साथ अपने पिता की प्रगाढ़ सहानुभूति के कारण बचपन ही से उनका गाढ़ा संबंध प्रस्थापित हो गया था और जिसके महान् प्रतिष्ठापक के प्रति उनके मन में अगाध श्रद्धा और सम्मान का भाव था। उन्हें वह अनमोल क्षण भुलाए न भूलता था जबकि राममोहन ने विलायत के लिए रवाना होते समय उस छोटी-सी उम्र ही में अत्यन्त अनुरागपूर्वक हाथ मिलाकर उनके प्रति अपना प्रगाढ़ स्नेह प्रदर्शित किया था और तब से लगातार उन्हें यही भान बना हुआ था मानों उस विदाई के प्रेम-प्रदर्शन ही के रूप में अपने जीवन-कार्य की मशाल सौंपते हुए उस महान् राष्ट्र-निर्माता ने उनके कंधों पर देश के नवजागरण की ज्योति जगाए रखने का उत्तरदायित्व-पूर्ण भार रख दिया था! कहने की आवश्यकता नहीं कि देवेन्द्र के संस्पर्श में आते ही 'समाज' फिर से नवजीवन की लहर से उत्फुल्लित हो एकबारगी ही इस प्रकार जगमगा उठा कि अल्पकाल ही में पूर्वीय भारत की सांस्कृतिक हलचल का वह अपने युग का सबसे महान् पीठस्थान बन गया। उन्होंने आते ही उसमें अपनी नवसंस्थापित 'तत्त्वबोधिनी सभा' और उसकी मुखपत्रिका को भी संमिलित कर दिया और तब एक के बाद एक सुधारों का ऐसा ताँता-सा बाँध दिया कि वह शीघ्र ही एक साप्ताहिक प्रार्थनालय की स्थिति से ऊपर उठकर सार्वजनिक उत्थान के एक सुसंगठित मंच में परिणत हो गया। उदाहरण के लिए, उपासना के समय शूद्रों को वेद-पाठ से वंचित रखने की 'समाज' की अब तक की प्रथा को उसके मूल आदर्श के विरुद्ध घोषित कर उन्होंने अब खुले आम वेद-पठन की प्रणाली जारी कर दी तथा उपासकों के लिए उपनिषदों के कुछ अंश, महानिर्वाणतन्त्र के पंचरत्नस्तोत्र आदि के संकलन के रूप में एक छोटी-सी निर्देश-पुस्तिका प्रस्तुत कर, ब्राह्म-धर्म की विधिवत् दीक्षा और उपासना-पद्धति का एक सुनिश्चित विधान भी तैयार कर दिया और उसके अनुसार कई युवकों के साथ स्वयं भी दीक्षा-संस्कार ग्रहण कर 'समाज' को एक सुदृढ़ संगठन के ढाँचे में कस दिया। साथ ही उसके भावी आचार्यों, प्रचारकों आदि की तैयारी और शिक्षण के लिए 'तत्त्वबोधिनी पाठशाला' के नाम से एक विद्यालय भी उन्होंने प्रस्थापित किया, जिसमें उपनिषदों के तत्त्वज्ञान का गहन अध्ययन किया जाने लगा। यही नहीं, जब उन्हें यह भान हुआ कि उपनिषदों के यथार्थ ज्ञान के लिए वैदिक संहिताओं और ब्राह्मण-ग्रंथों की भी जानकारी होना नितान्त आवश्यक है तो तुरन्त ही चार चुने हुए विद्यार्थियों को वेद पढ़ने के लिए उन्होंने काशी भेजा—ऐसे अदम्य उत्साही और दूरदर्शी लोकनायक थे वह! और यह सब उस ज़माने की बात है, जब दयानन्द अभी वेदाध्ययन के लिए अपने गुरु विरजानन्द के पास भी नहीं पहुँच पाए थे!

इन्हीं दिनों विलायत में अपने पिता—प्रिन्स द्वारकानाथ—की मृत्यु के कारण देवेन्द्र के सामने एक असामान्य पारिवारिक संकट की परिस्थिति आ खड़ी हुई, क्योंकि एक ओर तो अपने धार्मिक सिद्धान्तों की वजह से पिता की श्राद्ध-क्रिया में भाग न लेने के फलस्वरूप उन्हें अपने कट्टरपंथी स्वजनों का कोपभाजन बनना पड़ा और दूसरी ओर पिता द्वारा छोड़े गए लगभग एक करोड़ रुपए के भारी क़र्ज़े के निपटारे के लिए अपनी सारी जायदाद को उन्हें क़र्ज़दारों के हाथ रहन रख देना पड़ा! परन्तु इस विषम परीक्षा के समय भी उन्होंने अपने घुटने नहीं टेके और धीरे-धीरे न केवल उस भारी ऋण का ही एक-एक पैसा अदा कर दिया, बल्कि पिता द्वारा कलकत्ते की एक धर्म-संस्था को दान के रूप में अर्पित एक लाख रुपए की एक बक़ाया रक़म को भी सूदसहित चुकाकर उन्होंने अपने चरित्रबल और सत्यनिष्ठा का एक प्रखर उदाहरण संसार के सामने प्रस्तुत कर दिया!

इसी अवधि में १८४५ ई० के लगभग डा० एलैक्ज़ैण्डर डफ़ नामक एक ईसाई मिशनरी के हाथों उमेशचन्द्र सरकार नामक एक हिन्दू युवक के पत्नीसहित ईसाई धर्म में परिवर्त्तित किए जाने की घटना को लेकर कलकत्ते के हिन्दू समाज में एक ज़बर्दस्त हलचल उठ खड़ी हुई, जिसमें कट्टरपंथी और सुधारवादी दोनों ही वर्ग के लोगों ने

मिलकर विदेशियों द्वारा इस देश के धर्मक्षेत्र पर होनेवाले अनुचित आक्रमणों का सामना करने के लिए मोर्चा बाँधने का दृढ़ संकल्प किया। इस कार्य के लिए तीस हज़ार रुपए का चंदा इकट्ठा हुआ और 'हिन्दू हितार्थी विद्यालय' नामक एक स्कूल भी प्रस्थापित किया गया, ताकि हिन्दू विद्यार्थी ईसाई मिशनरियों के स्कूल-कॉलेजों के हथकण्डों से बचकर शिक्षा पा सकें। कहने की आवश्यकता नहीं कि देवेन्द्रनाथ ही इस आन्दोलन के प्रधान सूत्रधार थे। परन्तु इसी सिलसिले में डफ़ द्वारा किए गए आक्षेपों के प्रत्युत्तर में 'तत्त्वबोधिनी पत्रिका' में प्रकाशित अपने एक वक्तव्य द्वारा जब उन्होंने परोक्ष रूप से वेदों की आप्तता का समर्थन किया तो स्वतः ब्राह्म-समाज ही के अंतर्गत मतभेदसूचक एक कटु विवाद उठ खड़ा हुआ, जिसमें अक्षयकुमार दत्त के नेतृत्व में एक उग्र दल ने इस बात पर विशेष रूप से ज़ोर देना शुरू किया कि किसी भी धर्म-ग्रंथ को, चाहे वह कितना भी मान्य क्यों न हो, अलौकिक या आप्त मानकर बुद्धिवाद की उस नींव को कदापि कमज़ोर न बनाया जाय, जिस पर कि 'समाज' की सारी भित्ति ही प्रस्थापित थी। इस विवाद को बढ़ते देख अंत में देवेन्द्रनाथ को अपने मंतव्य में संशोधन कर यह उद्घोषित करना पड़ा कि वेद और उपनिषद् इसलिए मान्य नहीं हैं कि वे स्वयंसिद्ध ईश्वरप्रदत्त ग्रंथ हैं, प्रत्युत् केवल इसीलिए कि वे हमारी आन्तरिक सद्सद्विवेकबुद्धि की निगाह में ऊँचे जँचते हैं। साथ ही अब 'समाज' की एक सुनिश्चित धार्मिक आधारशिला निर्धारित कर देने की गंभीर आवश्यकता का अनुभव करते हुए 'ब्राह्म-धर्म' नामक अपनी एक छोटी-सी कृति द्वारा उन्होंने इस संस्था के धर्म-सिद्धान्तों का भी मोटे तौर से स्पष्टीकरण कर दिया, जिसका कुछ-कुछ आभास इसी समय उनके द्वारा निर्धारित निम्न चार मूलगत नियमों में हमें संक्षेप में मिल जाता है:—

१. आरंभ में उस परमेश्वर के अतिरिक्त और कुछ भी न था—उसी ने इस निखिल विश्व की रचना की।
२. केवल वही एक सच्चिदानन्द शक्तिस्वरूप परमात्मा है, जो शाश्वत, सर्वव्यापी और अद्वितीय है।
३. उसी की उपासना में हमारी ऐहलौकिक और पारलौकिक मुक्ति का तत्त्व निहित है।
४. उसकी भक्ति करना और उसे जो कुछ प्रिय हो उसी कार्य को करना ही उसकी सच्ची उपासना है।

इसके कुछ ही समय बाद सार्वजनिक जीवन के कोलाहल से दूर हटकर एकान्त चिन्तन और ईश्वराराधन ही में लीन रहने के अभिप्राय से १८५६ ई० में वह हिमालय चले गए और प्रकृति के सान्निध्य में अनन्त की मर्मर संगीत-ध्वनि के गोपनीय रहस्य का ज्ञान प्राप्त करने का प्रयास करते हुए बहुत दिनों तक मृत्यु से परे के उस अमृत-तत्त्व की खोज में ही लगे रहे, जिसकी टोह में अपने-अपने ढंग से समसामयिक भारत के दो और महाप्राण युगपुरुष—दयानन्द और रामकृष्ण परमहंस—भी उसी समय अन्यत्र संलग्न थे। और अंत में जब उस एकान्त साधना द्वारा आत्मबोध प्राप्त कर उन्होंने परम ज्ञान का प्रकाश पा लिया, तब अपनी उस आध्यात्मिक कमाई द्वारा देश की हितसाधना में योग देने के लिए दो वर्ष बाद वह फिर 'समाज' की वेदी पर आ खड़े हुए और अपने जोशीले धर्म-प्रवचनों की झड़ी-सी बाँधकर अब ऐसे अपूर्व क्रान्तदर्शी विचारों का उद्घाटन करना उन्होंने शुरू किया कि सैकड़ों की संख्या में आ-आकर लोग उनकी वाणी का प्रसाद पा अपने आपको कृतार्थ करने लगे और अनेक उत्साही युवकों ने तो अपना सारा जीवन ही उनके द्वारा निर्दिशित सेवा-पथ पर निछावर कर देने का व्रत ले अपने आपको ब्राह्म-समाज की वेदी पर चढ़ा दिया!

इन्हीं सेवाव्रती नवयुवकों में था कलकत्ते की उगती हुई पीढ़ी के क्षितिज पर मानों प्रभातकालीन शुकतारे की तरह अभी-अभी चमक उठनेवाला वह अप्रतिम प्रतिभाशाली तरुण—केशवचन्द्र सेन—भी, जो अनायास ही एक दिन राजनारायन बोस लिखित ब्राह्म-धर्म संबंधी एक ट्रैक्ट पढ़कर 'समाज' की ओर ऐसी गहराई के साथ आकर्षित हो गया था कि उसी क्षण से अपने आपको उसके धर्म-मंच पर उत्सर्गित कर उसके आँगन में निखिल मानवता का आह्वान करने का महाव्रत उसने ले

लिया था और जिसे पाकर कालान्तर में न केवल ब्राह्म-समाज ही बल्कि एक प्रकार से सारे बंगाल का मुख उजागर हो गया। इस तेजस्वी युवक के संबंध में विशेष परिचय तो आगे चलकर प्रस्तुत किए गए उसके पृथक् जीवन-चित्र में ही आपको मिलेगा, यहाँ तो केवल यही कहकर उसकी अप्रतिम प्रतिभा की ओर इंगित कर देना पर्याप्त होगा कि यद्यपि वह था अभी केवल अठारह-उन्नीस वर्ष का एक अपरिपक्व नौजवान ही, फिर भी कलकत्ते के समाज-सुधार के क्षेत्र में 'ब्रिटिश इंडिया सोसायटी' नामक एक साहित्यगोष्ठी, 'गुडविल फ्रेटर्निटी' नामक एक धार्मिक भ्रातृमंडली और कोलूटोला की एक रात्रिपाठशाला के संस्थापक तथा संचालक के रूप में इस छोटी-सी उम्र में भी वह काफ़ी नाम कमा चुका था! वह एक असाधारण कोटि का वक्ता था और अंग्रेज़ी तथा बँगला दोनों ही भाषाओं में ऐसे धाराप्रवाह के साथ भाषण देता था कि सुननेवाले दंग रह जाते थे! उसने कलकत्ते के सुप्रसिद्ध 'हिन्दू कॉलेज' में शिक्षा पाई थी और वहाँ से छूटने पर पाश्चात्य दर्शनशास्त्र तथा ईसाई धर्म का विशेष रूप से अध्ययन किया था, जिसका कि प्रभाव जीवनभर उस पर बना रहा। ऐसे प्रतिभावान कार्यकर्त्ता को पाकर यदि देवेन्द्रनाथ जैसे रत्नपारखी लोकनेता का हृदय खिल उठा हो तो आश्चर्य ही क्या था! वह उसके प्रति इतने अधिक आकर्षित हो गए कि सन् १८५९ ई० की अपनी लंका-यात्रा में उसे भी अपने साथ लेते गए और वहाँ से लौटते ही उन दोनों के बीच पारस्परिक स्नेह का एक ऐसा प्रगाढ़ संबंध प्रस्थापित हो गया, जो बाद में विचारों में गहन मतभेद हो जाने पर भी जीवनभर कभी ढीला नहीं पड़ पाया!

उसी वर्ष 'समाज' के तत्कालीन मंत्री पं० ईश्वरचन्द्र विद्यासागर के त्यागपत्र दे देने पर उसकी नैया को खेने का भार आ पड़ा देवेन्द्र और केशव के संयुक्त कंधों पर ही, और इस पटपरिवर्त्तन के साथ ही ब्राह्म-समाज के इतिहास में एक नया अध्याय जुड़ गया। अब देवेन्द्रनाथ के गंभीर प्रवचनों के साथ-साथ केशव की ओजस्वी वाणी और प्रखर लेखनी द्वारा क्रमशः उसके मंच पर से धार्मिक और सामाजिक विषयों पर सुधारवादी संभाषणों और लेखों-ट्रैक्टों की एक ऐसी बौछार-सी शुरू हुई कि थोड़े ही समय में बंगाल के सांस्कृतिक क्षेत्र में एक तूफ़ान-सा आ गया और सभी कोई प्रकाश के लिए अब 'समाज' ही की ओर आशा और उमंग की निगाह से देखने लगे। इन्हीं दिनों 'समाज' के तत्त्वावधान में उस सुप्रसिद्ध 'ब्राह्म-विद्यालय' की भी प्रस्थापना हो चुकी थी, जिसमें देवेन्द्रनाथ बँगला में और केशवचन्द्र अंग्रेज़ी में नियमित रूप से भाषण देकर भावी कार्यकर्त्ताओं को ब्राह्म-धर्म की शिक्षा तथा सुधार की भावना से अभिमंत्रित करने का महत्त्वपूर्ण कार्य करते थे। साथ ही देवेन्द्र की आर्थिक सहायता द्वारा केशव के संपादकत्व में 'इंडियन मिरर' नामक वह सुप्रसिद्ध अंग्रेज़ी पत्र भी निकलने लगा था, जो कालान्तर में पाक्षिक से साप्ताहिक और अंत में एक दैनिक पत्र बन गया और जिसने उन दिनों की सर्वाङ्गीण जागृति को बढ़ावा देने में मूल्यवान् योग दिया। तब १३ अप्रैल, १८६२ ई०, के दिन बड़ी धूम-धाम के साथ देवेन्द्रनाथ ने युवक केशवचन्द्र को 'ब्रह्मानन्द' की उपाधि से विभूषित कर 'समाज' के आचार्य के पद पर प्रतिष्ठित कर दिया और फलतः पहले से भी अधिक ज़ोर-शोर के साथ 'समाज' की वेदी पर से अब ब्राह्म-धर्म के प्रचार और सुधारों के प्रवर्त्तन का कार्य किया जाने लगा! इसके शीघ्र ही बाद सन् १८६४ ई० में केशवचन्द्र ने मद्रास, कालीकट, बंबई, पूना आदि स्थानों की एक विशद प्रचार-यात्रा की, जिससे कि देश में अन्यत्र भी अनेक सुधारवादी ब्राह्म-मंदिरों की प्रस्थापना हो गई और बंगाल की सीमाओं को लाँघकर ब्राह्म-समाज अब एक निखिल भारतवर्षीय संस्था बन गया।

किन्तु एक-दूसरे के प्रति एक असामान्य पारस्परिक स्नेह और गंभीर श्रद्धा का भाव रखने तथा 'समाज' की उन्नति एवं वृद्धि के लिए समान रूप से उत्कंठित होने पर भी देवेन्द्र और केशव के धर्म और समाज-सुधार संबंधी विचारों तथा नीति में गहन अंतर था। कारण, देवेन्द्र थे मूलतः प्राचीन भारतीय धर्म और सांस्कृतिक परंपरा के ही एक अनन्य उपासक तथा उस परंपरा को उलट देने के

लिए कदापि तैयार न होनेवाले एक नरम नीतिधर्मी सुधारक, जबकि केशव था उनसे प्रतिकूल गहराई के साथ ईसाइयत एवं पाश्चात्य विचारों के रंग में रँगा हुआ एक उग्र सुधारवादी जो कि हिन्दू धर्म तथा समाज के ढाँचे को क्रान्तिकारी पद्धति से बदलकर अपने अंतस्तल के आदर्शानुसार उसका नवनिर्माण करने के लिए उतावला हो रहा था! यदि उनमें से एक भारतीय समाज को पुनः अतीत की ओर वापस मोड़कर उपनिषद्कालीन संस्कृति के आँगन में लौटा ले जाने का स्वप्न देखता था तो दूसरा प्राचीन रूढ़ियों और परंपराओं की शृंखलाओं तथा पूर्व-पश्चिम के भेद-भाव की दीवार को तोड़कर निखिल विश्व-धर्म के क्षेत्र में उसे ला खड़ा कर देना चाहता था—वह अपने प्राचीन ऋषि-मुनियों के साथ-साथ ईसा मसीह के अलौकिक व्यक्तित्व तथा वेदों-उपनिषदों के तत्त्वज्ञान की जोड़ में बाइबिल की उच्च शिक्षाओं की ज्योति को भी समान रूप से हमारे हृदय में प्रतिष्ठित देखने के लिए उत्कंठित था! तो फिर कब तक उन दोनों का साथ निभ सकता था, और यदि एक-दूसरे को मान्यता देते हुए किसी हद तक साथ-साथ क़दम बढ़ाए वे चलते भी रहते, जैसा कि कई दिनों तक होता रहा, तो 'समाज' के अन्य सदस्यों से इस प्रकार की आशा भला क्योंकर की जा सकती थी? वस्तुतः अब भी 'समाज' के अंतर्गत बाहुल्य था ऐसे ही लोगों का जो कि किसी भी प्रकार के उग्र परिवर्त्तन को कदापि स्वीकार करने को तैयार न थे और जिनकी निगाह में केशव जैसे एक अब्राह्मण तथा स्पष्टतः ईसाइयत की ओर झुके हुए व्यक्ति का आचार्य-पद पर प्रतिष्ठित किया जाना ही एक काँटे की तरह गड़नेवाली बात थी! वे यदि चुप थे तो केवल देवेन्द्रनाथ के दबाव से ही, अन्यथा उनके मन इतने अधिक खट्टे हो चुके थे कि कई ने तो इस नवीन 'आचार्य' के तत्त्वावधान में होनेवाली 'समाज' की नियमित उपासनाओं तक में सम्मिलित होना छोड़ दिया था! तो फिर क्या आश्चर्य था कि इस घरेलू असंतोष और मनमुटाव के वातावरण के कारण शीघ्र ही 'समाज' के आँगन में गहराई के साथ फूट के बीजों को अंकुरित होने का मौक़ा मिल गया और फलतः अब स्पष्टतः एक-दूसरे के विरोधी दो विभिन्न दल उसकी चहारदीवारी में पनपने लगे, जिनमें से एक, जो कि पुराने बुज़ुर्गों का दल था, केशव और उसकी उग्र सुधारवादिता के एकदम ख़िलाफ़ था तथा दूसरा, जिसमें कि जोशीले नौजवानों का ही बोलबाला था, हर परिस्थिति में अपने इस क्रान्तिकारी तरुण नेता के ही साथ-साथ क़दम बढ़ाने पर मानों तुला-सा बैठा था! इस गंभीर मतभेद के वायुमंडल में बेचारे देवेन्द्रनाथ की स्थिति कितनी नाज़ुक रही होगी, इसकी कल्पना की जा सकती है, कारण एक ओर तो वह 'समाज' के पुराने सदस्यों को संतुष्ट रखने तथा उसकी वेदी को विच्छिन्न होने से बचाने के लिए चिंतित थे और दूसरी ओर केशव के प्रति अपनी अगाध ममता और उस असाधारण युवक की प्रतिभा तथा उसके लक्ष्य की ऊँचाई के भी क़ायल थे। वस्तुतः हृदय से भारतीय परंपरा के अनन्य भक्त होने के कारण अपने इस उग्र सुधारवादी साथी के बहुतेरे विचारों से पूर्णतया सहमत न होने पर भी अपनी आन्तरिक भावनाओं को दबाकर उन्होंने कई बातों में समझौता करते हुए अब तक उसके साथ-साथ क़दम बढ़ाकर चलने का ही प्रयास किया था, ताकि 'समाज' की एकता बनी रह सके! उदाहरणार्थ, तरुण दल ने इस बात को लेकर जब काफ़ी होहल्ला मचाना शुरू किया कि किसी भी ब्राह्म को यज्ञोपवीत-सूत्र नहीं धारण करना चाहिए, क्योंकि वह जातिगत भेदभाव तथा संप्रदायवादिता का प्रतीक है, तो देवेन्द्र ने तुरंत ही स्वयं अपना भी जनेऊ उतार फेंका और अपने परिवार में यज्ञोपवीत-संस्कार करना एकदम बंद कर दिया। परन्तु सच तो यह था कि नई और पुरानी पीढ़ी के बीच मतभेद की जो दरार पड़ चुकी थी उसे पूरना असंभव-सा था। अतः एक दिन आया जबकि उसकी वेदी की उस फटी दीवार को अपनी बाँहों में थामकर ढह पड़ने से रोकना देवेन्द्रनाथ के लिए असंभव हो गया। वस्तुतः तरुण दल की माँगें दिन पर दिन बढ़ती ही चली गईं और फलतः पुराने विचारवाले उनसे अधिकाधिक दूर ही खिंचते चले गए। जब परिस्थिति एकबारगी ही क़ाबू से बाहर हो गई और दोनों दलों का एक साथ मिलकर काम करना दुष्कर

हो गया, तब अंत में केशव और उसके उग्र साथी 'भारतवर्षीय ब्राह्म-समाज' के नाम से एक नवीन संस्था के रूप में संगठित हो 'आदि ब्राह्म-समाज' के दायरे से बाहर निकल गए और अपने पुराने साथियों सहित बेचारे देवेन्द्रनाथ अकेले रह गए। यह घटना सन् १८६७ ई० के लगभग घटी और ब्राह्म-समाज के इतिहास में यह उसके 'प्रथम विभाजन' के नाम से विख्यात है। स्थानाभाववश यहाँ उस लंबे 'यज्ञोपवीत-प्रकरण' संबंधी विवाद का विवरण देकर 'समाज' के इस विस्फोट का सुविस्तृत लेखा प्रस्तुत करने में हम असमर्थ हैं, जिसने कि इस सारे काण्ड को तूल देकर उसे इस पराकाष्ठा की स्थिति तक पहुँचाया। साथ ही 'समाज' के इसके बाद के विकास-क्रम की घटनाओं का भी यहाँ उल्लेख करना हम अनावश्यक समझते हैं, क्योंकि इसके बाद से देवेन्द्रनाथ ने सार्वजनिक क्षेत्र से एक प्रकार का संन्यास-सा ले लिया और अपना अधिकांश समय कलकत्ते से दूर बोलपुर में प्रस्थापित 'शान्ति-निकेतन' नामक उस एकान्त आश्रम ही में मनन-चिन्तन तथा ईश्वराराधन में व्यतीत करना शुरू किया, जो कि आगे चलकर उनके महान् पुत्र कविवर रवीन्द्रनाथ की सुविख्यात 'विश्व-भारती' नामक संस्था को जन्म दे इस देश का एक प्रमुख सांस्कृतिक जनतीर्थ बन गया। वस्तुतः इस ऐतिहासिक विभाजन के बाद ब्राह्म-समाज के नेतृत्त्व की बागडोर कई वर्षों के लिए अब उनके महान् उत्तराधिकारी केशवचन्द्र के ही हाथों में केन्द्रित हो गई, अतएव इसके बाद की उसकी इतिहास-गाथा को अलग से उस महापुरुष का पृथक् जीवन-चित्र खींचते समय ही देना अधिक उपयुक्त होगा। हाँ, इस बात का यहाँ उल्लेख कर देना आवश्यक है कि इस सारे विवाद के बावजूद भी देवेन्द्र और केशव के पारस्परिक स्नेह-बंधन तथा एक-दूसरे के प्रति आदर-भाव में रंचमात्र भी अंतर नहीं पड़ पाया और इस घटना के वर्ष भर बाद ही केशव के दल ने एक विशेष उत्सव का आयोजन कर वृद्ध देवेन्द्रनाथ को उनके महान् व्यक्तित्व तथा जीवन-कार्य के उपलक्ष्य में एक मानपत्र देकर श्रद्धाभावपूर्वक 'महर्षि' की उपाधि से विभूषित किया और उनके प्रति अपना अगाध सम्मान प्रकट किया। और उदारमना देवेन्द्र ने भी इस अप्रिय विवाद को केवल विचारों ही के क्षेत्र तक परिमित रखकर अपने हृदय की गहराई में 'समाज' के दोनों ही दलों के लिए ज्यों-का-त्यों सहानुभूति का भाव बनाए रक्खा और उनकी यथासाध्य सहायता करने के लिए जीवनभर वह तत्पर रहे, यहाँ तक कि सन् १८७१ ई० में केशव के अनुरोध करने पर उन्होंने 'भारतवर्षीय ब्राह्म-समाज' के भी मंच से एक बार प्रवचन किया, यद्यपि केशवचंद्र की ईसाइयत के रंग में रँगी हुई धर्म-प्रवृत्तियों के वह कभी भी समर्थक न रहे और अंत तक इस संबंध में अपना विरोध प्रकट करते रहे।

देवेन्द्रनाथ एक पक्के बुद्धिवादी ज्ञानमार्गी साधक थे, किन्तु यह आश्चर्य की बात थी कि वेदान्त द्वारा प्रतिपादित अद्वैत सिद्धान्त के साथ वह जीवनभर अपने आपको सहमत न कर सके—वह जीवात्मा और परमात्मा के एकत्व अर्थात् 'सोऽहमस्मि', 'तत्त्वमसि', आदि श्रुतिवाक्यों में निहित अद्वैत ब्रह्मवाद की धारणा को स्वीकार करने को कभी भी तत्पर न हो सके, जैसा कि उनके निम्नलिखित विचारों से स्पष्ट है—"हमारा ईश्वर के साथ जो संबंध है, वह है उपासक और उपास्य का संबंध और यही ब्राह्म-धर्म का मूलतत्त्व है। अतः जब मैंने आचार्य शंकरकृत वेदान्त-दर्शन की शारीरक मीमांसा में इससे बिलकुल विपरीत निष्कर्ष निकलते देखा तो मैं किसी भी तरह उस पर अपना विश्वास न जमा सका और न अपने मत विशेष की पुष्टि के लिए ही उसका अवलंब ले सका।...... इसी प्रकार स्वयं उपनिषदों में भी जब 'सोऽहमस्मि', 'तत्त्वमसि' जैसे वाक्यों को मैंने पाया तो उनकी ओर से भी मैं निराश हो गया। मैंने यह अनुभव किया कि उपनिषद् भी हमारी सभी आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर सकते—वे हमारे हृदय की प्यास को संपूर्णतया बुझाने में असमर्थ हैं।...... जब मैंने उपनिषदों को यह कहते सुना कि ब्रह्म की उपासना अंततः निर्वाण की ओर ले जानेवाली है तो मेरा अंतस्तल इस विचार से काँप उठा...... क्योंकि यदि इसका अर्थ यह हुआ कि सिद्धि प्राप्त करने पर जीवात्मा अपनी पृथक् चेतना को खो

बैठता है तो यह तो मुक्ति नहीं हुई बल्कि एक प्रकार से भयंकर रूप से अपना अस्तित्व खो बैठना जैसा हुआ !" अद्वैतवाद के प्रति उनके इस प्रबल प्रतिरोध का कारण संभवतः यही हो कि प्रकट में विवेकानन्द की भाँति शत-प्रति-शत विशुद्ध ज्ञानी दिखाई देते हुए भी अपने अंतस्तल की तह में वह एक छिपे हुए सच्चे भक्त ही थे, और फलतः स्वयं अपने और अपने उपास्य के बीच के द्वैतवाद के परदे को मिटा देने के लिए कदापि तैयार नहीं हो सकते थे !

परन्तु एक साधक और विचारक से भी कहीं अधिक महत्त्व का स्थान देवेन्द्रनाथ को हमारे इतिहास के आधुनिक पर्व में जागृति के एक प्रमुख नेता के रूप में प्राप्त है। उन्होंने राजा राममोहन-राय द्वारा प्रज्वलित नवयुग की मशाल को अपने सबल हाथों में लेकर धार्मिक, सामाजिक और सांस्कृतिक पुनरुत्थान के अनुष्ठान को आगे बढ़ाया, और बंगाल के पारिवारिक और सामाजिक जीवन में सृजन की भावना से युक्त नवीन सांस्कृतिक चेतना का वह स्वर भर दिया, जिसका सर्वोत्कृष्ट उदाहरण प्रस्तुत हुआ स्वयं उन्हीं के अपने निजी परिवार में, जिसने कि आगे चलकर कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ जैसे विश्ववंद्य महामनीषि और अवनीन्द्रनाथ, गगनेन्द्रनाथ जैसे कलाकारों को जन्म देकर सारे देश का मुख उजागर कर दिया ! निश्चय ही महर्षि देवेन्द्रनाथ के महान् सांस्कृतिक प्रभाव का ही यह सुफल था कि इस देश में शांतिनिकेतन और विश्व-भारती का आदर्श अंततः मूर्त्त रूप में सामने आ पाया !

देवेन्द्रनाथ का देहान्त १९ जनवरी, सन् १९०५ ई०, के दिन ८८ वर्ष की आयु में, अपने महान् शिष्य और उत्तराधिकारी केशव के असामयिक निधन के भी कई वर्ष बाद, जाकर हुआ। अतः आधुनिक भारतीय राजनीति के भीष्मपितामह स्वनामधन्य दादाभाई नवरोज़ी की भाँति उन्हें भी लगभग एक शताब्दीभर हमारे आधुनिक इतिहास के विकास-क्रम के एक महाप्रहरी के रूप में इस देश के पुनरुज्जीवन के यज्ञ में भाग लेने तथा उसका पर्यवेक्षण करने का बेजोड़ अवसर मिला। इस महापुरुष ने जीवनभर आध्यात्मिक अनुसंधान और सामाजिक उत्थान के महान् अनुष्ठान में तल्लीन रहकर व्यक्ति और समाज के सामंजस्य-पूर्ण विकास की सिद्धि का एक अनुपम पाठ अपने उज्ज्वल उदाहरण द्वारा हमें इस युग में पढ़ाया ! और यदि और कुछ नहीं तो यही क्या कम महत्त्व की बात थी कि इसी धवलकेशपाशयुक्त दीर्घजीवी ऋषि ही की गोद से रवीन्द्रनाथ जैसी विश्व-विभूति का उपहार इस देश को मिला ! देवेन्द्र की जीवन-साधना का यथार्थ परिचय पाने के लिए वस्तुतः अपेक्षित है उनकी स्वलिखित 'आत्म-कथा' तथा 'ब्राह्म-धर्म-व्याख्यान' शीर्षक उनके गंभीर प्रवचनों के विशद संग्रह के साथ-साथ ब्राह्म-समाज के संपूर्ण इतिहास का गहरा अनुशीलन करने की, और उनके द्वारा बोए गए सांस्कृतिक बीजों का सुफल आँकने के लिए तो न केवल बंगाल ही की प्रत्युत् समूचे भारतवर्ष की पिछली लगभग एक शताब्दीव्यापी धार्मिक, सामाजिक और सांस्कृतिक प्रगति का सिंहावलोकन करना आवश्यक है। उन्होंने हमें जो सबसे बड़ा वर-दान दिया वह था उस प्रगाढ़ धार्मिक आस्तिकता का वर, जिसकी कि संशय के गर्त्त की ओर लुढ़कते चले जा रहे इस युग के हमारे नवोत्थित समाज को सबसे अधिक आवश्यकता थी। अपने महान् समसामयिक दयानन्द और रामकृष्ण की भाँति उन्होंने भी इस देश की अनमोल सांस्कृतिक वसीयत के प्रति सचेत कर जीवनभर इस शोच-नीय अवस्था में से हमें उबारने का ही सत्प्रयास किया और राजाओं का-सा वैभव पाने पर भी सांसारिक उत्कर्ष एवं भोगविलास की विडम्बना में न फँसते हुए अपनी आयु का अधिकांश भाग आत्मकल्याण एवं जनहित ही की वेदिका पर उत्सर्ग कर 'महाराजा' के बजाय 'महर्षि' कहलाने ही में अधिक गौरव का अनुभव किया ! निश्चय ही वह इस युग के 'राजर्षि विदेह जनक' थे, क्योंकि उन्होंने ही इस युग में इस बात का सर्वश्रेष्ठ उदा-हरण हमारे सामने प्रस्तुत किया कि राजप्रासाद के चकाचौंधभरे वातावरण में जन्म लेकर तथा पालित-पोषित होकर भी किस प्रकार आत्मकल्याण का इच्छुक सच्चा साधक निर्लिप्त रहकर आध्यात्मि-कता के उच्चतम शिखर पर पहुँच सकता है !

केशव चन्द्र सेन
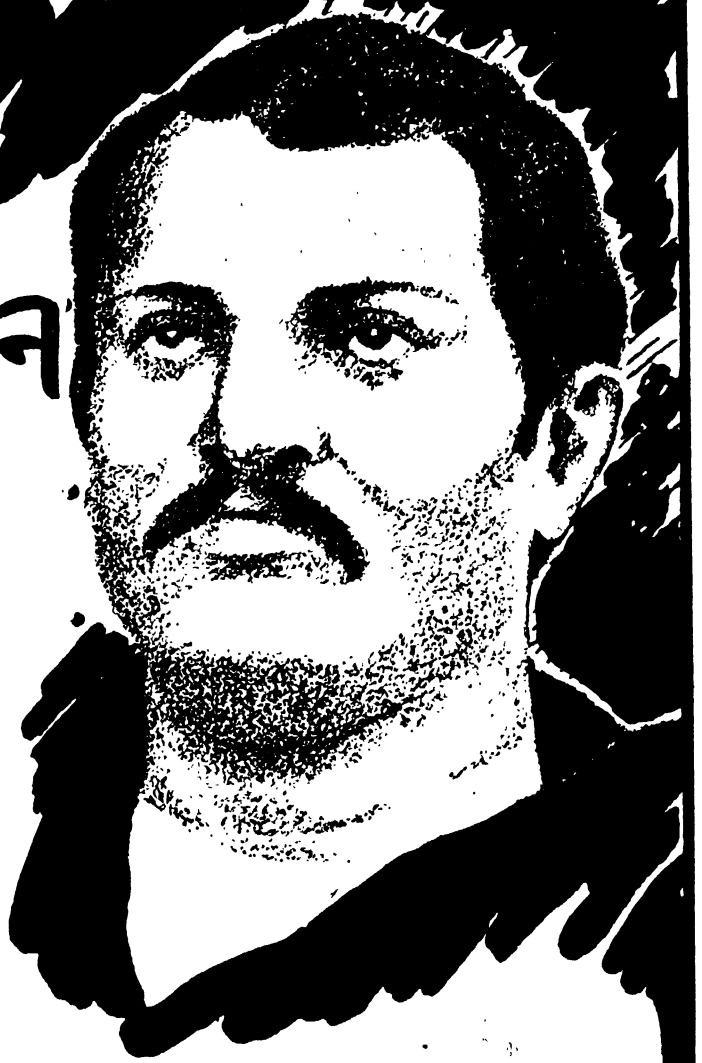
"हमारा उपासनालय है यह निखिल विश्व-ब्रह्माण्ड, हमारा आराध्यदेवता है वह परब्रह्म परमात्मा, हमारा धर्मग्रंथ है अपना सहजजात अंतर्ज्ञान, हमारी मुक्ति की राह है उस प्रभु की पूजा, हमारे प्रायश्चित्त का साधन है आत्मशुद्धि, और हमारे पथ-प्रदर्शक नेता हैं संसार के सभी महान् सत्पुरुष! हमारे इस सार्वभौम उदार ब्राह्म धर्म में भला संप्रदायवादिता या विरोध का काम ही क्या—यह तो सभी की सामान्य संपत्ति है, कोई पृथक् मत-मतान्तर-मूलक संस्था नहीं! यह तो उन सभी का खुला धर्म-आँगन है, जो उस एकमात्र सत्यस्वरूप परमेश्वर की पूजा-उपासना में लीन हो उसके प्रति प्रीतिभाव बढ़ाने और उसके प्रिय कार्यों को करने के लिए उत्कंठित हों!"—इन उदात्त शब्दों में ब्राह्म धर्म के यथार्थ आदर्श के साथ-साथ अपने अंतस्तल की निगूढ़तम भावनाओं की सुस्पष्ट अभिव्यक्ति कर, पैंतालिस वर्ष के अपने अल्पकालिक जीवन ही में हमारे नवजागरण के इतिहास के एक समूचे पृथक् अध्याय की रचना कर देनेवाले 'ब्रह्मानन्द' केशवचन्द्र सेन सच्चे अर्थ में एक विश्व-नागरिक थे! वह अपने पूर्वाचार्य राममोहनराय द्वारा बोए गए बीज के सबसे सुंदर सुफल के रूप में इस देश की धर्म-वाटिका में उच्छ्वसित हुए थे! वह उस युग-प्रवर्त्तक राजर्षि की साधना के मानों मूर्त्तिमान सिद्धि-तत्त्व थे और उसके समन्वयमूलक स्वप्न को सार्थक बनाने के लिए ही उसकी सांस्कृतिक परंपरा में अवतीर्ण हुए थे! यद्यपि यह सच था कि अपने उपयुक्त समय से बहुत पहले ही पैदा हो जाने के कारण, अपने युग के निर्माण में महत्त्वपूर्ण योग देकर भी, उस युग द्वारा वस्तुतः ठीक से वह पहचाने ही न गए—उनकी ऊँचाई का यथार्थ मूल्य तो आज आकर कहीं हम कुछ-कुछ जानने लगे हैं! फिर भी अपनी वाणी और लेखनी की अदम्य शक्ति तथा अपने जादू-भरे व्यक्तित्व के दुर्द्धर्ष प्रभाव से हमारे धार्मिक और सामाजिक जीवन के सुषुप्त स्तरों को वेगसहित झकझोरकर जिस प्रखरता के साथ एकबारगी ही उन्होंने हमें हिला दिया, उसकी विद्युत् जैसी कौंध से स्वयं उनके अपने युग में भी किसकी आँखें एक बार चकाचौंध हुए बिना रही होंगी? वह एक स्वाधीनचेता विचारक और निर्भीक समाज-संस्कारक तो थे ही, परन्तु इससे भी कहीं अधिक थे वह ईश्वर के लिए तड़पनेवाले एक सच्चे भक्त, साधक और छिपे हुए संत, और यह हमारा परम सौभाग्य था कि अपनी एकांत वैयक्तिक आध्यात्मिक साधना में पूर्णतः लीन

हो जाने के बजाय समाज के खुले आँगन में उतर जीवनभर लोककल्याण के कठोर अनुष्ठान में तत्पर रहने का ही मार्ग उन्होंने अपनाया ! उन्होंने हमें संकुचित सांप्रदायिकता के अंधकूप में से निकालकर निखिल मानवता के व्यापक प्राङ्गण में ला खड़ा करने का उच्च प्रयास किया और इसके लिए ऐसे एक विश्व-धर्म का आदर्श हमारे सन्मुख प्रस्तुत किया, जिसके अन्तर्गत सभी मत-मतांतरों के सनातन सत्य स्थान पा सकें तथा जिसकी छत्रछाया में बिना किसी प्रकार के भेदभाव के प्रत्येक मनुष्य उस परम पिता विश्व-नियन्ता की पूजा-उपासना में लीन हो जीवन सार्थक कर सके। इस प्रकार वर्ग, संप्रदाय, जाति और राष्ट्र की सीमित परिधि से ऊपर उठकर उन्होंने हमें एक व्यापक अंतर्राष्ट्रीय भावना से परिप्लावित करने का स्तुत्य प्रयत्न किया और यही उनकी हमारे लिए सबसे मूल्यवान देन थी ! यद्यपि उनके द्वारा बोए गए धर्म-बीज अभी पूर्णतया प्रस्फुटित नहीं हो पाए हैं—वे अभी भी बहुत-कुछ धरती ही में हैं—फिर भी वे अंकुरित हो चुके हैं यह तो निश्चित है ही ! निश्चय ही किसी दिन उनके पूर्ण प्रस्फुटन के साथ ही वह नववसंत का साज भी निखरेगा, जबकि आज के इस कटु भेदभाव को भूलकर कंधे से कंधा मिला प्रत्येक मानव इस पुनीत भूमि की सामान्य वेदी पर अपना निर्धारित लक्ष्य सिद्ध करने की ओर अग्रसर हो सकेगा, और तभी सम्भवतः हम अपने इस चरितनायक के महान् संदेश का यथार्थ मूल्य तथा उसकी ऊँचाई का सही माप भी ले सकेंगे, आज नहीं !

केशव का जन्म हुआ था १९ नवम्बर, सन् १८३८ ई०, के दिन कलकत्ते के कोलूटोला मोहल्ले के वैद्य जाति के उस प्रसिद्ध सेन-परिवार में, जिसके एक प्रख्यात पूर्वपुरुष—बल्लाल सेन—ने किसी ज़माने में सारे बंगाल पर राज्य-शासन किया था और जिसके अन्य एक नामांकित सदस्य—रामकमल सेन—जो राजा राममोहनराय के समकालीन थे, छापाखाने के एक साधारण कम्पोज़ीटर की स्थिति से ऊपर उठकर क्रमशः बंगाल की रॉयल एशियाटिक सोसायटी के सर्वप्रथम भारतीय मंत्री, कलकत्ते की सरकारी टकसाल के कोषाध्यक्ष और बंगाल-बैंक के दीवान के उच्च पद तक पहुँचने तथा साहित्य के क्षेत्र में भी एक विशद आंग्ल-बँगला शब्दकोश की रचना कर गौरव का स्थान प्राप्त करने में सफलीभूत हुए थे ! केशव इन्हीं सुप्रसिद्ध रामकमल के सुपौत्र थे और 'होनहार बिरवान के होते चिकने पात' नामक कहावत के अनुसार बचपन ही से ऐसे असामान्य प्रतिभा-सूचक लक्षणों को लेकर सामने आए थे कि जब वह पाँच वर्ष के निरे बालक ही थे तभी उनके महान् पितामह ने यह भविष्यद्वाणी कर दी थी कि "बासू* निश्चय ही कुटुम्ब की प्रतिष्ठा को बनाए रक्खेगा !" उनके बचपन के साथी और भावी शिष्य प्रतापचन्द्र मजुमदार ने लिखा है कि "उनके उस कुमारावस्था के सरल सौंदर्य से देवदूतों की-सी आभा झलकती थी !..........वह अपने उस बाल-रूप में अपनी माता के हृदय के लिए अभिमान की एक वस्तु, अपने परिवार के लिए आनन्द के साधन, अपनी पाठशाला के लिए आभूषणरूप और अपने मोहल्ले के लिए एक गौरवपूर्ण सम्मान जैसे थे तथा अपने साथियों के तो वह मानों स्वयंसिद्ध नेता प्रतीत होते थे !" कहने की आवश्यकता नहीं कि उचित शिक्षा-दीक्षा के संस्कारों द्वारा परिमार्जित और विकसित होने पर कालान्तर में उनकी वह जन्मजात नैसर्गिक प्रतिभा मानों दूने प्रकाश के साथ दमक उठी, यद्यपि दुर्भाग्यवश बचपन ही में अपने महान् पितामह और पिता दोनों ही की गोद से बिछुड़ जाने के कारण उनके अध्ययन के क्रम में बीच-बीच में काफ़ी बाधाएँ भी उपस्थित होती रहीं। वह पहले तो कलकत्ते के सुप्रसिद्ध 'हिन्दू कॉलेज' में प्रविष्ट हुए थे, किन्तु कुछ ही समय बाद वहाँ से हटाकर अपने अभिभावकों द्वारा स्थानीय 'मेट्रोपालिटन इंस्टीट्यूट' में भेज दिए गए, जहाँ से अन्ततः पुनः उन्हें हिन्दू कॉलेज ही में वापस आना पड़ा। वस्तुतः स्कूल-कॉलेज से कहीं अधिक उन्होंने जो कुछ सीखा वह था अपने खानगी प्रयत्न द्वारा ही, जिसमें सबसे उल्लेखनीय था सन् १८५६ ई० से १८५८ ई० तक लगभग दो वर्ष तक मि० जोन्स नामक एक अंग्रेज प्रोफ़ेसर के

* केशवचन्द्र बचपन में अपने परिवार में इसी प्यार के नाम से पुकारे जाते थे।

तत्त्वावधान में वैयक्तिक रूप से किया गया धर्म और दर्शन विषयक उनका वह गहन अध्ययन, जिसका कि उनके जीवन-क्रम पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ा। उनमें अध्यात्म तथा धर्म के प्रति रुझान तो बचपन ही से एक जन्मजात प्रवृत्ति के रूप में गहराई के साथ था ही, अतः इस दार्शनिक अनुशीलन ने मानों अग्नि में घी का काम किया, जिसके फलस्वरूप उस अल्पावस्था ही में प्रवृत्तिपथ की मृगमरीचिका की ओर से आँखें हटाकर आत्मकल्याण के सच्चे मार्ग की ओर अग्रसर हो उन्होंने अपने आपको साधना के कठोर शिकंजे में कसना शुरू किया और सुख-समृद्धि के वातावरण में पनपने पर भी अत्यन्त सरलता और ग़रीबी का बाना पहनने ही में उन्होंने परम कल्याण का मार्ग देखा। उन्होंने मांस-मछली के आहार का त्याग कर दिया, सुबह-शाम नियमित रूप से प्रार्थना करना शुरू किया, अपने भीतरी विकारों के घटाटोप से विमुक्त होने के लिए आत्मशुद्धि तथा प्रायश्चित्त के पथ की ओर दृढ़तापूर्वक क़दम बढ़ाना आरम्भ किया और इस आत्मसंयम के पुनीत अनुष्ठान में सफलीभूत होने के लिए सम्पूर्ण रूप से उस दयालु परमात्मा ही के चरणों में अपने आपको छोड़ देने में एकमात्र आश्रय उन्हें दिखाई दिया। इन्हीं दिनों उनके अभिभावकों ने एकाएक नौ या दस वर्ष की एक निरीह बालिका—जगन्मोहिनी देवी—के साथ विवाह-सूत्र में उनका गठबन्धन कर दिया, फिर भी केशव का चित्त अपनी उस आध्यात्मिक साधना और तपस्या की ओर से विचलित न हुआ! वस्तुतः विवाह हो जाने पर भी अपने महान् समसामयिक रामकृष्ण की भाँति पत्नी के साथ बरसों उनका किसी प्रकार का दांपत्य-संपर्क प्रस्थापित न हुआ! उन्होंने स्वयं इस बात का उल्लेख किया है कि "मेरे प्रणय की मधुरात्रि (सुहाग की रात) प्रभु के मंदिर में आराधना-उपासना ही में व्यतीत हुई थी," यद्यपि बाद में यथाविधि गार्हस्थ्य-धर्म का परिपालन करते हुए उन्होंने दाम्पत्य-जीवन का एक उत्कृष्ट उदाहरण हमारे सन्मुख प्रस्तुत किया!

किन्तु उपरोक्त विवरण से पाठक कहीं यह न मान बैठें कि हमारे चरितनायक का इन दिनों का एकमात्र व्यवसाय केवल अपना निजी एकाकी परमार्थ-साधन ही रहा हो! वस्तुतः जहाँ एक ओर अंतराभिमुख हो कठोर तपस्या की आँच में अपने आपको तपाते हुए वह उपरोक्त एकान्त साधना में लवलीन हो रहे थे, वहाँ साथ-ही-साथ बाहर समाज के विशद प्राङ्गण में उतरकर जनोत्थान और लोकसेवा के कँटीले मार्ग पर बढ़ते हुए अपने अंतस्तल की निगूढ़ भावनाओं की विराट् अभिव्यक्ति करने का भी ज़ोरों के साथ प्रयास कर रहे थे। जैसा कि महर्षि देवेन्द्रनाथ के साथ उनका परिचय देते समय पिछले प्रकरण में प्रसंगवश हम बता चुके हैं, यद्यपि वह थे अभी केवल अठारह-उन्नीस वर्ष के एक उठते हुए नौजवान ही, फिर भी अपने नगर के सार्वजनिक क्षेत्र में 'ब्रिटिश इंडिया सोसायटी' (सन १८५४ ई०) नामक एक साहित्यगोष्ठी, 'गुडविल फ्रेटर्निटी' (१८५७ ई०) नामक एक धार्मिक भ्रातृमंडली और कोलूटोला की एक रात्रिपाठशाला (१८५५ ई०) तथा और भी कई छोटी-बड़ी लोकसंस्थाओं के प्रतिष्ठापक एवं सूत्र-संचालक के रूप में सामने आकर इस छोटी-सी उम्र ही में काफ़ी ख्याति प्राप्त कर चुके थे, यद्यपि यह बात अवश्य थी कि अपने भीतर और बाहर दोनों दिशाओं में अभी कोई निश्चित ध्रुवबिन्दु का आधार न होने के कारण वह टटोल-टटोलकर ही आगे बढ़ रहे थे—उनकी स्थिति एक संघर्ष की स्थिति थी। अपनी इन दिनों की डाँवाडोल अवस्था का चित्र खींचते हुए स्वयं उन्होंने ही वर्षों बाद इंग्लैंड में एक व्याख्यान के अंतर्गत यह बताया था कि किस प्रकार अन्त में वह उस स्थिति से उबरकर ब्राह्म-समाज के प्रति आकृष्ट हुए थे। उनके शब्द हैं—"अंग्रेज़ी शिक्षा ने मेरे मस्तिष्क को उलट-सा दिया था और उसमें एक शून्य-सा पैदा कर दिया था। मैंने मूर्तिपूजा-मूलक धर्म का तो त्याग कर दिया था, परन्तु बदले में कोई ऐसा रचनात्मक ठोस धार्मिक आधार मुझे नहीं मिला था, जिस पर कि अपने पैर मैं टिका सकता, और किसी भी व्यक्ति के लिए आख़िर बिना एक ठोस धार्मिक आधारशिला के भला इस लोक में रहना क्योंकर संभव हो सकता है?......मैं गहराई के साथ न केवल उस परमपिता परमात्मा में अटल श्रद्धा ही की

आवश्यकता का अनुभव करता, बल्कि साथ ही साथ इस पृथ्वी पर एक ऐसे भ्रातृत्व के आँगन की प्रस्थापना का भी स्वप्न मन ही मन देखता था, जिसकी परिधि में मनुष्य मात्र एक हो सकें। किंतु कहाँ पाया जा सकता था ऐसा सार्वजनीन धर्म-आँगन ?.........मेरी अपनी जानकारी के विभिन्न मत-मतान्तरों और धर्म-संप्रदायों से तो अपने इस प्रश्न का कोई समाधानसूचक उत्तर मिलने मुझे नहीं दिखाई देता था। इन्हीं दिनों की बात है कि अचानक एक दिन कलकत्ता के ब्राह्म-समाज द्वारा प्रकाशित एक छोटी-सी पुस्तिका मेरे हाथों में पड़ गई और जब मैंने उसका 'ब्राह्म-धर्म क्या है' शीर्षक अध्याय पढ़ा तो सहसा मुझे ऐसा कुछ लगा जैसे उसमें निहित विचारों में से मेरे अपने अन्तस्तल में निहित धर्म-भाव ही की प्रतिध्वनि निकल रही हो—मुझे उसमें अपनी आत्मा की तह में छिपे परमात्मा की स्पष्ट आवाज़ सुनाई पड़ी !...और वैसे ही तुरन्त मैंने ब्राह्म-समाज की उस वेदी के साथ अपने आप को संलग्न कर देने का दृढ़ संकल्प कर लिया !"

इसके बाद तो उस महान् सुधारक संस्था के साथ एक होकर अपने जादूभरे व्यक्तित्व के प्रभाव तथा वाणी और लेखनी के अप्रतिम ओज द्वारा अल्प-काल ही में उसके कलेवर में मानों बिजली-सी दौड़ाकर किस प्रकार न केवल बंगाल ही बल्कि सारे भारतवर्ष की आँखें उसके प्रति उन्होंने मोड़ दीं, यह हम महर्षि देवेन्द्रनाथ के चरित्र का वर्णन करते समय पिछले प्रकरण में देख ही चुके हैं। उनकी उत्कट धर्म-भावना और अद्वितीय प्रतिभा ने देवेन्द्रनाथ का हृदय हर लिया और सहज ही उन दोनों के बीच एक ऐसा प्रगाढ़ स्नेह-बन्धन प्रस्थापित हो गया, जो बाद में विचारों में गहरा मतभेद हो जाने पर भी जीवन-पर्यन्त शिथिल न हो पाया। सन् १८५९ ई० में देवेन्द्र उन्हें अपने साथ सीलोन (लंका) की समुद्र-यात्रा पर लिवा ले गए और वहाँ से लौटने पर दोनों ही एक नवीन उत्साह तथा उमंग के साथ ब्राह्म-समाज की वेदी पर से जनोत्थान के कार्य को आगे बढ़ाने में तल्लीन हो गए। उसी वर्ष पं० ईश्वरचन्द्र विद्यासागर के अवसर प्राप्त कर लेने पर 'समाज' के मंत्रित्व का भार भी इन्हीं दोनों के कन्धों पर आ पड़ा, अतः अब और भी अधिक ज़ोर-शोर के साथ वे अपना सुधार-कार्य करने लगे। इन्हीं दिनों उस सुप्रसिद्ध 'ब्राह्म-विद्यालय' की प्रस्थापना की गई, जिसने ब्राह्म-धर्म का तत्त्व-विवेचन करने तथा 'समाज' के भावी कार्यकर्त्ताओं को अपने मिशन-कार्य के लिए तैयार करने में महत्त्वपूर्ण भाग लिया। इस विद्यालय की कक्षाएँ प्रति रविवार को हुआ करती थीं और उनमें देवेन्द्रनाथ बँगला में तथा केशव अंग्रेज़ी में विशेषकर आध्यात्मिक विषयों पर ओजपूर्ण ढंग से गंभीर प्रवचन किया करते थे। इन प्रवचनों को बाद में प्रचार के हेतु पुस्तकाकार में प्रकाशित करने की भी व्यवस्था की गई—देवेन्द्रनाथ के बँगला प्रवचनों को 'ब्राह्मधर्मेर मत ओ विश्वास' शीर्षक संकलन के रूप में और केशव के अंग्रेज़ी व्याख्यानों को बारह छोटे-छोटे ट्रैक्टों के रूप में, जिनमें पहला था 'तरुण बंगाल, यह तुम्हारे लिए है' शीर्षक सुप्रसिद्ध ट्रैक्ट, जिसने बंगीय युवक-समाज की नसों में एक बिजली-सी दौड़ा दी !

तब अपना सारा समय समाजसेवा और लोकोद्धार के कार्य ही में लगाने के उद्देश्य से सन् १८६१ ई० में केशवचन्द्र ने बंगाल-बैंक तथा सरकारी टकसाल की अपनी लाभप्रद नौकरी से, जिसमें कि वह अभी हाल ही में लगे थे, त्यागपत्र दे दिया और उसी वर्ष कुछ उत्साही साथियों को साथ लेकर 'संगत सभा' नामक एक पृथक् भ्रातृ-मंडली की स्थापना उन्होंने की, जिसमें कि समाज-सुधार एवं आध्यात्मिक पुनरुत्थान संबंधी रचनात्मक कार्यों के अतिरिक्त पौर्वात्य एवं पाश्चात्य धर्म-ग्रन्थों का गहन अध्ययन किया जाने लगा। साथ ही उसी वर्ष देवेन्द्रनाथ की आर्थिक सहायता से 'इंडियन मिरर' नामक एक अंग्रेज़ी पत्र भी उन्होंने प्रकाशित करना शुरू किया, जो कालान्तर में पाक्षिक से साप्ताहिक और अंत में एक प्रभावशाली दैनिक पत्र बन गया। इसके अतिरिक्त भारत में जनशिक्षा के विस्तार के लिए ब्रिटिश राष्ट्र के नाम एक महत्त्वपूर्ण अपील भी उन्होंने निकाली और इन्हीं दिनों संयुक्त प्रान्त को अपने चंगुल में दबोच लेनेवाले एक भीषण अकाल का समाचार पाकर वहाँ की पीड़ित जनता के सहायतार्थ काफ़ी चंदा इकट्ठा करने की भी व्यवस्था

उन्होंने की। उनकी इन प्रखर सार्वजनिक सेवाओं और उत्कट लगन से प्रभावित होकर वर्ष भर बाद ही बड़ी धूमधाम के साथ देवेन्द्रनाथ ने 'ब्रह्मानन्द' की उपाधि से विभूषित कर उन्हें ब्राह्म-समाज के 'आचार्य' की गद्दी पर प्रतिष्ठित कर दिया और फलतः अब और भी ज़ोर-शोर के साथ 'समाज' के मंच पर से सुधार-कार्य होने लगा। उन्हीं के प्रयत्न से क्रमशः १८६२ और १८६४ ई० में ब्राह्म-समाज के तत्त्वावधान में बंगाल के सर्वप्रथम दो अंतर्जातीय विवाह संपन्न हुए और परदा-प्रथा को तोड़ने के प्रयास में तो स्वयं अपनी ही पत्नी को पहलेपहल घर से बाहर लाकर उन्होंने न केवल साहस और सच्ची लगन का एक उज्ज्वल उदाहरण ही प्रस्तुत किया, बल्कि अपने परिवार का कोपभाजन बनकर घर से निकाल दिए जाने का दण्ड भुगतना तक स्वीकार किया! इन्हीं दिनों बंबई, कालीकट, मद्रास आदि स्थानों की एक विशद प्रचार-यात्रा भी उन्होंने की, जिससे कि देश में अन्यत्र भी ब्राह्म-धर्म का प्रतिपादन करनेवाले कई एक सुधारवादी समाज-मंदिरों की प्रस्थापना हो गई और इसके अलावा 'ब्राह्म-बन्धु-सभा' नामक अन्य एक संस्था को जन्म देने के लिए भी अपना हाथ बढ़ाया, जिसने धार्मिक और सामाजिक विषयों पर सार्वजनिक भाषण कराने, पर्दानशीन स्त्रियों में शिक्षा और अध्ययन की प्रवृत्ति जगाने, उनके लिए उचित पाठ्यक्रम और परीक्षाएँ आदि नियोजित करने तथा अन्य सुधार-कार्यों को आगे बढ़ाने के संबंध में बड़ा महत्त्वपूर्ण योग दिया!

किन्तु इस प्रकार धड़ाधड़ी के साथ सुधार के पथ पर अग्रसर होने का उनका यह कार्यक्रम एकदम अविरोध और निष्कंटक रूप से भला कब तक चल सकता था? जैसा कि पिछले प्रकरण में कहा जा चुका है, एक-दूसरे के प्रति अगाध स्नेह का भाव रखते हुए भी देवेन्द्रनाथ और हमारे चरितनायक के धर्म और समाज-सुधार विषयक विचारों एवं नीति में गहरा अंतर था, कारण देवेन्द्र थे मूलतः प्राचीन परंपरा ही के अनन्य पुजारी और एक नरम सुधारक, जबकि केशव उनसे विपरीत गहराई के साथ पाश्चात्य विचारों के रंग में रँगे हुए एक उग्र सुधारवादी तथा सभी धर्मों के प्रति समान भाव रखनेवाले पहुँचे हुए विश्व-धर्मी थे। और यदि वे दोनों स्वयं एक-दूसरे को मान्यता देते हुए किसी हद तक साथ-साथ चलते भी रहते तो भला 'समाज' के अन्य सदस्यों से यही उम्मीद कैसे की जा सकती थी, जिनमें से कई एक अब भी रूढ़िवादिता ही की परिधि में घिरे हुए थे और जिन्हें केशव जैसे एक पाश्चात्य संस्कारयुक्त 'अब्राह्मण' व्यक्ति का समाज के आचार्यपद पर प्रतिष्ठित होना ही बेतरह अखरता था! अतः, जैसा कि विगत प्रकरण में विस्तारसहित बताया जा चुका है, एक दिन आया जबकि 'समाज' के इस आन्तरिक विग्रह ने ऐसा विकट रूप धारण कर लिया कि पुराने दल के साथ मिलकर काम करना केशव के लिए असंभव-सा हो गया और फलतः विवश हो वह अपने तरुण साथियोंसहित 'भारतवर्षीय ब्राह्म-समाज' के नाम से एक नवीन संस्था के रूप में आदि 'समाज' के दायरे से पृथक् हो गए। यह घटना सन् १८६७ ई० में घटित हुई और ब्राह्म-समाज के इतिहास में यह उसके 'प्रथम विभाजन' के नाम से विख्यात है। इसके बाद से देवेन्द्रनाथ सार्वजनिक जीवन से एक प्रकार का संन्यास-सा लेकर अपना अधिकांश समय एकान्तवास ही में व्यतीत करने लगे, जैसा कि पिछले प्रकरण में बताया जा चुका है, अतएव समसामयिक बंगाल के सामाजिक जीवन के नेतृत्व की बागडोर अब स्वभावतः पूर्णतया हमारे चरितनायक ही के हाथों में केन्द्रित हो गई, जो कि उनके सच्चे उत्तराधिकारी थे, और फलतः केशव की सुधारवादी प्रवृत्तियाँ स्वच्छन्दता का क्षेत्र पाकर अब पहले से भी अधिक प्रखरता के साथ अपनी अभिव्यक्ति करने लगीं। उन्होंने अपने नवीन 'समाज' की नींव डालने के शीघ्र ही बाद पुनः देश की एक विशद प्रचार-यात्रा की, जिसके परिणामस्वरूप पूर्वीय बंगाल, संयुक्त प्रान्त, तथा पंजाब के विभिन्न नगरों में भी 'समाज' की कई शाखाएँ प्रस्थापित हो गईं। कहते हैं, इस समय तक सारे भारतवर्ष में 'ब्राह्म-धर्म' को माननेवाले लगभग पचास विभिन्न समाज-मंदिर प्रस्थापित हो चुके थे, जिनकी देख-रेख में चालीस पत्र-पत्रिकाएँ भिन्न-भिन्न भाषाओं में

निकलती थीं और कई एक बालक-बालिकाओं की शिक्षण-संस्थाएँ भी संचालित होती थीं। और यह सब कुछ अधिकांश में इस संस्था के उस उद्भट नेता केशवचन्द्र के ही ज़ोरदार प्रचार-कार्य तथा सुधारवादी आन्दोलन का सुफल था!

तब २४ जनवरी, सन् १८६८ ई०, के दिन कलकत्ते में 'समाज' के तत्त्वावधान में एक विशाल नगर-संकीर्त्तन का आयोजन कर इस महान् नेता ने अपने प्रसिद्ध 'नवविधान' की उद्घोषणा द्वारा ब्राह्म-समाज की प्रगति के इतिहास में एक नया क़दम बढ़ाया और पहलेपहल अपने अंतस्तल के उस आदर्श विश्व-धर्म की रूपरेखा का आभास संसार को दिया, जिसके कि अनुसार ईश्वर के द्वार पर सभी के समान अधिकारों की घोषणा की गई और उस परमपिता की शरण में आनेवाले प्रत्येक जन के लिए मुक्ति के निश्चित वरदान का आश्वासन दिया गया! कहने की आवश्यकता नहीं कि केशव की धर्म-विचारधारा में इसके बाद से उदारता की मात्रा दिन पर दिन बढ़ती ही चली गई और उस पर अब स्पष्टतया हिन्दू धर्म से बाहर के मतों की भी—विशेषतया ईसाई मत की—गहरी छाप दिखाई देने लगी, जिसका कि बहुत ज़ोर का प्रभाव उनके मस्तिष्क पर युवावस्था के आरंभ के समय से ही पड़ चुका था! उन्होंने अब विशेष रूप से ईसा मसीह के व्यक्तित्व तथा उनकी अलौकिकता के प्रति खुलकर अपनी श्रद्धा-भक्ति प्रकट करते हुए यह उद्घोषित करना आरंभ किया कि हिन्दू धर्म के गंभीरतम तत्त्व तथा ईसाइयत के बुनियादी सिद्धान्तों में वस्तुतः कोई विभेद या असामंजस्य नहीं है। साथ ही अब उन पर ज्ञान-मार्ग के बजाय गहराई के साथ भक्तिमूलक भावनाओं का ही रंग विशेष रूप से चढ़ते दिखाई देने लगा, यहाँ तक कि देखते-देखते राममोहन तथा देवेन्द्र की ज्ञानमूलक बुद्धिवादी भित्ति से बहुत-कुछ हटकर उनका नवीन 'समाज' अब स्पष्टतः महाप्रभु चैतन्य की भाव-विभोर वैष्णव भक्ति तथा ईसा मसीह की 'मुक्ति-प्रदायिनी' प्रेमधारा के प्रवाह में ही ज़ोरों के साथ बह चला! निश्चय ही यह नवीन प्रवृत्ति स्वयं उनके अपने नए 'समाज' ही के बहुतेरे उपासकों के लिए एक चौंका देनेवाली जैसी बात थी, कारण जब वेदों और उपनिषदों के तत्त्वज्ञान के विवेचन के बजाय अब उसके आँगन में प्रायः सुनाई पड़ने लगा करताल, मृदङ्ग और इकतारे की धुन में भक्ति-रस से सने हुए वैष्णव पदों के गायन-कीर्त्तन तथा हरि-संकीर्त्तन का हृदयहारी स्वर ही और प्रवचनों में भी अब उस भक्ति के उद्रेक का ही मानों ज्वार-सा उमड़ने लगा तब तो कई पुराने और नए ब्राह्म उपासकों के मन में सहज ही यह सशंकित प्रश्न रह-रहकर उठने लगा कि आखिर उनका यह नया 'समाज' अपने भावविभोर नेता के उद्दाम भक्ति-प्रवाह में बहता हुआ कहाँ से कहाँ चला जा रहा था? और उधर केशव का दिन पर दिन यह हाल होता जा रहा था कि अब वह प्रायः बोलते-बोलते भावावेश में आँसुओं की नदियाँ-सी बहाने लगते और अपनी हृदयगत मार्मिक व्यथा के उद्गारों से पाषाणहृदयों को भी विगलित कर देते! उनके इस असामान्य भावोद्रेक और अद्भुत आचरण ने लोगों को और भी अधिक चौंकाना शुरू किया जबकि वह अब खुले आम ईसाइयत की पाप, प्रायश्चित्त एवं मुक्ति-संबंधी विशिष्ट धारणाओं में अपना प्रबल विश्वास प्रकट करने और स्पष्ट शब्दों में ईसा की शरण में आने के लिए मानवता का आह्वान करने लगे! निश्चय ही न केवल भारतीय धर्म के कट्टर उपासकों के लिए ही उनकी यह प्रवृत्ति एक घबड़ा देनेवाली जैसी बात थी, बल्कि स्वयं उनके अपने 'समाज' के अंतर्गत भी अधिकतर लोग ऐसे ही थे जो कि इस अबाध प्रवाह में उनका साथ देने को कदापि तैयार न थे! अतएव शीघ्र ही वह समय आया जबकि आलोचकों ने खुले आम उन पर यह आरोप लगाना शुरू किया कि वह एक विदेशी धर्म की वेदी पर अपनी बलि चढ़ाकर भारतीय धर्म से एकदम किनारा कस चुके थे और प्रच्छन्न रूप से ब्राह्म-समाज को ईसाइयत की ओर मोड़ते चले जा रहे थे! किन्तु सच पूछो तो यह एक निरा भ्रम ही था, क्योंकि यद्यपि यह महापुरुष वास्तव ही में ईसा की महानता तथा ईसाइयत के मानवधर्म-संबंधी उच्च आदर्शों का हृदय से उपासक था, फिर भी सांप्रदायिक दृष्टि से वह कदापि 'ईसाइयत' अथवा किसी भी अन्य मत विशेष का अनुयायी नहीं था।

वस्तुतः वह न तो 'ईसाई' ही था, न 'हिन्दू' ही—वह तो अपने पूर्वगामी राजर्षि राममोहनराय या अपने बाद के महामनीषि गांधी की भाँति था एक सच्चा विश्वधर्मी, समन्वय का प्रयास करनेवाला एक उदारहृदय विश्व-नागरिक, और यदि एक ओर ईसा के ऊँचे व्यक्तित्व में अपने स्वप्नलोक के आदर्श की परिपूर्णता का नमूना वह देखता था तो दूसरी ओर अपने महान् समसामयिक युगपुरुष रामकृष्ण के समीप बैठकर तथा हृदयतल से भगवती काली को पुकार-पुकारकर अपनी मर्मव्यथा प्रकट करते भी तो देखा जाता था! तो फिर कैसे एक संप्रदाय विशेष की परिमित परिधि में कोई उसे बाँध सकता था? वह तो यथार्थ में एक धर्मनेता से भी अधिक था एक भावविभोर भक्त—ईश्वर के लिए तड़पनेवाला एक सच्चा साधक! और यदि उसका कोई दोष था तो केवल यही कि अपने समय की प्रवृत्तियों से वह बहुत आगे बढ़ा हुआ था! इसीलिए तो अपने युग के निर्माण में प्रमुख भाग लेकर भी वह उस युग द्वारा ठीक से समझा और पहचाना ही न जा सका!

अपने पूर्वाचार्य राममोहन और देवेन्द्रनाथ की भाँति केशव को भी धर्म के साथ-साथ समाज, शिक्षा और साहित्य आदि सभी क्षेत्रों में सुधार का हाथ बढ़ा हमारे सर्वतोमुखी उत्थान में योग देने का गौरवपूर्ण श्रेय प्राप्त है। बल्कि इस देश के आधुनिक युग के इतिहास में एक धर्मनेता से कहीं अधिक एक महान् समाज-सुधारक ही के रूप में उनकी ख्याति रहेगी। वह सन् १८७० ई० में कुछ समय के लिए विलायत भी हो आए थे और अपनी असाधारण वक्तृत्वशक्ति द्वारा भारत की सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक परिस्थिति पर गंभीर रूप से प्रकाश डालकर उन्होंने इस देश के प्रति पश्चिम की आँखें खींचने का स्तुत्य प्रयास वहाँ किया था। जब वह वहाँ से वापस लौटे तो 'इंडियन रिफ़ार्म एसोसिएशन' के नाम से एक समाज-सुधारक संस्था की स्थापना कर उन्होंने विविध क्षेत्रों में सुधार का ऐसा तहलका मचा दिया कि समाज का कोई भी अंग उनसे अछूता न बच सका! उदाहरण के लिए, उन्होंने ही इस संस्था के तत्त्वावधान में 'सुलभ समाचार' नामक एक पैसे का सबसे पहला बँगला साप्ताहिक और 'मद ना गरल' नामक एक मद्य-निषेधक मासिक पत्र निकाला; शराबखोरी और अन्य दुर्व्यसनों के खिलाफ़ ज़ोरदार आन्दोलन शुरू किया; स्त्री-शिक्षा के लिए कलकत्ते में एक नार्मल-स्कूल प्रस्थापित किया; युवकों में जागृति पैदा करने के लिए 'बैंड आफ़ होप' नामक एक मंडल क़ायम किया; ग़रीबों के लिए धर्मार्थ औषधि-वितरण का भी सार्वजनिक रूप से प्रबंध किया; 'कलकत्ता स्कूल' नामक एक विद्यालय को कई दिनों तक चलाया, जो आगे चलकर 'अलबर्ट कॉलेज' के नाम से मशहूर हुआ; दस्तकारी की शिक्षा के लिए एक 'इंडस्ट्रियल स्कूल' और श्रमिकों के लाभार्थ एक 'मज़दूर संस्था' को जन्म दिया; और इनके अलावा 'अलबर्ट इंस्टीट्यूट', 'विक्टोरिया कॉलेज', 'भारत-आश्रम', 'ब्राह्म-निकेतन' आदि आदि न जाने कितनी ही अन्य सामाजिक संस्थाओं के निर्माण में हाथ लगाया, जिनका कि पूरा विवरण देने के लिए यहाँ पर्याप्त स्थान ही नहीं है! परन्तु स्थायी महत्व और मूल्य की दृष्टि से उनके हाथों जो सबसे स्मरणीय सुधार-कार्य हुआ, वह था सन् १८७२ ई० का सुप्रसिद्ध 'विवाह क़ानून' (ब्राह्म मैरेज ऐक्ट—३), जिसके निर्माण में उन्होंने विशेष रूप से योग दिया था और जिसके द्वारा बालविवाह की प्रथा मिटाने, बहुविवाह को अपराध क़रार देने और विधवा-विवाह तथा अंतर्जातीय विवाह को बढ़ावा देने में काफ़ी हद तक सहायता पहुँची थी। वस्तुतः राममोहन की तरह केशव भी स्त्रियों के एक महान् हितैषी थे और अपने सार्वजनिक जीवन के आरंभ ही से महिलाओं के उत्थान के संबंध में उन्होंने काफ़ी प्रयास किए थे। उन्होंने पंडित ईश्वरचन्द्र विद्यासागर द्वारा उठाए गए विधवा-विवाह संबंधी आंदोलन का डटकर समर्थन किया था, यहाँ तक कि इस संबंध में एक बार एक नाटक भी खेला था! १८६३ ई० में 'वामाबोधिनी' नामक एक स्त्रियोपयोगी मासिक पत्रिका भी उन्होंने निकालना शुरू किया था और पर्दा-प्रथा को तोड़ने के प्रयास में तो, जैसा कि पिछले पृष्ठों में कहा जा चुका है, पहलेपहल अपनी धर्मपत्नी को बाहर लाते समय उन्हें अपने परिवार

के हाथों घर से बाहर निकाल दिए जाने तक का दण्ड भुगतना पड़ा था !

धर्म और समाज की भाँति साहित्य के क्षेत्र में भी अपनी वाणी और लेखनी के प्रसाद के रूप में वह एक स्थायी संपत्ति हमें दे गए, जिसका साक्षी उनके द्वारा बँगला और अंग्रेज़ी में रचित वह विशाल वाङ्मय है, जिसमें उनकी समस्त वक्तृताएँ और लेखादि संग्रहीत हैं। केशव की भाषा अत्यन्त सरल साथ ही भावना के रस में ऐसी पगी हुई-सी रहती थी कि सुननेवालों को उसमें काव्य का-सा आनन्द आने लगता था। तभी तो उनकी मधुर वाणी का रसास्वादन करने के हेतु बंकिमचन्द्र चटर्जी जैसे साहित्य-महारथी और विवेकानन्द जैसे उद्भट विचारक भी कभी-कभी उनके श्रोताओं की मंडली में बिना बुलाये ही बैठे देखे जाते थे ! अपने जीवन के अंतिम दिनों में 'नवसंहिता' और 'जीवनवेद' नामक दो महत्त्वपूर्ण-रचनाएँ उन्होंने प्रकाशित की थीं, जिनमें उनके व्यक्तित्व और विचारों की अच्छी झलक देखने को मिल सकती है। इनके अलावा उनकी वक्तृताएँ भी विवेकानंद के व्याख्यानों की तरह साहित्य की एक स्थायी संपत्ति हैं और आज भी युवकों के लिए उनमें नवप्रेरणा की प्रचुर सामग्री पाई जा सकती है।

यह सचमुच हमारा परम दुर्भाग्य था कि इस भूमि के अन्य अनेक महान् सपूतों की भाँति यह असाधारण प्रतिभाशाली लोकनायक भी अधिक काल तक हमारे बीच न रह सका—उसने केवल ४६ वर्ष की आयु ही में ८ जनवरी, १८८४ ई०, के दिन सदा के लिए अपनी आँखें मूँद लीं ! उसकी इस आकस्मिक मृत्यु का मुख्य कारण उसके जीवन के अंतिम दिनों में कूचबिहार के महाराजा के साथ उसकी एक अल्पवयस्का कन्या के विवाह के फलस्वरूप ब्राह्म-समाज में उठनेवाले एक घोर विरोधी आन्दोलन तथा उसी के परिणामस्वरूप 'साधारण ब्राह्म-समाज' के रूप में अनेक असंतुष्ट ब्राह्म उपासकों के उससे अलग हो जाने की वह सुविख्यात घटना थी जिसने कि उसके हृदय को एक असामान्य आघात पहुँचाकर मानों टूक-टूक कर दिया था ! वह घटना क्योंकर घटी और किस प्रकार ब्राह्म-समाज के इस 'द्वितीय विभाजन' के बाद प्रतापचन्द्र मजूमदार, आनन्दमोहन बोस, शिवनाथ शास्त्री आदि भावी नेताओं के तत्त्वावधान में इस महान् संस्था की नौका आगे बढ़कर आज के युग तक आ पाई, यह हमारे प्रस्तुत प्रसंग से परे का विषय है, अतएव उसका विवरण देने की यहाँ आवश्यकता नहीं ! यहाँ तो हमारा प्रयोजन केवल उस महान् लोकधर्मी जनशिक्षक का ही परिचय देने का था, जो अपने युग के समाज-सुधार तथा धर्म-संस्कार विषयक प्रयासों का एक प्रधान अग्रणी, अपने देश के सांस्कृतिक उत्थान में योग देनेवाला एक प्रमुख स्वाधीन चिन्तक तथा अपने युग का एक असाधारण वक्ता, लेखक, साधक और संत था ! वह था समन्वय का संदेश सुनानेवाला एक महान् मानवधर्मी, जिसने कि पूर्व और पश्चिम को एक तारतम्य में जोड़ देने का ही जीवनभर प्रयास किया।* अपने बाद आनेवाले महामनस्वी विवेकानंद की भाँति वह भी धर्म ही को सामाजिक सुधार की मूल भित्ति बना देने के लिए उत्कंठित था और जीवनभर यही महान् लक्ष्य उसने अपने सामने रक्खा कि पुनः मनुष्य के साधारण दैनिक लोक-जीवन में धर्म की प्राणप्रतिष्ठा हो ! दुर्भाग्यवश उसके अपने युग ने उसके ध्येय की ऊँचाई को ठीक से समझा ही नहीं। परन्तु निश्चय ही एक दिन वह भी आएगा, जबकि न केवल यह देश ही बल्कि सारा संसार समन्वय और एकता के इस पैग़म्बर की शिक्षा का यथार्थ मूल्य आँकेगा और उसके आदर्श को अपनाने की कोशिश करेगा !

*विश्व-धर्मी केशव की सार्वदेशिकता और संसार के सभी महान् धर्मों के प्रति उनकी आस्था का बहुत-कुछ आभास हमें इस बात में मिलता है कि उन्होंने अपने चार चुने हुए शिष्यों को संसार के चार विभिन्न महान् धर्मों का अध्ययन करने के लिए विशेष रूप से तैयार किया था—१. हिन्दू धर्म के लिए उपाध्याय गौड़ गोविंदराय को, जिन्होंने गीता पर एक संस्कृत टीका और भगवान् श्रीकृष्ण की एक सुन्दर जीवनी लिखी; २. बौद्ध धर्म के लिए साधु अघोरनाथ को, जिन्होंने बुद्ध का एक जीवन-चरित्र तैयार किया; ३. इस्लाम के लिए भाई गिरीशचन्द्र सेन को, जिन्होंने क़ुरान का अनुवाद कर मुहम्मद कीजीवनी लिखी; और ४. ईसाई मत के लिए प्रतापचन्द्र मजूमदार को जिन्होंने "ओरिएण्टल क्राइस्ट" पुस्तक लिखी !

विवेकानन्द

जिन दिनों हमारे सांस्कृतिक वातावरण में एक ओर श्री रामकृष्ण परमहंस जैसे महासाधक और दूसरी ओर ऋषि दयानन्द, महर्षि देवेन्द्रनाथ और केशवचन्द्र सेन जैसे सुधारकों के प्रादुर्भाव से पुनः नवजीवन का स्वर स्पंदित होने लगा था, रत्न-प्रसूता भारतभूमि की कोख से उन्हीं दिनों एक और प्रातःस्मरणीय महापुरुष ने जन्म लिया, जिसकी दिव्य देन की आभा से हमारा आँगन फिर से एक बार उसी प्रकार जगमगा उठा, जिस प्रकार बारह सौ वर्ष पूर्व अन्य एक तपोपुंज लोकशिक्षक—आचार्य शंकर—को पाकर दमक उठा था! इस महामनस्वी की वैखरी वाणी ने अल्पकाल ही में वह चमत्कारपूर्ण कार्य कर दिखाया, जो साधारण जनों द्वारा संभवतः शताब्दियों तक प्रयत्न करने पर भी संपन्न नहीं किया जा सकता था! उसने अपनी गगनभेदी हुंकार द्वारा न केवल इस देश के ही कोने-कोने में प्रत्युत् सुदूर अमेरिका और योरप तक वेदों और उपनिषदों के प्राचीन आत्मज्ञान का संदेश गुँजा दिया! साथ ही अपनी ज्वलन्त शिक्षा की चिनगारियों से इस देश की प्रसुप्त आत्मा के अंतराल में क्रान्ति के स्फुलिङ्ग जगाकर, परोक्ष भाव से उसने हमारे राष्ट्रीय पुनरुत्थान के यज्ञ में भी ऐसा प्रखर योग दिया कि यदि यह कहा जाय कि धर्म और दर्शन की भाँति राजनीति के क्षेत्र में भी वह हमारा एक प्रमुख शिक्षागुरु था तो कोई अत्युक्ति न होगी! उसकी 'उठो, जागो' की ललकार ने हमें अपने सामयिक राष्ट्रीय कर्त्तव्य को पहचानने और इस हीनावस्था से ऊपर उठने की एक सबल प्रेरणा दी और उसके वेदान्त-विषयक महापाठ ने तो भौतिकवाद की भूलभुलैया में फँसे हुए सारे संसार के लिए मुक्ति का एक ऐसा मार्ग निर्दर्शित कर दिया, जिसे अपना लेने पर मनुष्य-मात्र के लिए फिर अन्य किसी राह को खोजने की आवश्यकता ही नहीं रह जाती! इस प्रकार वह हमारे बीच एक महान् देवदूत के रूप में उतरा और आज की इस मोह-निद्रा से झकझोरकर वह हमें सुना गया फिर से वही अनादिसिद्ध कर्म-संदेश, जो पाँच हज़ार वर्ष पूर्व समराङ्गण में हथियार फेंक देनेवाले विषादयुक्त अर्जुन के प्रति उपदेश के बहाने स्वयं जगद्गुरु श्रीकृष्ण ने अपने श्रीमुख से कभी हमें सुनाया था!

इस महापुरुष का असली नाम तो था 'नरेन्द्रनाथ दत्त', किन्तु आज बिरला ही कोई इस नाम से उसे पहचान पाएगा! कारण, जिस प्रकार उसका पूर्ववर्ती काठियावाड़ का वह क्रान्तदर्शी ब्राह्मण 'मूलशंकर' आज के दिन केवल 'दयानन्द' ही के नाम

से पहचाना और याद किया जाता है, हमारी जागृति का यह दूसरा महान् नेता भी उसी तरह अपने संन्यास-काल के नाम—'विवेकानन्द'—द्वारा ही अधिक प्रसिद्ध है! उसका जन्म १२ जनवरी, सन् १८६३ ई०, के दिन कलकत्ते के एक सुसंस्कृत बंगाली कायस्थ (क्षत्रिय) परिवार में हुआ था। अतः तिथिक्रम की दृष्टि से वह भी उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्धकाल के उस चिरस्मरणीय दशाब्द की ही उपज था, जिसमें क्रमशः रवीन्द्रनाथ ठाकुर, मोतीलाल नेहरू, प्रफुल्लचन्द्र राय, मदन-मोहन मालवीय, गोपालकृष्ण गोखले, मोहनदास गांधी और चित्तरंजन दास आदि हमारे इतिहास के आधुनिक पर्व के अन्य अनेक लोकनायक भी पैदा हुए थे! उसके पिता—विश्वनाथ दत्त—नई रोशनी के एक प्रगतिशील व्यक्ति थे, जिन पर पाश्चात्य बुद्धिवादी विचारधारा और तत्कालीन युवक-समाज के विशेष श्रद्धाभाजन सुप्रसिद्ध तत्त्वदर्शी हर्बर्ट स्पेन्सर का विशेष रूप से प्रभाव जमा हुआ था। और इसी प्रकार उसकी माँ भी सुतीक्ष्ण व्यावहारिक बुद्धि की एक ऐसी सुसंस्कृत महिला थी कि जो प्रत्येक भारतीय स्त्री की भाँति हृदय से धर्मपरायण होते हुए भी कट्टरपंथियों की तरह धर्मान्ध कदापि न थी—वह थी एक सच्ची राजपूतनी की भाँति आत्माभिमान, चरित्र-बल और कर्त्तव्यनिष्ठा की एक ऐसी जीती-जागती प्रतिमा कि नरेन्द्र बाद को सदैव ही यह कहता रहा कि 'यदि मेरे जीवन और कार्य के पीछे चिरन्तन रूप से प्रेरणा देते रहनेवाली कोई शक्ति रही है तो वह है मेरी माँ!' कहने की आवश्यकता नहीं कि इस प्रकार की उच्च सांस्कृतिक पारि-वारिक पृष्ठभूमि में पनपकर हमारा यह चरित-नायक आरंभ ही से मानों एक विशिष्ट प्रकार के सुनिश्चित साँचे में ढल गया—वह एक ओर जहाँ पिता के प्रखर बुद्धिवाद के रंग में नख से शिख तक रँगकर एक विचक्षण तत्त्वचिन्तक और दिग्गज तार्किक बन गया, वहाँ दूसरी ओर माता के प्रबल क्षात्र संस्कारों को लेकर नैतिक शक्ति, साहस और कर्मठता की भित्ति पर स्थापित एक ऐसे बज्रतुल्य चरित्र के ढाँचे में सदा के लिए गठित हो गया कि जीवनभर कभी भी कोई उसे अपने अंतस्तल के विवेक के मार्ग से न डिगा सका! परन्तु इन दोनों ही जन्मजात सांस्कारिक प्रभावों से भी कहीं गहरा और युगान्तरकारी प्रभाव, जो कि उसके चरित्र पर पड़ा, संभवतः उसके निवृत्तिमार्गी पितामह (दादा) के द्वारा बोए गए उन गुप्त संस्कार-बीजों का था, जिनके कारण वह स्वयं पच्चीस वर्ष की अल्पायु ही में स्त्री-पुत्र, धन-वैभव आदि से किनारा कसकर विधिवत् संन्यासी बन चुके थे! निश्चय ही उन्हीं के प्रच्छन्न पैतृक संस्कारों से परोक्ष रूप से अभिभूत होकर ही अंत में वह आध्यात्मिकता के उस धधकते कल्याण-मार्ग का राही बना, जिसने एक दिन उसे 'नरेन्द्र' से 'विवेकानन्द में' परिणत कर दिया! किन्तु इसके पहले कि हम उसके जीवन की उस महान् परिणति की अमर कहानी का पृष्ठ खोलें, आइए, संक्षेप में उसके विकास की आरंभिक सीढ़ियों की भी एक झाँकी देख लें, ताकि हम यह जान सकें कि तप और त्याग की आँच में लगातार कितने दिनों तक अपने आपको तपाने के बाद यह महापुरुष अंत में खस्वस्तिक की उस ऊँचाई तक उठ पाया, जिस पर आज हम इतिहास में उसे प्रतिष्ठित देखते हैं!

नरेन्द्र का बचपन और उसकी युवावस्था का आरंभकाल, उसके महान् चरित्र-लेखक रोम्या रोलाँ के शब्दों में, योरप के पुनरुज्जीवन-युग के किसी कलाकार राजपुत्र के जीवन-प्रभात की याद दिलानेवाला एक रोमांचक काल था! यह अद्भुत प्रतिभावान् युवक कुछ तो अपने जन्मजात ऊँचे-पूरे सुडौल क्षत्रिय-शरीर तथा तेजस्वी आकृति के कारण, और कुछ अपने महामेधावी मस्तिष्क एवं सभी विद्याओं और कलाओं में अपनी असामान्य प्रवीणता की दृष्टि से, शतशः एक सुसंस्कृत आदर्श राजकुमार जैसा ही प्रतीत होता था, और उसके व्यक्तित्व में ऐसा कुछ जादू और बल था कि न केवल उसके अपने सहपाठी ही प्रत्युत् कलकत्ते के समसामयिक समाज की उठती हुई पीढ़ी के अधिकांश तरुण उसे अपना स्वाभाविक नेता मानते और उससे लोहा लेते हुए भय खाते थे! वह कुश्ती-व्यायाम, घुड़सवारी, तैरने, नाव खेने, गाने-बजाने, नाचने और अभिनय करने की कलाओं से लेकर साहित्य, काव्य, गणित, विज्ञान, इतिहास,

दर्शन आदि सभी विद्याओं में समान रूप से पारङ्गत था, और वाद-विवाद तथा तर्क-वितर्क करने में तो वह ऐसा निपुण था कि उसकी युक्तियों की बौछार के आगे दिग्गज तार्किक भी घुटने टेक देते थे। किंतु इतना सब-कुछ होने पर भी अपने अंतस्तल की गहराई में वह आत्म-सुख का अनुभव नहीं कर पाता था—वह निरंतर उद्विग्न और अशांत ही रहता! वस्तुतः वह कोरी दिमाग़ी उधेड़बुन ही से संतुष्ट हो जानेवाला व्यक्ति न था—वह था ढाई हज़ार वर्ष पूर्व के कपिलवस्तु के राजपुत्र सिद्धार्थ की भाँति एक अतृप्त आध्यात्मिक प्यास, एक अलौकिक जिज्ञासा और आत्मा-परमात्मा, लोक-परलोक तथा जीवन-मुक्ति विषयक एक अनिर्वचनीय हूक से निरन्तर आन्दोलित-विलोड़ित एक सच्चा सत्यशोधक, जो इस अनवरत गतिशील संसृति से परे के शाश्वत तत्त्व का रहस्य जानने के लिए वैसा ही आतुर और व्यग्र था जैसे कोई भक्त अपने भगवान् से मिलने के लिए हो! हाँ, यह बात अवश्य थी कि आरम्भ ही से गहराई के साथ विचार-स्वातंत्र्य और बुद्धिवादी तर्क-वितर्क के रङ्ग में रँग जाने के कारण कोरी श्रद्धा या विश्वास ही के बल पर किसी भी मत विशेष को स्वीकार कर लेने को वह सहमत नहीं हो पाता था! तभी तो विविध धर्मों की लगातार छानबीन करने, घंटों एकान्त मनन-चिन्तन और ध्यान-साधन द्वारा हृदय-मन्थन करने, तरह-तरह की धार्मिक साधनाओं की कसौटी पर अपने आपको कसने का प्रयास करने, पूर्व और पश्चिम की न जाने कितनी तत्त्व-संबंधी पोथियाँ उलटने-पलटने, समसामयिक परिडतों से डटकर लगातार तर्क-युद्ध में जूझते रहने, यहाँ तक कि हर्बर्ट स्पेंसर जैसे दार्शनिक के साथ पत्रव्यवहार करने और सुप्रसिद्ध ब्राह्म-समाज एवं उसके महान् कर्णधार केशवचन्द्र सेन का द्वार खटखटाने पर भी जब इस तरुण जिज्ञासु की आध्यात्मिक शंकाओं और संप्रश्नों का समाधान नहीं हो पाया, तब धीरे-धीरे आस्तिकता और श्रद्धा के मार्ग से एकदम किनारा कसकर उसने घोर संशयवाद और नास्तिकता के गर्त्त की ओर ही तेज़ी से डग भरना शुरू किया!

किंतु नियति का विधान तो कुछ और ही था! कहते हैं, इन्हीं दिनों दैवयोग से एक दिन अनायास ही कलकत्ते के अपने एक मित्र के घर किसी धर्मोत्सव के अवसर पर इस तरुण विद्रोही की दक्षिणेश्वर के संत, श्री रामकृष्ण, से भेंट हो गई, और उस आकस्मिक सम्मिलन के साथ ही मानों उसके जीवन-पथ का अवरुद्ध द्वार खुल गया! वह गायन की कला में तो प्रवीण था ही, अतएव उस दिन भी सबके आग्रह करने पर उसने वहाँ कुछ गा सुनाया, और उसके उस मधुर संगीत का भावमूर्त्ति रामकृष्ण के संवेदनशील हृदय पर ऐसा गहरा प्रभाव पड़ा कि आनन्दविह्वल हो वह लोट-पोट-से हो गए और वहीं कुछ क्षणों के लिए उनकी समाधि लग गई! वस्तुतः उस क्षणिक संसर्ग ही में मानों उन्होंने इस तेजस्वी युवक के व्यक्तित्व की ओट में छिपे हुए अपने भावी महान् शिष्य और उत्तराधिकारी को पहचान लिया और शीघ्र ही उसे अपनी परिधि में खींच ले आने का निश्चय कर चलते समय वह उसे अत्यन्त आग्रहपूर्वक दक्षिणेश्वर आकर फिर मिलने का हार्दिक निमंत्रण दे गए! यह निमंत्रण क्या था मानों किसी भूलभूलैया में भटकते हुए एक भूले हुए बटोही के लिए उलझन की स्थिति से बाहर निकलने के वास्तविक मार्ग के निर्देश का एक आशीर्वाद-सूचक वरदान था, यद्यपि स्वयं नरेन्द्र को उसके महत्त्व और मूल्य का अभी तनिक भी भान न था—वह तो सच पूछो तो उस दिन के उस आकस्मिक सम्मिलन के समय इस अर्द्धविक्षिप्त-से अशिक्षित ब्राह्मण के प्रति ज़रा भी आकर्षित नहीं हो पाया था! और उसकी प्रखर आलोचनात्मक बुद्धि की तर्क-दृष्टि में भला वह अतिभावुकता का जीता-जागता नमूना यदि जँचता भी तो कैसे? परन्तु विधि का विधान ही तो था कि लाख अनिच्छा होने पर भी कुछ ही दिन बाद न जाने किस गुप्त अलौकिक शक्ति के जादू से मानों बरबस खिंचकर हमारे इस तरुण चरितनायक को एक दिन उस संत के द्वार पर जाना ही पड़ा—वह अपने कुछ सहपाठियों के साथ आखिर एक दिन दक्षिणेश्वर पहुँचा और इस बार की मुलाक़ात में उस पगले साधु के अनोखे व्यक्तित्व की जो झलक

उसे देखने को मिली, उससे सहज ही उसकी छिपी हुई महानता के प्रति अपने मन में एक विस्मययुक्त सम्मान का भाव लाये बिना वह न रह सका !

कहने की आवश्यकता नहीं कि श्री रामकृष्ण तो मानों अपने इस भावी शिष्य की प्रतीक्षा ही में थे, अतएव उन्होंने अपना हृदय का पट खोलकर अंतस्तल का सारा स्नेह उस पर उँड़ेल दिया ! कहते हैं, इस बार भी जब उनके अत्यधिक अनुरोध करने पर उसने अपने मधुर कण्ठ से कुछ गा सुनाया तो पहले ही की तरह फिर मंत्रमुग्ध-से हो वह कुछ समय के लिए समाधि में लीन हो गए, और जब होश आया तो एकाएक उठकर हाथ पकड़ उसे मंदिर के उत्तरी बरामदे के एकान्त में लिवा ले गए, जहाँ एकबारगी ही आनंद के मारे आँसुओं की मानों झड़ी-सी लगाकर वह बच्चों की तरह रोने लगे और ऐसी घनिष्ठता के साथ, जैसे कि बरसों से उसे जानते-पहचानते रहे हों, उन्होंने कहना शुरू किया—'आह, तुमने आने में इतनी देर क्यों लगा दी ? क्यों निर्दय की तरह अपनी प्रतीक्षा में मुझे अब तक तड़पाये रक्खा ? हाय, दूसरों की व्यर्थ की बकवास सुनते-सुनते मेरे कान कितने पक गए हैं और कब से किसी योग्य व्यक्ति के उर में अपनी आन्तरिक अनुभूतियों का मर्म उँड़ेल देने के लिए मैं अकुला रहा हूँ ?' निश्चय ही नरेन्द्र जैसे नई रोशनी के बुद्धिवादी जीव के लिए इस प्रकार का अतिभावुकता का बर्त्ताव कदापि रुचिकर नहीं हो सकता था, और जब भावना के प्रवाह में रामकृष्ण उसे प्राचीन नर-नारायण ऋषि का अवतार बताते हुए अलौकिकता के रंग में रँगी हुई और भी न जाने क्या-क्या बातें कह गए, तब तो इस अर्द्ध-विक्षिप्त जैसे गँवार साधु से शीघ्र ही पिण्ड छुड़ाकर वहाँ से भाग निकलने के लिए वह बेचैन हो उठा ! उसे उस अपरिचित व्यक्ति का वह अयाचित स्नेह-प्रदर्शन कुछ अच्छा न लगा ! इसीलिए जब अंत में रामकृष्ण ने अनुनय-भरे स्वर में कहा कि 'वचन दो कि शीघ्र ही फिर आकर मिलोगे और अब की बार अकेले ही' तो कहने को तो अपनी जान छुड़ाने के लिए उसने हामी भर ली, पर सच पूछो तो मन ही मन वह यह निश्चय कर चुका था कि अब फिर कभी भूलकर भी इस पगले के पास तक नहीं फटकने का ! किन्तु इसी समय चलते-चलते इस कुतूहल-भरे प्रश्न के उत्तर में कि 'आखिर, आपने कभी अपनी आँखों से ईश्वर को प्रत्यक्ष देखा भी है,' जब काली के उस पुजारी के मुँह से यह जवाब निकलते उसने सुना कि 'हाँ, क्यों नहीं ! मैंने तो हूबहू वैसे ही उसे देखा है जैसे इस समय अपने सामने तुम्हें देख रहा हूँ,' तब तो उसकी अब तक की बातों को केवल पागल का प्रलाप समझनेवाला यह तार्किक आँखें फाड़-फाड़कर विस्मय के साथ उसकी ओर देखे बिना न रह सका ! कारण, अपनी अब तक की सारी छान-बीन में केवल यही एक ऐसा आदमी आज पहले-पहल उसे मिला था, जो डंके की चोट पर यह कहने का साहस रखता था कि 'हाँ, मैंने ईश्वर को अपनी आँखों से प्रत्यक्ष देखा है और मेरी तरह जो कोई भी चाहे उसके साथ साक्षात्कार कर सकता है !' 'निश्चय ही ऐसा आदमी कोई मामूली आदमी नहीं हो सकता—उसके व्यक्तित्व में अवश्य ही महानता के बीज छिपे होने चाहिएँ', नरेन्द्र ने सोचा और वह मन ही मन कहने लगा, 'माना कि इस व्यक्ति का दिमाग़ ठीक नहीं है और वह सचमुच ही पागल है, फिर भी वह है महान् ही ! वह चाहे विक्षिप्त ही हो, फिर भी सम्मान ही के योग्य है !' और इस विचार के उदय होते ही उस महान् साधु के सरल निष्कपट व्यक्तित्व के आगे इस युवा जिज्ञासु का मस्तक अपने आप ही एक सहजजात आदर के भाव से झुक गया !

इसके बाद तो समय बीतते ज्यों-ज्यों वह उस संत के अगाध तपोबल और आध्यात्मिक तेज़ के दुर्द्धर्ष आकर्षण से खिंचकर उसके अधिकाधिक निकट संपर्क में आता गया, त्यों-त्यों एक के बाद एक उसके अंतस्तल की गुत्थियाँ अपने आप ही खुलती गईं और उसकी तर्कबुद्धि की इमारत की एक-एक ईंट क्रमशः खिसकती चली गई। यहाँ तक कि एक दिन आया जब स्वयं अपने ही हाथों उस कारागाररूपी तर्कवितर्कमूलक शुष्क बुद्धिवाद के क़िले को तोड़कर यह तरुण सत्यार्थी अपने महान् गुरु की भाँति श्रद्धा-मार्ग का पथिक बन एक सच्चे प्रज्ञावान् साधक और ज्ञानयोगी में परिणत हो

गया ! किन्तु उसका यह आध्यात्मिक कायापलट का क्रम एकबारगी ही सहज में सिद्ध हो गया हो, सो नहीं ! वस्तुतः अपनी इस महान् परिणति के लिए नरेन्द्रनाथ को पूरे छः वर्ष तक अपने उद्भट शिक्षक के चरणों में बैठकर साधना का कठोर पाठ पढ़ना पड़ा और आरंभ में तो गुरु-शिष्य के एक-दूसरे से बिल्कुल विपरीत बौद्धिक साँचों में ढले हुए मस्तिष्कों में मेल खाना एक कठिन समस्या सा हो गया। कारण, यदि एक था असीम श्रद्धा और भावना का साक्षात् अवतार तो दूसरा मूर्त्तिमान् तर्क-वितर्क और बुद्धि-जन्य ऊहापोह का ही प्रतीक था— एक साक्षात् पूर्व था तो दूसरा था एकदम पश्चिम; एक भावविभोर भक्त था तो दूसरा विशुद्ध ज्ञान का ही उपासक था; एक यदि काली की उस पाषाण-प्रतिमा ही में परम शक्ति की अनुभूति कर सगुण और निर्गुण, साकार और निराकार दोनों ही रूपों में परमात्मा का प्रत्यक्ष साक्षात्कार करने का दावा करता था तो दूसरे को यथार्थतः ईश्वर की सत्ता ही में प्रबल अविश्वास और शंका थी ! फिर भी न जाने किस अज्ञात प्रेरणा से विवश हो लोहे और चुंबक की तरह एक-दूसरे से बँधकर वे परस्पर खिंचे चले जा रहे थे ! इसीलिए तो जब उद्धत शिष्य अपनी अकाट्य युक्तियों की मानों बौछार-सी छोड़ता हुआ यहाँ तक कह बैठता कि 'आखिर इस बात का ही क्या सबूत है कि आपकी ये सारी अनुभूतियाँ केवल आपके अस्वस्थ मस्तिष्क ही की विक्षिप्तावस्था की उपज मात्र या निरी भ्रान्ति नहीं हैं,' तो बेचारे रामकृष्ण मन ही मन भगवती से केवल यह प्रार्थना भर करके रह जाते थे—'माँ, क्यों नहीं तुम नरेन्द्र को अपनी मोहिनी माया का भी कुछ प्रसाद दे देतीं, ताकि उसका यह बुद्धिजन्य मस्तिष्क का बुखार कुछ शान्त हो जाय ?'

और शीघ्र ही वह समय आया जब न केवल नरेन्द्र का वह आत्यन्तिक तर्कवादिता का ज्वर ही शांत हो गया बल्कि रामकृष्ण की भाँति स्वयं उस पर भी अब उस विचित्र भावावेग का रङ्ग गहराई के साथ चढ़ने लगा, जिसे वह अब तक कोरी विक्षिप्त दिमाग़ की उपज या पागलपन बताता आ रहा था ! कहते हैं, एक दिन वह अपने एक साथी के आगे मुँह बना-बनाकर व्यङ्ग में ईश्वर की सर्व-व्यापकता-सम्बन्धी भावना की खिल्ली उड़ाते हुए यह कहकर ठठोली कर रहा था कि 'देखो जी, यह घड़ा भी ईश्वर है और ये मक्खियाँ भी,' कि इतने में अचानक पास के एक कमरे से निकलकर अर्द्ध-चेतनावस्था की-सी दशा में रामकृष्ण वहाँ आ पहुँचे और उन्होंने नरेन्द्र को छू लिया ! और बस वैसे ही उसके मस्तिष्क में एक ऐसा बवंडर-सा उमड़ पड़ा कि अब जिधर भी वह अपनी आँखें दौड़ाता उसे सब-कुछ केवल ईश्वरमय ही दिखाई देता था—उसे हर चीज़ में ईश्वर ही ईश्वर की प्रतीति होती थी ! इस दशा में वह लगातार कई दिनों तक बना रहा और इसके बाद भी कुछ दिनों तक पागलों की तरह केवल 'शिव शिव' ही की रट वह लगाता रहा ! सच तो यह था कि अपने गुरु की उस धधकती आध्यात्मिकता की आँच के आगे उसका वह फ़ौलादी मस्तिष्क अब मोम की तरह नरम पड़कर क्रमशः उन्हीं के प्रतिबिम्ब से प्रत्याङ्कित होने लगा था और जीवन में पहले-पहल वह इस गम्भीर सत्य की सार्थकता का अनुभव करने लगा था कि मानवीय तर्कबुद्धि की परिधि से परे भी जानने और अनुभव करने योग्य एक ज्वाज्वल्यमान वस्तु है, किंतु उस अतीन्द्रिय वस्तु के ज्ञान के लिए हमारे साधारण बुद्धिगत साधन ही पर्याप्त नहीं हैं ! और इस नवीन अनुभूति के प्रकाश में जब उसने अपने उस महान् पथप्रदर्शक की ऊँचाई को नापने का प्रयास किया तो एक-बारगी ही यह देखकर उसे दङ्ग रह जाना पड़ा कि बाहरी रङ्ग-ढङ्ग से केवल विशुद्ध भक्त जैसा दिखाई देनेवाला वह संत यथार्थ में अपने व्यक्तित्व की तह में छिपा हुआ कैसा पहुँचा हुआ क्रांतदर्शी और दिव्यदृष्टिप्राप्त एक त्रिकालज्ञ ज्ञानी ऋषि था !

इसी बीच सन् १८८४ ई० में पिता की असामयिक मृत्यु तथा उनके द्वारा छोड़े गए भारी अर्थ-सङ्कट के फलस्वरूप नरेन्द्रनाथ के जीवन में पारिवारिक समस्याओं का भी एक ऐसा जंजाल उठ खड़ा हुआ कि जिसने संसार की वस्तुस्थिति का यथार्थ साक्षात्कार कराकर उसे और भी अधिक त्वरा के साथ अपने निर्धारित कल्याण-पथ पर बढ़ चलने के लिए उभाड़ दिया। कहते हैं, महीनों

यहाँ से वहाँ जूतियां चटकाते हुए काम की तलाश करते रहने पर भी इस महामेधावी को कलकत्ते जैसी उस विशाल नगरी में सामान्य भरण-पोषण करने योग्य एक स्थायी नौकरी तक न मिल सकी और एक दिन बिना खाए-पिए ही दिन भर की दौड़-धूप से चूर हो ज्वर की दशा में वह पसीने से लथपथ एक सड़क के किनारे चलते-चलते लुढ़क पड़ा। उस समय अपने चारों ओर केवल अन्याय, असमानता, निराशा और दुःख-दैन्य को ही घटाटोप छाया देख आत्मग्लानि से उसका चित्त लबालब भर गया ! किन्तु आत्म-वेदना की उस चरम अवस्था ही में अनायास ही उसके अंतर्पट के किवाड़ मानों खुल पड़े और एकबारगी ही उसके हृदय के आँगन में आध्यात्मिकता का एक ऐसा अपूर्व ज्वार-सा उमड़ पड़ा कि उसमें सराबोर हो वह अपने उस सारे दुःख-दैन्य को भूल गया ! उसे ऐसा प्रतीत हुआ मानों उसके अंतस्तल का वह परदा, जो अपने आवरण में उसकी आत्मा को अब तक प्रगाढ़ रूप से ढाँपे हुए था, एकबारगी ही फट पड़ा हो और फलतः अपने खोए हुए चक्षु पाकर एकाएक वह अंधकार से प्रकाश में आ गया हो ! साथ ही उसकी अब तक की सारी शंकाएँ और समस्याएँ भी सूर्य की प्रखर रश्मियों के आगे बिखर पड़नेवाली मेघमाला की तरह उसे छिन्न-भिन्न होती जान पड़ीं और अब अपना मार्ग और ध्रुव-बिन्दु दोनों ही एकदम स्पष्ट और सुनिश्चित-से सामने झलकते उसे दिखाई देने लगे। उसने घर पहुँचकर उस दिन की सारी रात ध्यान और मनन-चिन्तन ही में बिता दी और सुबह होते-होते इस दुःखमूलक संसार से सदा के लिए किनारा कसकर अपने निवृत्तिमार्गी पितामह की भाँति गेरुआ पहन विजन की राह लेने का ही सुदृढ़ संकल्प उसने कर लिया !

किन्तु उसके महान् गुरु उसे अभी इतनी जल्दी संन्यास ग्रहण करने की अनुमति देने को तैयार न थे ! उन्होंने कहा—'मैं जानता हूँ कि तुम गृहस्थ-जीवन में नहीं रहने के, फिर भी कम-से-कम मेरी ही खातिर जब तक कि मैं मौजूद हूँ अभी उससे तुम किनारा मत कसो !' और अपने परिवार के संकट-निवारण के लिए उन्होंने उससे भगवती महाशक्ति की आराधना करने का अनुरोध किया। लेकिन नरेन्द्र का तो इस समय तक वस्तुतः ऐसा काया-पलट-सा हो गया था कि तीन बार वह गुरु के इस आग्रह का पालन करने के लिए उस जगद्धात्री के सामने गया और तीनों ही बार अपने दुःख-दर्द के छुटकारे के लिए प्रार्थना करना भूलकर आत्मविस्मृत हो केवल उस महामायाके दर्शन से प्राप्त चिदानन्द में ही वह लवलीन हो गया ! उस दिन से उसकी सारी जीवन-दिशा ही मानों पलट गई। अब अपने आपको उसने संपूर्ण रूप से श्री रामकृष्ण के ही हाथों में समर्पित कर दिया और कालान्तर में गुरु के साथ उसका ऐसा एकीकरण हो गया कि प्रायः वे दोनों अब एक में दूसरे का प्रतिबिम्ब देखने लगे। इस प्रकार एक के बाद एक साधन-पथ की मंज़िलें पार करते हुए वह भी रामकृष्ण की भाँति निर्विकल्प समाधि की उस उच्च भूमिका तक ऊपर उठ गया, जहाँ तक विरले ही कोई भाग्यशाली कभी पहुँच पाते हैं, और उस तुरीयावस्था के ब्रह्मानन्द में ही निमग्न हो जीवन भर अलख जगाते रहने का मन ही मन संकल्प उसने कर लिया ! किन्तु श्रीरामकृष्ण तो अपने इस असाधारण शिष्य से इससे कहीं अधिक की आशा लगाए हुए थे ! वह प्रायः कहा करते—'साधारण जन दुनिया को राह दिखाने का भार लेते हुए भय खाते हैं। उदाहरण के लिए, एक मामूली-सा तिनका किसी-न-किसी भाँति केवल स्वयं ही तैरता रहता है, यदि एक छोटी-सी चिड़िया भी उस पर बैठ जाय तो वह तुरन्त डूब जाता है। परन्तु नरेन्द्र की बात और है। वह गंगा के वक्षःस्थल पर बाढ़ के समय तैरते हुए उन विशाल वृक्षों के तनों जैसा है, जो अपने ऊपर न जाने कितने असहाय प्राणियों को लिये रहते हैं !' इसीलिए जब कर्मक्षेत्र से भागने की नरेन्द्र की प्रवृत्ति का उन्हें आभास मिला तो फटकारते हुए उन्होंने कहा—'छिः, छिः, मैं तो सोचता था कि तुम उस महान् वटवृक्ष के समान होगे, जिसकी छाँह में हज़ारों थके-माँदे प्राणी आकर शरण लेंगे ! किन्तु इसके विपरीत तुम एक स्वार्थी की तरह केवल अपनी ही निजी हित-साधना में लगे रहना चाहते हो ! बेटा, छोड़ो इन तुच्छ बातों

को !' वस्तुतः श्रीरामकृष्ण नरेन्द्र को वैसे ही जगत् के कल्याण के लिए अपना जीवन उत्सर्ग करने के लिए प्रेरित करना चाहते थे, जैसा कि उन्हीं के समसामयिक विरजानन्द ने अपने महान् शिष्य दयानन्द को किया था! और यह दोहराने की आवश्यकता नहीं कि जिस घड़ी से उनका वह आदेश नरेन्द्रनाथ को मिला, तब से उसके जीवन का एक-एक क्षण अपने गुरु के उस महान् उद्देश्य की पूर्त्ति के प्रयास ही में बीता! उसने वेदान्त के दिव्य संदेश द्वारा भौतिकवाद की मृगमरीचिका में लुभाए हुए मानव को आत्मस्वरूप का भान कराने का महाव्रत ले श्री रामकृष्ण के महासमाधिस्थ होने के कुछ ही दिन बाद, अपने कतिपय उत्साही साथियोंसहित विधिवत् संन्यास ग्रहण कर काषाय धारण कर लिया और इस प्रकार पच्चीस वर्ष की अल्पायु ही में घूम-घूमकर दुनिया को जगानेवाले एक परिव्राजक का जीवन अपना, वह अब साधक नरेन्द्र से महान् लोकशिक्षक विवेकानन्द के रूप में परिणत हो गया!

अब वस्तुतः उसे कुछ अधिक सीखना न था—केवल संसार ही को पाठ पढ़ाकर अपने जीवन के अनुष्ठान को पूरा करने का कार्य उसके लिए शेष रह गया था। उसी की तैयारी में अपने संन्यास-काल के आरम्भिक कुछ दिन श्रीरामकृष्ण की स्मृति में कलकत्ते के समीप वरनगर (वाराहनगर) में प्रस्थापित 'मठ' और अपने साथी संन्यासी बन्धुओं का संगठन करने में व्यतीत कर, वह अंत में जुलाई १८९० ई० में देश की एक लम्बी यात्रा पर निकल पड़ा, जिसके अंतर्गत क्रमशः हिमालय से कन्याकुमारी तक लगभग सारे भारतवर्ष को मानों ऊपर से नीचे तक उसने नाप डाला। वह देवघर, भागलपुर, बनारस, अयोध्या और नैनीताल होते हुए हिमालय पहुँचा, जहाँ डेढ़-दो वर्ष पूर्व एक बार और काशी, अयोध्या, लखनऊ, आगरा, वृन्दावन और हाथरस की अपनी लघु यात्रा के सिलसिले में वह आ चुका था, और यहीं अल्मोड़े के अपने पड़ाव में एक दिन अनायास ही एक वटवृक्ष के नीचे ध्यान करते समय प्रकृति और पुरुष के परस्पर संबंध-विषयक अपनी एक महान् आध्यात्मिक गुत्थी का समाधान पाने में वह सफलीभूत हुआ। तदनन्तर अधिक एकांत की खोज में वह हिमालय की और भी ऊँची दुर्गम श्रेणियों की ओर बढ़ा। परन्तु शीघ्र ही अपने एकमात्र साथी के बीमार पड़ जाने के कारण तथा स्वयं अपने ऊपर भी ज्वर का भीषण प्रहार होने पर उसे वापस मैदानों में उतर आना पड़ा और क्रमशः श्रीनगर (गढ़वाल), देहरादून, हृषीकेश, हरद्वार, सहारनपुर होते हुए अंत में मेरठ में आकर लगभग पाँच महीने तक उसने अपना दूसरा लम्बा मुक़ाम किया, जहाँ कि उसके तीन-चार और संन्यासी बन्धु भी उससे आ मिले थे।

तब एक दिन संग-साथ के उस झमेले से ऊबकर एकाकी ही देश के जन-प्रवाह में कूद बंधनमुक्त पक्षी की भाँति स्वच्छन्द विचरण करने के उद्देश्य से वह साथियों की उस टोली को वहीं छोड़ चुपके से अकेले ही फिर अपनी सफ़र पर चल पड़ा और दिल्ली, राजपूताना, काठियावाड़, बंबई, मैसूर, कोचीन, मलाबार, ट्रावैंकोर, मद्रास और रामेश्वर आदि की यात्रा करते हुए १८९२ ई० के अंत तक भारतवर्ष के दक्षिणतम छोर पर स्थित कन्याकुमारी अंतरीप पर जा पहुँचा। कहते हैं, अपनी इस सुदीर्घ और अज्ञात यात्रा का बहुत-सारा हिस्सा उसने पैदल ही चलकर तय किया और इस बीच जंगलों, पहाड़ों, घाटियों और नदी-नालों को लाँघते समय कई बार भूख, थकान और निराश्रयता के कारण उसे अपनी जान तक पर खेल जाना पड़ा! परन्तु इस सारी तपस्या के बदले में इस महादेश के भौतिक कलेवर के अनुपम प्राकृतिक सौन्दर्य और उसके गौरवपूर्ण अतीत के अमिट पदचिह्नों के जगमगाते आलेखों के साथ-साथ उसके वक्षःस्थल पर कहीं प्रासादों के विलास-कक्षों में प्रमाद से मदमाती-इठलाती, तो कहीं टूटी जर्जर झोपड़ियों के बीच ग़रीबी, ग़ुलामी और तड़पन की चक्की में पिसती-कराहती मानवता का जो आँखों-देखा परिचय पाने का अवसर उसे मिला, उसके आगे अपना सारा श्रम और कष्ट वह भूल गया। उसका हृदय अपनी मातृभूमि के उस निकट संस्पर्श में आकर भर आया और उस दिन जब कन्याकुमारी के उस भूछोर पर इस महादेश के चरण पखारते हुए महोदधि में कुछ दूरी तक तैर-

कर उसने मुख्य भू-भाग से अलग कटी हुई एक चट्टान पर खड़े हो उत्तर की ओर अपना दीर्घ अंचल फैलाए उस संतप्त भारत-माता के प्रति अपनी उल्लसित आँखें दौड़ाईं तो एकबारगी ही उसको उस अनिंद्य प्राकृतिक रूपराशि के साथ-साथ उसकी वर्त्तमान वेशभूषा की लज्जाजनक आक्रान्तावस्था के विरोधाभास का अनुभव कर वह मानों रो-सा पड़ा! अब कहीं जाकर ठीक से उसकी समझ में यह बात आई कि क्यों श्रीरामकृष्ण ने व्यक्तिगत स्वार्थ-साधना के घिरौंदे में से बाहर निकालकर एक बृहत्तर अनुष्ठान के हेतु जीवन उत्सर्ग कर देने के लिए उसे इतना अधिक ज़ोर देकर प्रेरित किया था! उसे अपने गहन उत्तरदायित्व का वास्तविक रूप में भान हुआ और फिर से एक बार उसके मुँह से वही वाक्य निकल पड़े जो कि अब से दो वर्ष पूर्व एक शिष्य के आगे जी का उबाल न रोक सकने के कारण हठात् एक दिन उसकी वाणी से फूट निकले थे---'भारत को अपनी यह तंद्रा छोड़ फिर से सक्रिय बनना ही होगा, उसे पुनः अपनी अध्यात्मशक्ति द्वारा संसार पर एक बार विजय प्राप्त करना ही होगा!'

और जैसे ही वहाँ से उसके क़दम वापस उठे अपने आपही उसके मानसपटल पर भावी कार्यक्रम के पूर्व-रूप का मानों एक पूरा नक़्शा-सा खिंच गया। उसने अभी-अभी अपनी उस यात्रा ही में कहीं सुना था कि संयुक्त राष्ट्र, अमेरिका, के शिकागो नगर में पहले-पहल संसार के सभी महान् धर्मों की एक बृहत् परिषद् या महासभा होनेवाली है। अतएव अनायास ही उसके मन में यह विचार उठ खड़ा हुआ कि क्यों न उस महान् विश्व-सम्मेलन में शरीक हो भारत की आवाज़ बुलन्द की जाय! उसने सोचा कि इस देश की वर्त्तमान अधोगति का यदि सबसे बड़ा कारण कोई है तो वह यह है कि पिछले दिनों की ग़ुलामी ने हमारे मन में आत्मसम्मान और निजी सामर्थ्य के विश्वास की भावना को बिल्कुल ही दबा दिया है और यदि हमें फिर से उठना है तो इन भावों को जगाना हमारी सबसे पहली आवश्यकता है—पुनः हमें अपने नैतिक बल को सुदृढ़ करना ही होगा। अतः इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए भला इससे बढ़कर और क्या उपाय हो सकता है कि हम अपनी महान् आध्यात्मिक कमाई और धर्म की ऊँचाई का परिचय संसार को देकर फिर से इस देश को जगद्गुरु के आसन पर प्रतिष्ठित करने के लिए हाथ बढ़ाएँ! यही सोचकर मानों एक स्वर्ण-अवसर के रूप में प्रस्तुत उस विश्व-धर्म-परिषद् में शरीक होने के मौक़े को हाथ से जाने देना उचित न समझ फ़ौरन् ही पांडिचेरी होते हुए पलटकर वह मद्रास आया और मामूली-सी तैयारी के बाद वहाँ से बंबई आकर ३१ मई, सन् १८९३ ई०, के दिन आख़िर चीन के रास्ते जानेवाले एक जहाज़ पर सवार हो वह तुरंत ही अमेरिका के लिए रवाना हो गया!

आश्चर्य नहीं कि शिकागो पहुँचने पर एकदम अपरिचित होने के कारण स्वामीजी को आरंभ में अनेक विषम कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। उन्हें किसी जानी-बूझी संस्था की ओर से विधिवत् प्रतिनिधित्व प्राप्त न होने के कारण शुरू-शुरू में उस धर्म-परिषद् में प्रविष्ट तक होने की अनुमति न मिली! उनके पास का जो थोड़ा-बहुत ख़र्च का रुपया था, वह भी सब समाप्त हो गया और वह एक ऐसे संकट की स्थिति में पड़ गए कि उन्हें अपनी इतनी सारी दौड़-धूप एकदम मिट्टी में मिलते दिखाई देने लगी। परंतु अंत में उनके लोकोत्तर व्यक्तित्व, अगाध पांडित्य और दिव्य आत्मतेज का प्रभाव पड़े बिना न रह सका और अयाचित ही बोस्टन की एक अमेरिकन महिला तथा हारवर्ड के सुप्रसिद्ध विश्व-विद्यालय के एक विद्वान् प्रोफ़ेसर ने आगे बढ़कर उनके लिए हर प्रकार की सुविधा कर देने का भार अपने ऊपर ले लिया। इस प्रकार सहज ही वह न केवल उस धर्म-सम्मेलन के लिए प्रवेशपत्र ही पा गए, बल्कि भारत की ओर से एक प्रधान प्रवक्ता के रूप में उसके मंच पर से बोलने का भी मनचाहा अवसर उन्हें मिल गया! तब ११ सितंबर, सन् १८९३ ई०, के दिन अपने ढंग के उस सर्वप्रथम विश्व-धर्म-महासम्मेलन का अधिवेशन आरंभ हुआ और पहले दिन की अपनी छोटी-सी वक्तृता ही में धूम-सी बाँधकर इस गेरुए वस्त्रधारी तेजस्वी युवा संन्यासी ने सारे अमेरिका का ध्यान एकबारगी ही अपनी ओर खींच लिया!

उसने अत्यन्त उदात्त स्वर में इस देश के विशद धार्मिक दृष्टिकोण को प्रस्तुत करते हुए सब धर्मों के शाश्वत सत्य-तत्त्वों की मूलभूत एकता, वेदान्त की महत्ता और धर्म के क्षेत्र में समन्वय की आवश्यकता पर ऐसा सुंदर प्रवचन किया कि दूसरे ही दिन से उसके पास जहाँ से देखो वहीं से भाषण, प्रवचन आदि के लिए निमंत्रण पर निमंत्रण आने लगे ! इस प्रकार अकेले ही हाथों भौतिक सभ्यता के उस पाश्चात्य लौह-दुर्ग पर विजय प्राप्त कर देखते ही देखते उस 'नई दुनिया' में वेदान्त-धर्म का झंडा खड़ा कर देने का अद्भुत कार्य उस तरुण संन्यासी ने कर दिखाया और अल्पकाल ही में उसके आसपास पश्चिम के ऐसे अनेक सच्चे धर्म-जिज्ञासुओं की टोली जुट गई, जिनमें से कई ने तो उसका शिष्यत्व स्वीकार कर विधिवत् गेरुआ तक पहन लिया !

स्वामीजी १८९३ ई० से १८९६ ई० तक कुल मिलाकर लगभग ढाई वर्ष तक अमेरिका में रहे। इस बीच उन्होंने स्थान-स्थान में अपने जोशीले व्याख्यानों, प्रवचनों और उपदेशों द्वारा ज़ोरों के साथ वेदान्त-धर्म का प्रचार करते हुए सारे अमेरिका को भारत की आवाज़ से गुँजा दिया। उन्होंने कुछ समय तक एक व्याख्यान-प्रबंधक संस्था के तत्त्वावधान में घूम-घूमकर बोस्टन, शिकागो, सेंटलुई, डेट्रॉइट, वाशिंगटन, न्यूयॉर्क आदि प्रधान अमेरिकन नगरों में सार्वजनिक रूप से आयोजित विशाल सभाओं में भाषण दिए और तब स्थायी रूप से टिककर न्यूयॉर्क शहर में जिज्ञासु साधकों के लिए ज्ञान और राजयोग की एक प्रकार की पाठशाला-सी वह चलाते रहे। कहते हैं, यहीं उन्होंने 'राजयोग' पर अपनी वह संसारप्रसिद्ध पुस्तिका तैयार की थी, जिसे पढ़कर अमेरिकन दार्शनिक विलियम जेम्स और विश्ववंद्य रूसी महात्मा टालस्टॉय तक मुग्ध हो गए थे !

नव १८९५ ई० के सितंबर मास में कुछ महीनों के लिए स्वास्थ्य-सुधार के उद्देश्य से वह वायु-परिवर्त्तनार्थ पेरिस होते हुए इंगलैंड पहुँचे और वहाँ भी अल्पकाल ही में अपने जादूभरे व्यक्तित्व, ओजस्वी भाषणशैली और उदात्त दार्शनिक विचारों द्वारा उन्होंने काफ़ी धाक जमा दी। इस प्रकार योरप और अमेरिका दोनों ही में निश्चित रूप से भारत का सिर ऊँचा कर इस तरुण संन्यासी ने पश्चिम की दुनिया का ध्यान इस देश की सांस्कृतिक और धार्मिक महानता की ओर आकृष्ट करने का मानों एक द्वार-सा खोल दिया, जिसके द्वारा न केवल पूर्व और पश्चिम के बंधुत्व की उस भावना ही को बढ़ावा मिला, जिसकी पताका लेकर साठ वर्ष पूर्व इस देश का अन्य एक महान् धर्मदूत, राममोहन-राय, पहलेपहल पश्चिम की ओर अग्रसर हुआ था, बल्कि स्वयं भारत के भी मन में आत्मगौरव के एक सशक्त भाव का उदय होकर परोक्ष रूप से हमारे राष्ट्रीय पुनरुत्थान के मार्ग के प्रशस्त होने में भी एक निश्चित सहायता मिली !

इसके उपरान्त दिसंबर, १८९५ ई०, में वापस अमेरिका लौटकर स्वामीजी ने पुनः वहाँ की कई दार्शनिक और आध्यात्मिक विद्वान् मंडलियों के सम्मुख अनेक पांडित्यपूर्ण वक्तृताएं दीं और इन्हीं दिनों न्यूयॉर्क में 'वेदान्त सोसायटी' के नाम से स्वयं भी एक संस्था की प्रस्थापना की, जिसने आगे चलकर उनके धर्मानुष्ठान का कार्य बढ़ाकर पश्चिम में भारतीय धर्म के प्रचार में महत्त्वपूर्ण योग दिया। अंत में १८९६ ई० के अप्रैल मास में उस महाद्वीप से लगभग ढाई वर्ष बाद विदा ले योरप के रास्ते वह वापस स्वदेश के लिए रवाना हुए। वह बीच में कुछ काल तक पुनः लंदन में रुके और इंगलैंड में बोए गए वेदान्त के बीज को पुनः अपनी अमृत-वाणी से सींचकर विश्वविश्रुत वेदज्ञ महापंडित मैक्समूलर एवं सुप्रसिद्ध जर्मन वेदान्ती पॉल डायसन जैसे उद्भट विद्वानों की उन्होंने मित्रता प्राप्त की। तब इटली के रास्ते लौटकर १५ जनवरी, सन् १८९७ ई०, के दिन अपने तीन अंग्रेज़ भक्तों— जे० जे० गुडविन और सेवियर दम्पति— के साथ वह सीलोन (लंका) के कोलंबो बंदरगाह पर उतरे और रामेश्वर, रामनद, मदुरा होते हुए वापस मद्रास पहुँचे। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस समय तक उनका नाम इतना अधिक प्रख्यात हो चुका था और योरप-अमेरिका में किए गए महत्कार्य के लिए देश के हृदय में उनके लिए ऐसा गर्व और सम्मान का स्थान बन चुका था कि उनके इस भूमि पर फिर से क़दम रखते ही जनता उनके दर्शनार्थ मानों सागर की तरह उमड़ पड़ी और

सारा भारत उनके जय-जयकार के स्वर से निनादित हो उठा। कहते हैं, रामेश्वर से मद्रास तक रास्ते भर उनके स्वागत में लोगों ने जगह-जगह तोरणद्वार सजाए और वंदनवार बाँधे। कहीं उनकी एक झलक मात्र पाने के लिए भीड़ रेल की पटरियों पर लेट गई तो कहीं साधारण जनों के साथ-साथ बड़े-बड़े राजा-बाबुओं तक ने अपने हाथों उनका रथ खींचकर उनकी चरणधूलि अपने माथे पर लगाई और जीवन कृतार्थ किया! स्वयं मद्रास नगर में तो लगभग नौ दिनों तक सारा कामकाज स्थगित कर केवल उनका स्वागत का ही उत्सव मनाया जाता रहा! उन्हें सत्रह विजय-द्वारों से सुसज्जित राजपथ पर से एक भव्य जुलूस बाँधकर निकाला गया और भारत की भिन्न-भिन्न भाषाओं में लिखित चौबीस श्रद्धासूचक मानपत्र विविध संस्थाओं की ओर से उन्हें भेंट किए गए! निश्चय ही पिछले हज़ार वर्षों में आचार्य शंकर के बाद शायद ही किसी संन्यासी के लिए इतने अधिक उबाल के साथ इस देश का हृदय कभी उमड़ा हो, जैसा कि इस महान् राष्ट्रवीर के लिए इस समय उमड़ पड़ा था! और जब अपने भावी संग्राम की योजना की रूपरेखा खींचते हुए मद्रास के अपने पहले व्याख्यान ही में मेरे 'भारत, उठ! तेरी वह प्राणशक्ति कहाँ है?' की गगनभेदी हुंकार के साथ इस महादेश की सोई आत्मा को झकझोरते हुए एक महान् क्रान्ति की सूचना लिये हुए अपना प्रथम शंखनाद उन्होंने किया तो उठती हुई पीढ़ी की आँखें एक अद्भुत नूतन आशा की ज्योति से चमक उठीं और फिर से हमें अपनी नसों में एक नई बिजली का संचार होते मालूम दिया! हमें उनकी उदात्त वाणी में अपने सर्वतोमुखी उत्थान के स्वर-सप्तक के आदि से अंत तक के सभी संदेशवाही संकेत एक साथ ही उद्घोषित होते सुनाई दिए और उपरली सतह को भेदकर उन्होंने मानों सीधे हमारे प्राणों के अंतर्तम मर्मस्थल को छू दिया। उन्होंने कहा कि "प्रत्येक व्यक्ति की तरह हर राष्ट्र की भी जीवनधारा की अपनी एक विशिष्ट प्राण-डोर सी होती है, जो कि उसकी सारी हलचल के केन्द्र में रहती है........उदाहरण के लिए, किसी राष्ट्र की वह प्राणशक्ति उसके राजनीतिक बल में रहती है जैसे कि इंगलैण्ड की, तो किसी की अपनी कलात्मक साधना ही में! ठीक वैसे ही हमारे अपने देश की भी जीवनधारा की एक प्राणवाही शिरा है, और वह है हमारी आध्यात्मिकता! वही हमारे राष्ट्रीय जीवन-संगीत का प्रधान केन्द्रीय स्वर है!........वह आध्यात्मिकता ही हमारे प्राणों को सींचनेवाली रक्तधारा है, जो यदि शुद्ध, पवित्र और सशक्त बनी रही तो सब-कुछ हमारे यहाँ ठीक बना रह सकता है! उसके दुरुस्त हो जाने पर क्या राजनीतिक और क्या सामाजिक सभी प्रकार की हमारी कमियाँ, यहाँ तक कि इस देश पर मँडरा रही यह व्यापक दरिद्रता भी, अपने आप ही मिट जाएँगी!" और उनका यह संदेश कोई सूखे तत्त्वज्ञान का पंडिताऊ जंजाल न था, प्रत्युत् इस देश को वर्त्तमान गिरी हुई दशा से ऊँचा उठाकर पुनः अपने पैरों पर खड़ा करने के लिए उद्घोषित एक सच्चा राष्ट्रीय मंत्र था! विवेकानंद अन्य सभी बातों से अधिक केवल शक्ति के ही उपासक थे, अतः उसकी ही साधना का दिव्य पाठ वह अपने देशवासियों को भी पढ़ाना चाहते थे। किन्तु उस महाशक्ति का स्रोत वह केवल त्याग, तपस्या और सेवा के मार्ग ही में देखते थे, भौतिक होड़ाहोड़ अथवा ऊँची-ऊँची अट्टालिकाओं को खड़ा करने में नहीं! इसीलिए पुकार-पुकारकर वह कहते थे कि "भारत की मुक्ति का एकमात्र उपाय है सेवा और त्याग का ही मार्ग! उसीमें इस देश का सर्वोपरि राष्ट्रीय आदर्श निहित है। उसी की पगडंडी पर उसे सशक्त रूप से एक बार पुनः खड़ा कर दो और शेष सब अपने आप ही ठीक हो जायगा!"

इस सेवा-धर्म के महान् आदर्श के प्रति हमारी आँखें खींचते हुए उस महापुरुष ने जिस बात के लिए हमें सबसे अधिक फटकारा, वह थी समाज के त्रस्त, पीड़ित, अशिक्षित, भूख की आग में लगातार तड़पते रहनेवाले उन असंख्य 'दरिद्र-नारायणों' के प्रति निरन्तर उपेक्षा और अवहेलना की हमारी व्यापक प्रवृत्ति, जिसके लिए धिक्कारते हुए उन्होंने कहा—"मैं कहता हूँ कि हमारा जो सबसे बड़ा राष्ट्रीय पाप है वह है इन असंख्य कुचले हुए नर-नारियों के प्रति हमारी गर्हित उपेक्षा—

यह हमारे पतन के प्रमुख कारणों में से एक है !" और रोष के मारे मानों आग बरसाते हुए उन्होंने हमें ललकारा—"तुम ईश्वर-ईश्वर जो ढूँढते हो तो पहले क्यों नहीं इन भूखे-नंगे, पीड़ित, जर्जराक्रान्त दरिद्रनारायणों को पूजने के लिए आगे बढ़ते ? क्या ये साक्षात् ईश्वर ही नहीं हैं ?" वस्तुतः उनका हृदय इन 'दरिद्रनारायणों' के लिए ऐसा उबला-सा पड़ता था कि एक बार उन्होंने कहा था—"परवा नहीं यदि अपने श्रद्धालोक के उस एकमात्र परमेश्वर की पूजा-उपासना के लिए, जो कि संसार भर के त्रस्त, पीड़ित, दरिद्र, पापी और दुष्ट जनों में निवास करता है, मुझे हज़ार कष्ट भोगते हुए बार-बार इस पृथ्वी पर जन्म लेना पड़े। मैं सहर्ष यह स्वीकार कर लूँगा, क्योंकि यही दरिद्र-नारायण मेरा एकमात्र आराध्यदेव है, वही मेरा भगवान् है !" और कहना न होगा कि अपने जीवन के बचे-खुचे शेष वर्ष अपने उसी परम आराध्य की ही वेदी पर उन्होंने चढ़ा दिए। उन्होंने अमेरिका से वापस लौटते ही दक्षिण से उत्तर और पूर्व से पश्चिम तक सारे देश को अपने तूफ़ानी दौरों और ओजभरे भाषणों से मानों झकझोर-कर वेदान्त-धर्म के शंखनाद द्वारा एक ऐसा जागृति का मंत्र हमारे कानों में फूँक दिया कि हमें अपनी भूली हुई शपथें फिर से याद करने में देर न लगी और अनतिदूर भविष्य ही में क्या धर्म और समाज, क्या साहित्य और संस्कृति, और क्या अर्थ और राजनीति, सभी क्षेत्रों में हमारे यहाँ उत्थान की एक ऐसी बाढ़ आ गई कि जो अब किसी के रोके नहीं रोकी जा सकती है ! इस प्रकार एक-दो दशाब्द ही में उनकी वह महान् भविष्यवाणी सफलीभूत हो गई कि—"सावधान ! एक ज़बर्दस्त ज्वार उमड़कर आ रहा है......हमारी लंबी रात का अंत हो चुका है.........भारत अपनी लंबी निद्रा त्यागकर जाग उठा है......अब कभी भी वह इस प्रकार फिर सोने का नहीं।"

यद्यपि हमारा यह परम दुर्भाग्य था कि यह ऋषितुल्य संन्यासी उनतालिस वर्ष की अल्पायु ही में ४ जुलाई, सन् १९०२, के दिन इस संसार से उठ गया, किन्तु इस अल्पावधि ही में वह इस देश को ऐसा अनुप्राणित कर गया और अपनी ज्वलंत वाणी के प्रसाद के रूप में एक ऐसी स्थायी वसीयत छोड़ गया कि आज ही नहीं बल्कि युग-युग तक हम उसके प्रकाश में अपना मार्ग सुस्पष्ट देखते रहेंगे ! मृत्यु से तीन वर्ष पहले स्वामीजी पुनः भारतीय ज्ञान की मशाल लेकर पश्चिम को जगाने के लिए योरप और अमेरिका की एक लंबी यात्रा पर गए थे, परन्तु स्वास्थ्य की खराबी के कारण उन्हें शीघ्र ही वापस लौट आना पड़ा। इस बीच अपने बाद श्रीरामकृष्ण के आदर्शानुसार आध्यात्मिक उत्थान और जनसेवा का कार्य जारी रखने के लिए अपने साथी-संन्यासियों और शिष्यों का 'श्रीरामकृष्ण मिशन' के नाम से एक संस्था के रूप में वह संगठन कर चुके थे, जिसकी अमित देशहितकारी साधनाओं द्वारा आज भी उनके द्वारा प्रज्वलित सेवाधर्म की लौ प्रज्वलित बनी हुई है।

विवेकानन्द का कार्य था हमें नवयुग की प्रेरणा देकर हमारी नसों में जागरण का नूतन स्वर भरना—हमारी आध्यात्मिक और नैतिक भित्ति को फिर से मज़बूत बना हमारे सर्वतोमुखी उत्थान की एक विशाल पृष्ठभूमि तैयार करना। इस कार्य में वह कहाँ तक सफल हुए, इस बात को शब्दों द्वारा व्यक्त करने की आवश्यकता अब नहीं रह गई है। इसका तो जीता-जागता प्रमाण आज के दिन हर दिशा में उमड़ती चली आ रही हमारी नव-चेतना की वह बाढ़ है, जिसने गांधी और रवीन्द्र-नाथ, अरविन्द घोष और राधाकृष्णन्, जवाहर और सुभाष जैसे रत्नों को पैदा कर उनके महाप्रस्थान के तीस-चालीस वर्षों के भीतर ही ऐसा दुर्द्धर्ष रूप ग्रहण कर लिया है !

स्वामीजी की जो सबसे अधिक मूल्यवान् और स्थायी वसीयत हमें मिली है, वह है निस्संदेह उनके उन ओजस्वी और अगाध पांडित्यपूर्ण भाषणों और लेखों का बृहत् संग्रह, जो हमारे ही अपने साहित्य की नहीं प्रत्युत् सारे विश्व-वाङ्मय की एक अनमोल थाती हैं। ये भाषण और लेख प्रायः सब के सब अंग्रेज़ी ही में हैं और कई एक जिल्दों में वे संकलित हैं। वे धर्म, दर्शन, तत्त्व-ज्ञान और वेदान्तमूलक अध्यात्मवाद की तो एक सारगर्भित विवेचना की खान हैं ही, साथ ही उनके प्रत्येक पद में इस राष्ट्र के पुनरोदय के लिए

भी एक ऐसा अनवरत शृंखलाबद्ध संदेश पिरोया हुआ है कि हम उन्हें इस युग के भारत के लिए राष्ट्रीय उत्थान के सबसे उज्ज्वल महापाठों की संज्ञा प्रदान कर सकते हैं। वे हैं हमारे इस युग के नवीन उपनिषद् और कौन ऐसा भारत का सपूत होगा, जिसके जीवन-निर्माण में उन आप्त वचनों के अमृत-बिन्दुओं ने अपने ढंग से एक नवीन ओज, एक नई कर्त्तव्य-भावना की लहर न जगाई हो? सच तो यह है कि, जैसा कि इस महापुरुष के महान् चरित्रकार रोम्या रोलाँ ने कहा है, आधुनिक भारत की त्रिशिखर रूप हमारी तीन सबसे बड़ी विभूतियाँ—गांधी, रवीन्द्रनाथ और अरविन्द घोष—तक बहुत अंश तक इसी तरुण वेदान्ती संन्यासी द्वारा बोए गए बीजों को लेकर विकसित हुई हैं! तो फिर देश के अन्य नौनिहालों पर यदि लगातार उसका प्रभाव पड़ता रहा हो और आगे भी पड़ता रहे तो आश्चर्य ही क्या है?

अंत में अमेरिका से अपने नवसंस्थापित 'श्रीरामकृष्ण-मठ' के सेवाव्रती तरुण संन्यासी बन्धुओं के नाम प्रेषित एक संदेश के मिस मानों देश की उगती हुई पीढ़ी के समस्त नौजवानों को लक्ष्य करके आघोषित इस राष्ट्र-गुरु के निम्न उल्लेखनीय वाक्यों को उद्धृत कर उसकी इस छोटी-सी गौरव-प्रशस्ति को हम समाप्त करना चाहते हैं :—

'मेरे बच्चो! तैयार हो जाओ अब अपनी कमर कसकर!·········तुम्हीं हो इस देश की आशा और तुममें भी उसी पर मैं अपनी सच्ची उम्मीद लगाए हुए हूँ जो चाहे कितना ही अधिक नीचे वर्ग का और दीन-हीन क्यों न हो फिर भी है सच्चा निष्ठावान्!······जाओ, समाज में जो सबसे अधिक दुःखी और निपीड़ित हैं, उनके प्रति हृदय में सच्ची सहानुभूति और समवेदना का भाव रखते हुए मदद की भीख माँगो और विश्वास करो वह मदद अवश्य तुम्हें मिलेगी। मैं स्वयं इसी एक बोझे को हृदय में ले तथा इसी एक भावना को मस्तिष्क में बसाकर पूरे बारह वर्ष तक लगातार यहाँ से वहाँ भटकता रहा हूँ और एक से दूसरे घर जाकर न जाने कितने तथाकथित धनी और बड़े लोगों के द्वार खटखटा चुका हूँ! और आज भी आधी दुनिया को पार कर अपने घायल दिल को ले उसी मदद के लिए आया हूँ मैं इस अपरिचित विदेश (अमेरिका) की भूमि पर! ···परवा नहीं यदि सर्दी और भूख के मारे मैं यहाँ विनष्ट ही हो जाऊँ, किन्तु नौजवानो, उन दीन-हीन, मूढ़ और पीड़ित जनों के लिए अपनी इस समवेदना, अपने इस संघर्ष की यह वसीयत मैं तुम्हारे लिए छोड़े जा रहा हूँ!···जाओ, उनके लिए अपनी बलि चढ़ा, अपने सारे जीवन को उनकी सेवा की वेदी पर उत्सर्ग करने का व्रत ले, आगे बढ़ो—उन तीस करोड़ अभागे नर-नारियों के लिए, जो कि प्रति दिन लगातार नीचे-ही-नीचे खिसकते चले जा रहे हैं!··· ···कूद पड़ो इस आग में, मेरे बच्चो! ··· आओ, रात और दिन हममें से प्रत्येक भारत के उन लाखों-करोड़ों कुचले हुए शोषित जनों के हित के लिए प्रभु से प्रार्थना करें, जो कि मठाधीशों-पुरोहितों के अत्याचार और शक्तिवानों के निरंतर ज़ुल्म तथा ग़रीबी द्वारा लगातार दबाए रक्खे जा रहे हैं!··· मैं कोई तत्त्ववेत्ता नहीं, न दार्शनिक ही हूँ और न संत ही। मैं तो एक ग़रीब हूँ और ग़रीबों का ही अनन्य भक्त हूँ!··· आज के दिन कौन ऐसा है जो भारतवर्ष के उन बीस करोड़ अकिंचन नर-नारियों के लिए अपने दिल में सच्चा दर्द रखता हो, जो कि सदा के लिए ग़रीबी और अज्ञान की दशा में डूबे हुए हैं? कहाँ है उनके उद्धार का रास्ता? ···कौन उन्हें प्रकाश लाकर देगा? इन्हीं दरिद्रनारायणों को अपना परमेश्वर बनाओ!··· मैं तो सच्चा 'महात्मा' उसे ही कहूँगा, जिसका कि हृदय ग़रीब के लिए बिलखता हो!······जब तक कि इस देश के लाखों मनुष्य भूख और अज्ञान की दशा में ही जीवन-यापन कर रहे हों, मैं ऐसे प्रत्येक व्यक्ति को देशद्रोही क़रार देता हूँ, जो कि इनकी ही कौड़ी के बल पर शिक्षित और समृद्ध बनकर उनके प्रति ज़रा भी ध्यान न दे रहा हो!······"

कितने उदात्त वाक्य हैं ये और आज भी हमारे लिए उनमें कितना जगमगाता हुआ संदेश भरा पड़ा है! यह थे विवेकानन्द—इस युग के हमारे सबसे महान् शिक्षागुरु और जन-साधारण को ऊँचा उठानेवाले एक सच्चे युग-प्रणेता!

रामतीर्थ

धर्म और दर्शन की जननी भारत-भूमि मानवता का मुख उजागर करनेवाले पहुँचे हुए महात्माओं से कभी भी खाली नहीं रही है। वैदिक ऋषियों से लेकर 'सेवाग्राम के संत' तक की अविच्छिन्न परंपरा इसका जीता-जागता प्रमाण है। यही नहीं, किस-किसी युग में तो एक ही आवाज़ लिये हुए एक साथ ही कई क्रान्तदर्शी महापुरुष इस भूमि पर उतरे, जैसे उपनिषद्काल में वाजसनेय याज्ञवल्क्य आदि ब्रह्मर्षि और मध्य युग में कबीर, नानक आदि संत! हमारा आज का युग भी ऐसे ही अनेक ऋषितुल्य लोकनायकों के पदचिह्नों द्वारा मुखरित और प्रकाशित हुआ है। हम देख चुके हैं कि किस प्रकार श्रीरामकृष्ण, ऋषि दयानन्द और देवेन्द्र-केशव जैसे शिक्षागुरु एक साथ ही प्रकट हुए थे। उनके बाद जब विवेकानन्द ने हमारी धर्म-पतवार सँभाली तो वह भी अकेले न आए—उनके साथ ही अवतीर्ण हुआ आधुनिक भारत का एक और तरुण लोकशिक्षक, जिसने अपने वचनामृत से भी अधिक त्याग और तपस्या के अपने लोकोत्तर जीवन द्वारा हमें आत्मज्ञान का पाठ पढ़ाया और इस देश की अमर वाणी को संसार भर में गुँजा देने में भी महत्त्वपूर्ण योग दिया! यह महापुरुष था स्वामी राम या रामतीर्थ, जो आचार्य शंकर की भाँति आया तो था केवल तैंतीस वर्ष की अल्पायु ही लेकर, किन्तु इतने ही समय में हमारे अंतस्तल पर अपने व्यक्तित्व की ऐसी अमिट छाप जमा गया कि अर्वाचीन भारत का कोई भी सर्वाङ्गीण चित्र उसके उल्लेख के बिना संपूर्ण नहीं माना जा सकता!

स्वामी रामतीर्थ, जिनका संन्यासकाल से पहले का नाम था गोस्वामी तीर्थराम, उस पुण्यस्थली पंजाब की उपज थे, जिसने कभी इस देश की संस्कृति का सर्वप्रथम उद्घाटन कर वेदों की ऋचाओं का आरंभिक मंगलगान किया था और जहाँ कालान्तर में नानक और गोविन्दसिंह जैसे महापुरुष प्रकट हुए थे! उनका जन्म २२ अक्टोबर, सन् १८७३ ई०, के दिन ज़िला गुजरानवाला के मुरलीवाला नामक गाँव में एक अत्यन्त गरीब स्थिति के ब्राह्मण पुजारी के घर हुआ था, जिसके भरण-पोषण का एकमात्र साधन केवल अपनी पुरोहित-वृत्ति ही थी! कहावत है कि 'पूत के पग पालने में दिखाई दे जाते हैं।' अतएव जब तीर्थराम केवल साल डेढ़ साल का बालक था तभी से उसके

बर्ताव में धर्म के प्रति ऐसा प्रगाढ़ झुकाव दिखाई देने लगा था कि मंदिरों की आरती की शंखध्वनि सुनते ही वह रोते-रोते चुप हो जाता था और तीन वर्ष की अवस्था होते-होते तो उसका यह धर्म-संबंधी नैसर्गिक अनुराग और आकर्षण इतना अधिक बढ़ गया था कि एक बार जब पिता उसे किसी पंडित की कथा सुनाने के लिए ले गए तो दूसरे दिन से उसने फिर वहीं जाने के लिए ऐसा मचलना शुरू किया कि कथा का समय होते ही वह रो-रोकर आकाश-पाताल एक कर देता और तब तक शान्त न होता था जब तक कि पिता उसे कथा-स्थान तक न लिवा ले जाते थे! साथ ही उसकी बुद्धि भी आरंभ ही से असाधारण रूप से परिपक्व और तीव्र दिखाई देने लगी थी! तभी तो पढ़ने के लिए गाँव के मौलवी के पास बिठाए जाने पर तीन ही वर्ष की अवधि में उसने पाँच वर्ष का पाठ्य-क्रम पूरा कर लिया और उस छोटी-सी अवस्था ही में शेखसादी की फ़ारसी कृतियों तथा अनेक उर्दू शायरों की कविताओं के लंबे-लंबे उद्धरण कंठस्थ कर धड़ल्ले के साथ वह उन्हें ज्यों-के-त्यों दोहराने लगा!

तब चौदह वर्ष की अल्पायु ही में गुजरानवाला-हाईस्कूल से प्रथम श्रेणी में मैट्रिक की परीक्षा पास कर पिता की असम्मति होने पर भी लाहौर जाकर विशेष अध्ययन के लिए उसने वहाँ के मिशन-कालेज में प्रवेश किया और घोर ग़रीबी के कारण उसका यह शिक्षाकाल भयंकर कष्ट और तंगी के साथ बीता! कहते हैं, वह शहर की वाछोवाली नामक एक अत्यन्त गंदी गली की एक रुपए मासिक किराए की एक तंग कोठरी में रहता, केवल तीन पैसे रोज़ की भठियारे की रोटियों पर बसर करता और इस सारी मितव्ययिता के बाद भी बड़ी मुश्किल से अपनी कॉलेज की फ़ीस के माहवारी साढ़े चार रुपए की रक़म बचा पाता था! उसे घर से एक कौड़ी भी मदद के रूप में नहीं मिलती थी—उसका इन दिनों का सारा ख़र्च केवल ट्यूशन अथवा स्कॉलरशिप की उस छोटी-सी रक़म के बल पर ही चलता था, जो गुजरानवाला की म्युनिसिपल कमेटी से उसे मिलती थी। और उसमें से भी कभी-कभी कुछ रुपए बचाकर वह उल्टे घर भेज दिया करता!

इस पर एक और दुर्भाग्य की बात तो यह थी कि पिता ने दस वर्ष की छोटी-सी उम्र ही में उसका विवाह भी कर दिया था, जिससे कि अपने अलावा स्वभावतः ही अपनी निरीहा बालपत्नी की भी बहुत-कुछ चिन्ता उसे खाए डालती थी! किन्तु बाधाओं के इस कठोर चक्रव्यूह में बुरी तरह फँसकर भी राम ने लगातार दृढ़तापूर्वक अपने अध्ययन का क्रम जारी रक्खा और अंततः १८९५ ई० में उसने अपने प्रिय विषय गणित में, जिस पर कि उसका असाधारण प्रभुत्व था, एम० ए० की उपाधि प्राप्त कर ली। इसके बाद काफ़ी समय तक बेकारी के भूत से लड़ने और दर-दर की ठोकरें खाने के उपरान्त उसे पहले तो स्यालकोट के मिशन हाई-स्कूल में एक साधारण अध्यापक की और तदनन्तर लाहौर के फोरमैन क्रिश्चियन कॉलेज में गणित के प्रोफ़ेसर की जगह मिल गई, जिससे कि उसके जीवन-निर्वाह का प्रश्न बहुत-कुछ हल हो गया।

किन्तु यह तो केवल उसके सांसारिक और उपरले जीवन की ही पृष्ठभूमि थी—वस्तुतः उसके अंतस्तल में तो पिछले कई वर्षों से लगातार किसी छिपे हुए सोते की तरह दिन पर दिन उमड़ता चला आ रहा था दूसरा ही एक प्रवाह, जिसने समय पाकर उसकी जीवन-दिशा की धुरी को कहीं से कहीं की ओर मोड़ दिया! यह था बचपन ही से नैसर्गिक रूप में उसके हृदयतल में उच्छ्वसित आध्यात्मिकता का वह प्रबल स्रोत, जिसकी एक सुस्पष्ट झलक इन्हीं दिनों धन्ना भगत नामक अपने एक हितैषी को लिखे गए उसके उन भावुक पत्रों में देखने को मिलती है, जो उसके आरंभिक जीवन की आत्मकहानी पर प्रकाश डालने में काफ़ी मूल्यवान साबित हुए हैं। कहते हैं, राम द्वारा समय-समय पर इस व्यक्ति को लिखे गए पत्रों की कुल संख्या ग्यारह सौ के लगभग है और उनमें हमारे चरितनायक के आरंभिक दिनों की मामूली से मामूली बातों से लेकर उसके अंतराल में उमड़ते हुए धार्मिक भावावेग के उफ़ान तक सभी कुछ सामग्री एक रोज़नामचे की तरह संकलित है! यह धन्ना भगत या भक्त धन्नाराम था तो एक ठेठ का देहाती ही, परन्तु अपनी जन्मजात जिज्ञासावृत्ति और धर्म-पिपासा के फलस्वरूप साधना के पथ

पर वह काफ़ी दूर तक आगे बढ़ने में सफल हो पाया था और राम के मन में अंकुरित आध्यात्मिकता के पौधे को सींचने और परिपक्व करने में शुरू-शुरू उसका बहुत-कुछ हाथ रहा था! वह था एक नैष्ठिक ब्रह्मचारी और कठोर तपस्वी, और भगवान् कृष्ण के प्रति उसके हृदय में प्रबल भक्ति-अनुराग था। कहते हैं, उनकी कथा सुनते-सुनते तथा भजन-गीतों द्वारा उनका गुणगान करते समय प्रायः उसकी आँखों से आँसुओं की नदियाँ बहने लगती थीं! तो फिर राम जैसा धर्म-पिपासु भला उसके संसर्ग में आकर क्योंकर उसके प्रभाव से अछूता रह सकता था! कहने की आवश्यकता नहीं कि जब गुजरानवाला-हाईस्कूल के अपने विद्यार्थी-जीवन में हमारे चरितनायक को अपने पिता के आदेशानुसार इस अद्भुत व्यक्ति की देखरेख में रहने का कुछ दिनों तक अवसर मिला तो सहज ही दोनों में एक प्रकार का गुरु-शिष्य का-सा संबंध प्रस्थापित हो गया, जो समय पाकर इतना प्रगाढ़ हो गया कि राम की निगाह में अपने इस पथ-प्रदर्शक से अधिक पूज्य और प्रिय दूसरा कोई व्यक्ति अब इस दुनिया में न रह गया! उसने तन, मन, धन, सब-कुछ अपने इस आध्यात्मिक शिक्षक को अर्पित कर अपने आपको पूर्णतया उसके हाथों में छोड़ दिया और बदले में उसकी प्रगाढ़ धर्मवृत्ति एवं भक्ति की लहर का प्रसाद पा उस छोटी-सी उम्र ही में अपने को साधना के कँटीले मार्ग का पथिक बना लिया!

तब कालान्तर में वही सोता, जो अब तक भीतर ही भीतर उबल रहा था, अब दुर्द्धर्ष भाव से उमड़कर एकबारगी ही बाहर भी फूट चला और उसका प्रथम आवेग हमारे चरितनायक के जीवन में प्रकट हुआ कृष्ण-भक्ति की एक प्रबल तरंग के रूप में! यह उन दिनों की बात है जब कि राम को अपने उस प्रोफ़ेसर के पद पर काम करते अभी तीन-चार महीने भी व्यतीत न हुए होंगे! कहते हैं, आरंभ में कुछ दिनों तक तो यह युवक केवल मन ही मन चुपचाप एकान्त ध्यान-चिन्तन तथा नित्यप्रति के गीता-पाठ आदि द्वारा अपने इष्ट की आराधना-उपासना करता रहा। परन्तु अंत में जब अपने हृदय में जागी हुई उस भक्ति की तरंग को छिपाकर रखना उसके लिए असंभव-सा हो गया तो मीरा या चैतन्य की तरह अपने 'मनमोहन' के प्रेम में मतवाला हो वह एकबारगी ही ऐसा उबल पड़ा कि प्रायः उसका नाम भर सुनते ही भावावेश में अब उसकी आँखों से आँसुओं की बरसात होने लगती और उसकी विरहानल में तड़पते हुए वह धरती पर प्रायः लोट-पोट-सा हो जाता! वस्तुतः अब उसके लिए कॉलेज में अपनी पढ़ाई का काम भी ठीक से निभा पाना कठिन हो गया था, क्योंकि वह अब प्रायः 'कृष्ण' ही का पाठ अपने विद्यार्थियों को भी पढ़ाने लगता था और बोर्ड पर ज्यामिति के प्रश्नों के रेखाचित्र बनाते-बनाते अक्सर उसके हाथों अपने आप ही उस कन्हैया ही का चित्र रेखांकित हो जाता था! इसके बाद तो प्रायः सुबह-शाम 'कृष्ण प्यारे' की पुकार लगाते हुए रावी के तट पर पागलों की तरह दौड़ते हुए वह देखा जाने लगा और उस समय यदि अचानक कहीं किसी की बाँसुरी की ध्वनि उसके कानों पर पड़ जाती तब तो उसमें अपने प्रियतम की अलौकिक मुरली की धुन की मानों प्रतिध्वनि पाकर वह मस्ती में झूमता हुआ अपनी सारी सुध-बुध तक खो बैठता था! कहते हैं, अपने इन्हीं पागलपन के दिनों में वह सनातन धर्म-सभा के सुप्रसिद्ध व्याख्याता पं० दीनदयालु शर्मा के साथ मथुरा-वृन्दावन की पवित्र भूमि की एक छोटी-सी तीर्थयात्रा भी कर आया और तब से आँखों में अपने प्रिय आराध्य की विविध बाल-लीलाओं की एक झाँकी-सी बसाकर आठों पहर अपने कल्पनालोक के यमुना-दुकूल के उन केलिकुंजों की वनवीथिकाओं ही में विचरते हुए वह अपने मनमोहन की रट लगाने लगा, जहाँ कि कभी प्रेम में बावरी भक्ति-योगिनी गोपिकाओं के साथ मिलकर उस अलबेले ने अपना रास रचाया था!

परन्तु जैसा कि शास्त्रों में कहा है, भक्ति की यह उद्दाम तरंग शीघ्र ही अंतस्तल के बंद कपाटों को खोलकर साधक को ला खड़ा कर देती है ज्ञान और वैराग्य के आँगन में भी और यही अल्पकाल में हमारे चरितनायक के बारे में भी घटित हुआ! कहते हैं, इन्हीं दिनों द्वारकामठ के तत्कालीन शंकराचार्य श्री माधवतीर्थ का लाहौर में आगमन

हुआ और स्थानीय सनातन-धर्म-सभा के मंत्री एवं प्रमुख कार्यकर्त्ता के नाते राम को उस विद्वान् संन्यासी के निकट संसर्ग में आने का प्रचुर अवसर मिला! माधवतीर्थ थे एक सच्चे रत्नपारखी, अतएव इस प्रतिभासंपन्न युवक प्रोफ़ेसर की प्रगाढ़ आध्यात्मिकता और उसकी भक्तिमूलक साधन-वृत्ति की तह में छिपी अद्वितीय महानता के बीजों का परिचय पाते उन्हें देर न लगी और यद्यपि उन्हें अधिक अवकाश न था फिर भी जब तक वह लाहौर में टिके रहे उन्होंने नित्यप्रति कुछ समय निकालकर इस तरुण जिज्ञासु को उपनिषद्, ब्रह्म-सूत्र आदि का पाठ पढ़ा वेदान्त की महती शिक्षा देने में अपनी ओर से कोई कसर न उठा रक्खी! तब तो भला फिर पूछना ही क्या था— उनका वह वेदान्त का पाठ पूरा होते ही देखते ही देखते हमारे चरितनायक की 'कृष्ण, कृष्ण' की वह पुकार आत्मदर्शन की एक प्रबल ज्ञान-पिपासा में परिणत हो गई और उसका वह 'मनमोहन कन्हैया' अब सारे विश्व के रोम-रोम में व्याप्त एक ही निखिल निरंजन परब्रह्म का रूप धारण कर साकार से निर्गुण एवं निराकार हो गया तथा बाहर की ओर रमने के बजाय अब स्वयं उसके ही अंतराल में बसकर वह बन गया उसका अपना आत्माराम ही!

इसी बीच उत्तरी भारत के अपने दौरे के क्रम में सौभाग्यवश स्वामी विवेकानन्द का भी लाहौर में आना हुआ और उनके निकट संस्पर्श में आकर और भी अधिक प्रेरणा ग्रहण करने का सुअवसर राम को मिला! यद्यपि यह सच है कि इस बात का कोई लेखा आज हमारे पास नहीं है कि उस महान् संन्यासी के साथ अपनी भेंट-मुलाकातों के सिलसिले में हमारे चरितनायक ने क्या-क्या अनुभूतियाँ प्राप्त कीं, फिर भी इसमें संदेह नहीं कि अपने युग के उस सबसे तेजस्वी भारतीय लोकशिक्षक की ओजस्वी वाणी और दिव्य साधना का इस उठते हुए साधक के मन पर कुछ कम प्रभाव न पड़ा होगा। बल्कि अनुमान तो यही किया जाता है कि उसी के व्यक्तित्व और जीवन से प्रेरित होकर ही राम के मन में शीघ्र ही संन्यास ग्रहण कर आत्मोपलब्धि के मार्ग पर बढ़ने और वेदान्त के महापाठ का एक जीता-जागता उदाहरण संसार के सामने प्रस्तुत करने की प्रबल हूक जगी होगी! क्योंकि इसके शीघ्र ही बाद ज्यों ही कॉलेज की गर्मी की छुट्टियाँ आईं, उसने मथुरा-वृन्दावन की दौड़ लगाने के बजाय इस बार सीधे हिमालय ही की ओर अपने पाँव बढ़ाए और हरद्वार से हृषीकेश पहुँचकर अपने पास की कौड़ी-कौड़ी तक उसने साधुओं में वितरण कर दी और तब पागलों की तरह नंगे बदन ही वह पड़ोस के तपोवन नामक स्थान की ओर चल दिया! वहाँ आत्मदर्शन करने का दृढ़ संकल्प कर गंगा के किनारे एक जगह आसन जमा वह बैठ गया और मन ही मन यह भीष्म प्रतिज्ञा उसने कर ली कि या तो इष्ट-साक्षात्कार करके ही उठूँगा या फिर अपना जीवन ही यहाँ समाप्त कर दूँगा! और सचमुच ही अंत में जब शीघ्र ही अपनी इच्छा-पूर्त्ति होते उसे न दिखाई पड़ी तो जीना व्यर्थ समझ वह प्राणों का मोह छोड़ उस बाढ़-चढ़ी गंगा में कूद पड़ा! किन्तु भगवती भागीरथी को वस्तुतः अपने इस पुत्र को अभी इतने शीघ्र अपनी गोदी में लेना स्वीकार न था। अतएव कुछ देर तक तो उसके शरीर के साथ उसने मानों खिलवाड़-सा किया और तब फूल की तरह उछालकर उसे एक तटवर्त्ती चट्टान पर फेंक दिया!

बस, कहते हैं कि वैसे ही मानों मा गंगा के उस प्यारभरे चपेट के प्रहार से एकाएक जगकर इस तरुण साधक के ज्ञानचक्षु एकबारगी ही खुल पड़े और उसी चट्टान पर लेटे-लेटे अप्रयास ही उसे वह ईप्सित इष्ट-सिद्धि का वरदान प्राप्त हो गया, जिसके कि लिए कुछ ही मिनट पहले वह अपने प्राण तक दे देने पर उतारू हो गया था! इस प्रकार उसने वह महान् अद्वैतानुभूति सिद्ध कर ली, जो केवल निर्विकल्प समाधि की तुरीयावस्था पर पहुँचे हुए इने-गिने परमहंस महापुरुषों ही को प्राप्त हो पाती है और फलतः सब कहीं अब स्वयं अपनी ही आत्मा का प्रकाश चारों ओर छाया हुआ उसे दिखाई देने लगा! वस्तुतः उसके लिए अब बाहर और भीतर, एक और अनेक, भूत-भविष्य और वर्त्तमान एवं भक्त और भगवान् तक का भेद सर्वथा मिट गया, और जैसा कि उसने बाद में लिखा था, पत्ता-पत्ता

अब मानों यही वाक्य पुकार-पुकारकर उसका स्वागत करते दिखाई देने लगा कि 'तत्त्वमसि, तत्त्वमसि', अर्थात् तू ही वह है, तू ही वह है !

कहने की आवश्यकता नहीं कि उत्तराखण्ड की अपनी इस महत्त्वपूर्ण यात्रा से लौटते ही राम के सांसारिक बंधन और भी अधिक ढीले पड़ गए और अपना अधिकांश समय वेदान्त-चर्चा तथा साधना ही में बिताने के उद्देश्य से अब उसने मिशन कॉलेज की अपनी उस छः घण्टे रोज़ाना की नौकरी से त्यागपत्र देकर स्थानीय गवर्नमेण्ट ओरिएंटल कॉलेज में केवल रोज़ दो घंटे पढ़ाकर ही अपने परिवार का निर्वाह करना शुरू किया। तदुपरान्त पुनः गर्मी का मौसम आते ही वह फिर हिमालय पहुँचा और इस बार काश्मीर के रास्ते लगभग अठारह हज़ार फ़ीट की ऊँचाई तक चढ़कर सुप्रसिद्ध अमरनाथ की पवित्र गुफ़ा तक का एक चक्कर वह काट आया। और इस यात्रा में उसके साथ असबाब के नाम पर कुल सामान क्या था? केवल उसका वह अँगोछानुमा उपवस्त्र ही, जिसमें का कुछ भाग तो वह अपनी कमर में लपेट लेता था और शेष से आवश्यकता पड़ने पर ऊपरी बदन ढाँप लेता था ! इसी प्रकार कुछ महीने बाद सागर-दर्शन की उत्कंठा से प्रेरित होकर साथ में किसी तरह का सामान या एक पैसा भी लिये बिना वह लाहौर से कराँची तक की भी एक और दौड़ लगा आया और इस यात्रा में भी उसे किसी तरह की तकलीफ़ न हो पाई बल्कि हर जगह अयाचित ही कोई न कोई व्यक्ति हर प्रकार से उसे मदद पहुँचाता रहा !

इसी बीच सन् १९०० ई० के जनवरी मास से 'अलिफ़' के नाम से उसने लाहौर से उर्दू में एक निराला मासिक पत्र भी निकालना शुरू किया था, जिसमें कि बड़े मस्ताने ढंग से अब अपने हृदय में तरंगित वेदान्त का उबाल निकालते हुए दुनिया को भी उसका पाठ पढ़ाने की ओर वह अग्रसर हुआ था। किन्तु सच तो यह था कि उसके अंतस्तल का ज्वार इन सीमित प्रणालियों ही में समाकर थम जानेवाला कोई मामूली उफ़ान न था — वह तो था ऐसा एक ओघ, जो सभी प्रकार के बंधनों से मुक्त केवल संपूर्ण निवृत्ति की समतल भूमिका पर पहुँचकर ही स्थिर ह सकता था! अतएव शीघ्र ही वह समय भी आया जब राम को अपनी सांसारिकता की वे रही-सही शृंखलाएँ भी बेतरह अखरने लगीं और गृहस्थाश्रम के उस घिरौंदे में रह पाना उसके लिए अब एकदम असंभव-सा हो गया। आखिर एक दिन अपने उन बचे हुए बंधनों को भी समूल काटकर अंतिम रूप से उस गृह-संसार से विदा हो, विशुद्ध निवृत्ति ही के पथ पर अग्रसर होने का महान् निश्चय उसने कर लिया और एक ही झटके में कॉलेज की अपनी वह प्रोफ़ेसरी, अपनी वह प्रिय गणित, वह रावी, वह घर-बार, और स्त्री-पुत्र-स्वजन-परिवार की वह स्नेह-सिंचित दुनिया ठुकराकर उसने सदा के लिए अपने आप को विजन का वासी बना लिया !

कहते हैं कि उसके उस महान् संसार-त्याग और महाभिनिष्क्रमण का दृश्य जिन्होंने अपनी आँखों से देखा वे लाख अपना हृदय थामने का प्रयास करने पर भी उस विदाई के करुणा-स्रोत के प्रवाह में बहने से अपने आपको उस दिन न रोक सके ! उसको बिछुड़ते देख न केवल उसका अपना परिवार ही बल्कि लाहौर का सारा हिन्दू समाज या सच पूछो तो सारा हिन्दू पंजाब मानों रो पड़ा। वह पुनः अपने प्रिय हिमालय की ओर ही अग्रसर हुआ और उसका साथ छोड़ने का एकाएक साहस न कर पाने के कारण तीन-चार शिष्यों की तरह मोहवश उसकी धर्मपत्नी भी अपने दो बच्चों को लेकर उसके पीछे हो ली ! और उसने भी उन्हें आने से रोका नहीं। पर हरद्वार से देवप्रयाग होते हुए जब उस छोटी-सी यात्रा-मंडली ने टेहरी पहुँचकर अपना पहला लंबा पड़ाव डाला तो एक दिन रात को सब को वहीं छोड़ वह चुपके से अकेला ही खिसक दिया और वहाँ से पचास मील दूर उत्तरकाशी की ओर नंगे सिर और नंगे ही पैर एकाकी चल दिया। तब अपने उस महाभिनिष्क्रमण के लगभग छः महीने बाद ही, १९०१ ई० के आरंभ में, गंगा के पुनीत तट पर एक दिन विधिवत् जनेऊ त्याग तथा सिर मुँड़वाकर अंत में उसने काषाय भी धारण कर लिया और इस प्रकार अट्ठाइस वर्ष की उस अल्पायु ही में गोस्वामी तीर्थराम से संन्यासी 'रामतीर्थ' के रूप में परिणत हो सदा के लिए

संसार से किनारा कसकर वह बन गया निवृत्ति के कल्याण-मार्ग का एक महापथिक !

इस महान् त्याग के बाद स्वामीजी और भी कई दिनों तक हिमालय ही में घूमते-फिरते रहे और इस बीच यमुनोत्री, बंदरपूँछ (सुमेरु), गंगोत्री, केदारनाथ, बद्रीनाथ आदि अनेक बर्फ़ीले और ऊँचे स्थानों की यात्रा करते हुए वह आध्यात्मिक साधना के साथ-साथ अपनी जन्मजात प्रकृति-सौन्दर्योपासना की भूख मिटाते रहे। इन यात्राओं के क्रम में जो-जो दृश्य उन्होंने देखे और अपनी मस्ती के नशे में जो-जो अनुभूतियाँ उन्हें हुईं उनका ऐसा हृदयस्पर्शी, काव्यमय और दार्शनिक भावों में पगा हुआ विवरण उन्होंने अपनी अद्वितीय लेखनी के प्रसाद के रूप में हमारे लिए अपने संस्मरणों में छोड़ा है कि उसे पढ़कर एक बार शुष्क अरसिक हृदय में भी कोमलतम भावनाओं की तरंगें उठने लगती हैं ! इसके बाद मैदानों में उतरकर क्रमशः मथुरा, फ़ैज़ाबाद (अयोध्या), लखनऊ, आदि स्थानों में उन्होंने वेदान्त पर कई महत्वपूर्ण भाषण दिए और अपने सतेज व्यक्तित्व, अल्हड़ चरित्र तथा अलौकिक ज्ञान-चमत्कार द्वारा हज़ारों का मन हरकर वेदान्त-धर्म के प्रति एक गहरी दिलचस्पी उन्होंने जनता में पैदा कर दी। तदनन्तर जैसे ही वह पुनः हिमालय पहुँचे उनकी ख्याति से आकर्षित होकर टेहरी राज्य के तत्कालीन नरेश सर कीर्त्तिशाह ने उनसे भेंट कर आग्रहपूर्वक उन्हें अपना मेहमान बना लिया और कुछ दिन टेहरी में रखने के बाद वह उन्हें अपने साथ प्रतापनगर नामक अपनी ग्रीष्म-कालीन राजधानी को लिवा ले गए ! यहीं एकाएक अखबारों में यह सूचना पाकर कि शिकागो की पिछली विश्व-धर्म-परिषद् की भाँति शीघ्र ही एक और विश्व-धर्म-सम्मेलन का अधिवेशन जापान में होने जा रहा है, उस धर्मप्रेमी राजा ने राम से उसमें सम्मिलित हो पुनः भारत का संदेश संसार को सुनाने का आग्रह किया और उनकी यात्रा-सम्बन्धी व्यवस्था का सारा भार अपने ऊपर ले लिया। और जन्मजात विश्वधर्मी राम को भला इसमें क्योंकर इन्कार हो सकता था ! वह तत्काल राज़ी हो गए और २८ अगस्त, सन् १९०२ ई०, के दिन अपने प्रिय शिष्य नारायण के साथ कलकत्ते से जहाज़ पर सवार हो हांगकांग होते हुए कुछ ही दिनों में जापान जा पहुँचे ! इस प्रकार विवेकानन्द की प्रथम प्रख्यात धर्मप्रचारयात्रा के ठीक साढ़े नौ वर्ष बाद पुनः भारत का यह दूसरा संन्यासी एक धर्मदूत के रूप में वेदान्त की पताका ले समुद्र-पार के देशान्तर के आँगन में जा खड़ा हुआ ! किन्तु जब जापान पहुँचने पर राम को यह मालूम हुआ कि उक्त विश्व-धर्म-परिषद् की खबर केवल अखबारों द्वारा उड़ाई गई एक बेसिरपैर की गप्प मात्र थी तो वह खूब हँसे ! उन्होंने कहा—'वाह, वाह, यह भी खूब रहा ! प्रकृति ने राम को अपने उस हिमालय के एकान्त से वापस दुनिया के आँगन में खींच ले आने के लिए यह खूब मज़े की चाल चली !......ख़ैर, राम तो ख़ुद ही एक जीता-जागता विश्व-धर्म-सम्मेलन-सा है ! अगर टोकियो उसका अधिवेशन न करे तो न सही, राम तो अपना सम्मेलन करेगा ही !' और अपने कुछ सप्ताहों के उस आवासकाल ही में उन्होंने वहाँ अपनी फड़कती वक्तृताओं द्वारा ऐसी धूम बाँध दी कि जापान का सारा विद्वद्समाज चकित रह गया ! यहीं अचानक एक दिन अपने उस परम भक्त और शिष्य 'पूरन' (या पूर्णसिंह) से उनकी प्रथम भेंट हुई, जिसने कि अपने आपको पूर्णतया उनके चरणों में छोड़कर अंत में उनके नाम पर गेरुआ तक धारण कर लिया और आगे चलकर उनके जीवन के संबंध में एक महत्वपूर्ण पुस्तक लिखकर अपना नाम सदा के लिए अमर कर लिया !

इसके उपरान्त अपने साथी नारायण को वहीं छोड़ राम अब और भी आगे की ओर बढ़े और पैसिफ़िक महासागर को पार कर शीघ्र ही सैन-फ्रांसिस्को बन्दरगाह पर उतर वह अमेरिका पहुँच गए ! वहाँ विवेकानन्द के जादू का असर तो पहले से विद्यमान था ही, अतएव कहना न होगा कि जब यह दूसरा तेजस्वी भारतीय संन्यासी भी पुनः वेदान्त की मशाल लिये हुए सामने आया तो अमेरिकन जनता में फिर से धूम मच गई ! सब कहीं 'मूर्त्तिमान् ईसा मसीह' के नाम से श्रद्धापूर्वक उसकी आरती उतारी जाने लगी और उसके उस अल्हड़ धार्मिक

मस्तानेपन ने तो विवेकानन्द से भी अधिक लोकप्रिय उसे बना दिया! इस प्रकार लगभग दो वर्ष तक राम अमेरिका के मेहमान रहे और इस बीच स्थान-स्थान में पचीसों ओजपूर्ण भाषण देकर तथा अनेक शिष्य बनाकर विवेकानन्द द्वारा आरंभ किए गए वेदान्त-प्रचार के काम को आगे बढ़ाने में उन्होंने ज़बर्दस्त योग दिया! कहने की आवश्यकता नहीं कि अपनी इस महान् धर्मयात्रा से जब लौटकर वह वापस स्वदेश आए तो विवेकानन्द की तरह उनका भी भव्य स्वागत किया गया और उन्होंने भी स्थान-स्थान में अपने वेदान्तमूलक व्याख्यानों की धूम-सी बाँध दी! विवेकानन्द की तरह उनकी भी अमृतवाणी में इस देश को अपनी आध्यात्मिकता के पोषण के साथ-साथ अपने सर्वाङ्गीण पुनरुत्थान का एक सशक्त जन-संदेश मिला और उनके महान् त्याग के उज्ज्वल आदर्श ने तो उनकी वाणी से भी कहीं अधिक गहराई के साथ पैठकर इस युग की उठती हुई पीढ़ी के मस्तिष्क और हृदय पर अपनी अमिट छाप अंकित कर दी!

किन्तु रामतीर्थ विवेकानन्द की तरह एक आन्दोलनकर्त्ता जननायक अथवा धर्मप्रचारक से कहीं अधिक एक एकान्तवासी साधक ही थे। अतएव अमेरिका से वापस आते ही शीघ्र ही एक दिन पुनः अपने प्रिय हिमालय की ओट में वह खिसक गए और हृषीकेश से तीस मील ऊपर 'व्यास-आश्रम' नामक एक बीहड़ दुर्गम स्थान में अकेले ही टिककर कुछ समय तक निरुक्त और संस्कृत व्याकरण के साथ वेदों का गहन अध्ययन करते रहे। तदनंतर और भी अधिक एकान्त की चाह से टेहरी से पचास मील दूर बारह-तेरह हज़ार फ़ीट की ऊँचाई पर स्थित 'वशिष्ठ-आश्रम' नामक अन्य एक अगम्य किन्तु रमणीक पहाड़ी स्थान की प्राकृतिक कंदराओं में वह जा बसे और अपनी साधना के चरम शिखर पर पहुँचने पर जब उनके लिए अब कुछ और अधिक जानने या करने को बाक़ी न रहा तब एक प्रकार से पूर्ण निवृत्त हो वह मौन-से हो गए! किन्तु कुछ ही समय बाद स्वास्थ्य ठीक न रहने के कारण अपने भक्तों के आग्रह से उन्हें उस एकान्त स्थान से उतरकर वापस टेहरी आना पड़ा और वहीं १७ अक्टूबर, सन् १९०६, के दिन दोपहर को बारह बजे, जब कि उनकी आयु के ठीक तैंतीस वर्ष पूरे होने जा रहे थे, समीप ही बहनेवाली गंगा की एक धारा में स्नान करते समय देखते ही देखते एकाएक जलमग्न होकर अत्यन्त रहस्यपूर्ण ढंग से वह सदा के लिए महासमाधिस्थ हो गए!

इस प्रकार आधुनिक भारत के एक ऐसे अद्वितीय व्यक्तित्व की इहलौकिक जीवन-लीला का अंत हुआ, जिसकी समता का कविहृदय और मस्ताना साधक श्री रामकृष्ण परमहंस के बाद पिछले सौ वर्षों में इस देश में दूसरा न हुआ! स्वामी राम थे यथार्थ में विशुद्ध अध्यात्म-क्षेत्र के ही एक पहुँचे हुए प्राणी—वह इस पार्थिव सांसारिक धरातल के जीव न थे। वह थे शत-प्रति-शत केवल उस ज्योतिष्मान सत्य-शिव-सुन्दर परम शाश्वत वस्तु ही के एक महान् उद्गाता, जिसके कि विषय में उपनिषदों में कहा गया है कि 'वही तू है, वही तू है!' वह एक पहुँचे हुए वेदान्ती, महान् ईश्वर-भक्त और अपनी साधना की मस्ती में जीवन भर कुहुकते रहनेवाले एक अनोखे तपस्वी थे, और यदि प्रकृति ने उन्हें एक असाधारण काव्य-प्रतिभा से सम्पन्न बनाया था तो वह भी केवल इसीलिए कि अपनी उस काव्य-वीणा की झंकार द्वारा वह और भी अधिक संवेदनापूर्वक अपने अंतस्तल में तरंगित आध्यात्मिकता की रागिनी का उफान निकाल सकें! वह थे सच्चे अर्थों में आत्मा के कवि—इस विश्व के अंतराल में घूर्णित अनहद नादतत्त्व के एक दुर्लभ कलावन्त गीतकार! इसीसे तो हमने कहा कि वह हमारी इस भौगोलिक सीमाओं से बँधी, तुच्छ स्वार्थों से लदी दुनिया के प्राणी न थे—वह तो उस मुक्त गगन के वासी थे, जहाँ किसी भी प्रकार के भेदभाव, संघर्ष और अभाव के लिए गुंजाइश नहीं! वह अपनी आत्मा को विश्वात्मा के साथ पूर्णतया मिलाकर मानों अपना पृथक् अस्तित्व खो चुके थे और उस एकीकरण के बाद उसी समदर्शी की आँखों से समस्त चराचर सृष्टि को देखने लगे थे! तो फिर भला क्योंकर हमारी सीमित पकड़ में वह आ सकते थे—उनके जैसे विश्व-गंगा के तैराक के लिए भला हमारी आज की इन राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक और

सांस्कृतिक जीवन की छिछली समस्याओं और स्वार्थपूरित हितसाधनाओं का मूल्य ही क्या हो सकता था ? फिर भी मानों करुणार्द्र होकर वह अपने उस अल्पकालिक जीवन में ही हमें अध्यात्म के साथ-साथ समाज, राजनीति, धर्म, संस्कृति और साहित्य आदि सभी क्षेत्रों में स्थायी रूप से एक महान् प्रेरणा का वरदान दे गए—वह हमें सूखे वेदान्त का पाठ पढ़ाने के बजाय, विवेकानन्द की भाँति, अपने प्रत्येक रोग की एक दिव्य औषधि के रूप में उस ब्रह्मविद्या का प्रयोग बताकर युग-युग के लिए हमें अपनी मुक्ति का एक अमोघ उपाय दे गए ! उन्होंने हमें स्वदेश ही में अपने आपको लीन कर उसके साथ एकाकार हो जाने का महान् आदर्श ग्रहण करने के लिए आहूत कर उस 'व्यावहारिक वेदान्त' का रास्ता दिखाया जिसे कि स्वयं अपनाकर मस्ती में वह प्रायः कहा करते थे—'.........मैं ही भारतवर्ष हूँ। मैं ही हिन्दुस्थान हूँ। यह भारतभूमि ही मेरा शरीर है। उसका वह कुमारी अंतरीप ही मेरे चरणों का अंतिम भाग है और उसका वह मुकुटरूप हिमाचल ही मेरा शीश है। मेरे इस शीश के जटाजूट में से ही गंगा की पुनीत धारा बह रही है और उसके शिरोभाग से ब्रह्मपुत्र तथा सिन्धु नद उच्छ्वसित हो रहे हैं। मेरी कमर के आसपास के कौपीन को विन्ध्याचल की वह विस्तृत मेखला बाँधे हुए है और मेरा एक पैर यदि कारोमंडल तट है तो दूसरा है मलाबार ! मैं ही सारा का सारा भारत हूँ और उसकी पूर्वी तथा पश्चिमी श्रेणियाँ ही मेरी भुजाएँ हैं, जिन्हें फैलाकर समस्त मानव-जाति को अपने दृढालिंगन में कसने के लिए मैं उत्कंठित हूँ। मेरा प्रेम विश्वव्यापी है। आह ! कैसा अद्भुत है मेरा यह शरीर ! वह अपलक अनन्त आकाश की ओर टकटकी बाँधे खड़ा है। पर उससे भी अद्भुत तो है उसमें बसनेवाली वह आत्मा, जो चराचर की आत्मा है। तभी तो जब मैं चलता हूँ तो अनुभव करता हूँ कि भारत ही चल रहा है ! जब मैं बोलता हूँ तो अनुभव करता हूँ कि भारत की ही वाणी गूँज रही है ! जब मैं साँस लेता हूँ तो मालूम देता है कि मानों स्वयं भारतमाता ही साँस ले रही है ! मैं ही भारत हूँ, मैं ही शंकर हूँ, मैं ही शिव हूँ ! यही देशभक्ति की सबसे ऊँची भूमिका है और यही है व्यावहारिक वेदान्त !'

और उसी स्वर में हमें प्रोत्साहित करते हुए उन्होंने कहा—'भारतवासियो ! तुम अपनी दिवंगत आत्माओं को सुख पहुँचाने के लिए जिस तरह श्राद्ध करते हो उसी तरह भारतमाता को स्वतंत्र बनाने के लिए भी अपने स्वार्थों की बलि दो।...... तुम अपने आपको मातृभूमि और जाति के प्रेम में सराबोर कर एकराग-एकतान कर दो। प्रति क्षण तुम्हें स्वदेश के साथ अपनी उस एकता का ही भान होना चाहिए—बल्कि तुम्हारे और स्वदेश के बीच अहंभावमूलक संकुचित व्यक्तित्व का एक छायामात्र का काँच का-सा परदा भी शेष नहीं रहना चाहिए। तुम्हें तो एक सच्चे सैनिक की भाँति मातृभूमि के हितार्थ अपने व्यक्तिगत जीवन को एकदम निछावर कर देना चाहिए। इस तरह अपने अहंभाव को तजकर जब तुम अपने आपको राष्ट्र के साथ एकाकार कर दोगे तब जो कुछ तुम सोचोगे वही राष्ट्र सोचेगा !' इस प्रकार इस देश के आधुनिक राष्ट्र-निर्माण के महान् अनुष्ठान में वैसा ही योग देकर जैसा कि उनके पूर्वगामी महान् जन-शिक्षक विवेकानंद ने दिया था, उन्होंने भी वेदान्त की धर्मपताका फहरा हमारे मन में आत्मविश्वास का एक दृढ़ भाव जगाया, अपने ओजस्वी भाषणों द्वारा हमारी प्रसुप्त आत्मा में जागृति का एक जादूभरा मंत्र फूँका, हमें अपनी जात-पाँतमूलक अंधरूढ़िगत कुरीतियों की ज़ंजीरों को तोड़ने के लिए ललकारकर समाज का संस्कार करने के लिए ज़ोरों से प्रेरित किया और इन सबसे कहीं अधिक स्वयं अपने ही जीवन में त्याग का एक सर्वोत्कृष्ट उदाहरण प्रस्तुत कर हमें अपनी गुलामी की बेड़ियों का मोह छोड़ने के लिए साहस का एक फड़कता हुआ पाठ पढ़ाया ! सारांश यह कि वह न केवल इस युग के एक महान् संत, साधक और कविहृदय भक्त ही थे प्रत्युत सच्चे अर्थ में हमारे एक महान् शिक्षक, नेता और राष्ट्र-निर्माता भी थे ! उनका तो केवल जीवन ही हमारे लिए एक महान् चिरसंदेशसूचक महापाठ था और अपनी वाणी तथा लेखनी के प्रसाद के रूप में जो देन वह छोड़ गए, उसका संपूर्ण मूल्य परखते तो अभी हमें अनेक युग चाहिएँगे !

शोषित जनता के एक ऐसे अनोखे अहिंसक संग्राम की अमर गाथा, जिसने मानव इतिहास में एक नवीन सर्ग, एक नई पगडण्डी, का निर्माण किया है। कांग्रेस है इस देश के जर्जरीभूत कलेवर में फिर से नूतन प्राणों के संचार की आशाभरी कहानी, हमारे राजनीतिक पुनरुज्जीवन और पुनर्निर्माण का एक उल्लासमय आलेख, हमारे वर्त्तमान का संबल और भविष्य की नींव! भला कौन ऐसा राष्ट्रीयता का उपासक भारतवासी होगा, जिसे आज के दिन अपनी इस महान् प्रतिनिधि संस्था का महत्त्व और मूल्य समझाने की भी आवश्यकता हो? वस्तुतः जिसके साथ यह अपनी लड़ाई लड़ती रही, उस विदेशी सत्ता ने भी तो इसकी महत्ता स्वीकार कर निर्विवाद रूप से इसे देश की प्रतिनिधि-राजनीतिक संस्था क़रार दिया! और हमारी अपनी दृष्टि में तो, यथार्थ में, यह एक राजनीतिक संस्था ही नहीं बल्कि एक सर्वतोमुखी राष्ट्रवेदी है! यह हमारे सर्वाङ्गीण उत्थान का मंच है और है सच्चे जनसेवकों को तैयार करनेवाला एक महान् शिक्षा-शिविर! क्या यह कम महत्त्व की बात है कि इस युग में जितने भी राष्ट्रनेता इस देश में पैदा हुए, उनमें से नब्बे प्रति शत कांग्रेस ही की देन हैं, उसके ही विशद मंच पर उन सबका उद्भव, शिक्षण और विकास हुआ है! तो फिर आइए, प्रस्तुत और आगे के कुछ प्रकरणों

दादाभाई नौरोजी

और राष्ट्रीय जागरण के अन्य अग्रदूत

२८ दिसंबर, सन् १८८५ ई०, का पुनीत दिन भारतीय इतिहास में सदैव एक महान् पर्वदिवस के रूप में याद किया जायगा, क्योंकि इसी दिन आज से बासठ वर्ष पूर्व उस गौरवशाली राष्ट्रीय संस्था—कांग्रेस—का जन्म हुआ था, जो इस युग में उठने और जागने की हमारी साध की मानों मूर्त्तिमान् प्रतीक बन गई है।

कांग्रेस का इतिहास पिछली लगभग पौन शताब्दी के हमारे समूचे राजनीतिक जागरण का इतिहास है। उसके पृष्ठों पर अंकित है एक शक्तिशाली विदेशी शासनतंत्र के साथ निहत्थी और

में इस महान् जनसंस्था के आधारस्तंभ-रूपी कुछ चुने हुए अन्यतम राष्ट्र-नायकों के व्यक्तित्व और जीवन पर प्रकाश डालते हुए उसके प्रति अपने अगाध मातृऋण का कुछ अंश चुकाने का प्रयास करें, यद्यपि इन थोड़े से पृष्ठों में न तो इस राष्ट्रवेदी के व्यापक अनुष्ठान का ही पूरा ब्यौरा देना न उन सब वंदनीय नेताओं में से प्रत्येक का अलग-अलग सुविस्तृत रूप से जीवन-परिचय दे पाना संभव है, जिन्होंने एक-एक ईंट

चुनकर उसे आज की इस ऊँचाई तक ऊपर उठाया है।

पिछले सौ साल में जो लोकनायक पहलेपहल राजनीतिक उत्थान का मंत्र लेकर इस देश के सार्वजनिक क्षेत्र में उतरे, उनमें न केवल तिथिक्रम के अनुसार ही प्रत्युत व्यक्तित्व और महानता की दृष्टि से भी निस्सन्देह हमारा ध्यान सबसे पहले स्वनामधन्य दादाभाई नौरोजी की ओर ही जाता है, जिन्हें हम सब आज अपने 'वृद्ध पितामह' के नाम से पूजते और याद करते हैं! दादाभाई कांग्रेस की उपज नहीं बल्कि उसके जन्मदाताओं में से थे। वह तो कांग्रेस की प्रस्थापना के पूर्व ही अपने जीवन के चालीस वर्ष लोकसेवा और सार्वजनिक उत्थान के कार्य में उत्सर्ग कर चुके थे! इस दीर्घ-जीवी राष्ट्रनायक ने पूरे इकसठ वर्ष तक हमारे राजनीतिक संग्राम के मोर्चे पर डटे रहकर न केवल हमारी सुषुप्त चेतनाओं को जगाने ही में अग्रिम रूप से भाग लिया, बल्कि पहलेपहल 'स्वराज्य' की प्राप्ति का ध्रुव लक्ष्य उद्घोषित कर हमारे भावी यात्रापथ की लीक प्रस्थापित करने एवं कांग्रेस को केवल शासन-सुधार के लिए प्रयास करनेवाली एक अर्द्ध-सरकारी सभा से राष्ट्रीय आकांक्षाओं की सिद्धि के एक सच्चे रंगमंच में परिणत करने में भी महत्त्वपूर्ण योग दिया! कांग्रेस के इतिहास-कार डा० पट्टाभि सीतारामैया के शब्दों में, 'जो केवल भारत के उत्थान के लिए ही जिया और उसी की मुक्ति के निमित्त अविश्रान्त रूप से परि-श्रम करता रहा, जिसने देश के लिए कभी अपनी लेखनी को विश्राम न दिया और विधाता ने जिसे अपने कार्य की पूर्ति के लिए पचासी वर्ष से भी अधिक आयुष्य दी, उस महापुरुष दादाभाई की अन्यतम देशसेवाओं की समुचित गणना इन परि-मित पंक्तियों में कर पाना कठिन है!' स्व०श्री चिन्ता-मणि के मत में 'वह उन्नीसवीं शताब्दी के हमारे सबसे महान् देशभक्त थे,' और महामान्य गोखले की तो यहाँ तक की धारणा थी कि 'यदि मनुष्य में देवत्व का अंश कभी उद्भासित हुआ हो तो वह था दादाभाई में!' उनकी महानता और देश के कल्याण के लिए उनके हृदय में धधकती रहने-वाली प्रखर ज्वाला का बहुत-कुछ अनुमान हम उनके निम्न ज्वलन्त शब्दों द्वारा कर सकते हैं, जो उन्होंने सन् १९०६ ई० में कलकत्ता के कांग्रेस-अधिवेशन के सभापति-पद से कहे थे—'एक हो जाओ और दृढ़तापूर्वक स्वराज्य-प्राप्ति के लिए निरन्तर प्रयास करते रहो; ताकि उन लाखों प्राणियों की रक्षा हो जो आज दरिद्रता, दुर्भिक्ष और महा-मारी की भेंट हो रहे हैं; उन करोड़ों को रोटी मिले जो पेटभर अन्न भी नसीब न होने के कारण भूखों मर रहे हैं, और भारत एक बार फिर संसार के सर्वश्रेष्ठ सभ्य राष्ट्रों की पंक्ति में बैठकर अपने प्राचीन गौरव और अभिमान का पद प्राप्त कर सके!' कहने की आवश्यकता नहीं कि लगभग आधी शताब्दी का समय बीत जाने पर भी उस राष्ट्र-नायक के ये ओजपूर्ण महावाक्य हमारी राष्ट्रीय वस्तुस्थिति के गंभीरतम सत्य पर प्रकाश डालते हुए आज भी कितने खरे प्रतीत हो रहे हैं और 'स्वराज्य' प्राप्त हो जाने पर भी कितने यथार्थता-पूर्वक हमारे वास्तविक ध्रुव लक्ष्य की उद्घोषणा करते हुए वे हमें अपने सामयिक कर्त्तव्यों को पह-चानने का आदेश दे रहे हैं!

दादाभाई का जन्म ४ सितंबर, सन् १८२५ ई०, के दिन बंबई में आज से लगभग सवा सौ वर्ष पूर्व हुआ था और जैसा कि उनके नाम ही से प्रकट है, वह उस प्रख्यात पारसी-जाति के रत्न थे, जिसने जनसंख्या की दृष्टि से नगण्य होने पर भी इस युग में हमारे राष्ट्रीय गौरव को बढ़ानेवाली न जाने कितनी विभूतियाँ भेंट करने का श्रेय प्राप्त किया है। कहते हैं, जब वह चार साल ही के थे तभी उनके पिता इस लोक से चल बसे थे, फिर भी उनकी शिक्षा-दीक्षा में इस अभाव के कारण कोई त्रुटि न रहने पाई। इसका सारा श्रेय था उनकी आदर्श माता को, जिसने बड़ी लगन के साथ उन्हें पढ़ाया-लिखाया और उस महानता का उनमें बीजारोपण किया, जो आगे चलकर उनके चरित्र में इतने प्रखर रूप से प्रकाशित हुई! उनकी शिक्षा सुप्रसिद्ध एलफ़िन्स्टन कॉलेज में हुई, जो उन दिनों 'एलफ़िन्स्टन इंस्टीट्यूशन' के नाम से पुकारा जाता था, और कालान्तर में वहीं असि-स्टेण्ट हेडमास्टर के पद पर नियुक्त होकर वह क्रमशः गणित तथा प्रकृति-विज्ञान के सीनियर

प्रोफ़ेसर हो गए। इन्हीं दिनों उनके अंतस्तल में उमड़ती हुई देशसेवा की नैसर्गिक भावना ने विविध लोकहितमूलक सार्वजनिक कार्यों में अभिव्यक्ति का मार्ग खोजते हुए पहलेपहल अपना रूप प्रकट करना शुरू किया, जिसका सर्वप्रथम परिचय उन्होंने दिया 'स्टूडेएट्स लिटररी एण्ड सायंटिफ़िक सोसायटी' नामक एक विद्यार्थी-हितकारी साहित्यिक और वैज्ञानिक गोष्ठी की नींव डालकर, जिसके तत्त्वावधान में शीघ्र ही एक पत्रिका भी वह निकालने लगे। तदनंतर उसी की गुजराती और मराठी प्रतिरूपवत् 'ज्ञान-प्रसारक मंडली' नामक एक और संस्था को जन्म देकर उन्होंने मातृभाषा में विचार-विनिमय की प्रवृत्ति जगाने की ओर अपना हाथ लगाया; साथ ही शहर के विविध भागों में कई सार्वजनिक महिला-शिक्षण-केन्द्र खोलकर अवकाश के समय जाकर अवैतनिक रूप से वहाँ पढ़ाने का सेवा-कार्य भी आरंभ किया। यहाँ यह उल्लेख कर देना आवश्यक है कि बंबई में स्त्री-शिक्षा का आरंभ करने का सारा श्रेय पूज्य दादाभाई ही को है—उन्हीं के उद्योग के फलस्वरूप वहाँ की पहली कन्या-पाठशाला खुली थी! बल्कि यह भी कहा जा सकता है कि 'बंबई-एसोसिएशन', 'फ़ामजी-इंस्टीट्यूट', 'पारसी-जिमखाना', 'ईरानी फंड', 'विधवा-विवाह-सहायक संघ,' 'विक्टोरिया एण्ड अल्बर्ट म्यूज़ियम', आदि आदि विविध आरंभिक जनसंस्थाओं के निर्माण में प्रमुख रूप से हाथ बँटाकर उन्होंने ही उस नगर के लोक-जीवन में यथार्थ सार्वजनिक सेवा की पहलेपहल नींव डाली थी! इन्हीं दिनों 'रास्त गोफ्तार' (सत्यवादी) नामक एक गुजराती साप्ताहिक पत्र भी अपने संपादकत्व में उन्होंने निकाला था, जिसके द्वारा नौरोजी फरदूनजी, जे० बी० वाचा, सोराबजी शापुरजी बंगाली आदि समसामयिक पारसी सुधारकों के साथ मिलकर वह ज़ोरों के साथ समाज-सुधार एवं जनजागृति में बढ़ावा देनेवाले विचारों का प्रचार करने लगे थे!

किन्तु अभी तक उनका कार्यक्षेत्र वस्तुतः समाज-संस्कार ही के क्षेत्र तक सीमित था। उन्होंने इस समय तक राजनीति की ओर विशेष रूप से अपना हाथ नहीं बढ़ाया था! तब १८५५ ई० में 'कामा एण्ड कंपनी' नामक एक व्यापारिक संस्था के साझीदार की हैसियत से उसकी लंदन-स्थित शाखा के संचालन के लिए इंगलैएड जाने का मौक़ा पाकर उन्होंने अपने उस प्रोफ़ेसर के पद से त्यागपत्र दे दिया और इस नए क़दम के साथ ही उनके सार्वजनिक जीवन में भी मानों एक नया अध्याय आरंभ हो गया! वह जैसे ही विलायत की भूमि पर उतरे, वैसे ही राजनीतिक स्वच्छन्दता के वातावरण में वैभव और समृद्धि के मारे फूले न समा रहे उस छोटे-से देश के साथ अपनी मातृभूमि के कलेवर में व्याप्त घोर दरिद्रता और परतंत्रता के विरोधाभास का अनुभव कर एकबारगी ही चौंक-से उठे, और उसी क्षण उनके मन में अपनी जन्मभूमि के उद्धार की एक ज़बर्दस्त हूक-सी जग उठी, जो समय बीतते अधिकाधिक प्रबल ही होती गई, दब न पाई। उन्हें अब रात-दिन यही एक चिन्ता लगी रहने लगी कि किस प्रकार इस दिल दहला देनेवाली ग़रीबी और असहायता की शोचनीय दशा से इस महादेश को उबारा जाय—क्योंकर इस आर्थिक दासता के प्राणहारी चंगुल से छुटकारा पाकर पुनः भारत अपने पैरों पर खड़ा होने में समर्थ हो? किन्तु जब इसी प्रकार विचार-मंथन करते-करते गहराई के साथ इस आर्थिक समस्या की तह में पैठकर उन्होंने उसके मूल कारणों का अनुसंधान करना शुरू किया तो यह जानते उन्हें देर न लगी कि वस्तुतः यह समस्या तो केवल एक ऊपरी और गौण समस्या है—हमारी प्रधान समस्या तो है वह घोर राजनीतिक दासता, जिस पर कि हमारी अन्य सभी समस्याएँ आश्रित और निर्भर हैं! वही हमारे दुःख-दैन्य का मूल कारण है—उसी के समाधान पर हमारे सभी प्रश्नों का निराकरण अवलंबित है! और इस प्रकार आर्थिक क्षेत्र के साथ-साथ एकबारगी ही राजनीति के भी आँगन की ओर अब उनके पैर अपने आप ही तेज़ी के साथ बढ़ चले!

लेकिन उनके इस राजनीति-प्रवेश की कहानी को दोहराते समय हमें विशेषतया यह बात न भूल जाना चाहिए कि यह उस ज़माने की बात हम कह रहे हैं जबकि राजनीति के नाम पर हमारे

शिक्षित वर्ग में किसी प्रकार की उग्र चेतना के जागरूक होने की बात तो दूर रही, वस्तुतः उसका ककहरा भी अभी उसके कानों तक ठीक से नहीं पहुँच पाया था! यह हम उन दिनों की बात कह रहे हैं, जबकि कांग्रेस की प्रस्थापना के समय में अभी लगभग तीस वर्ष बाक़ी थे—जबकि तिलक, गोखले, मालवीय, गांधी का जन्म तक नहीं हुआ था और सुरेन्द्रनाथ तथा फ़ीरोज़शाह अभी निरे आठ-दस वर्ष के बालक ही थे! अतएव दादाभाई की उस आरंभिक राजनीति में यदि हमें आज की-सी उग्रता और निर्भीकता के बजाय फूंक-फूंककर क़दम रखने तथा ब्रिटिश न्याय और उदारता की दुहाई देते हुए केवल वैधानिकता की पगडंडी द्वारा शासन-तंत्र में आवश्यक सुधार मात्र कराने की ध्वनि सुनाई पड़े तो एकबारगी ही हमें चौंक न उठना चाहिए। वस्तुतः परिस्थिति और वातावरण को देखते हुए उनके लिए उन दिनों केवल इसी हद तक ही बढ़ना स्वाभाविक था। उन्होंने क्रान्ति का नहीं प्रत्युत शान्ति का मार्ग अपनाया था और सिवाय इसके उन दिनों उनके लिए दूसरा कोई चारा भी न था। हाँ, देश में और भी एक धारा भीतर ही भीतर उन्हीं दिनों गुप्त रूप से उमड़ने लगी थी, जो कि वर्ष दो वर्ष बाद ही सन् सत्तावन की महान् सैनिक क्रान्ति के रूप में अपना प्रलयंकर स्वरूप प्रकट करने में समर्थ हुई, परन्तु दुर्भाग्यवश उनका उससे न तो कोई संसर्ग ही था, और सच कहा जाय तो अपनी विशेष प्रकार की शिक्षा-दीक्षा के कारण उनमें उस महान् विस्फोट का साथ देने की कोई तैयारी भी न थी! जो कुछ भी हो, हमें इस महापुरुष द्वारा अपनाए गए रास्ते को आज के बढ़े-चढ़े राजनीतिक मानदण्ड द्वारा नहीं प्रत्युत उसके अपने ज़माने की वस्तुस्थिति से ही नापकर परखना चाहिए। साथ ही हमें यह भूल न जाना चाहिए कि उसके बाद आनेवाले हमारे अन्य प्रारंभिक नेता भी लगभग पचास वर्ष तक उसी प्रकार की नरम नीति को ही लेकर चलते रहे, जैसी कि उसने पहलेपहल अपनायी थी। वस्तुतः दादाभाई ही क्या हमारे सभी आरंभिक राष्ट्रनायकों का मुख्य काम था अपने भावी महान् संग्राम के लिए एक राजनीतिक चेतना से सुसज्जित कर पहले हमें मोर्चा बाँधने के योग्य बनाना, हमें युद्ध के लिए तैयार करना, न कि एकबारगी ही बिना तैयारी के अंतिम लक्ष्य पर धावा बोल देना। और इस कार्य को जिस खूबी के साथ उन्होंने पूरा कर दिखाया उसी में उनकी महानता का तत्त्व निहित था! वह हमारी राष्ट्रीयता को जगानेवाले अग्रदूत थे, युद्ध-सेनापति नहीं (यह कार्य तो गांधी, जवाहर, सुभाष आदि भावी महान् सेनानियों के लिए ही सुरक्षित था), और इसी रूप में याद करते हुए ही आज उनकी आरती उतारना यथार्थतः समुचित और न्यायसंगत होगा!

हाँ तो, चूँकि परिस्थितियों ने दादाभाई को एक लंबी अवधि तक स्वदेश से दूर विलायत ही में अपना डेरा-तंबू गाड़कर रहने को विवश किया था, अतएव उनके राजनीतिक जीवन का प्रधान कार्य-केन्द्र भी अधिकांश में वहीं रहा और वहीं उन्होंने अपना पहला मोर्चा बाँधा। उन्होंने इंगलैण्ड में पैर जमाते ही 'लंदन इंडियन सोसायटी' और 'ईस्ट इंडियन एसोसिएशन' नामक दो महत्त्वपूर्ण संस्थाओं को जन्म देकर पहले भारत की समस्याओं को प्रकाश में लाने तथा ब्रिटिश जनता की सद्भावनाओं को इस देश के प्रति आकृष्ट करने के लिए एक सार्वजनिक मंच तैयार करने की ओर अपना हाथ लगाया और इस कार्य में साथ देने के लिए सर्वश्री उमेशचन्द्र बेनर्जी, मनमोहन घोष, फ़ीरोज़शाह मेहता आदि कई प्रतिभाशाली उत्साही भारतीय युवकों की एक बढ़िया टोली उन्हें मिल गई, जोकि अपनी पढ़ाई आदि के सिलसिले में उन दिनों इङ्गलैण्ड में आए हुए थे। तब इस मंच पर से भाषणों, ट्रैक्टों, पठित लेखों आदि की एकबारगी ही मानों बौछार-सी आरंभ कर उन्होंने भारत के विषय में पूर्ण अंधकार में लिप्त ब्रिटिश जनहृदय को यहाँ की सहीसही जानकारी कराने और वस्तुस्थिति के यथार्थ चित्रण द्वारा यहाँ की भीषण दरिद्रता, अशिक्षा और नौकरशाही की उसके प्रति अनवरत उपेक्षा की ओर ब्रिटेन के राजनीतिज्ञों तथा पार्लामेण्ट की आँखें खोलने का महान् प्रयास शुरू किया। साथ ही सारे इङ्गलैण्ड का दौरा कर स्थान-स्थान

में भाषणों की धूम-सी बाँधकर तथा पत्र-पत्रिकाओं में भी विवेचनात्मक लेखों की एक झड़ी-सी लगाकर उन्होंने एक ज़ोरदार आन्दोलन अपनी मातृभूमि के उद्धार के लिए उस सुदूर विदेश में खड़ा कर दिया ! इस प्रकार लगातार तेरह-चौदह वर्ष तक एक असीम उत्साह और लगन के साथ वह प्रचार का अपना यह महत्त्वपूर्ण कार्य करते रहे, जिसके द्वारा भारत की पुकार के प्रति न केवल ब्रिटेन के अनेक सहृदय स्वातंत्र्यप्रेमी उदार व्यक्तियों की हार्दिक समवेदना ही उन्होंने प्राप्त कर ली, बल्कि राजनीतिक उत्थान के लिए ज़ोरों के साथ शंखनाद कर अपने देशवासियों को भी सामयिक कर्त्तव्यों को पहचानने तथा मातृभूमि का बंधन छुड़ाने के लिए आगे बढ़ने की एक सशक्त प्रेरणा साथ-ही-साथ वह देते रहे ! तो फिर क्या आश्चर्य था यदि सन् १८६९ ई० में अपनी व्यावसायिक स्थिति में कुछ आर्थिक कठिनाइयाँ पैदा हो जाने के कारण जब कुछ समय के लिए वह वापस स्वदेश आए तो इस भूमि पर उतरते ही उनके स्वागत में स्वदेश का जनहृदय एकबारगी ही उमड़ पड़ा और वह हमारे हृदय के हार बन गए। उनकी महान् सेवाओं के लिए आभार-प्रदर्शन के रूप में तीस हज़ार रुपए की एक थैली जनता की ओर से उन्हें भेंट की गई (जिसकी कौड़ी-कौड़ी उन्होंने पुनः देश के सेवा-कार्य में ही लगा दी), साथ ही महामान्य महादेव गोविन्द रानडे के हाथों बंबई के प्रसिद्ध फ्रामजी कोवासजी इंस्टीट्यूट में उनका एक चित्र भी उद्घाटित किया गया और एक महान् राष्ट्रनायक के रूप में उन्हें सम्मान प्रदान किया गया।

इसके शीघ्र ही बाद भारतीय अर्थ-नीति के संबंध में पार्लामेंट द्वारा नियुक्त 'फॉसेट कमेटी' नामक एक जाँच-समिति के आगे गवाही देने के लिए वह कुछ महीनों के लिए फिर विलायत दौड़े गए और अपने महत्त्वपूर्ण बयान में इस देश की घोर गरीबी के साथ विदेशी शासन द्वारा लादे गए भारी करों तथा व्यर्थ के खर्चों के पहाड़-जैसे बोझ के वैषम्य का विस्तृत आँकड़ों-सहित एक सजीव चित्र खींचकर उन्होंने ब्रिटिश कूटनीतिज्ञों को हक्का-बक्का कर दिया ! उन्होंने अपने प्रगाढ़ अध्ययन के बल पर यह साबित कर दिखाया कि इस देश की औसत सालाना आमदनी प्रति व्यक्ति २०) रु० से अधिक नहीं है, अर्थात् प्रत्येक स्त्री-पुरुष के हिस्से में औसत केवल साढ़े तीन पैसे रोज़ ही आते हैं, फिर भी उसमें से ३) रु० वार्षिक अर्थात् १५ प्रतिशत हिस्सा करों के रूप में सरकार खींच लेती है ! कहने की आवश्यकता नहीं कि इस प्रकार अपनी शोषण-नीति की पोल खुलते देखकर गोरी नौकरशाही के हिमायती एकबारगी ही बौखलाकर उन पर टूट-से पड़े, जिससे कि दादाभाई का उनके साथ एक प्रचण्ड वाक्युद्ध छिड़ गया ! पर वह इस तरह मात खा जानेवाले जीव न थे। उन्होंने शीघ्र ही 'भारत की गरीबी' शीर्षक एक पैम्फ़लेट निकालकर सूक्ष्म आँकड़ों-सहित बारीकी के साथ इस समस्या का विश्लेषण करते हुए सदा के लिए भारतीय शासन-तंत्र की बुराइयों का पूरी तरह भंडाफोड़ कर दिया और उनकी इन प्रकाण्ड प्रस्थापनाओं का इतना अधिक प्रभाव पड़ा कि निकट भविष्य ही में गवर्नमेण्ट को अंत में इस देश की भयानक दरिद्रता का प्रकट सत्य स्वीकार करने के लिए विवश होना पड़ा ! वस्तुतः इस समस्या को लेकर जो प्रस्थापनाएँ हमारे आर्थिक अध्ययन के क्षेत्र में पूज्य दादाभाई ने आज से पचहत्तर वर्ष पहले प्रस्तुत की थीं वे कालान्तर में इस विषय के समस्त भावी अनुसंधान और परिगणना की मानों एक आधार-शिला-सी बन गईं, और उनमें आज भी भारतीय अर्थशास्त्र के विद्यार्थी को अध्ययन की बहुत-कुछ उपयोगी सामग्री मिल सकती है। इस प्रकार यह वृद्ध राष्ट्रनायक न केवल इस देश की आधुनिक राजनीति के पहले सक्रिय अग्रदूत ही के रूप में प्रत्युत अर्थविज्ञान के क्षेत्र में भी पहला मोर्चा बाँधनेवाले एक महारथी के रूप में सामने आया, जिसके लिए युग-युग तक हमारे इतिहास में उसकी वंदना की जाती रहेगी।

तब १८७४ ई० में वापस स्वदेश आने पर लगभग दो वर्ष तक बड़ौदा-राज्य की दीवानगिरी करने के उपरान्त तत्कालीन वायसराय लार्ड लिटन की प्रतिगामी दमन-नीति से खिन्न होकर दादाभाई बहुत दिनों तक सक्रिय राजनीति से अलग हटकर

एक प्रकार का विश्रान्ति का ही जीवन व्यतीत करते रहे, सिवाय इसके कि बंबई के म्युनिसिपल कारपोरेशन के सदस्य के नाते अपने नगर की उन्नति के प्रयासों में वह इस बीच यथासाध्य योग देते रहे। परन्तु इस समय तक आते-आते कुछ तो देश-काल के परिवर्त्तन के अनुसार होनेवाली नैसर्गिक क्रिया-प्रतिक्रियाओं के फलस्वरूप और कुछ उनके ही जैसे हमारे अन्य अनेक उदीयमान राष्ट्रकर्म्मियों के आरंभिक प्रयासों के प्रभाव से तत्कालीन भारतीय शिक्षित समाज में भीतर ही भीतर राजनीतिक भूख और जागृति की एक प्रबल लहर उद्वेलित होने लगी थी और अनेक सच्चे देशभक्तों के मन में ज़ोरों के साथ इस बात की कामना उठने लगी थी कि किसी न किसी प्रकार देश की बिखरी हुई राजनीतिक भावनाओं को समेटकर एक ऐसे मंच की नींव डाली जाय, जिस पर कि इकट्ठा हो कम-से कम एक ही जगह मिल-जुलकर सारे देश के हित की बात सोची-विचारी जा सके! और इसी भावना ने अंत में १८८५ ई० के अंतिम दिनों में उस महान् जनसंस्था कांग्रेस को जन्म दिया, जो कि आगे चलकर इस देश की एकमात्र राष्ट्रवेदी बन गई! यहाँ यह उल्लेख करना आवश्यक है कि यद्यपि इस महान् संस्था की नींव डालने का मुख्य श्रेय श्री एलेन ऑक्टेवियन ह्यूम नामक एक अवसरप्राप्त भारतहितैषी अंग्रेज़ सिविलियन को ही दिया जाता है तथापि हमारे चरितनायक दादाभाई का भी कल्पना-जगत् के एक कोरे विचार से उसे मूर्त्तिमान् स्थूल रूप प्रदान करने में कोई कम महत्त्वपूर्ण हाथ नहीं था। उन्होंने बंबई के प्रसिद्ध गोकुलदास तेजपाल संस्कृत कॉलेज के भवन में २८ दिसंबर, सन् १८८५ ई०, के दिन होनेवाले इस महासभा के प्रथम ऐतिहासिक अधिवेशन में पूरे उत्साह के साथ भाग लिया था, और अगले वर्ष के कलकत्ता-अधिवेशन में तो उन्हीं को उसके सभापतित्व का मुकुट पहनना पड़ा था! यहाँ हमारा प्रयोजन कांग्रेस के इतिहास और उसके विकासक्रम की रूपरेखा को दोहराने का नहीं है, फिर भी जानकारी के लिए उन विशिष्ट व्यक्तियों के नामों को गिनाना अप्रासंगिक न होगा, जिन्होंने कि उसकी प्रथम महत्त्वपूर्ण बैठक में भाग लेकर हमारी राष्ट्रीयता की नींव डालने के कार्य में हाथ बँटाया था। ये महापुरुष थे—सर्वश्री उमेशचन्द्र बेनर्जी (प्रथम अधिवेशन के सभापति), दादाभाई नौरोजी, एस० सुब्रह्मण्य ऐयर, काशीनाथ त्र्यंबक तैलंग, आर० रघुनाथराव, महादेव गोविन्द रानड़े, पी० आनन्द चार्लु, बहरामजी मलाबारी, नारायण गणेश चन्दावरकर, गंगाप्रसाद वर्मा, दिनशा वाचा, फ़ीरोज़शाह मेहता, गोपाल गणेश आगरकर, पी० रंगैया नायडू, लाला बैजनाथ, एम० वी० राघवाचार्य, केशव पिल्लै, नरेन्द्रनाथ सेन, और ऑक्टेवियन ह्यूम। साथ ही इस बात को भी व्यक्त कर देना असंगत न होगा कि अपने जन्म के साथ ही कांग्रेस आज की तरह कोई उग्र क्रान्तिकारी कार्यक्रम लेकर सामने न आई थी—उसका इस दिशा में विकास तो बहुत धीरे-धीरे और काफ़ी आगे चलकर ही हुआ। पहले तो विशेष रूप से शासन-सत्ता के सहयोग ही की डोर पकड़कर वह चली थी। यही कारण था कि आरंभिक दिनों में अनेक सरकारी कर्मचारियों यहाँ तक कि गवर्नरों और वायसरायों तक का सहयोग उसे प्राप्त हुआ था! उन दिनों उसका दृष्टिकोण हमारे पिछले दिनों के लिबरल नेताओं का-सा ही था। प्रायः ब्रिटिश न्याय और उदारता की दुहाई दी जाती थी और इंगलैण्ड में स्थित पार्लामेंट के आगे अपील-विनती कर आवेदन-निवेदन द्वारा ही राष्ट्रीय आकांक्षाओं की पूर्त्ति करने के स्वप्न देखे जाते थे। इस मृगमरीचिका में कांग्रेस बहुत लंबे अरसे तक उलझी रही और स्वभावतः दादाभाई भी अपने अन्य अनेक समकालीन नेताओं की भाँति उससे मुक्त न रहे। उनके भी मन में अन्य अनेक आरंभिक नेताओं की भाँति ब्रिटिश न्याय और प्रजासत्तावादिता के प्रति एक अनन्य श्रद्धा और विश्वास का भाव समाया हुआ था। वह यही मानते थे कि भारत के दुःख-दैन्य का कारण केवल स्थानीय नौकरशाही की वे बुराइयाँ ही हैं, जिनके कारण इस देश की स्थिति बिगड़ने में सहायता मिल रही है—वह ब्रिटिश पार्लामेंट को इसके लिए दोषी क़रार नहीं देते थे। उनकी तो धारणा थी कि भारत की यह दीनावस्था बहुत-कुछ केवल इसीलिए है कि ब्रिटिश जनता और पार्लामेंट दोनों ही इस देश

की वस्तुस्थिति के बारे में एकदम अंधकार में हैं—उन्हें यहाँ की घोर ग़रीबी और अधगोरी नौकरशाही द्वारा उसकी निरन्तर अवहेलना के संबंध में कुछ भी जानकारी नहीं है। किन्तु यदि सही रीति से उन्हें इस देश की वास्तविक दशा का ज्ञान कराकर सुधार की माँग की जाय तो ब्रिटिश चरित्र की जन्मजात उदारता को देखते हुए हमें अपने निजी गृह-प्रबंध के कार्य में पूरा हिस्सा बँटाने का अधिकार मिलने में कठिनाई न होगी! और इसी युक्ति के आधार पर वह कहा करते थे कि भारत के उद्धार के लिए यहाँ से भी अधिक ज़ोरों के साथ विलायत में आन्दोलन मचाना आवश्यक है। वह इंगलैण्ड को अपना प्रधान युद्ध-क्षेत्र मानते थे और अब तो पार्लामेण्ट तक में प्रविष्ट होकर वहाँ अपना मोर्चा बाँधने की तैयारी में वह लगे थे!

अतः कुछ दिनों तक अपने प्रान्त की व्यवस्थापिका सभा के सदस्य के रूप में देश के सेवा-कार्य में भाग लेने के बाद सन् १८८६ ई० में, अर्थात् कांग्रेस की प्रस्थापना के कुछ ही महीने उपरान्त, वह पुनः विलायत जा पहुँचे और इस बार सचमुच ही पार्लामेंट की मेम्बरी के लिए खड़े होकर वहाँ के चुनाव के अखाड़े में खम ठोंककर वह उतर पड़े। यद्यपि पहली बार के इस प्रयास में विजय का सेहरा उन्हें प्राप्त न हो सका, फिर भी अपने प्रतिस्पर्द्धी उम्मीदवार के ३६५१ वोटों के मुक़ाबले में १९५० वोट पाने में वह सफल रहे, जो कि उन जैसे परदेशी के लिए कोई मामूली बात न थी! इसी बीच कलकत्ता-कांग्रेस के सभापतित्व के लिए कुछ महीनों के लिए उन्हें वापस स्वदेश आना पड़ा। पर शीघ्र ही वह पुनः इंगलैण्ड लौट गए और लगभग पाँच वर्ष तक निरंतर उद्योग द्वारा अपने पक्ष में उपयुक्त वातावरण पैदाकर अंत में सन् १८९२ ई० में वह पुनः चुनाव में खड़े हो गौरव के साथ पार्लामेंट में प्रविष्ट होने में सफलीभूत हो गए! तो फिर क्या पूछना था—सारा भारत उनकी इस असाधारण विजय से मानों फूला न समाया और दूसरे ही वर्ष लाहौर के अधिवेशन में पुनः कांग्रेस के सभापति का आसन प्रदान कर अपने इस महान् सपूत के प्रति उसने अपना गर्वयुक्त सम्मान का भाव प्रकट किया! कहते हैं, जब इस अधिवेशन में सम्मिलित होने के लिए दादाभाई विलायत से स्वदेश वापस आए थे तो बंबई से लाहौर तक रास्ते भर उनका अभूतपूर्व स्वागत किया गया था और लाहौर पहुँचने पर तो लोगों ने स्वयं अपने हाथों से उनकी गाड़ी को खींचकर उनका जुलूस निकाला था! उनके इस अद्वितीय सत्कार का उल्लेख करते हुए सर विलियम हंटर ने लिखा था कि एकाध मौक़े के अलावा शायद ही कभी किसी वाइसराय का भी भारत-आगमन के अवसर पर ऐसा स्वागत हुआ हो जैसा कि दादाभाई का इस समय हुआ था!

इसके बाद स्वभावतः ही कई दिनों के लिए हमारे चरितनायक का मुख्य कार्यक्षेत्र पार्लामेंट का ही आँगन बना रहा और अपने इस कार्यकाल में उन्होंने भारतहितैषी सर विलियम वेडर्बर्न तथा अन्य मित्रों के सहयोग से 'इंडियन पार्लामेंटरी कमेटी' नामक एक समिति की रचना कर भारतीय समस्याओं के प्रति पार्लामेंट के सदस्यों का ध्यान खींचने का महत्वपूर्ण प्रयास किया! इन्हीं दिनों, सन् १८८६ ई० में, भारतीय शासन-ख़र्च के संबंध में नियुक्त 'वेल्बी-कमीशन' नामक एक शाही जाँच-कमीशन के सदस्य के रूप में भी उन्होंने देश-सेवा का मूल्यवान् कार्य किया! उन्होंने स्वयं उसके आगे एक ज़ोरदार गवाही दी और डंके की चोट पर इस बात को घोषित कर दिया कि 'भारत में ब्रिटिश शासन की जो सबसे बड़ी बुराई है वह है उसके द्वारा इस देश का वह निरन्तर आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक शोषण, जो कि किसी भी विदेशी सत्ता का एक अवश्यंभावी परिणाम होता है।' इसी प्रकार सन् १८९८ ई० में भारतीय मुद्रा-नीति के संबंध में नियुक्त एक सरकारी कमेटी के भी समक्ष दो महत्त्वपूर्ण लिखित बयान उन्होंने दिए थे। पर उनके इस प्रवासकाल का सबसे अधिक महत्त्व का रचनात्मक कार्य यदि कोई था तो वह था सन् १९०२ ई० में 'भारत की घोर ग़रीबी और उसका अ-ब्रिटिश कुशासन' शीर्षक उनकी उस प्रख्यात पुस्तक का प्रकाशन, जो कि आगे चलकर भारतीय अर्थ-विज्ञान और शासन-संबंधी आलोचना की एक पाठ्यपुस्तक-सी बन गई! इस

ग्रंथ की प्रस्तावना में उन्होंने खुलकर इस बात की घोषणा कर दी थी कि 'भारत का वर्त्तमान शासन-तंत्र इस देश के लिए तो घोर निरंकुशतापूर्ण और विनाशकारी है ही, पर साथ ही साथ स्वयं ब्रिटेन के लिए भी वह अशोभनीय और आत्मघातमूलक है।' सच तो यह था कि उन्हें विदेशी नौकरशाही की वह स्वेच्छाचारितापूर्ण नीति इतनी अधिक असह्य हो उठी थी कि इन्हीं दिनों पेरिस के एक पत्र-संवाददाता से भेंट करते समय उनके अंतस्तल से निम्न रोषपूर्ण वाक्य निकल पड़े थे। उन्होंने कहा था—'हमारे यहाँ लोगों के साथ एकदम गुलामों का-सा बर्त्ताव किया जाता है और सबसे भद्दी बात तो यह है कि हमारे ये मालिक हमारे अपने देश के नहीं बल्कि सात समुंदर पार के विदेशी हैं!' कहते हैं, जब सन् १९०५ ई० में एम्स्टर्डम में होनेवाली सोशल डिमाक्रेटों की एक अंतर्राष्ट्रीय परिषद् में उन्होंने भारत के प्रतिनिधि की हैसियत से भाग लिया था तो वहाँ भी ज़ोरदार शब्दों में अपने देश के वर्त्तमान शासनतंत्र के प्रति निन्दा का एक प्रस्ताव रखकर अस्सी वर्ष की उस वृद्धावस्था में भी ऐसी हुंकार उन्होंने भरी थी कि सब कोई सुनकर दंग रह गए थे!

तब आया सन् १९०६ ई० का वह मशहूर कलकत्ता-कांग्रेस का अधिवेशन, जब कि देश ने तीसरी बार राष्ट्रपति का आसन प्रदान कर इस वृद्ध लोकनायक के प्रति अपनी अगाध श्रद्धा प्रकट करते हुए पुनः राष्ट्र की पतवार सँभालने के लिए उसका आह्वान किया, और यह केवल उसी का बूता भी था कि उस विषम संकट की घड़ी में उस काँटों के मुकुट को फिर से पहनना उसने स्वीकार कर लिया! यह वह समय था, जबकि लार्ड कर्ज़न की अदूरदर्शी दमननीति के कारण देश के राजनीतिक वायुमंडल में एक अभूतपूर्व क्षोभ की भावना का संचार हो चुका था और हमारी राष्ट्रीयता में एक मार्मिक उद्वेलन, एक उग्र भावावेश, का ज्वार उमड़ने लगा था! यह था बंग-भंग के कारण समुच्छ्वसित स्वदेशी-आंदोलन और विदेशी बहिष्कार की तूफ़ानी आँधी का ज़माना, जबकि सन् सत्तावन की महाक्रान्ति के बाद भारतीय पौरुष विदेशी शासन-सत्ता के विरुद्ध तनकर खड़ा होने के लिए मानों खम ठोककर पहलेपहल मैदान में आया था! कहने की आवश्यकता नहीं कि इस समय तक कांग्रेस के मंच पर 'गरम' (उग्र क्रान्तिकारी नीति का समर्थक) और 'नरम' (उदारनीतिधर्मी) ऐसे दो विभिन्न दल बन चुके थे और उनके मतभेद की खाई दिन-पर-दिन इस प्रकार बढ़ती-चढ़ती चली जा रही थी कि उसके आँगन में एक गृहयुद्ध का सा वातावरण पैदा हो गया था! ऐसी विषम संकट की घड़ी में सिवा दादाभाई के दूसरा कोई भी ऐसा व्यक्तित्व हमारे राजनीतिक क्षेत्र में उस समय न था जो कि दोनों दलों को साथ लेकर कांग्रेस की नौका को उस तूफ़ान में से सकुशल पार लगा ले जाता, और वस्तुतः उन्हीं का यह प्रभाव था कि कलकत्ता का वह अधिवेशन उस पारस्परिक संघर्ष का कुरुक्षेत्र बनने से बाल-बाल बच गया, जो कि अगले ही वर्ष सूरत की तूफ़ानी कांग्रेस में अपना उग्र रूप प्रकट किए बिना आख़िर न रह सका! इसी ऐतिहासिक अधिवेशन में पहलेपहल उस महत्त्वपूर्ण शब्द 'स्वराज्य' का कांग्रेस के मंच पर से उन्होंने मंत्रोच्चार किया था, जो कि आगे चलकर हमारी राजनीतिक आकांक्षाओं का ध्रुव-बिन्दु बन गया! साथ ही एकता की आवश्यकता की आवाज़ बुलंद करते हुए इस देश के दरिद्रनारायण की मुक्ति की वह पुकार भी, जिसका कि कुछ अंश हम पिछले पृष्ठों में स्वयं उन्हीं के शब्दों में प्रस्तुत कर चुके हैं, उन्होंने इसी समय उद्घोषित की थी। परन्तु यहीं आकर मानों उनका अपना कार्य समाप्त हो गया, क्योंकि अब भारतीय राष्ट्रीय जागरण की एक मंज़िल— उसकी बाल्यावस्था किनारे आ लगी थी और दूसरी मंज़िल के आरंभ होने की बहुत-कुछ तैयारी होने लगी थी। अब पग-पग पर नरमाई की भावना से काम लेनेवाले मॉडरेटों के लिए क्रमशः नेपथ्य ही की ओट में खिसक चलने का समय आ पहुँचा था और हमारे राजनीतिक क्षितिज पर प्रखर रूप से तिलक और लाजपतराय जैसे उग्र लोकनायकों का व्यक्तित्व अधिकाधिक निखरता दिखाई देने लगा था। और दादाभाई के लिए तो वस्तुतः अब अपनी जीवन-लीला के भी पटाक्षेप की घड़ी

समीप आ लगी थी ! इसीलिए यद्यपि ८१ वर्ष की उस वृद्धावस्था में भी पुनः एक बार वह विलायत गए, परन्तु शरीर के साथ न दे सकने के कारण अंत में वापस आकर बम्बई के समीप वरसोवा नामक ग्राम को ही उन्हें अपना आखिरी विश्राम-स्थल बना लेना पड़ा ! यहीं उन्होंने अपने जीवन के शेष बारह वर्ष बिताए और उनके इस जीवन-संध्याकाल में भी प्रायः भारत के समसामयिक राष्ट्र-नेता समय-समय पर उनके उस तीर्थसम विश्रामस्थल की यात्रा कर उनके दर्शन एवं पथ-प्रदर्शन का लाभ उठाते रहे ! इन्हीं दिनों बम्बई-विश्वविद्यालय ने उन्हें सम्मानपूर्वक 'डॉक्टर ऑफ़ लॉज़' की उपाधि दे अपने आपको गौरवान्वित किया और धूमधाम के साथ देश भर में उनकी ९१वीं वर्षगाँठ मनाई गई ! परन्तु अंत में उनके उस दीर्घ जीवन की लम्बी डोर का छोर आ पहुँचा और ३० जून, सन् १९१७ ई०, के दिन आखिर बम्बई में ९२ वर्ष की आयु में सदा के लिए उन्होंने अपनी आँखें मूँद लीं !

इस प्रकार अपने युग का न केवल भारत ही का प्रत्युत सारे संसार का एक अन्यतम महापुरुष इस देश से उठ गया ! दादाभाई का जीवन क्या था मानों हमारे आधुनिक इतिहास के पुनर्जागरण-युग के पूर्वार्द्धकाल का एक सजीव आलेख था ! उनका जन्म हुआ था राजा राममोहनराय के विलायत के लिए रवाना होने के समय से भी पाँच वर्ष पहले और उनकी मृत्यु हुई गांधीजी के अफ्रीका से लौटकर इस भूमि पर पदार्पण करने के भी लगभग ढ़ाई-तीन वर्ष बाद ! इस प्रकार क़रीब-क़रीब एक शताब्दी भर हमारे इतिहास के आधुनिक पर्व के उतार-चढ़ाव का क्रम अपनी आँखों से देखने और स्वयं भी उसके निर्माण में गहराई के साथ हाथ बँटाने का दुर्लभ अवसर उन्हें मिला ! उन्होंने एक ही धाराप्रवाह में राम-मोहन द्वारा पश्चिम के मार्ग के उद्घाटन तथा दयानन्द, रामकृष्ण, देवेन्द्र-केशव एवं विवेकानन्द-रामतीर्थ द्वारा हमारे धर्म और समाज के महा-संस्कार के अनुष्ठान से लेकर साहित्य-कला-विज्ञान के क्षेत्र में बंकिम, रवीन्द्र, अवनीन्द्र और जगदीशचन्द्र जैसी विभूतियों के आविर्भाव एवं स्वतः अपने कर्मक्षेत्र—राजनीति के आँगन—में भी सन् सत्तावन की महाक्रान्ति से लेकर कांग्रेस के उदय और उसके मंच पर क्रमशः सुरेन्द्रनाथ, तिलक, गोखले, मालवीय, लाजपतराय और गांधी जैसे कर्णधारों के प्रवेश तक सभी कुछ एक महा-प्रहरी की भाँति देखने-परखने का सौभाग्य पाया ! तो फिर क्या आश्चर्य था कि हमारे पुनरुज्जीवन के ज्वार में पूरी तरह सराबोर हो वह स्वयं भी उस सुदीर्घ महायज्ञ के एक उद्भट पुरोहित बन गए, जिसका कि आज भी अंत नहीं हो पाया है ! दादाभाई का काम था वस्तुतः हमारे भावी राष्ट्रीय उत्थान के लिए केवल उपयुक्त भूमि तैयार कर देना, एक कुशल कृषक की भाँति हाँक-जोतकर हमारे राजनीति की ज़मीन को इस योग्य बना देना कि आगे आनेवाली पीढ़ी उसमें सहज ही अपनी फ़सल उपजा सके। और उन्होंने न केवल हमारे लिए वह खेत ही तैयार कर दिया, बल्कि उसमें राष्ट्रीयता का बीजारोपण भी कर हमारे कार्य को और भी आसान बना दिया। वह लोकमान्य तिलक और गांधीजी से पहले के युग के हमारे सबसे महान् राजनेता थे, जिस रूप में कि युग-युग तक हमारे इतिहासकारों द्वारा उनकी विरुदावली गाई जाती रहेगी, इसमें रंच मात्र भी संदेह नहीं !

दादाभाई ही के साथ-साथ और भी जो अन्य अनेक महान् राष्ट्रीय अग्रनेता पुनरोदय की पताका लेकर नवजागरण की उस ब्राह्मवेला में क्रमशः सामने आए थे, उनमें सर्वश्री बाल गंगाधर तिलक, सुरेन्द्रनाथ बेनर्जी, गोपाल कृष्ण गोखले और मदनमोहन मालवीय जैसे उन महान् लोकनायकों के अतिरिक्त, जिन्हें कि आगे के कुछ प्रकरणों में हम अलग से श्रद्धांजलियाँ अर्पित करने जा रहे हैं, सबसे उल्लेखनीय नाम हमारे सन्मुख यदि कोई आता है तो वह है महाराष्ट्र की आरंभिक जागृति के केन्द्रस्वरूप, महान् समाज-सुधारक, उद्भट राजनीतिज्ञ एवं प्रखर अर्थशास्त्री न्यायमूर्त्ति महादेव गोविन्द रानडे का, जिनके कि प्रति अपने अतुल राष्ट्रीय ऋण का इन परिमित पंक्तियों में पूरा लेखा दे पाना असंभव है। महामति रानडे अपने युग की भारतीय राजनीति के एक

प्रकार से गुरु थे और यद्यपि सरकारी नौकरी की बेड़ियों में जकड़े रहने के कारण वह अपने अन्य समकालीन राष्ट्रीय कार्यकर्त्ताओं की भाँति खुल-कर हमारे राजनीतिक अखाड़े में उतरते नहीं देखे गए, फिर भी यह सब की जानी हुई बात थी कि बरसों क्या राजनीति और क्या समाज-सुधार, दोनों ही के रंगमंच पर यवनिका की ओट से यथार्थतः सूत्र-संचालन करनेवाले व्यक्ति वही थे! उनकी महानता का इससे अधिक ज्वलन्त प्रमाण और क्या चाहिए कि उनके सबसे प्रबल राजनीतिक प्रतिपक्षी लोकमान्य तिलक तक के मुख से उनकी प्रशंसा में कालान्तर में निम्न उल्लेखनीय वाक्य निकल पड़े थे—'महाराष्ट्र का तेज विविध कारणों से नष्ट होकर एकदम ठंडे गोले की तरह बन गया था। उसे चैतन्यमय बनाकर पूर्वावस्था तक पहुँचाने की रात-दिन चिन्ता करने के साथ-साथ उस कठिन कार्य को अपने सिर पर लेने और उसके लिए प्राणपण से चेष्टा करनेवाले सबसे पहले वीर महादेवरावजी ही थे।' तिलक उन्हें ज्ञानवेत्ता की दृष्टि से प्रायः हेमाद्रि अथवा माधव जैसे पूर्वाचार्यों की उपमा दिया करते थे! यह महामनीषि कांग्रेस के तो आदि जन्म-दाताओं में से थे ही, साथ ही प्रार्थना-समाज, सार्वजनिक सभा, वसंत-व्याख्यान-माला, वक्तृत्वो-त्सव, औद्योगिक परिषद्, आदि, आदि, और भी न जाने कितनी ही समसामयिक हलचलों की तह में उनका गुप्त अथवा प्रकट रूप से हाथ था, और यदि उनकी अन्य सभी देनों को हम भूल भी जाएँ तो भी क्या हमारे लिए यह भूलना कभी संभव हो सकेगा कि उन्हीं से हमें महामना गोखले जैसे अद्वितीय राष्ट्रनायक का वरदान प्राप्त हुआ था! जैसा कि एक पाश्चात्य समीक्षक ने उन्हें श्रद्धांजलि चढ़ाते हुए कहा था, सचमुच ही वह एक ऐसे रत्न थे, जिसे पाने का सौभाग्य सौ वर्ष की अवधि में केवल एकाध बार ही किसी देश को होता है। उनकी प्रधान विशेषता थी वह असाधारण अध्यवसायवृत्ति तथा किसी भी दशा में विचलित न होनेवाली धीरबुद्धि, जिसके बल पर पेचीदा से पेचीदा तथा अत्यन्त रूखे प्रश्नों तक का गहराई के साथ गहन अध्ययन करने में वह समर्थ हो पाते थे। हमें खेद इस बात का है कि स्थानाभाववश इस महान् राष्ट्र-विभूति का अधिक विस्तृत जीवन-परिचय यहाँ प्रस्तुत करने में हम असमर्थ हैं, अन्यथा उसके चरित्र में महानता की ऐसी रश्मियाँ प्रस्तुत हैं कि युग-युग तक के लिए हमारे लिए वे एक प्रकाशबिम्ब का काम दे सकती हैं।

रानडे की ही तरह इस उदयकाल के महान् नक्षत्रों में से अन्य एक व्यक्तित्व, जिसका कि प्रकाश बलपूर्वक हमारा ध्यान अपनी ओर खींचकर हमारी आँखों में चकाचौंध पैदा कर देता है, बंबई के ख्यातनामा नगर-पिता सर फ़ीरोज़शाह मेहता का है, जिन्होंने लगभग पच्चीस वर्ष तक हमारे राजनीतिक क्षितिज पर एक आकाशदीप की भाँति अपना आलोक बखेरते हुए गौरव के साथ हमारा पथ-दिग्दर्शन किया तथा बाल्यावस्था की उस स्थिति में कांग्रेस की नैया को आगे बढ़ाने के कार्य में आरंभकाल के अन्य नेताओं से किसी दर्जे कम महत्त्वपूर्ण योग न दिया! उन्होंने ही कांग्रेस के छठे अधिवेशन का सभापति-पद ग्रहण किया था और यद्यपि राजनीति के क्षेत्र में जीवन भर वह शत-प्रति-शत एक मॉडरेट या नरम नीतिवाले नेता ही रहे, तथापि उनके व्यक्तित्व में ऐसा कुछ प्रभाव था कि जब तक वह मैदान में रहे शत्रु और मित्र सभी पर उनकी एक अजीब धाक-सी पड़ती रही! गांधीजी ने अपनी 'आत्मकथा' में जहाँ लोकमान्य तिलक की 'महासागर' से और गोखले की 'भागीरथी गंगा' की धारा से तुलना की है वहाँ फ़ीरोज़शाह को उन्होंने दुर्गम 'हिमालय' के उच्च शिखर के तुल्य बताकर उनके प्रति अपना सम्मान प्रकट किया है। निश्चय ही यह महापुरुष अपने युग का एक दिग्गज राजनेता था, जिसके व्यक्तित्व में पंडित मोतीलाल की तरह एक प्रकार का शाहीपन-सा टपकता था। वह था दादाभाई के बाद होनेवाला सबसे महान् पारसी, जो गर्व के साथ कहा करता था कि 'मैं हूँ सर्व-प्रथम एक भारतीय और उसके बाद एक पारसी!' फ़ीरोज़शाह का राजनीतिक क्षेत्र से भी अधिक महत्त्वपूर्ण और स्थायी ख्याति का काम था बंबई के म्युनिसिपल क्षेत्र के अंतर्गत किया गया उनका

वह सेवा-कार्य, जिसकी बदौलत आज उस नगर के सबसे महान् नगर-पिता के रूप में उनकी याद की जाती है। यदि यह कहा जाय कि आधुनिक बंबई उन्हीं के दूरदर्शितापूर्ण ठोस प्रयासों का सुफल है तो कोई अत्युक्ति न होगी। उन्होंने न केवल उस नगर के पार्थिव कलेवर को ही एक सुघड़ रूप देने तथा उसकी वृद्धि का मार्ग प्रशस्त करने में अमूल्य योग दिया, प्रत्युत उसके सार्वजनिक जीवन को भी एक ऊँचे स्तर तक ऊपर उठाने में अपने महान् शिक्षागुरु दादाभाई की भाँति अनवरत परिश्रम किया! अपने नगर के म्युनिसिपल कार्पोरेशन के अलावा बंबई-विश्वविद्यालय की उन्नति और वृद्धि-विकास के लिए भी, जिसके कि कुछ समय तक वह वाइस-चांसलर रहे, उन्होंने भरसक परिश्रम किया था और अर्धगोरे 'टाइम्स आफ़ इंडिया' के मुक़ाबले में सुप्रसिद्ध 'बंबई क्रॉनिकल' नामक दैनिक पत्र की प्रस्थापना कर एक ज़बर्दस्त राष्ट्रीय मोर्चा न केवल बंबई के नागरिकों के लिए ही बल्कि सारे देश के हितार्थ उन्होंने खड़ा कर दिया था! इसी प्रकार उद्योग-धंधों के क्षेत्र में भी सुप्रसिद्ध 'सेंट्रल बैंक आफ़ इंडिया' उनकी प्रेरणा से प्रस्थापित एक उज्ज्वल स्मारक-आलेख है! सारांश यह कि हर दृष्टि से यह उद्भट महापुरुष अपने युग का हमारा एक सबल राष्ट्रनेता था और यदि आज इस देश के आधुनिक राष्ट्रीय जागरण के अग्रदूतों की श्रेणी में हम उसे प्रथम पंक्ति में प्रतिष्ठित देखते हैं तो यह सर्वथा उसके व्यक्तित्व और देन के उपयुक्त ही है।

इन दो विशेष रूप से उल्लेखनीय विभूतियों के अलावा हमारे आरंभिक राष्ट्र-निर्माताओं की लंबी तालिका में जोड़े जाने योग्य न जाने कितने ही लोकनेताओं के नाम और बाक़ी हैं, जिनके कि प्रति अपने अगाध राष्ट्र-ऋण को न तो हम कभी भुला ही सकेंगे और न कभी पूरी तरह उस ऋण को चुका ही पाएँगे—उदाहरणार्थ, कांग्रेस की प्रस्थापना के महत्कार्य में प्रमुख रूप से हिस्सा बँटाकर उसके प्रथम सभापति का आसन सुशोभित करनेवाले उद्भट राजनीतिज्ञ उमेशचन्द्र बेनर्जी; दादाभाई ही की तरह दीर्घ आयुष्य पाकर कांग्रेस के मंच पर से देश के उत्थान के लिए निरन्तर प्रयास करते रहनेवाले उसके सत्रहवें अधिवेशन के सभापति सर दिनशा ईदुलजी वाचा; अपनी निर्भीक वाणी और सचोट देशभक्ति द्वारा इस महादेश के दक्षिणी भाग में सर्वप्रथम जागृति का मंत्र फूँकनेवाले कांग्रेस के क्रमशः सातवें और पैंतीसवें अधिवेशनों के सभापति पी० आनन्द चार्लू तथा चक्रवर्त्ती विजयराघवाचार्य; भारत के हृदय-प्रदेश संयुक्तप्रान्त में पहलेपहल राजनीति का बीज बोनेवाले सर्वश्री अयोध्यानाथ, विश्वंभरनाथ और गंगाप्रसाद वर्मा; अपनी अद्वितीय प्रतिभा के बल पर ब्राह्म-समाज और कांग्रेस दोनों ही की वेदी पर से समान रूप से चमकनेवाले चौदहवें कांग्रेस-अधिवेशन के सभापति आनंदमोहन वसु; कांग्रेस की प्रस्थापना से भी पूर्व सार्वजनिक क्षेत्र में उतरकर दादाभाई, फ़ीरोज़शाह और उमेशचन्द्र बेनर्जी द्वारा विलायत में आरंभ किए गए भारत-संबंधी आरंभिक प्रचार-आंदोलन में महत्त्वपूर्ण योग देनेवाले मनमोहन घोष; अपनी बेजोड़ वक्तृत्व-शक्ति द्वारा सुरेन्द्रनाथ जैसे दिग्गज वक्ता तक से भी टक्कर लेने का सामर्थ्य रखनेवाले कांग्रेस के उन्नीसवें अधिवेशन के सभापति लालमोहन घोष; जीवन भर सरकारी नौकरी की शृंखलाओं में बँधे रहने पर भी अनवरत राष्ट्र-सेवा तथा साहित्याराधना द्वारा मातृभूमि का मुख उज्ज्वल करनेवाले बंगाल के अन्यतम सितारे रमेशचन्द्र दत्त; कांग्रेस के सर्वप्रथम अधिवेशन में सबसे पहला प्रस्ताव पेश करने का ऐतिहासिक गौरव प्राप्त करने तथा उस आदि-युग ही में अपनी लौह लेखनी की स्पष्टवादिता के कारण देश के हितार्थ कारागार की हवा खानेवाले 'हिन्दू' पत्र के नामांकित संपादक जी० सुब्रह्मण्य ऐयर; भारतीय मुसलमानों में सबसे पहले राष्ट्रीयता के आँगन में अग्रसर होने का साहस दिखानेवाले कांग्रेस के पक्के हिमायती और उसके तीसरे अधिवेशन के सभापति बदरुद्दीन तैयबजी; महामान्य रानडे ही की भाँति उस आरंभकाल में हाइकोर्ट के न्यायाधीश के उच्च पद तक पहुँचने का असाधारण सम्मान प्राप्त करने तथा हर प्रकार से देश के नवजागरण के अनुष्ठान को आगे बढ़ाने में योग देनेवाले

काशीनाथ त्र्यंबक तैलङ्ग; महाराष्ट्र के सार्वजनिक जीवन में समाज-सुधार की पताका फहराने में विशेष रूप से भाग लेनेवाले लोकमान्य तिलक के आरंभिक सहयोगी गोपाल गणेश आगरकर और विष्णुशास्त्री चिपलूणकर; कांग्रेस के सोलहवें अधिवेशन के अध्यक्ष, बंबई-विश्वविद्यालय के वाइस-चांसलर और बंबई-हाइकोर्ट के जस्टिस सर नारायण गणेश चन्दावरकर; सर तेजबहादुर सप्रू के 'राजनीतिक गुरु' तथा कांग्रेस के छब्बीसवें अधिवेशन के सभापति विशननारायण दर; लखनऊ के सन् १९१६ के ऐतिहासिक कांग्रेस-अधिवेशन के सभापति बनने का गौरव प्राप्त करनेवाले पूर्वीय बंगाल के राष्ट्रीय महारथी अम्बिकाचरण मजूमदार; तथा अपने-अपने ढंग से उच्च कोटि की सेवाओं द्वारा हमारी राष्ट्रवेदी को प्रशस्त बनाने में योग देनेवाले सर्वश्री कालीचरण बेनर्जी, रघुनाथ नृसिंह मुधोलकर, दाजी आबाजी खरे, वामन सदाशिव आप्टे, बहरामजी मलाबारी, रामकृष्ण भांडारकर, आर० रघुनाथराव, पी० केशव पिल्लै, शंकरन नायर, रहीमतुल्ला सयानी, राजा रामपालसिंह, नवाब सैयद मुहम्मद बहादुर, मौलाना मज़हरुलहक़, लाला मुरलीधर, लार्ड सत्येन्द्रप्रसन्नसिंह, भूपेन्द्रनाथ बसु, सच्चिदानंद सिंह, पंडित सुंदरलाल, सरदार दयालसिंह मजीठिया, पी० रंगैया नायडू, एन० सुब्बाराव पन्तुलु, शिशिरकुमार घोष, मोतीलाल घोष, विपिनचन्द्र पाल, आदि आदि कितने ही नाम ऐसे हैं, जिनके उल्लेख के बिना हमारे राष्ट्रीय नवजागरण के आरंभिक युग की यह गौरव-प्रशस्ति निश्चय ही अधूरी रह जायगी ! ये सभी महापुरुष थे हमारे उस प्रभातकाल के ऐसे चमकते हुए सितारे कि यदि इनमें से प्रत्येक की महत्ता पर अलग-अलग एक-एक पूरी पुस्तक भी लिखी जाय तो कम ही होगी ! परन्तु हमें खेद है कि प्रस्तुत ग्रंथ के परिमित आकार तथा विषय के दीर्घ विस्तार को देखते हुए इन सब लोक-नेताओं का पृथक्-पृथक् परिचय देकर उनकी आरती उतारने में हम यहाँ असमर्थ हैं, यद्यपि इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि हम उनकी महती सेवाओं का किसी भी अंश में कम मूल्य आँकते हों ! वस्तुतः हमारी विवशता ही हमें बाध्य कर रही है इन सभी राष्ट्रीय अग्रदूतों को समष्टि रूप ही से श्रद्धाञ्जलि चढ़ाकर उनके नामोल्लेख मात्र से यहाँ संतोष मान लेने के लिए !

ये सब नेता यद्यपि थे तो अपने-अपने राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक विचारों तथा व्यक्तिगत संस्कारों के अनुरूप अलग-अलग प्रकार से हमारी प्रगति की लीक प्रस्थापित करने का प्रयत्न करने-वाले एक-दूसरे से बहुत-कुछ निराले कार्यकर्त्ता तथा आज के युग की हमारी राजनीतिक धाराओं के पैमाने पर नापने पर वे बहुत-कुछ ठंडे और नरम ही प्रतीत होते हैं, फिर भी उन सबमें जहाँ तक कि देश की हित-साधना का प्रश्न था एक अद्‌भुत समानता और एकता का ही भाव पिरोया हुआ था ! वे सब हृदयतल से केवल एक ही महान् लक्ष्य की सिद्धि के लिए अपने-अपने ढंग से चाहे शांतिमूलक वैधानिकता अथवा क्रान्तिमूलक संघर्ष के पथ की ओर अग्रसर हुए थे, और उनका वह महान् ध्येय केवल यही था कि यह महादेश स्वाधीनता तथा समृद्धि के उच्च शिखर पर प्रतिष्ठित होकर पुनः संसार में अपना सिर ऊँचा कर सके ! जैसा कि कांग्रेस के इतिहासकार डॉ० पट्टाभि सीतारामैया ने कहा है, 'इन पूर्ववर्त्ती नेताओं का जो कार्यक्रम और दृष्टिकोण रहा वह आज हमें शायद पसन्द भी न हो, और इसी तरह यह भी संभव है कि उन पुराने नेताओं को शायद आज का हमारा कार्यक्रम और दृष्टिकोण पसन्द न हुआ होता, लेकिन हमें यह कदापि न भूल जाना चाहिए कि आज हम जो-कुछ कर सके हैं और करने की आकांक्षा रखते हैं, वह सब प्रारंभ में उनके द्वारा किए गए प्रयत्नों और महान् बलिदानों के फल-स्वरूप ही है !' निश्चय ही वही वे नींव के आरंभिक पत्थर हैं, जिन पर कि कांग्रेस के रूप में आज की हमारी राष्ट्रवेदी क्रमशः उठकर खड़ी हुई है, और कौन नहीं जानता कि किसी भी इमारत के लिए उसके ऊपर चढ़नेवाली मंज़िलों और मीनारों से भी कितनी अधिक महत्त्व रखती हैं वे प्रारंभिक आधार-शिलाएँ, जिन पर कि उसका सारा ढाँचा क्रमशः खड़ा किया जाता है और जिन पर उसकी नींव स्थापित होती है !

बाल गंगाधर तिलक

कुछ वर्ष हुए, पश्चिम के महान् तत्वचिन्तक नीत्शे के व्यक्तित्व की समीक्षा करते हुए एक पत्रकार ने लिखा था कि 'पिछली तीन शताब्दियों में कुल पाँच-छः ही सच्चे हिन्दू संसार में पैदा हुए हैं और इधर सौ साल में तो केवल दो—भारत में लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक और जर्मनी में फ्रीडरिश विलहेल्म नीत्शे !' बात यद्यपि अतिशयोक्तिपूर्ण थी—क्योंकि जिस युग में साथ-साथ ही रामकृष्ण और दयानन्द, विवेकानन्द और रामतीर्थ, गांधी और रवीन्द्रनाथ तथा अरविंद घोष जैसी विभूतियाँ भी प्रकट हुई हों, उसे हिन्दुत्व की उपज के लिए अनुर्वर-सा बताना न केवल इतिहास की आँखों में धूल झोंकने बल्कि हिन्दूपन की व्यापक परिभाषा को उलटकर उसे एक संकुचित शिकंजे में कस देने के समान ही होगा, तथापि इस कथन से लोकमान्य की महत्ता और विशिष्टता पर अवश्य ही प्रकाश पड़ता है। इसमें संदेह नहीं कि उनका सबसे उपयुक्त परिचय यही कहकर दिया जा सकता है कि वह एक सच्चे 'हिन्दू' थे। साथ ही वह अपने युग की अन्य सभी लोक-विभूतियों से बहुत-कुछ निराले भी थे। वह हमारी जातीय संस्कृति की एक परंपरा विशेष के प्रतिनिधि थे, जिस प्रकार गांधीजी उसी संस्कृति की अन्य एक विशिष्ट परम्परा के प्रतीक हैं। वह हमें याद दिलाते थे मनु, रघु, श्रीकृष्ण, कौटिल्य, विक्रमादित्य, गोविन्दसिंह और शिवाजी की, जब कि गांधीजी राम, युधिष्ठिर, महावीर, बुद्ध, अशोक, चैतन्य, कबीर, नानक, आदि का स्मरण कराते हैं! वस्तुतः हमारे जातीय जीवन में पुराकाल ही से दो विशिष्ट परम्पराएँ पनपती, आदर पाती और युग-युग से हमारा पथ-निर्देश करती चली आ रही हैं, जिससे कि भारतीय इतिहास की पगडंडी के आसपास लगातार दो विभिन्न कोटि के महापुरुष-रूपी प्रकाशस्तम्भों की पृथक्-पृथक् पंक्तियाँ-सी निर्मित हो गई हैं। इनमें से एक को हम यदि आज की शब्दावली में 'नरम' या 'माडरेट' कहें तो दूसरी को उसी स्वर में 'गरम' या 'उग्र' कह सकते हैं, यद्यपि यह उपमा एकदम अक्षरशः लागू नहीं की जा सकती। उनके पारस्परिक अंतर को हम वास्तव में यह कहकर अधिक स्पष्ट कर सकते हैं कि एक संतों की परम्परा है तो दूसरी नीतिज्ञों की। एक करुणा, अहिंसा और तप की राह है तो दूसरा 'शक्ति-योग' का कठोर मार्ग कहा जा सकता है। परंतु इससे यह निष्कर्ष निकालना सही न होगा कि पृथक्-पृथक् भूमिकाओं में स्थित दिखाई पड़ने के कारण इन दोनों परम्पराओं में मूलतः वैषम्य या विरोधाभास रहा हो। वस्तुतः वे एक दूसरे की पूरक हैं, विरोधी नहीं, वे एक ही पट के

दो पटल जैसी हैं, और इसका ज्वलन्त प्रमाण हमें अपने आज के ही युग के इस प्रकट तथ्य से मिल जाता है कि इनमें से एक के छोर पर स्थित तिलक से जहाँ हमने 'स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है' यह महामंत्र पाया, वहाँ दूसरी के महान् युग-प्रतिनिधि गांधीजी से उस उत्तराधिकार को प्राप्त करने का एकमात्र सच्चा साधन हमें मिला ! यदि एक ने गीता के महान् 'कर्मयोग' का पाठ पढ़ाकर हमें पुनः रणक्षेत्र में ला खड़ा किया तो दूसरे ने स्वयं अपने जीवन में उसके सफल प्रयोग का एक साकार उदाहरण प्रस्तुत करते हुए उस लड़ाई को ठीक से लड़ना हमें सिखाया ! इस प्रकार दोनों के हाथों एक ही महान् राष्ट्रीय अनुष्ठान की पूर्त्ति में योग मिला—दोनों ने एक ही राष्ट्रवेदी पर अपनी-अपनी रीति से अर्घ्य चढ़ाया ! हमें तो यही सोचकर अपना भाग्य सराहना चाहिए कि अपने जातीय इतिहास के इस संकटपूर्ण काल में ऐसे दो अद्वितीय कर्णधारों का हाथ हमारे राष्ट्र की डगमगाती नौका की पतवार पर लगा, जो कि हमारी संस्कृति की पूर्वोल्लिखित दो प्रमुख परम्पराओं के सर्वश्रेष्ठ आधुनिक प्रतिनिधियों के रूप में हमारे इतिहास में अमर रहेंगे ! आर्य बाल गंगाधर तिलक और महात्मा मोहनदास कर्मचन्द गांधी इस देश की आत्मकथा के आधुनिक पर्व के दो सर्वप्रधान सर्ग जैसे हैं। उनकी महानता का बहुत-कुछ अनुमान तो केवल इसी एक बात से किया जा सकता है कि उन दोनों की जीवन-कहानियों में पिछली लगभग एक शताब्दी का हमारा सारा राजनीतिक इतिहास मानों पिरोया हुआ है !

तिलक का जन्म हुआ था महाराष्ट्र के कोंकण प्रदेश के रत्नागिरि नामक समुद्रतटवर्त्ती स्थान में २३ जुलाई, सन् १८५६ ई०, के दिन उस प्रख्यात चित्पावन ब्राह्मण जाति में, जिसे पेशवाओं से लेकर रानड़े, गोखले और हरिनारायण आप्टे तक विविध महाराष्ट्रीय नररत्नों को पिछले दो सौ वर्षों में उपजाने का अन्यतम गौरव प्राप्त है। उनका पूरा नाम तो था बलवन्तराव तिलक, किन्तु प्यार से बचपन में संक्षेप में केवल 'बाल' कहकर ही संबोधित किए जाने के कारण, आगे चलकर सार्वजनिक रूप से भी इसी छोटे-से नाम द्वारा पिता के नाम के साथ 'बाल गंगाधर तिलक' कहकर ही वह अभिहित किए जाने लगे ! उनके पिता श्रीगंगाधरराव आरंभ में अपने कस्बे की स्थानीय पाठशाला में एक साधारण शिक्षक के रूप में काम करके ही अपना भरण-पोषण करते रहे, किन्तु कालांतर में वह क्रमशः थाना तथा पूना ज़िलों के सरकारी स्कूलों के असिस्टेंट डिप्टी-इंस्पैक्टर हो गए थे। वह थे गणित तथा संस्कृत व्याकरण के माने हुए पंडित, अतः इसमें संदेह नहीं कि लोकमान्य में विद्वत्ता का विकास बहुत-कुछ अपने पैतृक संस्कारों के ही फलस्वरूप हुआ था। कहते हैं, बचपन में पिता उन्हें नित्य संस्कृत के श्लोक कण्ठस्थ कराया करते और प्रति नए श्लोक को याद कर लेने पर एक पाई पुरस्कार के रूप में उन्हें देते थे। इस प्रकार निपट बाल्यावस्था ही में हमारे चरितनायक के मस्तिष्क में प्राचीन संस्कृत विद्या के प्रति अनुराग के ऐसे प्रगाढ़ संस्कार-बीज अंकुरित हो गए कि उनकी जीवन-धारा के आगे चलकर एकदम राजनीति की दिशा में मुड़ जाने पर भी अगाध पांडित्य के रूप में पुष्पित-पल्लवित हुए बिना वे न रह सके ! कहते हैं, विद्यार्थी-काल में तिलक बड़े नटखट स्वभाव के, हठीले और ज़बर्दस्त विवादी व्यक्ति थे—वह नज़ाकत, नाज़-नख़रे और थोथी शान-शौक़त बघारनेवालों के कट्टर दुश्मन और इस देश की प्राचीन गौरव-गरिमा एवं सरल जीवन ही के हृदय से उपासक थे। इसी कारण पश्चिम की हवा में बहनेवाले अपने नई रोशनी के सहपाठियों तथा शिक्षकों से उनका प्रायः नित्य का झगड़ा बना रहता था, और उन्हें तरह-तरह से तंगकर कड़ा सबक़ सिखाने के मौक़े से वह कभी भी चूकते नहीं थे ! अपने इसी शरारतीपन के कारण वह अपने साथियों द्वारा उन दिनों 'डेविल' (शैतान), 'ब्लंट' (लट्ठ-भारती) आदि आदि विभिन्न उपनामों से संबोधित किए जाते थे !

कालान्तर में पूना के सुप्रसिद्ध 'डेकन कॉलेज' से प्रथम श्रेणी में सम्मानसहित बी० ए० की परीक्षा पास कर क़ानून के अध्ययन के लिए वह बंबई के 'एलफ़िन्स्टन कॉलेज' में प्रविष्ट हुए और सन् १८७९ ई० में एल-एल० बी० की उपाधि प्राप्त कर अंत में विश्वविद्यालय के प्राङ्गण से बाहर निकले। यद्यपि अपनी इस पढ़ाई का लाभ उठाकर उन्होंने बाद में कभी वकालत का पेशा नहीं किया, फिर भी क़ानून-

संबंधी इन दिनों के उनके अध्ययन ने, विशेषकर हिन्दू धर्मशास्त्र-विषयक गहन ज्ञान ने, आगे चलकर सार्वजनिक क्षेत्र में उतरने पर पग-पग पर उन्हें अनमोल सहायता पहुँचाई। यहाँ इस बात का उल्लेख कर देना अप्रासंगिक न होगा कि अपने विद्यार्थी-काल ही में हमारे चरितनायक ने अन्य एक आदर्शवादी मित्र और सहपाठी श्री गोपाल गणेश आगरकर के साथ सरकारी नौकरी का मोह छोड़कर जीवन भर देश और समाज की सेवा करने का ही सुदृढ़ संकल्प कर लिया था, अतः ज्योंही पढ़-लिखकर वह कॉलेज की कक्षा से बाहर निकले, त्योंही सन् १८८० ई० में मराठी के ख्यातनामा साहित्यकार श्री विष्णुशास्त्री चिपलूणकर के साथ पूना में 'न्यू इंग्लिश स्कूल' नामक एक सार्वजनिक शिक्षण-संस्था की स्थापना कर अविलम्ब लोकसेवा के पथ पर उन्होंने अपना क़दम बढ़ाया और इसके वर्ष भर बाद ही जनजागरण के लिए समाचारपत्रों की आवश्यकता एवं महत्त्व का अनुभव करते हुए 'केसरी' और 'मराठा' नामक दो साप्ताहिक पत्र भी क्रमशः मराठी और अंग्रेज़ी में निकालना शुरू किया, जिनके कि संचालन में उनके मित्र आगरकर ने भी खुले हाथ उनका साथ दिया। तब कोल्हापुर-राज्य के तत्कालीन कुशासन के संबंध में कुछ आलोचनात्मक सामग्री छापने के कारण सन् १८८२ ई० में 'केसरी' पर मानहानि का एक मुक़दमा चलाया गया और फलतः सार्वजनिक क्षेत्र में क़दम रखते ही हमारे चरितनायक को अपने मित्रसहित चार मास के लिए कारागार की भी हवा खाना पड़ा! यह घटना मानों तिलक के लिए जनक्षेत्र में आगे बढ़ने की पहली सीढ़ी थी और कहने की आवश्यकता नहीं कि दमनचक्र के इस प्रथम प्रहार ने अप्रयास ही एकदम उछालकर उन्हें जनता के हृदय का हार बना दिया। जब वह छूटकर जेल से वापस आए तो हज़ारों की संख्या में जनता ने ज़ोरों के साथ उनका स्वागत और अभिनन्दन किया, और इसके पूर्व भी जब कि उनका मुक़दमा चल रहा था, लोगों की ओर से हर तरह से उन्हें मदद पहुँचाने की कोशिश की गई, यहाँ तक कि उनके सहायतार्थ एक नाटक भी खेला गया, जिसमें कि उनके भावी महान् विपक्षी श्री गोपाल कृष्ण गोखले तक ने उत्साहपूर्वक एक नारी-पात्र का अभिनय किया था! इसके तीन वर्ष बाद इन सभी उत्साही साथियों के प्रयत्न से जब विख्यात 'डेक्कन एजूकेशन सोसायटी' की प्रस्थापना हुई तो अपने अन्य सहयोगियों की तरह स्वभावतः तिलक ने भी नाममात्र के पारिश्रमिक पर आजन्म शिक्षण-कार्य करने का व्रत ले खुशी से उक्त संस्था की स्थायी सदस्यता स्वीकार की और उसके तत्त्वावधान में सन् १८८५ ई० में 'न्यू इंग्लिश स्कूल' के चोला बदलकर सुप्रसिद्ध 'फर्ग्यूसन कॉलेज' में परिणत हो जाने पर वह उसमें गणित और संस्कृत के प्रोफ़ेसर का काम करने लगे। परंतु अभी कुछ ही समय बीता होगा कि उनके और समिति के अन्य कार्यकर्त्ताओं के बीच नीति के संबंध में गहन मतभेद पैदा हो गया और फलतः सन् १८९० ई० में उन्हें समिति और उससे संबंधित कार्यों से सदा के लिए अपने आपको पृथक् कर लेना पड़ा। साथ ही 'केसरी' और 'मराठा' पत्रों के विषय में भी अपने सहयोगी आगरकर के साथ गहरा मतान्तर उत्पन्न हो जाने के कारण शीघ्र ही उन्हें अपनी राह एकदम अलग कर लेने के लिए विवश हो जाना पड़ा। उन्होंने सन् १८९१ ई० में दोनों ही पत्रों का संपूर्ण स्वत्व-भार स्वयं ख़रीदकर अब अपने ही अकेले बूते पर स्वतंत्र रूप से इन्हें निकालना शुरू किया। इस सारे बखेड़े का मूल कारण यह था कि जहाँ आगरकर आदि उनके साथी सामाजिक विषयों में एकदम उग्र तथा राजनीतिक क्षेत्र में बहुत ही नरमाई की नीति अपनाने के हिमायती थे, वहाँ लोकमान्य उनसे प्रतिकूल समाज-सुधार के क्षेत्र में लंबी छलाँग भरने के विरोधी और राजनीतिक उत्थान के लिए अधिक से अधिक तेज़ी से आगे बढ़ने के प्रबल प्रतिपादक थे! तो फिर क्योंकर उनकी परस्पर एक-दूसरे के साथ अधिक दिनों तक पट सकती थी! जो कुछ भी हो, अपने इन साथी-सहयोगियों से पृथक् होकर भी अपनी जन्मजात प्रतिभा, उत्कट लगन और अदम्य कार्य-शक्ति के बल पर शीघ्र ही लोकमान्य ने अकेले हाथ ही जनक्षेत्र में अपने लिए एक अजित स्थान बना लिया और उनकी लौह लेखनी के जादूभरे चमत्कार से अल्पकाल ही में 'केसरी' और 'मराठा' महाराष्ट्र के प्रतिनिधि पत्र बन गए, जिनमें 'केसरी' तो अब

मराठी भाषा-भाषी संसार के लिए मानों घर-घर की-सी वस्तु बनकर प्रति सप्ताह हज़ारों की संख्या में खपने लगा!

इस बीच अपनी आजीविका चलाने के लिए तिलक ने पूना में एक खानगी लॉ-क्लास भी खोल ली थी, जिसमें मामूली-सी फ़ीस लेकर क़ानून के विद्यार्थियों को पढ़ाकर परीक्षा के लिए वह तैयार किया करते थे! परन्तु जब उनका सार्वजनिक उत्तरदायित्व दिन पर दिन बढ़ने लगा तो उन्होंने अब अपना सारा का सारा समय लोकसेवा ही के पुनीत कार्य में लगाना शुरू किया और अपनी आमदनी-विषयक सुविधा-असुविधा का ख़याल न करते हुए उक्त लॉ-क्लास को भी शीघ्र ही बंद कर दिया! सच तो यह था कि इस महापुरुष का आविर्भाव ही हुआ था केवल जन-कल्याण के लिए—तुच्छ दुनियावी प्राणियों की तरह निजी सांसारिक उत्कर्ष-साधन के लिए नहीं! उसका तो एकमात्र जीवन-ध्येय यदि कोई था तो यही कि इस महादेश की सुषुप्त आत्मा को अपनी गहरी नींद में से जगाकर पुनः उसके जर्जरीभूत कलेवर में उस प्राण-वाही जीवनधारा का संचार किया जाय, जिसके कि प्रताप से किसी समय उसके सुनहले अतीत का भव्य निर्माण हुआ था! वह इस महिमामयी भूमि को विदेशी शासन की लौह शृंखलाओं से मुक्त कर पुनः उसे अपने स्वयंसिद्ध स्वाधिकार के स्वच्छन्द वातावरण में प्रतिष्ठापित करने का स्वप्न देखता था और इसीलिए हमें अपनी उन भूली हुई शपथों की याद दिलाना चाहता था, जिनकी कि गौरवरक्षा के लिए कभी चित्तौड़गढ़ के रखवाले अलबेले राजपूत अपनी वीराङ्गनाओं सहित रक्त और आग की फाग का वह भयावना खेल खेलने के लिए बार-बार अग्रसर हुए थे और जिनकी पुन-र्प्रतिष्ठा के लिए सह्याद्रि के अंचल में विचरनेवाले वीरवर मराठे केवल एक-दो पीढ़ी पूर्व ही अपने दुर्द्धर्ष आत्माभिमान और स्वदेश-प्रेम के बल पर एक सशक्त साम्राज्यवादी पंजे से लोहा लेने के लिए मधुमक्खियों के झुण्ड की तरह निकल पड़े थे! उसके मन में रह-रहकर उस स्वातंत्र्य-पताका की याद मँडराती जिसे कि राष्ट्रपति शिवाजी ने केवल डेढ़ शताब्दी पूर्व ही मुग़लों की साम्राज्य-शाही का गढ़ विध्वंस कर स्वयं अपने हाथों इस महादेश के आँगन में पुनः फहराया था और जो-कि पिछले दिनों की हमारी निर्जीवतासूचक गहन निद्रा के कारण अब भयंकर अपमान की दशा में छिन्न-भिन्न होकर पड़ी थी! वह था वस्तुतः हमारी स्वातंत्र्य-लक्ष्मी का एक अनन्य पुजारी, जोकि आठों पहर हमारे राष्ट्रीय मंदिर में उसकी पुन-र्प्रतिष्ठा के पुनीत स्वप्न ही में लवलीन रहता था। इसीलिए तो इस ध्रुव प्रश्न पर एक क्षण के लिए भी किसी के आगे शीश झुकाने को वह तैयार नहीं हो सकता था और यही कारण था कि यद्यपि इसी लक्ष्य को लेकर और भी कई आवाज़ें देश में इसी समय उठने लगी थीं, किन्तु उसकी ललकार में सिंह की-सी जो हुंकार, जो आत्माभिमान और निर्भीकता का भाव था, वह आधुनिक भारतीय राजनीति के उस युग के लिए एक नई चीज़ थी! सच तो यह था कि उसे आज़ादी के लिए किसी के भी आगे नाक रगड़ना अभीष्ट न था—वह तो 'स्वराज्य' को इस देश का 'जन्मसिद्ध अधिकार' घोषित करता था और इसीलिए अपने उस खोए हुए अधिकार को हर तरीक़े से फिर से प्राप्त करने के लिए कमर कस-कर मैदान में उतरने को वह हमें ललकारता था। तो फिर क्या आश्चर्य था कि अपने उस अमोघ अस्त्र 'केसरी' के पृष्ठों में जब दिन प्रति दिन उसकी लौह लेखनी विदेशी शासन-तंत्र की काली करतूतों के विरुद्ध मानों आग के धधकते अंगारे उगलने लगी और गोरी नौकरशाही की निरंकुशता का बेधड़क भंडाफोड़ करते हुए परोक्ष अथवा अपरोक्ष रूप से हर प्रकार से जनहृदय को स्वाधीनता के भावी संग्राम के लिए तैयार करने लगी—जबकि नित-प्रति मानों लोहे के घन से पीट-पीटकर इस देश के सोए हुए पौरुष को अपनी जड़ावस्था को त्याग पुनः उस विद्युत् की-सी तड़पवाली तेग़ का स्वरूप धारण करने के लिए उसने लगातार उभाड़ना शुरू किया, जिसका जौहर जागे बिना इस दुरवस्था से हमारे उबरने की कोई उम्मीद नहीं की जा सकती थी—तो स्वभावतः ही जहाँ जनहृदय के तो भीतरी से भीतरी स्तरों में भी पैठकर अल्पकाल ही में वह सच्चे अर्थ में बन गया 'लोकमान्य', वहाँ साथ ही साथ सरकारी आँखों में दिन पर दिन शूल की

तरह गड़ते-चुभते रहने के कारण एक ऐसी खटकने-वाली वस्तु का रूप उसने धारण कर लिया कि अब अंग्रेज़ों को उससे अधिक खतरनाक कोई भी व्यक्ति इस देश में दूसरा न दिखाई देने लगा !

इस बीच तिलक द्वारा जनोत्थान-विषयक ध्वंसात्मक और रचनात्मक दोनों ही प्रकार के जो-जो प्रयास हुए, उनमें एक ओर तो रत्नागिरि के घूँसखोर अंग्रेज़ कमिश्नर क्राफ़र्ड के नाम पर मशहूर सन् १८८८ ई० में उठ खड़ा होनेवाला प्रख्यात 'क्राफ़र्ड-प्रकरण' और दूसरी ओर महाराष्ट्र की जागृति के उद्देश्य से इन्हीं दिनों उनके द्वारा चलाए गए दो सार्वजनिक त्यौहार—'गणेशोत्सव' और 'शिवाजी-जन्मोत्सव'—विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनमें 'क्राफ़र्ड-प्रकरण' की कैफ़ियत यह थी कि जब उक्त गोरे अफ़सर की रिश्वतखोरी की हवा बहुत गरम होने लगी तो सरकार ने उस पर तथा उसके अधीनस्थ कुछ भारतीय तहसीलदारों पर, जिनके कि मार्फ़त वह घूँस खाता था, आरोप लगाकर मामला चलाने का निश्चय किया। परन्तु जब एक गोरे की बेईमानी के रहस्योद्घाटन का मामला सामने आने पर जनता उसमें बेहद दिलचस्पी लेते दिखाई देने लगी तो अंग्रेज़ सत्ताधारी तुरंत ही शंकित हो गए और अपनी जातीय प्रतिष्ठा की रक्षा के लिए उन्होंने इस मामले को ज्यों का त्यों दबा देने ही में भलाई समझी। इसीलिए मुक़दमा न चलाकर उन्होंने इस संबंध में एक जाँच-कमीशन बैठाया, जिसने कि उस सरासर दोषी गोरे हाकिम को तो अपराध से बरी कर दिया, पर उसके अधीन भारतीय तहसीलदारों को दोषी क़रार देकर उनमें से एक को दो वर्ष की सज़ा और दो हज़ार रुपया जुर्माना ठोक दिया ! न्याय के नाम पर किए गए अन्याय के इस हास्यास्पद नाटक से स्वभावतः ही तिलक का रोष उबल पड़ा और उसके विरोध में आवाज़ उठाने में उन्होंने तथा 'केसरी' ने प्रमुख रूप से भाग लिया। उन्होंने इस विषय को लेकर पार्लामेंट के सदस्य मि० डिग्बी और ब्रेडला तक को पत्र-व्यवहार द्वारा खटखटाया और यद्यपि प्रस्तुत मामले पर इस आन्दोलन का कोई अनुकूल असर न पड़ा, फिर भी उससे तिलक की लोकप्रियता में तो निश्चय ही काफ़ी वृद्धि हुई और ब्रिटिश चरित्र के खोखलेपन तथा न्याय के ढोंग का पर्दाफ़ाश होने के नाते जनजागृति के आन्दोलन को भी विशेष रूप से बल मिला !

उपर्युक्त क्राफ़र्ड-प्रकरण था जहाँ लोकमान्य के इन दिनों के ध्वंसात्मक विधि द्वारा जनजागृति के लिए किए जानेवाले प्रयासों का एक प्रखर नमूना, वहाँ उन्हीं के द्वारा क्रमशः १८९३ और १८९४ ई० में पहलेपहल चलाए गए महाराष्ट्र के गणेशोत्सव तथा शिवाजी-जन्मोत्सव नामक वे महत्त्वपूर्ण सार्वजनिक त्यौहार, जिनका कि उद्देश्य स्पष्टतः धर्म और जातीय गौरव की भावना को जगाकर बिखरी हुई लोकशक्ति को सुसंगठित होने के लिए सबल रूप से बढ़ावा देना तथा राष्ट्रीयता का एक ज़बर्दस्त मोर्चा तैयार करना मात्र था, उनके रचनात्मक प्रयत्नों के एक उज्ज्वल उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किए जा सकते हैं। ये उत्सव तभी से महाराष्ट्र के जीवन के मानों अंग जैसे बन गए हैं और सर वेलेंटाइन शिरोल ने अपनी 'भारतीय अशान्ति' नामक पुस्तक में, चाहे द्वेषवश ही सही, फिर भी महाराष्ट्रियों की उग्र राजनीतिक जागृति में इन उत्सवों का जो प्रमुख हाथ बताया है, वह एकदम निराधार नहीं है। वस्तुतः यदि यह कहा जाय कि इस युग में एक महान् राष्ट्रवीर के रूप में शिवाजी की महत्ता प्रस्थापित करने और उनके प्रति सारे देश की श्रद्धा-दृष्टि को बढ़ाने का प्रमुख श्रेय लोकमान्य ही को है तो कोई अत्युक्ति न होगी, क्योंकि उन्होंने ही उस महान् राष्ट्र-निर्माता के अमर विजय-स्मारक सिंहगढ़ के क़िले पर मराठा-संतानों को पुनः उसकी याद जगाने के लिए आमंत्रित कर उसकी महानता के प्रति इस युग का ध्यान पहले-पहल आकर्षित किया था !

सन् १८९५ ई० में तिलक बंबई प्रांतीय धारा-सभा के सदस्य निर्वाचित हुए और वहाँ अपने पहले ही भाषण में उन्होंने सरकारी नीति की कटु आलोचना कर अपनी निर्भीक देशभक्ति का प्रखर परिचय दिया। इन्हीं दिनों की बात है कि महाराष्ट्र पर एक भीषण अकाल और प्लेग की महामारी का प्रहार हुआ, जिसके सिलसिले में बंदोबस्त के नाम पर पूना और अन्य स्थानों में गोरे सैनिकों तथा पुलिस द्वारा जनता के साथ अनेक सख़्तियाँ और

ज्यादतियाँ की गईं, यहाँ तक कि घरों में घुसकर स्त्रियों के साथ छेड़छाड़ करने की भी शिकायतें सुनने में आईं। इस पर स्वभावतः ही तिलक ने जहाँ जनकष्ट को दूर करने लिए गाँव-गाँव में अन्न-वितरण के लिए सार्वजनिक रूप से प्रबंध कराया और महामारी से पीड़ित व्यक्तियों की शुश्रूषा के लिए पूना में जनता के चंदे से एक चिकित्सालय प्रस्थापित करने जैसे रचनात्मक कार्यों में भी हाथ लगाया, वहाँ साथ ही साथ गोरी नौकरशाही और पुलिस की उपर्युक्त ज्यादतियों के ख़िलाफ़ 'केसरी' में विरोध की ज़ोरदार आवाज़ बुलन्द कर उन्होंने भरपूर रोष भी प्रकट किया, यद्यपि इस पर भी अधिकारियों के रवैये में कोई अन्तर नहीं पड़ा। इसी समय चाफेकर नामक एक क्रान्तिकारी महाराष्ट्रीय युवक ने पूना में एक रात को प्लैग-कमेटी के चेयरमैन मि० रैंएड की हत्या कर डाली, जिससे कि सारे देश में सनसनी फैल गई! वह युवक यद्यपि बाद में पकड़ लिया गया और फाँसी के तख़्ते पर भी लटका दिया गया, फिर भी सरकार ने इस हत्या का संबंध तिलक द्वारा उठाए गए जनान्दोलन के साथ जोड़ने की भरपूर कोशिश की। पूर्वोक्त 'क्राफ़र्ड-प्रकरण' तथा गणेश एवं शिवाजी-उत्सवों के संबंध में ब्रिटिश सत्ता तिलक से पहले ही से जली-भुनी तो थी ही, अतः अनायास ही इस मौक़े के हाथ लगने पर उन्हें फँसाने के लिए 'केसरी' में लिखित उनके कुछ लेखों को हिंसा की प्रवृत्ति जगानेवाले बताकर तथा इस सारी अशान्ति का मूल दोष उनके माथे मढ़कर उसने उन पर राजद्रोह का मामला चलाया और न्याय का अपना वही पुराना नाटक रच १४ सितंबर, सन् १८९७ ई०, के दिन देश के इस लाड़ले को उसने डेढ़ वर्ष की क़ैद की सज़ा दे दी! कहना आवश्यक नहीं कि उन पर किए गए सरकारी दमन-चक्र के इस अप्रत्याशित प्रहार से सारा देश तिलमिला उठा। उनके मुक़दमे की पैरवी करने के लिए बंगाल के दो प्रख्यात बैरिस्टर आए थे, जिनका सारा ख़र्च उस प्रान्त की जनता ही ने ख़ुशी से अपने ऊपर लिया था, जिससे कि अनुमान किया जा सकता है कि महाराष्ट्र की सीमाओं को लाँघकर किस प्रकार उनका प्रभाव अब निखिल भारतीय राजनीति के क्षेत्र पर व्याप्त हो गया था। यहाँ इस बात का उल्लेख कर देना ज़रूरी है कि यद्यपि उन्हें सज़ा दी गई थी अठारह महीने के कारावास की, परन्तु उन्हें जेल में वस्तुतः रहना पड़ा केवल एक वर्ष भर ही, कारण न केवल भारत ही के कई मित्रों ने प्रत्युत प्रो० मैक्समूलर आदि कई योरपीयन विद्वानों ने भी, जिनके कि मन में उनकी प्रकाण्ड विद्वत्ता और वेद-विषयक ऐतिहासिक छानबीन-संबंधी अद्वितीय प्रतिभा के कारण अगाध आदर-भाव समाया हुआ था, उन्हें छुटकारा दिलाने के लिए ज़मीन-आसमान एक कर दिया और इस विषय में उन लोगों ने महारानी विक्टोरिया तक से अपील की! अंत में जब जेल से छूटकर वह वापस आए तो, कहते हैं, उनके दर्शनार्थ जनता ऐसी उमड़ पड़ी कि दो दिनों में कम से कम दस हज़ार व्यक्ति उनसे भेंट करने आए होंगे!

इस समय तक नवसंस्थापित कांग्रेस के क्षेत्र में भी, जिसमें कि वह एक अरसे से प्रविष्ट हो चुके थे, लोकमान्य का काफ़ी प्रभाव जम चुका था और यद्यपि अभी उसमें विशेषतया फूँक-फूँककर क़दम रखनेवाले नरम नीतिवालों का ही बोलबाला था, फिर भी लार्ड कर्ज़न की कूटनीति के प्रति देश में रोषपूर्ण प्रतिक्रिया की जो लहर क्रमशः उमड़ने लगी थी उसकी बाढ़ के साथ कई के मन में असंदिग्ध रूप से उग्र राजनीति के पथ की ओर अग्रसर होने की भावना भी जग पड़ी थी। ऐसे लोगों के लिए तिलक मानों एक स्वयंसिद्ध नेता साबित हुए। अतः बंग-भंग-विरोधी आन्दोलन का युग आने पर देश के राजनीतिक क्षेत्र में जब कुछ सरगर्मी पैदा हुई तो कांग्रेस के मंच पर एक उग्र या गरम दल का संगठन कर देश की इस एकमात्र राजनीतिक संस्था को निरी वाद-विवाद-समिति की स्थिति से ऊपर उठाकर मातृभूमि की वास्तविक मुक्तिवेदी में परिणत करने के लिए जूझनेवालों के वह स्वभावतः ही अगुआ बन गए। परिणाम यह हुआ कि ब्रिटिश न्याय और सत्यवादिता की लगातार दुहाई देते रहनेवाले मॉडरेट नेताओं से अब उनकी दिन प्रति दिन गहरी टक्कर होने लगी और अंत में सूरत के सन् १९०७ के तूफ़ानी कांग्रेस-अधिवेशन में तो उस आंतरिक संघर्ष ने ऐसा उग्र रूप धारण कर लिया कि अगले

दस वर्षों के लिए उग्र दल को कांग्रेस से एकदम अलग हो जाना पड़ा! इधर लोकमान्य की उपस्थिति से निरंतर भयभीत रहनेवाली सरकार ने 'केसरी' में लिखे गए उनके कतिपय लेखों को राजद्रोहात्मक बताकर पुनः तिलक को गिरफ्तार कर उन पर मुक़दमा चलाया और इस बार उन्हें छः वर्ष के कालापानी तथा १०००) रु० जुर्माने का कठोर दण्ड देकर ही उसने चैन की साँस ली! पर इस लंबी सज़ा को पाकर भी तपस्वी तिलक के भव्य ललाट पर एक बल भी पड़ते न दिखाई दिया! उन्होंने केवल यही कहा कि 'यद्यपि जूरी ने मेरे खिलाफ़ राय दी है, फिर भी अपनी अंतरात्मा की राय में तो स्पष्टतः मैं निर्दोष हूँ! वस्तुतः मनुष्य की शक्ति से भी अधिक क्षमताशाली दैवी शक्ति है! वही प्रत्येक व्यक्ति और राष्ट्र के भविष्य की नियंत्रणकर्त्ता है। हो सकता है कि दैव की यही इच्छा हो कि स्वतंत्र रहने के बजाय कारागार में रहकर कष्ट उठाने से ही मेरे अभीष्ट कार्य की सिद्धि में अधिक योग मिले!' और इस प्रकार सन् १९०८ में यह महापुरुष पुनः जेल के सींखचों की ओट में पूरे छः वर्षों के लिए हमसे दूर जा बसा—सो भी स्वदेश की भूमि पर नहीं, बल्कि हज़ारों मील दूर बर्मा की प्राचीन राजधानी माण्डले के क़िले में, जहाँ कि कहते हैं, उनके रहने के लिए लकड़ी का एक बड़ा कटघरा-सा बनाया गया था, जो मनुष्य तो क्या पशुओं के भी रहने के योग्य न था! परन्तु अपने देशप्रेम के हेतु तपोपुंज लोकमान्य ने सब-कुछ सहन करना स्वीकार किया और अपने जेल-जीवन के इन कष्टदायी छः वर्षों का भी उन्होंने लोककल्याण के हित के लिए ही उपयोग किया! इसी अवधि में लगभग पाँच सौ ग्रंथों का गहन अध्ययन करने के बाद 'कर्मयोग' या 'गीतारहस्य' नामक अपने उस अमर ग्रंथ की उन्होंने रचना की, जिसमें भगवान् शंकराचार्य के बाद श्रीमद्‌भगवद्गीता का सबसे महान् और विशद भाष्य प्रस्तुत कर निष्काम कर्मयोग के अमर संदेश के रूप में अपनी सबसे अधिक मूल्यवान् देन वह हमें दे गए।

इस लंबी सज़ा की अवधि पूरी होने पर सन् १९१४ ई० में लोकमान्य जब तक जेल से छूटकर पुनः स्वदेश वापस आए, तब तक हमारे राजनीतिक आँगन में जनजागरण का स्वर काफ़ी ऊँचा उठ चुका था, साथ ही महायुद्ध के कारण देश का वातावरण एक नया ही रूप धारण कर चुका था। अतः कुछ समय तक तो वह तटस्थ रहकर स्थिति का अध्ययन करते रहे और तब श्रीमती एनी बेसेन्ट के साथ प्रसिद्ध 'होमरूल'-आन्दोलन में जुटकर उन्होंने एक देशव्यापी दौरा किया तथा अपने व्याख्यानों द्वारा ज़ोरों के साथ जनशक्ति का संगठन करना आरंभ किया! इन्हीं दिनों सन् १९१६ के प्रसिद्ध लखनऊ-अधिवेशन में पूरे नौ वर्ष बाद वह फिर से कांग्रेस में सम्मिलित हुए, जिससे कि देश के राजनीतिक वायुमंडल में पुनः एक सरगर्मी पैदा हो गई। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस समय राष्ट्रीय पक्ष के सबसे महान् नेता लोकमान्य ही थे और गांधीजी के दक्षिण अफ़्रीका से भारत के तट पर उतर चुकने पर भी पथप्रदर्शन के लिए सब कोई उन्हीं की ओर टकटकी लगाए देखते थे। अतः जब युद्ध में सहयोग देने का प्रश्न उठा तो हमेशा से ब्रिटिश सरकार की नीयत में अविश्वास रखनेवाले दूरदर्शी तिलक ने स्पष्ट कह दिया कि यदि कुछ ठोस अधिकार देने का वे वादा करें तब तो अंग्रेज़ों को इस लड़ाई में मदद देना सार्थक भी है, वरना यह सब सर्प को दूध पिलाने जैसा ही होगा! वह तो 'शठेप्रति शाठ्यं' की नीति के हिमायती थे और कहते थे कि लोहा तभी नरम होकर झुक सकता है जब कि गरम होने पर उस पर चोट की जाय। इस बात पर गांधीजी का उनसे गहन मतभेद हो गया, जो बिना किसी शर्त्त के संकट के इस समय में अंग्रेज़ों की मदद करने के समर्थक थे। परन्तु अंत में जब युद्ध समाप्त हुआ और फ्लांडर्स तथा गेलीपोली की रणभूमि में चढ़ाई गई भारतीय युवकों की आहुति के बदले पंजाब के भीषण हत्याकाण्ड और मार्शल-लॉ का ही अनोखा पुरस्कार विजय-उपहार के रूप में इस देश को मिला, तब सबकी आँखें खुलीं और लोकमान्य के कथन का मर्म लोगों की समझ में आया!

इस बीच सर वेलेण्टाइन शिरोल द्वारा लिखित 'भारतीय अशान्ति' नामक पुस्तक की अनेक बेहूदी और ऊटपटाँग बातों के संबंध में मानहानि का दावा दायर करने के लिए तिलक को

विलायत जाना पड़ा, अतः १९१८ ई० के दिल्ली-अधिवेशन के लिए राष्ट्रपति चुन लिये जाने पर भी उक्त वर्ष की कांग्रेस में वह भाग न ले सके और उनके स्थान में मालवीयजी को सभापति का आसन ग्रहण करना पड़ा। शिरोल के इस मामले ने ब्रिटिश न्याय के खोखलेपन का पर्दाफ़ाश करने में और भी मदद दी, क्योंकि भारत-सरकार ने तिलक को मुक़दमे में हराने के लिए हर तरह से कोशिश की और पुनः ब्रिटिश 'प्रतिष्ठा' की रक्षा के लिए फ़ैसला हमारे चरितनायक के ही विपक्ष में दिया गया! परन्तु लोकमान्य की यह विलायत-यात्रा एकदम निरर्थक न गई, क्योंकि उन्होंने मुक़दमे से छुट्टी पाने पर अपना शेष समय इंगलैण्ड में भारतीय स्वाधीनता के पक्ष में यथाशक्ति आंदोलन करने तथा कांग्रेस की लंदन-शाखा का संगठन करने ही में व्यतीत किया और विशेषकर पार्लामेंट के मज़दूर-पक्षीय सदस्यों में इस देश के प्रति दिलचस्पी पैदा करने की उन्होंने सफल कोशिश की।

उनके वापस स्वदेश लौटते ही देश ने एक लाख रुपए की एक थैली भेंटकर उनके प्रति अपना सम्मान प्रकट किया और धूमधाम के साथ उनकी साठवीं वर्षगाँठ मनाई। त्यागमूर्त्ति तिलक ने तत्काल उस थैली की रकम पुनः देशसेवार्थ होमरूल-लीग को भेंट कर दी। किन्तु देश के भाग्य में वस्तुतः अब अधिक दिनों तक उनका संसर्ग न बदा था; कारण सन् १९१९ की ऐतिहासिक अमृतसर-कांग्रेस में एक ही राष्ट्रमंच पर गांधीजी, मोतीलाल, दास और मालवीयजी के साथ अंतिम दर्शन देने तथा इसी समय 'डिमोक्रेटिक स्वराज्य पार्टी' नामक एक नवीन दल की प्रस्थापना का निश्चय घोषित करने के छः महीने बाद ही बंबई में एकाएक साधारण ज्वर से पीड़ित होकर एक सप्ताह के भीतर ही वह ३१ जुलाई, सन् १९२० की रात को भगवान् श्रीकृष्ण के 'यदा यदाहिधर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत, अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्' इन महान् वचनों को दोहराते हुए इस नश्वर संसार से विदा हो गए! इस प्रकार भारतीय राजनीतिक गगन का यह सूर्य अस्त हो गया। उनके शव को पाँच लाख आदमियों ने बंबई के प्रसिद्ध चौपाटी-समुद्र-तट तक पहुँचाया, जहाँ कि विशेष सम्मानपूर्वक उनका अंतिम संस्कार किया गया, और उनकी अर्थी के साथ थे गांधीजी तथा युवक जवाहरलाल भी! कहते हैं, उनकी चिता जिस समय पूर्ण रूप से प्रज्ज्वलित हो चुकी थी, उसी समय एक शोकातुर मुसलमान युवक यह चिल्लाता हुआ उसमें कूद पड़ा था कि 'अरे तिलक महाराज, तुम तो जा रहे हो, अब हम कैसे जिएँगे!' बड़ी कठिनाई से उसके झुलसे शरीर को खींचकर आग से बाहर निकाला गया! इससे अनुमान किया जा सकता है कि हिन्दू-मुसलमान दोनों की निगाह में वह क्या थे! उनके शोक में महाराष्ट्र में तो हज़ारों परिवारों में दस दिन तक विधिवत् सूतक तक मनाया गया था, ऐसी थी बाल गंगाधर तिलक की लोकमान्यता और ऐसा था इस देश के जनहृदय पर उनका साम्राज्य!

यह एक आश्चर्य की बात है कि जहाँ गांधीजी जैसे युग-पुरुष तक के जीवन में क्रमिक विकास और व्यक्तित्व के क्रमबद्ध प्रस्फुटन एवं निर्माण की अनेक सीढ़ियाँ हमें दिखाई देनी हैं, अर्थात् हम उन्हें काठियावाड़ के एक राजकाज-व्यवसायी घराने के वैभव में अपने बचपन के आरंभिक वर्ष बिताने और कुसंगति के पंक में फँसने से बाल-बाल बचने-वाले झेंपू मिजाज के एक साधारण नौसिखिए बैरिस्टर की स्थिति से उठकर वर्षों दुनिया की ठोकरें खाने के बाद कहीं महापुरुष गांधी के रूप में क्रमशः परिणत होते देखते हैं, वहाँ तिलक को हम मानों माता के गर्भ ही से अपने प्रखर तेज की संपूर्ण आभा लिये हुए और आरंभ ही से अपने फ़ौलादी व्यक्तित्व की वज्रतुल्य दृढ़ता का अभेद्य कवच धारण किए हुए इस लोक में अवतीर्ण होते पाते हैं! दूसरे शब्दों में, हम उन्हें उस कोटि के महामानव के रूप में देखते हैं, जिसमें आचार्य शंकर, महामति कौटिल्य अथवा महर्षि वेदव्यास को हम प्रतिष्ठित पाते हैं! वह एक जन्मजात स्वयंसिद्ध महापुरुष के रूप में लोक के सन्मुख आए और उसे चमत्कृत कर गए। उन्हें अपने 'महापुरुषत्व' की सिद्धि के हेतु यहाँ आकर कोई नया पाठ पढ़ने की आवश्यकता ही न रही, और न उनके जीवन में द्वन्द्व का भाव ही रहा। वह तो प्रकट हुए आरंभ ही से गगनस्पर्शी ऊँचाई पानेवाले पर्वतराज की भाँति, न

कि एक-एक मंज़िल क्रमशः ऊपर उठनेवाली अट्टालिका की तरह! इसीलिए तो जहाँ तक कि उनकी चारित्र्यिक दृढ़ता, प्रखर प्रतिभा, राजनीतिक उग्रता, और मातृभूमि के उद्धार-विषयक तन्मयता का सम्बन्ध है, सन् १८८० ई० और सन् १९१९ ई० के तिलक में कोई विशेष अन्तर हमें नहीं दिखाई पड़ता, और आरम्भ से अन्त तक अपने इतिहास की अर्द्धशताब्दीव्यापी दीर्घ अवधि भर हम उन्हें एक ही समान उच्च स्वर से अपना वज्र-आघोष उद्घोषित करते जो देखते हैं, उसका भी यथार्थ रहस्य इसी बात में है। उनमें वस्तुतः ऋषित्व का भाव आरम्भ ही से इतना विकसित था कि काल के पर्दे को भेदकर भावी के गर्भ में छिपे हुए इस महादेश के भाग्य की अदृष्ट रेखाओं को स्पष्टतः उन्होंने पढ़ लिया था!

तभी तो आज से लगभग पौन शताब्दी पूर्व ही, जब कि हमारे अन्य आरंभकालीन अग्रनेता हृदय से मातृभूमि की मुक्ति के लिए लालायित होने पर भी तरह-तरह की मृग-मरीचिकाओं के भ्रम-जाल में पड़े हुए थे, उन्होंने इस महादेश को ग़ुलामी की बेड़ियों में जकड़े रखनेवाले विदेशी शासकों के कूटनीति-चक्र की असलियत को सही-सही पहचानकर एवं उनके धोखा देनेवाले मीठे वचनों के जंजाल में न फँसने के लिए स्पष्ट शब्दों में हमें सचेत कर हमारे उद्धार के उन अमोघ मंत्रों का निर्देश कर दिया था, जिनको अपनाकर ही अंत में हम राजनीतिक स्वातन्त्र्य का अपना स्वप्न आज पूरा कर पाए! उन्होंने अपनी क्रान्त दृष्टि द्वारा आरंभ ही से वस्तुस्थिति की तह में पैठकर यह परम तथ्य जान लिया था कि हमारे शासक जिस 'न्याय' की दुहाई देते थे वह शासक और शासितों के बीच का न्याय नहीं, प्रत्युत स्वयं शासितों के ही एक दूसरे के प्रति न्याय के बर्त्ताव तक सीमित एक ढोंग मात्र था! इसीलिए बार-बार डंके की चोट पर वह कहते थे कि 'यह ध्रुव सत्य है कि इस विदेशी सत्ता ने इस देश को बिलकुल बर्बाद कर दिया है। हाँ, आरंभ में हम सबकी आँखों में उसने चकाचौंध पैदा कर दिया था और हम सोचने लगे थे मानों हमारे ये शासक जो कुछ भी करते हैं सब हमारे हित के ही लिए किया जाता है! हम यही सोचते थे कि यह अंग्रेज़ी राज्य मानों आकाश के बादलों में से देवदूत की भाँति हमें न केवल तैमूरलंग और चंगीज़ खाँ जैसों के विदेशी आक्रमणों से बल्कि, जैसा कि हमारे ये शासक हमें सिखाते रहे, हमारे अपने देश के भीतरी आपसी कलह से बचाने के लिए भी अवतीर्ण हुआ था! और इस भ्रम में उलझकर कुछ समय तक तो निस्संदेह हम अपने को बड़ा सुखी समझते रहे, परन्तु शीघ्र ही आखिर यह सत्य हमसे छिपे बिना नहीं रह सका कि, जैसा कि पूज्य दादाभाई ने एक बार कहा था, जो कथित शान्ति इस देश में प्रस्थापित की गई और हम आपस में एक-दूसरे का गला काटने से जो रोके गए, सो केवल इसीलिए था कि ये विदेशी आकर हम सबका गला काट सकें! वस्तुतः ब्रिटिश साम्राज्य की इस देश में प्रस्थापना का एकमात्र लक्ष्य ही यह है कि विदेशी अंग्रेज़ इस भूमि का निरंतर शोषण कर सकें!' और इसी परम तथ्य की मानों व्याख्या करते हुए इस महान् लोकनायक ने हमें साफ़-साफ़ बता दिया कि 'प्रत्येक अंग्रेज़ इस बात को जानता है कि उसके जाति-भाई इस देश में केवल मुट्ठीभर हैं, अतः उनमें से हर एक अपना यह परम कर्त्तव्य समझता है कि वह यह बात झूठ-मूठ जँचाकर लगातार हमें बेवकूफ़ बनाता रहे कि हम एकदम कमज़ोर हैं और हमारे मुक़ाबले में वह परम शक्तिशाली है!' इस प्रकार स्थिति की नग्न वास्तविकता के प्रति हमारा ध्यान खींचकर उस महान् राष्ट्र-निर्माता ने पहलेपहल इस भूली हुई शपथ के स्वर फिर से हमारे कानों में झंकृत कर दिए कि 'स्वतंत्रता तो मेरा एक जन्मसिद्ध अधिकार है और जब तक उसका भाव मेरे अंतस्तल में जागरूक है, मैं बूढ़ा नहीं होने का! इस भावना को न तो कोई शस्त्र काट सकता है, न आग उसे भस्म कर सकती है, न पानी उसे गला सकता है, और न हवा उसे सुखा ही सकती है।'

लोकमान्य के ऋषित्व के संबंध में इससे अधिक कहने की आवश्यकता ही क्या है कि 'स्वराज्य' की प्रस्थापना तथा विदेशी शासन-तंत्र के उन्मूलन की माँग से लेकर राष्ट्र-भाषा एवं राष्ट्र-लिपि के रूप में हिंदी एवं देवनागरी की प्रतिष्ठा तक राष्ट्र-निर्माण-विषयक सभी सूत्रों का वर्षों पूर्व ही वह मंत्रोच्चार

कर चुके थे, जो कि आगे चलकर गांधीजी के नेतृत्व में हमारे नवनिर्माण के प्रधान सूत्र बन गए। उन्होंने साफ़ यह उद्घोषित कर दिया था कि 'मैं स्पष्टत: यह संकेत-चिह्न देख रहा हूँ कि ब्रिटिश शासन का गढ़ ध्वस्त होने को है और उसमें विनाश का क्रम शुरू हो चुका है!' इसीलिए तो उच्च स्वर में वह अपने देशवासियों से कहते थे कि 'भारतमाता हममें से प्रत्येक को उठ खड़ा होने और कुछ कर दिखाने के लिए पुकार रही है और मैं नहीं मानता कि उसके सुपुत्र उसकी इस पुकार पर कान न देंगे!' इसीलिए महायुद्ध के समय जब अंग्रेज़ काफ़ी दबे हुए थे तब उस अवसर से लाभ उठाकर एक झटके के साथ अपनी गुलामी की बेड़ियाँ तोड़ने के लिए ज़ोरों के साथ हमें ललकारते हुए उन्होंने ये चिर-स्मरणीय शब्द उद्घोषित किए थे कि 'इस स्वर्ण सुयोग को हाथ से जाने देकर तुम आनेवाली पीढ़ियों का अभिशाप अपने ऊपर ले रहे हो। तुम्हारी इस निष्क्रियता के लिए तुम्हारी भावी पुत्रियाँ और पुत्र ग्लानियुक्त लज्जा का अनुभव करेंगी और आगामी पीढ़ियाँ तुम्हें कोसेंगी! अतः साहस से काम लो और जो कुछ करना है इसी क्षण करो! लोहा गरम है तब तक उस पर चोट करने से चूको मत, और सफलता का वरदान तुम्हारे हाथ है!' काश कि हम उसी समय अपने इस महान् नेता की आवाज़ पर कुछ कर गुज़रते तो आज से तीस वर्ष पूर्व ही उस मंज़िल पर पहुँच गए होते जिसके कि लिए बाद में इतने अधिक समय तक हमें लथड़ते रहना पड़ा, और उस दशा में तो तब न केवल हमारा ही प्रत्युत सारे संसार का इतिहास आज संभवतः कुछ और ही होता!

तिलक के रूप में भारत ने आज के अपने युग का मानों साक्षात् दूसरा कौटिल्य पाया। यह तपस्वी धर्मनिष्ठ ब्राह्मण यद्यपि स्वभाव से तो ज्ञानार्जन, सत्यसाधना और एकान्त मनन-चिन्तन ही के लिए निर्मित हुआ था, किन्तु स्वदेश की आर्त्त पुकार और स्वतंत्रता की लगन ने उसे अपने यथार्थ जीवन-क्षेत्र को लाँघकर लड़ाई के मैदान में उतर पड़ने तथा ज्वलंत क्षात्र धर्म को अपनाने के लिए विवश कर दिया! उसने अकर्मण्यता और मोह की प्रगाढ़ निद्रा में सोए हुए इस देश को 'कर्मयोग' का धधकता पाठ पढ़ाकर स्वयं अपने उदाहरण द्वारा हमें मुक्ति का राजमार्ग दिखाया, साथ ही हमारे अंतस्तल में जगा दिया एक अद्भुत स्वाभिमान एवं राष्ट्रीय उत्कर्ष की आकांक्षा का कभी भी न मिटनेवाला भाव! इसमें तनिक भी संदेह नहीं कि वह इस युग का हमारा सबसे महान् राजनीतिक गुरु था, जैसे गांधीजी हमारे सबसे महान् सेनानी हैं। किसी ने कितना सही कहा है कि 'संसार ने तिलक को सन् १८८० ई० का भारत सिपुर्द किया था और उन्होंने संसार को वापस दिया सन् १९२० का भारत!' उन्होंने ही पहले-पहल 'स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है और हम उसे लेकर ही रहेंगे', यह साहसिक घोषणा कर हमारे राजनीतिक क्षेत्र में से भय की भावना भगाई और निर्भयतापूर्वक अपने अन्तस्तल में निहित सच्ची राष्ट्रीय आकांक्षाओं की यथार्थ अभिव्यक्ति करने का उज्ज्वल उदाहरण प्रस्तुत किया! उन्होंने ही फूँक-फूँककर क़दम रखनेवाले और बात-बात में ब्रिटिश न्याय की दुहाई देनेवाले आरंभकाल के हमारे राजनेताओं से कोसों आगे बढ़कर पहले-पहल सिंह-गर्जना के साथ इस देश की आज़ादी के ध्येय की स्पष्ट रूपरेखा प्रकट की और उसे प्राप्त करने के उस सच्चे पथ की लीक प्रस्थापित की, जिसे कि 'उग्र' और 'गरम' कहकर तत्कालीन अन्य नेता भय खाते थे! उनकी बहुमुखी प्रतिभा का इससे अधिक और क्या प्रमाण चाहिए कि जहाँ राजनीति के क्षेत्र में अकेले ही हाथ क्रमशः सभी से लोहा लेकर वह अपनी उस अगम्य ऊँचाई पर पहुँचने में सफलीभूत हुए, वहाँ दर्शन और धर्म के क्षेत्र में 'गीतारहस्य' जैसी गंभीर कृति प्रस्तुत करने, पत्र-कला के क्षेत्र में 'केसरी' और 'मराठा' जैसे जनपत्रों को जन्म देने और पांडित्य के क्षेत्र में 'ओरायन' तथा 'आर्कटिक होम इन दि वेदाज़' जैसे महान् अनुसंधान-ग्रन्थ संसार के सामने रखने में वह समर्थ हुए! उनकी महानता के परिचय में तो केवल गांधीजी द्वारा उनको दी गई यह सूत्रवत् उपमा ही पर्याप्त है कि वह तो थे 'महासागर के समान'! और आज तक कौन इस दुनिया में कभी महासागर की गहराई को सही-सही नापने में सफल हो सका है?

सुरेन्द्रनाथ बेनर्जी

कांग्रेस के आरंभिक युग के नेताओं में 'बंगाल के शेर' सुरेन्द्रनाथ बेनर्जी का अपना एक विशिष्ट स्थान है। सुरेन्द्रनाथ अपने ज़माने में 'देश के बेताज बादशाह' के नाम से पुकारे जाते थे और बंगाल के तो लगातार कई वर्ष तक वही सर्वप्रधान राजनीतिक लोकनायक रहे। वह कांग्रेस में पहलेपहल सन् १८८६ ई० में कलकत्ते के द्वितीय अधिवेशन के समय सम्मिलित हुए थे। तब से लगातार कई वर्ष तक उनका उस पर ऐसा आधिपत्य रहा कि चाहे जो भी सभापति होता, किन्तु प्रत्येक अधिवेशन में आकर्षण के प्रधान केन्द्र रहते थे सदैव सुरेन्द्रनाथ ही। इसका बहुत-कुछ श्रेय उनकी असाधारण वक्तृत्व-शक्ति को था, जिसमें ऐसा कुछ जादू था कि कई लोग तो केवल उनका भाषण सुनने ही के लोभ से कांग्रेस के अधिवेशनों में सम्मिलित होते थे! इस विषय में यदि समसामयिक नेताओं में कोई और उनसे टक्कर लेने की क्षमता रखता था तो वह था उन्हीं के प्रान्त का एक और महान् वक्ता लालमोहन घोष। किन्तु सुरेन्द्रनाथ जनसाधारण को प्रभावित करने में लालमोहन से भी बाज़ी मार ले जाते थे। उनकी हुङ्कार में ऐसा बल था कि भारत-सरकार के भूतपूर्व गृह-मंत्री तथा कांग्रेस के बीसवें अधिवेशन के अध्यक्ष सर हेनरी कॉटन ने एक बार लिखा था कि 'मुलतान से चटगाँव तक केवल अपनी वाणी के बल पर सुरेन्द्रनाथ चाहें तो एक बलवा खड़ा कर सकते हैं, चाहे भारी से भारी विद्रोह को दबा भी सकते हैं!' निस्संदेह सुरेन्द्रनाथ की कोटि के वक्ता भारत क्या संसार भर में इने-गिने ही हुए होंगे। किन्तु केवल अपनी भाषणपटुता ही के कारण उन्होंने हमारे हृदय पर विजय पाई हो सो बात नहीं थी। वह अपने समय के एक सच्चे जनसेवक, सुदृढ़ योद्धा और उच्च कोटि के राजनीतिज्ञ भी थे। उन्होंने कांग्रेस की प्रस्थापना से कहीं पहले ही देश के सार्वजनिक क्षेत्र में उतरकर राजनीतिक जागरण के एक अग्रदूत का काम किया था और कांग्रेस में आने के बाद तो वर्षों तक वही उसके कर्णधार-से रहे और उसके विकास तथा स्वरूप-निर्धारण में उन्होंने कुछ कम महत्त्वपूर्ण योग न दिया। वही इतिहासप्रसिद्ध बंगभंग-विरोधी आन्दोलन के प्राण थे और अपनी सिंह की-सी दहाड़ से स्वदेशी और बहिष्कार के पक्ष में तहलका मचाकर उन्होंने सरकार का दिल दहला दिया था। और तो और, आज से चालीस वर्ष पूर्व ही जेल के उन सीखचों का भी परिचय वह पा चुके थे, जिनसे बाद के दिनों में इस देश के प्रत्येक राष्ट्रभक्त को परिचित होना पड़ा! यद्यपि यह सच है कि अपने राजनीतिक जीवन के उत्तरकाल में, जब हमारी राष्ट्रीयता उग्र वेश धारण कर सामने आने लगी, तब अन्य अनेक नरम नेताओं की भाँति सुरेन्द्रनाथ को भी नेपथ्य की ओर खिसक जाना पड़ा और वह पहले की तरह नए मोर्चों पर खड़े होकर हमारा नेतृत्व न कर सके। किन्तु इसके लिए हम न तो उनकी विगत महान् सेवाओं को ही भुला सकते हैं, न राष्ट्रीय जागरण के इतिहास में उनके निश्चित स्थान को ही हिला सकते हैं। वस्तुतः भारतीय राजनीति के जिस युग में आकर सुरेन्द्रनाथ को पिछड़ना पड़ा, उसमें संभवतः उनके अपने ज़माने
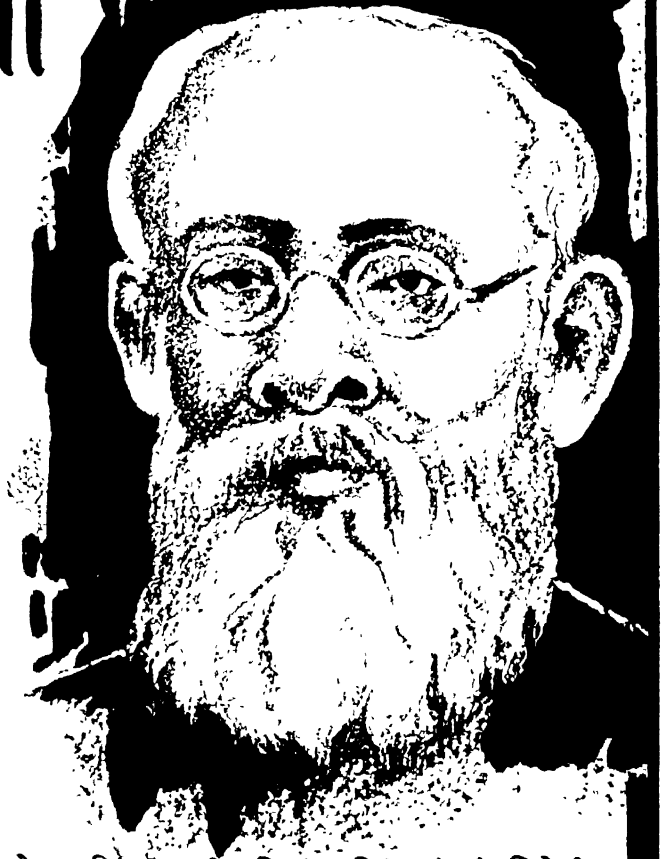
के प्रायः सभी उदारनीतिधर्मी नेताओं के लिए पीछे हटना अनिवार्य-सा था। ऐसा प्रायः प्रत्येक युग-परिवर्त्तन के समय होता आया है और होता रहेगा। क्या इस बात की संभावना न थी कि गांधी, जवाहर-लाल या सुभाष के इस युग तक यदि फ़ीरोज़शाह, आनन्दमोहन वसु या गोखले बने रहते तो उन्हें भी हम सुरेन्द्रनाथ की भाँति शास्त्री या सप्रू की लिबरल श्रेणी में ही खिसकते देखने लगते? फिर भी क्या हम उनकी पहले की सेवाओं और देन को कभी भुला सकते थे?

सुरेन्द्रनाथ का जन्म हुआ था १८४८ ई० में और मृत्यु हुई १९२५ ई० में। इस प्रकार दादाभाई की तरह उन्होंने भी इस युग के राजनीतिक उतार-चढ़ाव की कई मंज़िलें तय करने तथा स्वयं अपनी आँखों अपने द्वारा बोए गए राष्ट्रीयता के बीजों को क्रमशः फूलते-फलते देखने का अवसर अपने जीवन में पाया! उनके पिता श्री दुर्गाचरण बेनर्जी कलकत्ते के एक प्रख्यात डॉक्टर और प्रगतिशील विचार के व्यक्ति थे, अतएव सुरेन्द्र की शिक्षा-दीक्षा में किसी प्रकार की कसर न रहने पाई। वह ज्योंही कॉलेज से ग्रेजुएट होकर निकले, त्योंही आई० सी० एस० के लिए इंगलैण्ड भेज दिए गए और वहाँ से लौटने पर तुरंत ही सन् १८७१ ई० में सिलहट (आसाम) के असिस्टैण्ट मजिस्ट्रैट नियुक्त हो गए। किन्तु विधि का विधान तो कुछ और ही था! अतः थोड़े ही दिनों बाद अपने शासन-संबंधी कर्त्तव्य-विषयक किसी भूल-चूक तथा सहकारी गोरे अधिकारियों के द्वेष के फलस्वरूप उन्हें अपनी उस सरकारी नौकरी से हाथ धो लेना पड़ा और इंगलैण्ड जाकर स्वयं भारत-मंत्री से इस अन्याय के विरुद्ध अपील करने पर भी जब कोई अनुकूल परिणाम न निकला—यहाँ तक कि इसी कारण बैरिस्टरी की परीक्षा में भी बैठने से वह रोक दिए गए—तब एकबारगी ही सरकारी नौकरी अथवा वकालत का मोह त्यागकर वह वापस स्वदेश आ विशुद्ध सार्वजनिक सेवा के क्षेत्र में उतर पड़े और भरणपोषणार्थ कलकत्ते के 'मेट्रापालिटन इंस्टीट्यूशन' नामक शिक्षालय में उन्होंने अंग्रेज़ी के प्रोफ़ेसर का पद स्वीकार कर लिया। कहने की आवश्यकता नहीं कि अपने शिक्षण-कार्य के सिलसिले मे देश की उठती हुई पीढ़ी के तरुण पौधों को सींचने का अवसर पा सुरेन्द्रनाथ के अंतस्तल में भीतर ही भीतर आंदोलित नवजागरण की भावनाएँ अभिव्यक्ति का मार्ग खोजते हुए अब विविध प्रकार से अपना स्वरूप प्रकट करने लगीं। उन्होंने एक ओर तो 'स्टूडेण्ट्स एसोसिएशन' (विद्यार्थी-संघ) नामक एक संस्था के निर्माण में भाग लेकर विद्यार्थियों को संगठन के सूत्र में कसने एवं राजनीति के प्रति उनके मन में आकर्षण का भाव जगाने की ओर क़दम बढ़ाया और दूसरी ओर 'भारतीय एकता', 'इतिहास का अध्ययन', 'मेज़िनी का जीवन', 'चैतन्य-चरित्र', आदि विषयों पर ओजस्वी भाषण देकर ज़ोरों के साथ नवयुवकों के हृदय में अपने देश के उत्थान के लिए एक ज्वलन्त चिनगारी पैदा करने का भी प्रयास करना आरम्भ किया। और अपनी असाधारण वक्तृत्व-शक्ति के बल पर शीघ्र ही न केवल विद्यार्थियों ही में बल्कि कलकत्ते के सारे शिक्षित समाज में वह इतने अधिक लोकप्रिय बन गए कि विवेकानन्द जैसे उद्भट विचारक तक उनके श्रोताओं में प्रायः बैठे देखे जाने लगे!

तब अपने कार्यक्षेत्र की परिधि को और भी विशद बनाने के अभिप्राय से उन्होंने श्री आनन्द-मोहन बोस तथा अन्य कुछ उत्साही जनसेवकों के साथ मिलकर उस सुप्रसिद्ध 'इंडियन एसोसिएशन' की स्थापना में हाथ लगाया, जिसने कि कांग्रेस के जन्म से दस वर्ष पूर्व ही पहलेपहल एक अखिल भारतीय राजनीतिक मंच के रूप में सामने आकर आरम्भ के उन दिनों में जनजागरण की पताका फहराने में महत्त्वपूर्ण योग दिया। इस संस्था के निम्न चार उद्देश्य घोषित किए गए थे—१. देश में एक सशक्त जनमत का निर्माण करना; २. सभी जातियों और वर्गों का राजनीतिक हितों की भित्ति पर एकीकरण करना; ३. हिन्दू-मुसलमानों में बंधुत्व की भावना को बढ़ावा देना; और ४. सभी सार्वजनिक आंदोलनों में साधारण जनता का सहयोग प्राप्त करना! यह एक उल्लेखनीय बात है कि इन्हीं व्यापक उद्देश्यों को लेकर दस वर्ष बाद अंत में क्रमशः कांग्रेस की भी वेदी समुत्थित हुई, जिससे अनुमान किया जा सकता है कि हमारे चरितनायक तथा उनके सहयोगियों की

उन दिनों की सूझ में कितनी अधिक दूरदर्शिता थी! वस्तुतः अपने इस आरम्भिक प्रयास द्वारा उन्होंने मानों सुझाव के रूप में पहले ही से आगे की राजनीति के विकास-क्रम की एक सम्पूर्ण लीक-सी प्रस्तुत कर दी थी! यही नहीं, उन्हीं को पहले-पहल यह बात भी सूझी थी कि सब प्रान्तों के प्रतिनिधि बुलाकर एक अखिल भारतीय राजनीतिक सम्मेलन किया जाय, जिसके कि दो अधिवेशन कांग्रेस के आविर्भाव से पहले ही क्रमश १८८३ और १८८५ ई० के दिसम्बर मास में कलकत्ते में 'इंडियन नेशनल कान्फ़रेन्स' के नाम से धूमधाम के साथ उन्होंने सचमुच ही करके दिखा भी दिए! साथ ही इस देश के सार्वजनिक जीवन में उन तूफ़ानी देशव्यापी राजनीतिक दौरों की परिपाटी जारी करने का भी श्रेय उन्हें ही दिया जाना चाहिए, जो कि आज हमारे राष्ट्रीय नेताओं के संग्राम के एक अनिवार्य आवश्यक अंग जैसे बन गए हैं! उन्होंने ही पहली बार सन् १८७७ ई० में आगरा, लाहौर, अमृतसर, मेरठ, दिल्ली, अलीगढ़, कानपुर, इलाहाबाद, लखनऊ, बनारस आदि उत्तरी भारत के प्रधान नगरों और तदुपरान्त अगले वर्ष बम्बई, सूरत, अहमदाबाद, पुना, मद्रास आदि पश्चिमी तथा दक्षिणी भारत के मुख्य जनकेन्द्रों का एक व्यापक दौरा कर अपने ओजस्वी भाषणों की बौछार से जनसाधारण में एक नवीन राजनीतिक चेतना जगाने का सफल प्रयास किया था, एवं समसामयिक नेताओं से मिलकर देश के विविध प्रान्तों की राजनीतिक धाराओं को एक ही विशाल नद में सम्मिलित करने का भी सबसे पहला सक्रिय प्रयत्न किया था, जिसके कि लिए युग-युग तक उनका नाम इतिहास में याद किया जाता रहेगा!

सन् १८८० ई० में सुरेन्द्रनाथ 'मेट्रापालिटन इंस्टीट्यूशन' से पृथक् होकर 'फ्री चर्च कॉलेज' में अंग्रेज़ी के प्रोफ़ेसर हो गए, जिस पद पर लगभग पाँच वर्ष तक वह बने रहे। तदुपरान्त काफ़ी लंबे अरसे तक 'प्रेसीडेन्सी इंस्टीट्यूशन' नामक एक छोटी-सी शिक्षण-संस्था की बागडोर हाथों में लेकर उसकी ही उन्नति और वृद्धि के प्रयास में वह लगे रहे। यही विद्यालय अंत में सुप्रसिद्ध 'रिपन कॉलेज' में परिणत हो गया, जो आज के दिन कलकत्ते के एक प्रमुख शिक्षा-केन्द्र के रूप में उनकी स्मृति को जगाए हुए है। इन्हीं दिनों श्री उमेशचन्द्र बेनर्जी द्वारा संस्थापित प्रसिद्ध 'बंगाली' पत्र का स्वत्व-भार खरीदकर वह जर्नलिज़्म (पत्रकला) के क्षेत्र में भी उतर पड़े और सन् १८८३ ई० में अदालत की तीव्र आलोचना करने के कारण मानहानि के अपराध में दो महीने के लिए जेल की भी हवा खा आए! इसके अतिरिक्त लार्ड लिटन की प्रतिगामी सरकार द्वारा जारी किए गए 'वर्नाक्यूलर प्रेस ऐक्ट' तथा 'आर्म्स ऐक्ट' नामक दो काले क़ानूनों के विरोध में एक ज़बर्दस्त मोर्चा खड़ा करके तथा वैधानिक ढंग से देश की राजनीतिक प्रगति का कार्य करने के लिए एक 'राष्ट्रीय फंड' की योजना में भी हाथ बँटाकर, उन्होंने कुछ ही समय में न केवल अपने प्रान्त ही के प्रत्युत सारे भारतवर्ष के राजनीतिक आँगन में अपने लिए एक निश्चित स्थान बना लिया, और १८८४ ई० में फिर से एक लंबा राजनीतिक दौरा कर सारे उत्तरी भारत को अपनी सिंह की-सी दहाड़ से गुँजा दिया! तो फिर क्या आश्चर्य था कि इसके शीघ्र ही बाद जब नवसंस्थापित कांग्रेस का युग आरंभ हुआ तो देखते ही देखते वह उसके एक चोटी के नेता बन गए और अपने प्रान्त की राजनीति की तो कई वर्षों के लिए सारी बागडोर उन्हीं के हाथों में केन्द्रित हो गई! यह एक उल्लेखनीय बात है कि कांग्रेस के मंच पर पहलेपहल क़दम रखते ही उन्होंने आज से साठ वर्ष पूर्व कलकत्ते के द्वितीय अधिवेशन में निश्चित शब्दों में यह अपूर्व घोषणा की थी—'स्वशासन प्रकृति की एक स्वाभाविक व्यवस्था है, वह विधि का अमिट विधान है। प्रकृति ने स्वयं अपने हाथों अपनी पोथी में यह सर्वोपरि व्यवस्था अंकित कर रक्खी है कि प्रत्येक राष्ट्र को अपने भाग्य का आप ही निर्माता होना चाहिए!' और यद्यपि वह जीवन भर दादाभाई, फ़ीरोज़शाह या गोखले की भाँति ब्रिटेन के प्रति राजभक्ति का संबंध बनाए रखते हुए ही देश-भक्ति की साधना करने के असंगत मार्ग को अपनाए रहे, फिर भी जैसा कि बंग-भंग के आन्दोलन के युग में प्रखर रूप से उन्होंने दरसा दिया था, कभी भी नौकरशाही की मनमानी नीति के आगे उन्होंने अपने घुटने न झुकाए और अन्याय के

विरुद्ध तो उनकी वाणी सदैव आग बरसाती रही! जब सन् १८९० ई० में कांग्रेस की ओर से एक शिष्ट-मंडल (डेपुटेशन) इंगलैण्ड भेजा गया तो सुरेन्द्रनाथ भी उसमें थे और उन्होंने अपनी असाधारण वक्तृत्व-शक्ति द्वारा ऐसी ज़ोरदार आवाज़ इस देश की माँगों के पक्ष में वहाँ बुलंद की कि एक तहलका-सा मच गया। इन्हीं और अन्य अनेक सेवाओं के उपलक्ष्य में पाँच वर्ष बाद पूना में कांग्रेस के ग्यारहवें अधिवेशन का सभापतित्व का ताज पहनाकर देश ने उनका यथोचित सम्मान किया और इसके बाद १९०२ ई० के अहमदाबाद-अधिवेशन में पुनः एक बार और राष्ट्रपति की गद्दी को सुशोभित करने का गौरव उन्हें प्रदान किया गया! इन दोनों ही अवसरों पर ऐसे ज़ोरदार और अद्भुत भाषण उन्होंने दिए कि लगातार तीन-तीन चार-चार घंटे तक लिखित कॉपी पर एक बार भी नज़र डाले बिना ही वह बोलते रहे, पर क्या मजाल था कि मौखिक और लिखित वक्तृताओं में एक शब्द का भी अंतर पड़ जाय!

इसी बीच लार्ड रिपन के ज़माने में नूतन सुधारों के परिवर्त्तन के फलस्वरूप प्रांतीय धारा-सभाओं का विस्तार किये जाने पर वह बंगाल-कौंसिल के सदस्य भी बन चुके थे, जिस पद पर कि लगभग आठ वर्ष तक वह बने रहे। साथ ही कलकत्ता-कारपोरेशन में भी चुने जाकर उसके भी एक प्रभावशाली कार्यकर्त्ता वह बन गए थे। इसके अतिरिक्त १८९७ ई० में सुप्रसिद्ध वेल्बी कमीशन के समक्ष गवाही देने के लिए पुनः कुछ समय के लिए वह विलायत भी हो आए थे और उधर अपने सुप्रसिद्ध पत्र 'बंगाली' को एक दैनिक में परिवर्त्तित कर पत्रकला के क्षेत्र में भी सबसे आगे की पंक्ति में प्रतिष्ठित हो चुके थे। तब आया १९०५ ई० की उस प्रख्यात बंग-भंग-विरोधी हलचल का ज़माना, जिसने हमारे नवजागरण के अनुष्ठान में एक बिजली-सी दौड़ा दी, और अपने प्रान्त के सर्वोपरि नेता के रूप में स्वभावतः ही सुरेन्द्रनाथ को उस आन्दोलन का प्रमुख सूत्रधार बनना पड़ा। उन्होंने अपनी दहाड़ से हमारे राजनीतिक वातावरण को प्रकम्पित कर तथा स्वदेशी और बहिष्कार (बॉयकाट) के अमोघ अस्त्रों को संधान कर सारे बंगाल को इस प्रकार गृह-विभाजन की उस गर्हित नीति के विरोध में खड़ा कर दिया कि विदेशी सरकार का कलेजा काँप उठा! इस उमड़ते हुए जनबल का ज्वार रोकने के लिए जब गोरे शासकों ने अपनी सुपरिचित दमन-नीति का आश्रय लिया तो विरोध की आग और भी अधिक प्रचण्ड हो चली और फलतः देश के राजनीतिक आँगन में राजशक्ति के साथ जनशक्ति के संघर्ष का एक बिलकुल नया रूप उठ खड़ा हुआ। कहते हैं, जिस दिन सरकारी घोषणा के अनुसार बंगाल का दो टुकड़ों में विभाजन होने को था, वह दुर्दिन सारे प्रान्त में एक राष्ट्रीय शोक-दिवस के रूप में मनाया गया, जगह-जगह हड़तालें की गईं, और लोगों ने मातम जताते हुए अपने घरों में उस दिन चूल्हे भी न जलाए! कई ने तो नंगे पैर जाकर गंगा-स्नान तक किया और उपवास रक्खा, साथ ही अपनी जन्मजात एकता और अभिन्नता के प्रतीक के रूप में परस्पर राखी बाँधकर दृढ़तापूर्वक इस कृत्रिम अंग-च्छेद का विरोध करने तथा गृह-विभाजन की इस योजना से डटकर लोहा लेने का निश्चय प्रकट किया! स्थानाभाववश अपने इतिहास के आधुनिक पर्व के जनशक्ति के उभार के उस गौरवपूर्ण अध्याय की सम्पूर्ण रूपरेखा प्रत्याङ्कित कर सकने में हम असमर्थ हैं, केवल यही भर कहना पर्याप्त होगा कि बंग-भंग-विरोधी इस महान् आंदोलन ने ही आगे आनेवाले हमारे विराट् जनान्दोलनों की लीक प्रस्थापित कर पहलेपहल हमारी राष्ट्रीय शक्ति के सक्रिय प्रयोग का एक प्रखर उदाहरण प्रस्तुत किया और इस प्रकार नेताओं को जनता के निकट संपर्क में लाकर इस देश की आज़ादी की लड़ाई को कोरे वाक्-युद्ध की स्थिति से ऊपर उठाकर एक यथार्थ रण-संग्राम में परिणत करने का रास्ता दिखाया! इसी आंदोलन ने पहलेपहल पुलिस की लाठियों और संगीनों तथा जेल की हथकड़ी-बेड़ियों की परवा न करते हुए 'वन्दे-मातरम्' के राष्ट्रीय गीत का हृदयहारी स्वर हमारे घर घर में गुँजाया! उसी ने विदेशी माल के बहिष्कार द्वारा स्वदेश-प्रेम की लौ जगाकर हमें अपने पैरों पर खड़ा होने के लिए प्रोत्साहित किया और अपने अधिकारों के लिए सीना तानकर लड़ने तथा दमन के आगे किसी भी दशा में सिर न झुकाने

का सामूहिक रूप से हमें पहला पाठ पढ़ाया। और इसका बहुत-कुछ श्रेय था हमारे चरितनायक सुरेन्द्रनाथ को ही, जो कि इस आन्दोलन का प्रवर्त्तन और संचालन करनेवालों में अग्रणी थे। उन्होंने ही उस युगांतरकारी 'स्वदेशी की शपथ' का सर्जन किया था, जिसके अनुसार हज़ारों-लाखों नर-नारियों ने विदेशी वस्तुओं का पूर्णतया बहिष्कार करके और अपने दैनिक व्यवहार में केवल शुद्ध स्वदेशी चीज़ों ही को काम में लेने की प्रतिज्ञा की थी। इस प्रकार हमारे भावी संग्राम के हेतु एक नवीन शस्त्र की योजना करने के साथ-साथ देश के कुचले हुए उद्योग-धंधों को फिर से अपने पैरों पर खड़ा करने के कार्य में उन्होंने अनमोल योग दिया था। उन्होंने विद्यार्थियों को स्कूल-कॉलेज की चहारदीवारी से बाहर आ देश के राजनीतिक प्रांगण में कूदने के लिए उभाड़कर तथा पिकेटिंग आदि में भाग लेने के लिए प्रोत्साहित कर दमन पर तुली हुई सरकार के लिए एक टेढ़ी समस्या खड़ी कर दी थी और जब 'वन्देमातरम्' के सार्वजनिक रूप से गाये जाने पर अधिकारियों द्वारा बंदिश लगा दी गई थी तो इस अन्यायपूर्ण बंदिश को तोड़ने के लिए जनता का नेतृत्व कर बंगाल प्रान्तीय राजनीतिक सम्मेलन के इतिहास-प्रसिद्ध बारीसाल-अधिवेशन में पुलिस के लाठी-चार्ज तक का सामना करके गिरफ़्तार होने से भी वह नहीं चूके थे!

किन्तु यह सब-कुछ होते हुए भी सुरेन्द्रनाथ थे राजनीति के क्षेत्र में मूलतः नरम नीति पर चलनेवाले व्यक्ति ही—वह एक हद तक ही आग के साथ खेलने के हिमायती थे। वह स्वभावतः ही क्रान्ति के बजाय वैधानिक ढंग से सुधार के पक्षपाती होने के कारण फूँक-फूँककर पैर रखने की सलाह देनेवाले नेता थे। यही कारण था कि जब भारतीय राजनीति की धारा उग्र बनकर अविराम गति से क्रान्ति के महासागर की ओर बढ़ते दिखाई देने लगी तो फ़ीरोज़शाह, गोखले आदि अपने युग के अन्य अनेक नरम नेताओं की तरह सुरेन्द्रनाथ भी उसके बहाव का साथ न दे सके—उन्हें तिलक, लाजपतराय, अरविन्द घोष, शिशिरकुमार घोष और विपिनचन्द्र पाल आदि के नेतृत्व में दिन-प्रतिदिन बढ़ती चली जा रही उग्र राजनीतिक प्रवृत्ति की ज्वाला से कांग्रेस के मंच को बचाने के लिए अलग से मोर्चा बाँधने को विवश हो जाना पड़ा। जैसा कि लोकमान्य तिलक का परिचय देते समय पहले कहा जा चुका है, सन् १९०७ के प्रसिद्ध सूरत-कांग्रेस-अधिवेशन में देश के राजनीतिक आँगन के इन तथाकथित 'नरम' और 'गरम' दलों के बीच का व्यवधान और भी अधिक चौड़ा हो गया, जब कि लोकमान्य को बोलने से रोकने पर पंडाल में हुल्लड़बाज़ी का एक तूफ़ान-सा उठ खड़ा हुआ। इस घटना से नरम दलवाले, जिनका कि इन दिनों कांग्रेस पर प्रभुत्व था, चौकन्ने हो उठे और उन्होंने अलग से सभा कर तुरंत ही स्वराज्य के लिए एक विधान तैयार कर ब्रिटिश साम्राज्य के अंतर्गत रहते हुए ही स्वशासन की प्राप्ति करना कांग्रेस का लक्ष्य घोषित करने में कल्याण समझा। साथ ही यह भी स्पष्ट कर दिया गया कि इस लक्ष्य की सिद्धि केवल विशुद्ध वैधानिक साधनों से ही करना उन्हें अभीष्ट है। स्वभावतः ही उग्र दलवाले कई लोगों ने इस निर्णय को मानने से साफ़ इन्कार कर दिया और फलतः कई दिनों के लिए उन्हें कांग्रेस के मंच से एक प्रकार से अलग हट जाना पड़ा। इस प्रकार आगामी दस वर्ष तक कांग्रेस पर फ़ीरोज़शाह, गोखले, सुरेन्द्रनाथ आदि मॉडरेट नेताओं का ही निरंकुश प्रभुत्व बना रहा। परन्तु कांग्रेस के मंच पर अपना दबदबा बनाए रखने पर भी जनक्षेत्र में उनका नेतृत्व दिन पर दिन मंद ही होता चला गया, कारण तिलक, लाजपतराय, आदि द्वारा जो सरगर्मी पैदा हो चली थी उसे दबा पाना किसी के लिए भी संभव न था। आख़िरकार सन् १९१४-१८ के महायुद्ध के समाप्त होते-होते तक तो इस देश की आज़ादी की लड़ाई ने ऐसा रूप धारण करना शुरू कर दिया कि उसमें सुरेन्द्रनाथ जैसों के लिए अब जगह ही नहीं रह गई। एक ओर, विशेषकर बंगाल में, आतंकवाद का ज़ोर दिन पर दिन पर बढ़ता जा रहा था, तो दूसरी ओर श्रीमती एनी बैसेन्ट ने अपना 'होमरूल' आन्दोलन शुरू कर दिया था, जिसे लोकमान्य तिलक का भी पूर्ण सहयोग प्राप्त था। इस आन्दोलन में हाथ न बँटाने के कारण सुरेन्द्रनाथ की लोकप्रियता को काफ़ी धक्का लगा और वह एक प्रकार से 'आराम-कुर्सी के

राजनीतिज्ञ' की स्थिति में सीमाबद्ध हो गए! अंत में सन् १९१८ ई० में 'नरम' दलवालों ने सदा के लिए कांग्रेस के मंच से अलग हो जाने ही में भलाई समझी और 'नेशनल लिबरल फेडरेशन' के नाम से एक नई राजनीतिक संस्था की प्रस्थापना कर उन्होंने अपना पृथक संगठन कर लिया। इस संस्था के पहले अधिवेशन के सभापति सुरेन्द्रनाथ ही बनाए गए। तब से हमारे चरितनायक का राजनीतिक जीवन मुख्य जनक्षेत्र से हटकर अब और भी संकुचित घिरौंदे में बद्ध हो गया। अन्य लिबरलों की तरह उन्होंने भी मांटेगू-चेम्सफ़र्ड सुधारों का हृदय से स्वागत किया और उन्हें लागू करने के लिए सरकार का हाथ बँटाने को वह सहर्ष तैयार हो गए! अपनी इसी नीति का अनुसरण करते हुए नवसुधारों के अनुसार निर्मित बंगाल की प्रान्तीय कौंसिल में लोकल सेल्फ़ गवर्नमेण्ट (स्वायत्त शासन) के मंत्री का पद उन्होंने स्वीकार कर लिया और जबकि देश गांधीजी के नेतृत्व में असहयोग के महान् आन्दोलन का पाठ पढ़कर स्वातंत्र्य-संग्राम के अगले क़दम की तैयारी में लगा था, उन्होंने गोरी नौकरशाही के साथ सहयोग करने ही में औचित्य का अनुभव किया! निस्संदेह यह सुरेन्द्र-नाथ के राजनीतिक उतार का सबसे निचला समय था। किन्तु अब वस्तुतः न केवल उनकी राजनीति ही की प्रत्युत उनकी इहलौकिक जीवनलीला के संध्याकाल की भी अंतिम घड़ी समीप आ पहुँची थी। सन् १९२१ में वह 'सर' की उपाधि से विभूषित हो चुके थे और इसके दो वर्ष पूर्व कुछ दिनों के लिए एक नरमदली डेपुटेशन के साथ पुनः विलायत की यात्रा भी कर आए थे। तब सन् १९२४ ई० में मंत्रि-पद से निवृत्त होने पर लगभग एक वर्ष 'ए नेशन इन मेकिङ्ग' शीर्षक अपनी महत्त्वपूर्ण आत्मकथा को संपूर्ण करने और प्रकाशित करने में उन्होंने बिताया, और इसके शीघ्र ही बाद ६ अगस्त, सन् १९२५ ई०, के दिन सतहत्तर वर्ष की आयु में सदा के लिए आँखें मूँद इस असार संसार से वह विदा हो लिये! इस प्रकार एक दीर्घव्यापी किन्तु रोचक जीवन का अंत हुआ और उसके साथ ही समाप्त हो गया हमारे देश के आधुनिक इतिहास का मानों एक पिछला पूरा अध्याय भी!

सुरेन्द्रनाथ थे अपने युग के भारत के एक असाधारण लोकसेवक तथा हमारी आरम्भिक राजनीति का निर्माण करनेवाले एक प्रभावशाली नेता और चाहे उनकी विशिष्ट नीति पिछले दिनों में देश की उग्र राजनीति का साथ न दे पाई तो क्या, किन्तु उनका हृदय तो सदैव ही इस भूमि की भलाई के लिए तड़पता रहा और देश-भक्ति विषयक उनकी उदार भावनाओं की लौ कभी भी मलिन या मंद न पड़ने पाई। वह कितने उदार और ऊँचे विचारोंवाले व्यक्ति थे, इसकी कुछ-कुछ झलक उनकी आत्मकथा के अन्त में उल्लिखित उनके निम्न उज्ज्वल वाक्यों में हमें मिल सकती है, जो कि अपने देशवासियों के नाम उनका अंतिम संदेश था—'हम मानव-जाति के शेष भाग से बिछुड़कर एकदम पृथक् और एकाकी खड़े नहीं रह सकते। हमें सबके साथ घनिष्ठ संपर्क बनाए रखते हुए मिल-जुलकर ही चलना होगा, अपने पास जो कुछ देने योग्य है उसे दूसरों को देते हुए और जो कुछ दूसरों से लेने योग्य हो उसे सहर्ष लेते हुए, जिससे कि मानवीय ज्ञान और अनुभव का सामान्य भाण्डार निरंतर परिवर्द्धित होता रहे। ...हमें निरंतर आगे बढ़ते जाना ही होगा—अतीत के प्रति श्रद्धाभावपूर्वक अपनी दृष्टि रखते हुए, वर्त्तमान के प्रति एक ममत्वपूर्ण अपेक्षा का भान बनाए हुए और भविष्य के प्रति एक गंभीर चिन्ता एवं उत्कण्ठा की भावना मन में बसाए हुए।' वस्तुतः सुरेन्द्रनाथ थे दादाभाई या फ़ीरोज़शाह की भाँति हमारे राजनीतिक पुनरोदय के पूर्वार्द्ध-काल के प्रहरी, उत्तरार्द्ध के नहीं, यद्यपि विधाता ने दीर्घायुष्य प्रदान कर उन्हें गांधीजी के युगारंभ की भी एक झाँकी देखने का सुअवसर दिया। अतः उनकी महानता की नाप-जोख करते समय विशेष रूप से उनकी उन आरंभिक सेवाओं ही को ध्यान में रखकर हमें उनकी ऊँचाई का अनुमान करना चाहिए, जो कि एक अग्रदूत के रूप में उन्होंने कांग्रेस के बचपन के दिनों में तथा उसके जन्म से भी पूर्व की थीं, न कि उनके उत्तरकालीन राजनीतिक जीवन की विशिष्ट नीति ही को पसन्द या नापसन्द करके, जो नए ज़माने के लिए एक बीते युग की बात हो गई थी।

गोपाल कृष्ण गोखले

जब गांधीजी सन् १८९६ ई० में पहले-पहल दक्षिणी अफ्रीका से लौटकर वापस स्वदेश आए थे, तब भारतीय राष्ट्रीय क्षितिज के तत्कालीन त्रिशिखर-रूप सर फ़ीरोज़शाह मेहता, लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक और महामान्य गोपाल कृष्ण गोखले, इन तीनों ही नेताओं से बारी-बारी से उन्होंने भेंट की थी। उस समय की अनुभूति का उल्लेख करते हुए उन्होंने अपनी 'आत्मकथा' में लिखा है—'मुझे सर फ़ीरोज़शाह हिमालय जैसे, लोकमान्य समुद्र के समान और गोखले गंगा के तुल्य प्रतीत हुए। इस गंगा ही में मैं नहा सकता था—हिमालय पर तो चढ़ा नहीं जा सकता था और समुद्र में भी डूब जाने का भय था! गंगा ही की गोद में मैं खेल-कूद सकता था!' वस्तुतः इससे अधिक मार्मिक और चुभता हुआ उपयुक्त परिचय हमें गोखले का अन्यत्र नहीं मिल सकता। वह सचमुच ही गंगा के समान सबके लिए सुलभ और कल्याण-प्रद, साथ ही उस पतित-पावनी भागीरथी की भाँति एकदम उज्ज्वलचरित, धवल-कीर्त्ति और निर्मल थे। वह थे तो एक सच्चे आदर्शवादी और अपने अंतस्तल की गहराई में जीवन भर आदर्श के ही पुजारी वह बने रहे, किन्तु उनकी आदर्शवादिता व्यावहारिक और इहलौकिक ही थी निरी स्वप्निल नहीं! उन्होंने कभी अपने देशवासियों की महत्त्वाकांक्षाओं की कोई परिधि या सीमा न बाँधी, किन्तु साथ ही साथ संभव और असंभव लक्ष्य का सामयिक अंतर भी उन्होंने अवश्य पहचाना और उसे सदैव अपने सामने रक्खा। वह सत्य के ऐसे कट्टर उपासक थे कि जिस बात को उनकी अंतरात्मा ठीक समझती, उससे तिलभर भी उन्हें कोई डिगा नहीं सकता था, किन्तु इस पर भी उनके स्वभाव में कटुता का लवलेश भी नहीं पाया जाता था—उनमें कठोर से कठोर बात को भी कोमल से कोमल शब्दों में सार्थकतापूर्वक व्यक्त करने की अद्भुत क्षमता थी। सच पूछिए तो उनकी महानता का रहस्य उनकी सौम्यता, निष्कपटता और सचाई ही में निहित था। वह त्याग, नैतिकता और सत्याचरण की मूर्त्ति थे और

विचार, वाणी एवं कर्म तीनों को मानों एक ही तागे में पिरोए हुए थे। और उनकी देशभक्ति का तो यह हाल था कि किसी भी सार्वजनिक विषय की चिंता लगते ही उनकी नींद तक हवा हो जाती थी! ऐसे महापुरुषों का किसी भी देश में पैदा होना ही एक गौरव की बात होती है और उनके कार्यों से भी अधिक उनका व्यक्तित्व ही राष्ट्र के लिए एक प्रकाशस्तम्भ बन जाया करता है। यही कारण है कि हमारी राष्ट्रीयता के उग्र वेश धारण कर लेने पर भी उदारनीतिधर्म्मी गोखले अभी भी हमारे लिए पूज्य और अनुकरणीय बने हुए हैं। गांधीजी ने तो उन्हें एक प्रकार से अपना राजनीतिक गुरु-सा ही मान लिया है और स्वीकार किया है कि 'राजनीति के क्षेत्र में जो स्थान जीते-जी गोखले ने मेरे हृदय में पाया और मरने के बाद भी अब तक पा रक्खा है, वह दूसरा कोई न पा सका!' और तो और जिन्ना जैसे अहम्मन्य और घोर प्रतिक्रियावादी व्यक्ति के भी मुँह से कभी ये शब्द निकलते सुनाई दिए हैं कि 'यह मेरी परम आकांक्षा है कि मैं मुसलमानों का गोखले बन सकूँ!'

यह एक उल्लेखनीय बात है कि अपने महान् विपक्षी लोकमान्य तिलक की भाँति गोखले का भी जन्म महाराष्ट्र की उस प्रख्यात चित्पावन ब्राह्मण जाति ही में हुआ था, जिसमें पेशवाओं से लेकर स्वनामधन्य रानड़े तक विविध महाराष्ट्रीय जननायक पिछली दो शताब्दियों में पैदा हुए हैं। उनका जन्मस्थान रत्नागिरि ज़िले के चिपलूण तालुके का काटलुक नामक एक छोटा-सा गाँव था और जन्मतिथि थी ९ मई, सन् १८६६ ई०। कहते हैं, जब गोपालराव की उम्र केवल तेरह वर्ष की थी तभी उनके पिता कृष्णराव इस लोक से एकाएक चल बसे थे, फलतः उनका शिक्षाकाल बड़ा ही कष्टपूर्ण बीता। उनके बड़े भाई गोविन्दराव को अपना पढ़ना-लिखना अधूरा ही छोड़कर कोल्हापुर-राज्य में पंद्रह रुपए मासिक की एक नौकरी कर लेने को विवश होना पड़ा और उसी की आमदनी से आठ रुपए प्रति मास बचाकर वह अनुज की पढ़ाई का खर्च चलाने लगे। अपने इस विद्यार्थी-काल में गोखले की आर्थिक दशा इतनी अधिक खराब थी कि दिया जलाने तक को पैसा न रहने के कारण वह प्रायः सड़क के लेम्पों के नीचे बैठकर ही पढ़ा करते थे! इसी प्रकार क्रमशः राजाराम कॉलेज (कोल्हापुर), डेक्कन कॉलेज (पूना) और एलफ़िंस्टन कॉलेज (बम्बई) में रहकर उन्होंने सन् १८८४ ई० में अठारह वर्ष की अल्पायु ही में बी० ए० की उपाधि प्राप्त की और तब पूना के नवसंस्थापित 'न्यू इंग्लिश स्कूल' में ३५) रु० मासिक पर शिक्षक का कार्य करते हुए वह स्थानीय डेक्कन कॉलेज में कानून का अध्ययन करने लगे। उनका शिक्षा-सम्बन्धी उत्साह कितना उत्कट था इसका कुछ अनुमान हम इस बात से लगा सकते हैं कि क़ानून की पढ़ाई का प्रथम वर्ष समाप्त होने पर जब फाइनल पढ़ाई के लिए बम्बई के लॉ-कालेज में जाकर पढ़ना आवश्यक हुआ तो वह अपनी पूना की नौकरी करते हुए ही प्रति सप्ताह रेल से बम्बई की दौड़ लगाकर अपने अध्ययन का क्रम जारी रखने लगे! और उनकी सरल रहन-सहन तथा मितव्ययिता का तो यह हाल था कि अपनी ३५) रु० की मासिक आय में से भी काफ़ी रकम प्रति मास बचाकर वह अपने भाई के पास परिवार का ऋण चुकाने के लिए घर भेज देते थे!

यहाँ इस बात का उल्लेख करना अप्रासंगिक न होगा कि महाराष्ट्र के लिए यह युग एक अभूतपूर्व जागृति और नवोत्थान की लहर के उभार का युग था। इन दिनों उस प्रान्त में एकाएक अपनी प्राणहारी तंद्रा त्यागकर फिर से उठने और आगे बढ़ने की एक ज़बर्दस्त हूक-सी जग उठी थी और रानड़े, देशमुख, जोशी, चिपलूणकर, तिलक तथा आगरकर आदि कतिपय उत्साही अग्रनेताओं के नेतृत्व में शिक्षा तथा सुधार का एक ज़ोरदार क्रियात्मक आन्दोलन वहाँ शुरू हो चुका था, जिसका प्रधान केन्द्र था पूना, जो कि हर दृष्टि से महाराष्ट्रीय संस्कृति का नैसर्गिक पीठस्थान था। इन्हीं दिनों की बात है कि सुप्रसिद्ध 'न्यू इंग्लिश स्कूल' की प्रस्थापना कर तथा आजीवन सार्वजनिक सेवा का व्रत लेकर श्री विष्णुशास्त्री चिपलूणकर, लोकमान्य तिलक और आगरकर आदि महाराष्ट्र के उगते हुए नेताओं ने आत्मत्याग और निःस्वार्थ सेवा की भित्ति पर प्रस्थापित पूर्वोल्लिखित प्रख्यात 'डेक्कन एजूकेशन सोसायटी' को जन्म दिया था और

'केसरी' तथा 'मराठा' जैसे जनप्रतिनिधि पत्रों को निकालकर अपने प्रान्त के जीवन में एक अद्भुत जागृति की लहर उत्पन्न कर दी थी। तो फिर युवक गोखले इस विद्युत्मय वातावरण के प्रभाव से भला क्योंकर अछूते रह सकते थे, विशेषकर उस दशा में जबकि 'न्यू इंग्लिश स्कूल' के एक शिक्षक के रूप में उन्हें इस जागृति के प्रमुख नेताओं के निकट संस्पर्श में आने का नित्य ही अवसर मिलता था? वस्तुत अपने कॉलेज-जीवन ही में उनका हृदय नवजागरण के इस आन्दोलन के प्रति इतने अधिक ज़ोरों के साथ खिंच चुका था कि जब प्रसिद्ध 'बर्वे-केस' के सिलसिले में 'केसरी' की मदद के लिए चंदा उगाया जाने लगा और इसी उद्देश्य से सहायतार्थ पूना में कुछ लोगों द्वारा एक नाटक खेला गया तो युवक गोखले ने जी खोलकर उसमें योग दिया था और उस अभिनय में उन्होंने सफलतापूर्वक एक स्त्री का पार्ट खेला था! अपने इन आरंभ के दिनों में वह विशेषकर लोकमान्य तिलक के प्रकाण्ड व्यक्तित्व के प्रति अत्यधिक आकर्षित थे और समय बीतने पर जब तिलक का आकर्षण उनकी निगाह में से कुछ कम होने लगा तो उनके स्थान में अब उन पर दिन पर दिन आगरकर का प्रभाव बढ़ने लगा। कहते हैं, आगरकर ही के आग्रह से 'मराठा' के कॉलमों में लिखना आरंभ कर हमारे चरितनायक ने सार्वजनिक विषयों पर पहलेपहल क़लम चलाना भी सीखा। तब आया वह समय जबकि शिक्षा समाप्त होने पर तिलक और आगरकर ने इस प्रतिभाशाली युवक को सार्वजनिक सेवा की वेदी पर अपने आपको उत्सर्ग कर देने के लिए आमंत्रित कर 'डेक्कन एजूकेशन सोसायटी' का स्थायी सदस्य बन जाने के लिए उसका आह्वान किया और गोखले के सामने अपने जीवन के सबसे महान् निर्णय का प्रश्न आ खड़ा हुआ! उनके सामने एक ओर तो थी मातृभूमि की प्रबल पुकार और दूसरी ओर थी परिवार की माँग—एक ओर था आजन्म ग़रीबी का बाना पहन केवल भरणपोषणार्थ अल्प पारिश्रमिक ले समाज-सेवा की वेदी पर अपने समस्त सांसारिक सुखों और आकांक्षाओं की बलि चढ़ाने का मार्ग तो दूसरी ओर था वकालत करके अथवा कोई बड़ी-सी सरकारी नौकरी पाकर अपने आपको तथा अपने परिवार को निर्धनता के उस दलदल में से ऊपर उठा सुख-समृद्धि की प्राप्ति करने का खुला द्वार! वस्तुतः यह उनके लिए एक विकट अग्नि-परीक्षा का समय था। पर अन्त में वैयक्तिक सुख-समृद्धि के प्रलोभन से मातृभूमि की पुकार और आदर्श के प्रति निष्ठा ही अधिक बलवती साबित हुई और ज्यों-त्योंकर अपने बड़े भाई की सम्मति प्राप्त कर केवल ७५) रु० मासिक पर वह 'डेक्कन एजूकेशन सोसायटी' के सदस्य बन गए एवं जब १८८५ ई० में सोसायटी द्वारा संचालित 'न्यू इंग्लिश स्कूल' सुप्रसिद्ध 'फ़र्ग्यूसन कॉलेज' में परिणत कर दिया गया तो तिलक और आगरकर की भाँति वह भी उसमें प्रोफ़ेसर के रूप में काम करते हुए उच्च वर्गों को अंग्रेज़ी के साथ-साथ गणित भी पढ़ाने लगे।

किन्तु युवक गोखले के इस आरंभिक जीवन के आत्मत्याग और 'डेक्कन एजूकेशन सोसायटी' में उनके उपर्युक्त प्रवेश से भी अधिक उल्लेखनीय और महत्त्वपूर्ण घटना तो थी वस्तुतः स्वनामधन्य महादेव गोविन्द रानड़े के साथ इन्हीं दिनों उनका आकस्मिक परिचय होना और दोनों के बीच उस आजन्म गुरु-शिष्य-संबंध की स्थापना होना, जिसके कि परिणामस्वरूप अंत में गोखले वास्तव में आगे आनेवाले गोखले बन सके! जैसा कि पिछले एक प्रकरण में बताया जा चुका है, न्यायमूर्त्ति रानड़े इस युग के महाराष्ट्र के एक अन्यतम प्रकाशस्तंभ थे और सरकारी पदाधिकारी होते हुए भी देश की राजनीतिक और सामाजिक उत्थान-विषयक हलचलों में परोक्ष अथवा अपरोक्ष रूप से इतनी गहराई के साथ उनका हाथ था कि अपने प्रान्त की राजनीति के एक प्रकार से वह आदि-गुरु कहे जा सकते थे। वह समाज-सुधार के क्षेत्र में तो बहुत ही 'गरम' और उग्र' थे, किन्तु राजनीति के आँगन में विशुद्ध 'मॉडरेट' अर्थात् नरम नीतिवाले थे। इसीलिए अपने प्रान्त के जनक्षेत्र में उस नवोत्थित युगधारा के वह एकदम विपक्ष में थे, जो कि इन्हीं दिनों लोकमान्य तिलक के नेतृत्व में महाराष्ट्र में ज़ोरों के साथ समुच्छ्वसित होने लगी थी तथा जिसकी नीति थी राजनीति के प्राङ्गण में एक-

दम 'उग्र' या 'गरम' रुख रखते हुए समाज-सुधार के आँगन में फिलहाल बिल्कुल धीमी या 'नरम' चाल से चलना! कहने की आवश्यकता नहीं कि यह महादेव गोविन्द रानड़े ही का प्रभाव था कि गोखले जीवन भर के लिए एक मॉडरेट राजनीतिज्ञ बन गए और अपने महान् समसामयिक नेता तिलक की राजनीति के साथ उनका कभी भी मेल न हो सका! वस्तुतः रानड़े को गोखले के रूप में मिल गया अपना मनचाहा उपयुक्त शिष्य और गोखले ने रानड़े में पा लिया अपना सच्चा गुरु और पथप्रदर्शक! दूरदर्शी रानड़े ने अपने इस भावी राजनीतिक उत्तराधिकारी की कुशाग्र बुद्धि, डटकर काम करने की अध्यवसाय-वृत्ति तथा गणितज्ञ की भाँति सूक्ष्म जाँच-परख एवं गवेषणासहित किसी भी विषय का गहन अध्ययन करने की स्वाभाविक प्रवृत्ति को भाँपकर आरंभ ही से उसे देश के शासन-तंत्र, अर्थ और राजस्व विषयक जटिल प्रश्नों और तत्संबंधी बारीकियों का आँकड़ों सहित सूक्ष्म अनुशीलन करने में जुटा दिया, जिसका सुफल वर्षों बाद आगे चलकर हमारे चरित-नायक के भारतीय अर्थ और राजनीति विषयक उस प्रकाण्ड पांडित्य के रूप में प्रकट हुआ, जिसने कर्ज़न जैसे वायसराय के भी छक्के छुड़ा दिए! रानड़े थे एक कठोर शिक्षक—वह केवल काम, ठोस काम ही में विश्वास करनेवाले जीव थे और कोरी बातों से वह कदापि संतुष्ट नहीं हो सकते थे। वह कहा करते थे कि ब्रिटिश नौकरशाही के पेचीदा जंजाल और उसका नियंत्रण करनेवाले कूटनीतिज्ञ विकट मस्तिष्कों से लोहा लेने के लिए आवश्यकता है उसके शासन-तंत्र की मशीनरी और तत्संबंधी पेचीदगियों का गहरा अध्ययन करने की, और इसीलिए सरकारी प्रकाशन-विभाग द्वारा प्रति वर्ष प्रकट की जानेवाली समस्त 'नीली', 'लाल' और 'हरी' पोथियाँ तथा दिमाग़ का पचड़ा निकाल देनेवाले उनके आँकड़ों की तालिकाएँ, लंबे-लंबे नीरस वक्तव्य एवं विविध टीका-टीप्पणियाँ आदि, आदि सभी-कुछ उनकी मेज़ पर ढेर की ढेर लदी रहती थीं और इसमें से कोई भी उनके अध्ययन के क्रम में छूटने नहीं पाती थी!

परन्तु यह पहाड़-सा काम भला अकेले आदमी के बूते का क्योंकर हो सकता था! इसीलिए वह प्रायः खीझ कर कह उठते थे—'कहाँ हैं वे कार्यकर्त्ता जो कि इस कूड़े को साफ़ करके आधुनिक भारत की नींव डालें?' केवल गोखले ही थे जो उनकी इस पुकार को सुनकर सामने आए, दूसरों ने शायद हिम्मत ही न की, और ऐसा एक त्यागी कार्यकर्त्ता जब उन्हें मिल गया तो रात-दिन जुटकर उन्होंने उसे उस पहाड़-जैसे काम को निबटाने के लिए शिक्षित करना आरंभ किया। कहते हैं, इतने निर्दय शिक्षक थे वह कि प्रायः ज्वर तक की दशा में भी वह शिष्य को उस काम से आराम नहीं लेने देते थे! वह न केवल उससे इस सारी नीरस सामग्री की छानबीन ही करवाते, प्रत्युत उसके आधार पर अंत में उससे अखबारों के लिए लेख और गवर्नमेण्ट के नाम बड़े-बड़े लंबे 'मेमोरियल' भी लिखवाते, जिनमें से एक को लिखते समय तो गोखले को एक बार लगातार बाईस घंटे तक एक बैठक पर बैठना पड़ा था! निश्चय ही ऐसे कठोर श्रम का बोझा उठाना असाधारण तथा धीर पुरुष ही का काम था। किन्तु अपने महान् गुरु के प्रति असीम श्रद्धा का भाव रखने एवं मातृभूमि के हित के लिए सर्वस्व निछावर करने के लिए तैयार होने के कारण गोखले ने कठिन से कठिन काम को भी करने में कभी हिचकिचाहट न की और इसी तरह अंत में वह पूर्ण रूप से सार्वजनिक क्षेत्र में नेतृत्व की बागडोर सँभालने के योग्य बन सके।

सन् १८८८ ई० में गोपाल कृष्ण ने अपने महान् गुरु द्वारा पोषित पूना की तत्कालीन प्रमुख जन-संस्था 'सार्वजनिक सभा' के मंत्रित्व का भार ग्रहण किया, साथ ही 'क्वार्टर्ली रिव्यू' नामक उसके अंग्रेज़ी मुखपत्र का संपादन भी वही करने लगे। इन्हीं दिनों की बात है कि 'डेक्कन एजूकेशन सोसाइटी' के अन्य सदस्यों के साथ गहन मतभेद हो जाने के कारण अपने एक साथी नामजोशी सहित तिलक उससे अलग हो गए और अपने परम मित्र आगरकर से भी राजनीतिक क्षेत्र में उन्होंने संबंध-विच्छेद कर लिया। फलतः सोसायटी तथा उसके द्वारा संचालित 'फ़र्ग्यूसन कॉलेज' की व्यवस्था का अधिकांश भार युवक गोखले के ही कंधों पर आ पड़ा! उधर जब तिलक तथा रानड़े के दलों में परस्पर विवाद बढ़ने के कारण पूना के सार्वजनिक जीवन में कड़ुवाहट की मात्रा दिन पर दिन जो बढ़ती चली

गई, उनसे भी वह न बच सके ! किन्तु इस समय तक वह सार्वजनिक क्षेत्र के एक मँजे हुए खिलाड़ी बन चुके थे, अतः 'केसरी' के कॉलमों में लोकमान्य की लौह लेखनी द्वारा निरन्तर अपने पर प्रहार होते रहने पर भी वह अपनी ग्रहण की हुई विशिष्ट नीति के पथ से विचलित न हुए। इस बीच आगरकर द्वारा निकाले गए 'सुधारक' नामक एक नवीन अंग्रेज़ी-मराठी पत्र के अंग्रेज़ी अंश को लिखने का भार भी उन्होंने अपने कंधों पर ले लिया था और देश की राजनीतिक तथा आर्थिक समस्याओं पर उसके कॉलमों में गंभीर विवाद छेड़कर अपने तद्विषयक प्रकाण्ड ज्ञान का प्रखर रूप से वह परिचय देने लग गए थे। तब सन् १८८९ ई० के बंबई-अधिवेशन में पहलेपहल कांग्रेस के भी मंच पर वह उतरे और इसके बाद से उनका व्यक्तित्व अपने प्रान्त की सीमाओं को लाँघकर अखिल भारतीय राजनीतिक प्राङ्गण में भी चमकने लगा। उन्होंने सन् १८९० ई० के कलकत्ता-अधिवेशन में नमक-कर के घटाने के सिलसिले में एक ज़ोरदार वक्तृता देते हुए यह साबित कर दिखाया कि सरकारी टैक्स के भार से किस प्रकार एक पैसे क़ीमत की नमक की टोकरी पाँच आने की क़ीमत की बनकर ग़रीबों के माथे पड़ती है, और इसी प्रकार अगले एक अधिवेशन में सरकारी नौकरियों के भारतीयकरण के पक्ष में बोलते हुए रोषपूर्वक उन्होंने कहा कि 'सन् १८३३ के क़ानून की भाषा और १८५८ ई० की घोषणा इतनी स्पष्ट है कि जो लोग उस समय दिए गए आश्वासनों के अनुसार सुविधाएँ देना नहीं चाहते, उन्हें दो में से एक बात, और वह भी बड़े दुःख के साथ, स्वीकार करनी पड़ेगी कि या तो वे मक्कार हैं या दग़ाबाज़ ! उन्हें यह मानने के लिए तैयार होना ही पड़ेगा कि इंगलैण्ड ने जब ये आश्वासन दिए थे तब उसने ईमानदारी से काम नहीं लिया था !' और यद्यपि उनकी उम्र अभी केवल चौबीस-पचीस साल ही की थी फिर भी उनकी वाणी में इतना ज़ोर था कि सारे देश की आँखें अब बलपूर्वक उनकी ओर खिंच चलीं और इस प्रकार सार्वजनिक क्षेत्र में उनका सितारा दिन पर दिन ऊँचा चढ़ने लगा।

किन्तु उनके उत्थान का यह मार्ग बिल्कुल कंटक-रहित भी नहीं था, क्योंकि जैसा कि पिछली पंक्तियों में कहा जा चुका है, रानडे के नरम दल के साथ रहने के कारण देश के राजनीतिक अखाड़े में तिलक जैसे गरम विचारवालों के साथ उनकी सदैव गहरी टक्कर होती रही और उनके प्रति उठनेवाले इस विरोध का सबसे प्रबल गढ़ बन गया स्वतः उनका अपना केन्द्र पूना ही, जहाँ कि वह उतने लोकप्रिय कभी भी न बन सके जैसे कि अखिल भारतीय क्षेत्र में बनते जा रहे थे। जब सन् १८९५ ई० में पूना ही में कांग्रेस का अधिवेशन करना ठहराया गया और रानडे के प्रभाव से गोखले ही उसकी स्वागत-समिति के मंत्री चुने गए तो विरोधी पक्ष के हाथों वह इस बुरी तरह लथेड़े गए, उनकी ऐसी खिल्ली उड़ाई गई और उनके राह में इतने रोड़े अटकाए गए कि उनका अति भावुक हृदय राजनीतिक क्षेत्र की दलबन्दी से उत्पन्न इस कड़वी घूँट को पीते हुए एक बार तिलमिला-सा उठा। फिर भी उन्होंने अपना धैर्य नहीं छोड़ा और जिस बात को वह ठीक समझते रहे, उससे कटु-से-कटु आलोचना द्वारा भी कभी डिगाए न जा सके। इस समय तक आगरकर, आप्टे आदि अपने विविध सहयोगियों के एक के बाद एक संसार से उठ जाने के कारण फ़र्ग्यूसन कॉलेज तथा 'सार्वजनिक सभा' के संचालन का भार भी उन पर बढ़ता चला गया। फिर भी उन्होंने अपने कंधों पर लिये हुए काम को ढीला न पड़ने दिया और पत्र-पत्रिकाओं में लेख लिखकर, तथा सार्वजनिक मंच से निरंतर भाषण देकर हर प्रकार से अपने ढंग से जन-जागरण के कार्य में योग देते रहना उन्होंने लगातार जारी रक्खा।

इसके शीघ्र ही बाद, सन् १८९६ ई० में, अपने महान् गुरु की प्रेरणा से सर दिनशा वाचा के साथ प्रसिद्ध वेल्बी कमीशन के समक्ष गवाही देने के लिए गोखले इंगलैंड गए और अपनी गवाही में ब्रिटिश शोषण-नीति पर निर्भयतापूर्वक प्रहार कर तथा भारतीय राजस्व-विषयक अपने सूक्ष्म ज्ञान का परिचय देकर उन्होंने अंग्रेज़ राजनीतिज्ञों का ध्यान गहराई के साथ अपनी ओर खींच लिया। इन्हीं दिनों की बात है कि पूना में पहली बार प्लेग की महामारी का प्रकोप हुआ और उसके बन्दोबस्त के

सिलसिले में अधिकारियों द्वारा जनता पर की गई कतिपय ज्यादतियों की अफ़वाहें सुनकर गोखले ने विलायत में उनकी तीव्र निन्दा की, जिससे वहाँ एक सनसनी-सी फैल गई और बम्बई-सरकार से इस सम्बन्ध में जवाब तलब किया गया। किंतु जब उनके कथित आरोपों के लिए कोई प्रमाण न मिल सका और वे निराधार साबित हुए तो गोखले बड़े शर्मिन्दा हुए और स्वदेश वापस लौटने पर उन्होंने बम्बई-सरकार से अपने निराधार वक्तव्य के लिए तुरन्त ही क्षमा माँग ली! इस पर उनके विरोधियों ने उन्हें काफ़ी धिक्कारा और उनकी मखौल भी उड़ाई, परन्तु इस बात की उन्होंने तनिक भी परवा न की! इससे हम अनुमान कर सकते हैं कि सचाई और ईमानदारी के वह कितने प्रबल भक्त थे!

सन् १८९९ ई० में हमारे चरितनायक ने पहले-पहल बंबई लेजिस्लेटिव कौंसिल में प्रवेश किया और प्रान्त की शासन-संबंधी विविध समस्याओं संबंधी अपने मार्मिक अध्ययन, गहन विवाद-शक्ति एवं भाषण-प्रतिभा के बल पर उन्होंने शीघ्र ही उक्त सभा में अपनी गहरी धाक जमा ली। उन्होंने अभी-अभी दो भीषण अकालों के प्रहार से निपीड़ित प्रान्त की जनता को राहत पहुँचाने के प्रश्न पर गवर्नमेंट पर ज़ोर डालने में ज़रा भी कोर-कसर न रक्खी और कृषकों के कर्ज़, भूमि-कर संबंधी ज्यादती आदि, आदि विषयों पर तो वह लगातार कौंसिल में अपनी आवाज़ बुलंद करते रहे। इसी समय उनके महान् गुरु और पथप्रदर्शक रानड़े का देहावसान हो गया, जिससे उनके जीवन का मानों एक प्रकाशस्तम्भ छिन गया! किन्तु जिस कार्य को वह महान् अग्रदूत आरम्भ कर चुका था, योग्य शिष्य ने उसे उसके निधन के बाद भी तनिक भी ढीला न पड़ने दिया। वर्ष भर बाद ही गोखले फ़ीरोज़शाह मेहता द्वारा रिक्त किए गए स्थान पर वाइसराय की 'इम्पीरियल लेजिस्लेटिव कौंसिल' के सदस्य नियुक्त हो गए, जिस पद पर लगभग तेरह वर्ष तक अपनी मृत्यु-पर्यन्त वह बने रहे। कहना न होगा कि यहाँ आकर अब उनकी प्रतिभा मानों दूने प्रकाश के साथ चमक उठी और देश के राजनीतिक नेताओं में निर्विवाद रूप से सबसे अगली पंक्ति में वह प्रतिष्ठित हो गए। अपने इस कौंसिल-जीवन के आरंभिक दिनों में अकेले हाथ ही लार्ड कर्ज़न जैसे कूटनीतिज्ञ और प्रतिभावान शासक से डटकर लोहा ले उन्होंने नमक-कर, सैनिक खर्च, यूनिवर्सिटी बिल, सिडिशन बिल, आदि के विरोध में ज़ोरों के साथ अपनी आवाज़ बुलन्द की, जिसका परिणाम यह हुआ कि सरकार को तुरंत ही नमक-कर घटा देना पड़ा और उनके कई सुझावों को भी मानने को विवश होना पड़ा। कहते हैं, उनकी बजट-संबंधी इन दिनों की वक्तृताएँ तो इतनी मार्मिक तथा सूक्ष्म जाँच से परिपूर्ण होती थीं कि सरकार के लिए उनका जवाब तक देना मुश्किल हो जाता था! वस्तुतः अब सब कहीं यही कहा जाने लगा था कि यदि कर्ज़न का मुकाबला कर स्वयं उसके ही अस्त्र-शस्त्रों से उसे मात देने की कौंसिल में कोई सामर्थ्य रखता था तो वह थे महामान्य गोपाल कृष्ण गोखले ही! गोखले के हृदय में दीन-हीन निपीड़ित भारतीय किसान के लिए एक ज़बर्दस्त दर्द-भरा स्थान था और उसके हित को ध्यान में रखकर सरकार की कर तथा व्यय-सम्बन्धी नीति में संशोधन कराने की कोशिश में वह कभी भी न चूकते थे। किन्तु अन्त को विदेशी सरकार की असहानुभूतिपूर्ण नीति से वह भी ऊब-से उठे थे और स्वीकार करने लगे थे कि 'नौकरशाही अब खुल्लमखुल्ला स्वार्थी होती जा रही है और राष्ट्रीय आकांक्षाओं के प्रति वह खुलकर शत्रुता का व्यवहार करने लगी है।'

सन् १९०५ ई० का साल गोखले के जीवन का सबसे महत्त्वपूर्ण साथ ही सबसे अधिक रचनात्मक वर्ष कहा जा सकता है, क्योंकि इसी वर्ष काशी में कांग्रेस के इक्कीसवें अधिवेशन के वह सभापति बनाए गए और अपने गौरव की चिरस्मारकरूपी उस महान् राष्ट्रसेवी संस्था 'भारत-सेवक-समिति' का भी शिलारोपण इसी वर्ष उन्होंने किया, जो कि देश को उनका सबसे स्थायी वरदान है! यही नहीं, भारतीय स्वाधीनता के पक्ष में आन्दोलन मचाने के लिए दूसरी बार की अपनी वह प्रख्यात विलायत-यात्रा भी उन्होंने इसी वर्ष की, जिसमें केवल पचास दिनों में उस सुदूर विदेश में लगभग पैंतालिस व्याख्यान उन्होंने दिए थे, अनगिनत लेख लिखे थे और पचीसों राजनीतिज्ञों तथा पत्रकारों

से भेंट की थी! उनके व्यक्तित्व का इँगलेंडवालों पर कितना ज़बर्दस्त प्रभाव पड़ा था, इसका कुछ अनुमान हम 'नेशन' पत्र के महान् संपादकाचार्य मि० मेसिंघम के उन शब्दों द्वारा कर सकते हैं, जिसमें उन्होंने कहा था कि 'गोखले की टक्कर का कोई राजनीतिज्ञ आज के दिन इंगलेंड में नहीं है!' इस वर्ष के कांग्रेस के अधिवेशन में अपने सभापति-पद से गोखले ने जो भाषण दिया था, वह उनकी वक्तृताओं में एक विशिष्ट स्थान रखता है। उन्होंने बड़े व्यंग्यपूर्वक कहा था—'सज्जनो! इस तथ्य में कितनी सचाई है कि हर वस्तु का कभी न कभी अन्त आता ही है! इस प्रकार देखिए आखिर लार्ड कर्ज़न की उस नादिरशाही का भी अन्त आ ही गया!' उन्होंने अपनी इस वक्तृता में लार्ड कर्ज़न के शासन की तुलना औरंगज़ेब के शासन से की थी और बंग-विच्छेद को ज़माने की सबसे बड़ी शिकायत बताकर 'बहिष्कार' का अस्त्र संधानने के लिए देश का आह्वान किया था। उन्होंने अंग्रेज़ों के इस कुशासन-काल में देश की जो दुर्गति हो रही थी, उसका खाका खींचते हुए इस समय कहा था—'इंगलैंड के शासन में रहते हुए अब हमें लगभग सौ वर्ष हो चुके हैं, फिर भी आज के दिन हमारे प्रति पाँच गाँवों में से चार गाँव पाठशाला या स्कूल से वंचित हैं और प्रति आठ बच्चों में से सात को अंधकार और अज्ञान की दशा ही में छोटे से बड़ा होने दिया जाता है! आज तो इस देश की शासन-व्यवस्था द्वारा जनता के सच्चे हितों को पीछे ठेलकर सैनिक सत्ता, नौकरशाही और पूँजी-पतियों के हितों ही को पहला स्थान और बढ़ावा दिया जाता है! और इसके अलावा दूसरी कोई सूरत हो भी तो नहीं सकती. क्योंकि यह है एक देश के लोगों पर दूसरे देश के लोगों द्वारा शासन की दशा, जिसका कि परिणाम, प्रसिद्ध विचारक मिल के कथनानुसार, घोर बुराइयाँ पैदा होने के सिवा दूसरा हो ही नहीं सकता!...वस्तुतः एक जाति का दूसरी जाति पर प्रभुत्व, और वह भी उस दशा में जब कि दोनों की बुद्धि-प्रतिभा अथवा सभ्यता में कोई अधिक असमानता न हो. पराधीन जाति को हज़ार तरह से भयंकर हानि पहुँचाने में ही योग देता है। यदि नैतिक क्षेत्र में देखिए तो आज की हमारी यह स्थिति क्रमशः नवीन रचनात्मक प्रवृत्ति-विषयक हमारी शक्तियों का निरन्तर ह्रास करती जा रही है, कर्मक्षेत्र में वह हमें एकदम बौना जैसा बनाए दिए चली जा रही है और भौतिक क्षेत्र में उसके परिणाम-स्वरूप आज हमारी जनता एक भयभीत करनेवाली ग़रीबी के गर्त्त में गिर गई है!'

इसके शीघ्र ही बाद ब्रिटिश सरकार के आगे भारत का मामला रखने के लिए वह पुनः विलायत गए थे और भारत में प्रचलित दमन-नीति की तीव्र निन्दा करते हुए उन्होंने उसकी कड़ी जाँच की माँग की थी। वह प्रस्तावित मिंटो-मार्ले सुधारों के प्रवर्त्तन के पूर्व भारत-मंत्री लार्ड मार्ले से भी मिले थे और उनके समक्ष कई हितकारक सुझाव उन्होंने प्रस्तुत किए थे। अपनी इस यात्रा से वापस लौटने पर जब सूरत के तूफ़ानी अधिवेशन में 'नरम' और 'गरम' दलों के बीच की दरार अधिक चौड़ी हो गई और अगले दस वर्षों के लिए कांग्रेस की बागडोर पुनः पूर्णतया मॉडरेटों के ही हाथों में आ गई, तो गोखले उसके प्रधान कर्णधार बन गए और देश के विविध प्रान्तों का एक लंबा दौरा कर उन्होंने राजनीतिक आँगन में एकता की प्रस्थापना करने का ज़ोरदार प्रयत्न किया, यद्यपि इस कार्य में वह सफल न हो सके। इसी कालावधि में प्रवासी भारतवासियों की परि-स्थिति की जाँच के लिए वह दक्षिण अफ्रीका भी हो आए, जहाँ गांधीजी से परिचय प्राप्त कर उनके सत्याग्रह-संग्राम में महत्त्वपूर्ण सहायता उन्होंने दी। वहाँ से वापस भारत लौटने पर सत्याग्रह की प्रशंसा में हार्दिक उद्गार प्रकट करते हुए उन्होंने उसकी आध्यात्मिक महिमा की ओर विशेष रूप से देश का ध्यान खींचा था। यही नहीं, गांधीजी द्वारा प्रवर्त्तित दक्षिणी अफ्रीका के सत्याग्रह-संग्राम की मदद के लिए लाखों रुपया चंदा भी उन्होंने जमा करवाया था! अतः अनुमान किया जा सकता है कि यदि वह अधिक दिनों तक जीवित रहते तो महात्माजी के भावी संग्राम के प्रति उनका क्या रुख होता! परन्तु विधाता को मंजूर न था कि यह महान् जनसेवक और अधिक काल तक हमारे बीच रहता! गोखले ने सन् १९१४ ई० में बड़ौदा-नरेश के साथ पुनः कुछ समय के लिए योरप की यात्रा की, परन्तु इसी

बीच लड़ाई छिड़ जाने से शीघ्र ही उन्हें वापस आ जाना पड़ा और इसके वर्ष भर बाद ही १९ फरवरी, सन् १९१५ ई०, के दिन बीमार होकर ४९ वर्ष की आयु में वह इस संसार से सदा के लिए विदा हो लिये! मृत्यु के समय अपने एक मित्र से उन्होंने कहा था—'जीवन की यह बाजू तो मेरे लिए सुखद रही! समय आ गया है कि अब मैं चलूँ और देखूँ कि दूसरी बाजू कैसी है!'

गोपाल कृष्ण गोखले थे वस्तुतः कांग्रेस के मॉडरेट-युग के एक महान् राष्ट्रनायक! वह दादाभाई, फ़ीरोज़शाह मेहता और रानडे की परंपरा के राजनीतिज्ञ थे, और भारत में ब्रिटिश शासन का एकदम अंत करने के बजाय, उसके तत्त्वावधान में रहते हुए ही स्वाधीनता की प्राप्ति करने का स्वप्न वह देखते थे। वह लोकमान्य तिलक जैसे विद्रोह का मंत्र फूँकनेवाले एक महान् क्रान्तिकारी लोकनेता अथवा गांधीजी की भाँति सीधी कार्रवाई करनेवाले सेनानी नहीं, प्रत्युत शत-प्रतिशत वैधानिक ढंग से कौंसिलों, व्यवस्थापिका सभाओं एवं पब्लिक प्लेटफार्मों पर अपनी वाक्-शक्ति के बल पर देश की लड़ाई लड़नेवाले एक महान् 'पार्लामेंटेरियन' थे। यह सच है कि अपने युग की उग्र प्रवृत्तियों का साथ न दे पाने के कारण वह उस दर्जे तक जनता के हृदय के हार न बन पाए, जैसे कि उनके महान् समसामयिक जननायक तिलक अथवा उनके बाद आनेवाले गांधीजी बन सके, फिर भी अपने ज़माने में देश के लिए जो कुछ भी उन्होंने किया वह कोई कम मूल्यवान कार्य न था और उनका व्यक्तित्व तथा निष्कपट चरित्र तो हमारे लिए सदैव एक जीता-जागता पाठ रहेगा। जैसा कि उनके सबसे प्रबल आलोचक स्वयं लोकमान्य ने उनकी मृत्यु पर कहा था, वह थे सचमुच ही 'भारत के हीरे, महाराष्ट्र के रत्न और देशभक्तों में शिरोमणि।' और यदि और कुछ नहीं तो उनके द्वारा प्रस्थापित आजन्म देश-सेवा और त्याग का व्रत लेनेवाले चुने हुए लोकसेवकों की वह टोली 'भारत-सेवक-समिति' ही उनके नाम को हमारे इतिहास में अमर रखने के लिए पर्याप्त होगी!

अन्त में इस राष्ट्र-निर्माता के महान् चरित्र और जीवनादर्श पर प्रखर प्रकाश डालनेवाली उसकी एक जीवनी के सफल लेखक, श्री० शास्त्री, की निम्न उल्लेखनीय पंक्तियों को उद्धृत कर उसकी इस लघु प्रशस्ति को हम समाप्त करना चाहते हैं:—'गोखले ने कभी जनता को ठकुरसुहाती बातें सुनाकर न तो उसकी चापलूसी की, न कभी उसका अनुसरण ही किया! हाँ, यह अनुभव अवश्य किया कि कोई भी राजनेता एक हद से आगे जनसाधारण की मंशाओं के विरोध में नहीं टिक सकता और कुछ छोटी बातों में उसे उनका ख़याल करना ही पड़ता है ताकि बड़ी बातों में वह उन्हें अपने साथ ले सके। किन्तु तुच्छ से तुच्छ बातों में भी, जहाँ कि सिद्धान्त का सवाल उठ खड़ा होता था, कभी भी न तो सरकार के आगे और न अपने साथियों के सामने ही घुटने टेकने को वह तैयार हुए। इस दृष्टि से वह किसी के अनुगामी होने के बजाय कहीं अधिक सार्थक भाव से एक नेता थे, जो अपनी दृढ़ भावनाओं के झोंके में कभी-कभी यहाँ तक की ग़लती कर बैठते थे कि जनमत की नब्ज़ पर लगातार अपनी उँगली बनाए रखने से भी चूक जाते थे! वह कभी कभी भूल जाते थे कि अनुगामियों की विचारधारा उनकी अपनी विचारधारा का साथ नहीं दे पा रही है। वस्तुतः वह ऐसे थे कि लोगों ने तो अवश्य उनसे विचार ग्रहण किए, पर स्वयं उन्होंने उनसे आदेश नहीं लिया।......उन्हें तो जनता का मुँह देखकर उसके रुख के अनुसार चलने से हार्दिक घृणा थी, साथ ही आक्रमक प्रवृत्ति को जगानेवाले मनोभावों को उभाड़ने के ख़तरे से भी वह सदैव सतर्क रहते थे। उन्हें तो हर घड़ी अपने महान् गुरु का यह सूत्र याद रहता था कि नवजाग्रत राष्ट्रीय आत्म-सम्मान की भावना की प्राणधारा है राष्ट्रीय नैतिकता का मानदण्ड ऊँचा बनाए रखना। हमें ऐसा कोई काम नहीं करना चाहिए, जिसके कारण अंत में हमें शर्मिन्दा होना पड़े, यही उनका परम आदर्श-सूत्र था स्वयं अपने लिए और अपने देश के लिए भी!'

आज राष्ट्र-पिता गांधीजी के मन में गोखले के लिए यदि हम इतना अधिक सम्मान का भाव देखते हैं तो क्या इसीलिए नहीं कि सत्य के इस महान् उद्गाता की भाँति उनकी भी सारी राजनीति नैतिकता ही की नींव पर प्रस्थापित थी?

मदनमोहन मालवीय

८५ वर्ष की अपनी दीर्घ आयु के साठ से भी अधिक वर्ष देशसेवा की वेदी पर उत्सर्ग करनेवाले पंडित मदनमोहन मालवीय वह महाप्राण व्यक्ति थे जो अपने पावन चरित्र, विमल आचार और सौम्य व्यक्तित्व द्वारा इस बीसवीं शताब्दी के कोलाहलमय भौतिक युग में भी हमें पुराणों में वर्णित सतयुग की याद दिलाते थे। स्व० श्री चिन्तामणि के शब्दों में, इस देश के समसामयिक लोकनेताओं में मालवीयजी का स्थान केवल गांधीजी से ही दूसरे नंबर पर था और वही एक ऐसे महापुरुष थे कि जो साबरमती के उस महान् संत के समकक्ष बिठाए जा सकते थे! यह उज्ज्वलचरितयुक्त धवलवेशधारी सौम्यमूर्त्ति सात्विक ब्राह्मण तर्क और बुद्धिवाद के इस ज़माने में भी पुनः श्रद्धा और भावना का नारा बुलन्द करते दिखाई देता था, प्रयाग से काशी तक गंगा-तट पर फिर से ऋषियों के आश्रमों और तपोवनों की प्रस्थापना के स्वप्न वह देखता था, साथ ही अपने हृदय की तह में धधकती हुई देशभक्ति की आग से तड़पकर मातृभूमि की मुक्ति की लड़ाई में भी वह किसी से पिछड़ना नहीं चाहता था! यह सच है कि नई पीढ़ी को उसकी वह आवाज़ एक गए-गुज़रे ज़माने की पुकार-सी लगती थी और उसका जीवन परस्पर-विरोधी धाराओं के अनवरत संघर्ष से युक्त एक अनोखी पहेली-सा! यह भी बहुत-कुछ संभव है कि दिन पर दिन उमड़ते चले आ रहे विश्व-क्रान्ति के ओघ के इस भैरव रव में एक दिन उसका वह अतीत की ओर लौट चलने का स्वर सदा के लिए अंतर्लीन हो जाय और हम उसके सपनों के साथ ही भूल जाएँ उसके हृदय और मस्तिष्क के संघर्ष की अनोखी कहानी भी! किन्तु कभी भी क्या हमारे लिए यह संभव होगा कि हम उसकी अर्द्धशताब्दी-व्यापी महान् सेवाओं, उसके मोहक व्यक्तित्व, अचल निष्ठा, अनवरत संग्राम और असामान्य भावुकता को अपने स्मृति-पट से मिटा सकें? महामना मालवीयजी न तो गांधी-जी जैसे युगस्रष्टा ही थे, न लोकमान्य, देशबन्धु या मोती-लालजी की कोटि के कट्टर राज-नीतिज्ञ ही। वह तो, जैसा कि स्व० चिन्तामणि ने कहा था, नख से शिख तक केवल भावनाओं की मूर्त्ति थे—शत-प्रति-शत हृदय ही हृदय! किन्तु इसीलिए तो वह हमारे पूज्य बन गए! इसीलिए तो जब तक वह हमारे बीच रहे हम न तो उनकी वाणी के जादू का ही लोभ संवरण कर सके, न उनके प्रति आदर से शीश झुकाए बिना ही कभी रह सके!

मालवीयजी का जीवन हमारे देश की गौरव-प्रशस्ति के आधुनिक सर्ग का एक पूरा पृथक्

अध्याय है। वह इतना लम्बा-चौड़ा और सर्वतोमुखी है कि उसका विस्तारपूर्वक संपूर्ण विवरण देना यहाँ सम्भव नहीं है। अकेली कांग्रेस के साथ ही उनका साठ वर्ष का सुदीर्घ सम्बन्ध रहा और अलावा इसके काशी-हिन्दू-विश्वविद्यालय, हिन्दू-महासभा, सनातन-धर्म-महासभा, हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, ब्राह्मण-महासभा, गोरक्षा-आन्दोलन, सेवा-समिति आदि और भी न जाने कितनी ही सार्वजनिक संस्थाओं और हलचलों के भी वह प्राण रहे! और तो और, यदि उनकी समस्त वक्तृताओं का ही संकलन किया जाय तो संभवतः इस युग का एक दूसरा महापुराण तैयार हो जाय! और सबसे बड़ी कठिनाई तो यह है कि उनके सार्वजनिक जीवन की कहानी इतनी बेजोड़-सी प्रतीत होनेवाली विषमताओं से भरी पड़ी है कि उसको एक ही सुसंगत तारतम्य में बैठाना कोई आसान काम नहीं। उदाहरण के लिए विगत अनेक वर्षों से कांग्रेस में एक के बाद एक उच्छ्वसित क्रान्तिमूलक उग्र युग-धाराओं के प्रायः विपक्ष में खड़े रहकर भी उन्होंने हर हालत में लगातार उसके मंच के साथ अपने आपको संलग्न बनाए रखा, और कई मामलों में एक जाति विशेष के हित की आँखों से ही देश की राजनीतिक गतिविधि को देखते-परखते रहते हुए भी वह हमें अन्य लोकनायकों के साथ निरन्तर राष्ट्रीयता की जनवेदी पर अग्रिम पंक्ति में बैठे दिखाई देते रहे! निश्चय ही उनके सार्वजनिक जीवन की इस बहुमुखी विशेषता को देखकर हमें दंग रह जाना पड़ता है! परन्तु यह सब-कुछ होते हुए भी यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो इस तपोनिष्ठ वृद्ध ब्राह्मण की जीवनधारा में हमें एक अटूट संतत प्रवाह भी दिखाई देता है—उसका अपना एक विशिष्ट व्यक्तित्व और दृष्टिकोण रहा है और उसके आदर्शों की भी सदैव एक सुनिश्चित नपी-तुली रूप-रेखा रही। वह था वस्तुतः रूढ़िगत पुरातन परंपराओं, विशेषकर प्राचीन हिन्दू-संस्कृति और गौरव का एक अनन्य पुजारी, और प्रायः वर्त्तमान को फिर से अतीत की ओर ले चलने का ही स्वप्न वह जीवन भर देखता रहा। किन्तु इसका यह अर्थ न था कि वह देश की सामयिक प्रगति का विरोधी रहा हो। वस्तुतः उसकी रूढ़िवादिता अधिकांश में धर्म और समाज ही के क्षेत्र तक सीमित थी और यदि राजनीति के आँगन में वह प्रायः 'नरम' ही रहा तो इसका कारण कुछ तो इस देश के आधुनिक राजनीतिक इतिहास के आरंभकाल के उस पर अमिट रूप से पड़े हुए वे संस्कार थे, जिनकी छाप ने सुरेन्द्रनाथ बेनर्जी, दिनशा वाचा, आदि अन्य अनेक समसामयिक नेताओं को भी समय आने पर उग्र राजनीतिक धारा से एक प्रकार से अलग कर दिया था; और कुछ थे हिन्दू-धर्म और संस्कृति की सुरक्षा-विषयक उसके अपने वे प्रगाढ़ विचार, जिनके कि संबंध में कभी भी समझौता करने को राज़ी न हो पाने के कारण वह हमारी आज की राजनीति का प्रायः साथ नहीं दे पाया और फलतः परोक्ष रूप से उस पर 'संप्रदायवादी' होने का आरोप लगाया जाता रहा! जो कुछ भी हो, उसकी अपनी इन विशेषताओं में ही इस महापुरुष की महानता का तत्त्व भी निहित था। वस्तुतः जैसा कि कांग्रेस के इतिहासकार ने लिखा है, मालवीयजी ही एक ऐसे अकेले व्यक्ति थे, जिनमें इतना साहस था कि जिस बात को वह ठीक समझते, उसके लिए चाहे कोई भी उनका साथ न देता फिर भी वह अकेले ही मैदान में खम ठोंककर डटे रहते थे! और अपनी आंतरिक भावनाओं के प्रति एक असाधारण निष्ठा का यह साहसपूर्ण अडिग उदाहरण प्रस्तुत करना कोई साधारण बात नहीं थी—वह विरले ही व्यक्तियों में पाया जानेवाला एक विशिष्ट गुण था! तो फिर आइए, अपने आज के युग की इस गौरवकथा के साथ अभी हाल ही में सदा के लिए विदा होनेवाले इस वृद्ध लोकनायक की जीवन-कथा का भी एक संक्षिप्त आलेख जोड़ते चलें, जिसने कि उसके निर्माण में अपने अन्य समसामयिक राष्ट्रनेताओं से किसी दर्जे कम महत्वपूर्ण भाग न लिया और जिसकी अमर कृति 'हिन्दू विश्वविद्यालय' तो निश्चय ही इस देश के उत्थान के महान् यज्ञ के प्राङ्गण में एक ऐसी स्थायी देन है कि जिसकी समानता के बृहत् रचनात्मक सार्वजनिक प्रयास का दूसरा उदाहरण प्रस्तुत होते अभी काफ़ी समय लगेगा।

पं० मदनमोहन मालवीय का जन्म हुआ था आज से छियासी वर्ष पूर्व २५ दिसंबर, सन् १८६१ ई०,

को ठीक महात्मा ईसा मसीह के जन्मपर्व के दिन, इलाहाबाद के एक ब्राह्मण-परिवार में और जैसा कि 'मालवीय' शब्द से स्पष्ट है, उनके पूर्वज यथार्थ में किसी ज़माने में कालिदास और विक्रम की महिमामयी भूमि मालवा के रहनेवाले थे, जहाँ से आकर पिछले कुछ दिनों से गंगा-यमुना के तट पर तीर्थराज प्रयाग में वे आ बसे थे ! उनके पिता पं० व्रजनाथ एक अनन्य कृष्णभक्त तथा संस्कृत के उद्भट विद्वान् थे और उनके द्वारा आरोपित प्रगाढ़ पैतृक संस्कारों ही का यह प्रभाव था कि मदनमोहन जीवन भर एक सुदृढ़ आस्तिक एवं संस्कृत तथा श्रीमद्भागवत जैसे भक्तिग्रंथों के अनन्य अनुरागी बने रहे। युवक मदनमोहन की शिक्षा-दीक्षा प्रयाग ही में हुई—वह स्थानीय 'धर्मज्ञानोपदेश पाठशाला', 'विद्याधर्मप्रवर्द्धिनी सभा' द्वारा संचालित संस्कृत-पाठशाला, इलाहाबाद के ज़िला-स्कूल एवं सुप्रसिद्ध म्योर सेंट्रल कॉलेज की सीढ़ियाँ लाँघकर सन् १८८४ ई० में बी० ए० की उपाधि से विभूषित हुए और इसके बाद कुछ समय तक स्थानीय गवर्नमेन्ट स्कूल में अध्यापक का कार्य करते रहे। तब सन् १८८६ ई० में अपने सम्माननीय गुरु श्री आदित्यराम भट्टाचार्य के साथ वह कलकत्ते में अखिल भारतीय कांग्रेस के द्वितीय अधिवेशन में सम्मिलित हो पहलेपहल राजनीति के क्षेत्र में उतरे और अपनी असाधारण वक्तृत्व-शक्ति के बल पर पहले ही मोर्चे में ऐसी धाक उन्होंने जमाई कि उस वर्ष के अधिवेशन की रिपोर्ट में कांग्रेस के संस्थापक तथा तत्कालीन मंत्री मि० ह्यूम के निम्न उल्लेखनीय शब्द अंकित हैं—'जिस भाषण के लिए पण्डाल में कई बार करतल-ध्वनि हुई और जिसे श्रोताओं ने बड़े उत्साह के साथ सुना, वह था पंडित मदनमोहन मालवीय का भाषण !' उन्होंने अपनी इस वक्तृता में कहा था—'मुझे अचरज होता है यह देखकर कि किस प्रकार अंग्रेज़ कहलानेवाले हमारे ये नाम-मात्र के प्रभु अपने आपको अंग्रेज़ कहने का साहस करते हैं और साथ ही साथ हमें अपनी प्रतिनिधि जनसंस्थाओं तक का अधिकार देने से इंकार कर हमारे ऊपर अपना निरंकुश शासन क़ायम रखने के लिए निरंतर संघर्ष करते रहते हैं !...बिना प्रतिनिधित्व के कर नहीं लगाया जा सकता, यह अंग्रेज़ों की राजनीतिक बाइबिल का पहला सूत्र है, फिर भी वे अपनी अंतरात्मा के साथ खिलवाड़ कर हम पर इस प्रकार टैक्सों का बोझ लाद रहे हैं मानों हम मूक पशु हों !'

दैवयोग से इसी अधिवेशन में कालाकाँकर के विद्याव्यसनी राजा स्वर्गीय रामपालसिंह भी उपस्थित थे। राजा साहब की निगाह में यह चौबीस-पच्चीस वर्ष का असाधारण प्रतिभासम्पन्न सौम्य युवक ब्राह्मण बेतरह चढ़ गया और उन्होंने उसे अध्यापकी छोड़कर उन्हीं दिनों निकाले गए अपने 'हिन्दुस्तान' नामक हिन्दी दैनिक पत्र का संपादक बनने को विवश किया। इस प्रकार युवक मदनमोहन शिक्षा के क्षेत्र से अख़बारी और राजनीतिक दुनिया में प्रविष्ट हुए। साथ ही मि० ह्यूम, पं० अयोध्यानाथ, पं० सुन्दरलाल आदि के अनुरोध से उन्होंने कानून भी पढ़ना आरंभ किया और एल-एल० बी० की डिग्री पा लेने पर सन् १८९३ ई० में अपने ही नगर प्रयाग में विधिवत् वकालत करना शुरू कर दिया। किन्तु एक सफल वकील बनने की असाधारण क्षमता रखते हुए भी मालवीयजी ने इस क्षेत्र में अपने आपको कभी भी पूरी तरह तल्लीन नहीं किया—उन्हें तो धन कमाने या सांसारिक उत्कर्ष प्राप्त करने से कहीं अधिक मातृभूमि की सेवा करने की जो उत्कट लगन लगी थी ! और सच में वह निर्मित भी हुए थे केवल सार्वजनिक जीवन के लिए ही—उनके मन में आरंभ ही से लोकसेवा की प्रबल धुन समाई थी, जिसका किंचित् परिचय अपने विद्यार्थी-जीवन ही में 'इलाहाबाद लिटररी इंस्टीट्यूट', 'स्वदेशी तिजारत कं०', तथा 'हिन्दू-समाज' जैसी संस्थाओं की प्रस्थापना द्वारा वह दे चुके थे। अतः जब से उन्होंने कांग्रेस के प्रत्येक अधिवेशन में सम्मिलित होकर उसकी कार्रवाई में अधिकाधिक दिलचस्पी लेना शुरू किया तब से उनका नाम देश के राजनीतिक क्षेत्र में दिन पर दिन ज़ोरों के साथ प्रकाश में आने लगा और हर कहीं उनकी मधुर वक्तृताओं की धूम मचने लगी। साथ ही 'हिन्दुस्तान' के उपरान्त पं० अयोध्यानाथ द्वारा स्थापित प्रयाग के अंग्रेज़ी पत्र 'इंडियन ओपीनियन' के संपादन में हाथ बँटाकर तथा वहीं से कालांतर में हिन्दी में स्वयं 'अभ्युदय' नामक एक साप्ताहिक तथा 'मर्यादा' नामक एक मासिक पत्र निकालकर

एवं कुछ अरसे बाद 'लीडर' के नाम से एक अंग्रेज़ी दैनिक की प्रस्थापना में भी योग देकर जब क्रमशः अपने प्रान्त के सार्वजनिक जीवन की अधिकांश बागडोर उन्होंने अपने हाथों में ले ली, तो क्या आश्चर्य था यदि देखते-देखते वह देश के एक प्रथम कोटि के नेता बन गए और न केवल जनता ही के वह प्रीतिभाजन बन गए प्रत्युत सरकार पर भी अब उनकी गहरी धाक जमने लगी!

इसी अवधि में सन् १९०२ ई० में वह अपने प्रान्त की व्यवस्थापिका सभा के सदस्य भी नियुक्त हो चुके थे और कालान्तर में प्रान्तीय कौंसिल से प्रतिनिधि चुनकर वायसराय की कौंसिल में भेजने का नियम बना तो उससे हटकर वायसराय की 'इंपीरियल कौंसिल' के सदस्य बनने का भी सम्मान पा चुके थे। तब से सन् १९२९ ई० तक वह लगातार केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा के सदस्य बने रहे और इस अवधि भर निर्भीक भाव से सरकारी नीति की आलोचना कर सदैव जनपक्ष का साथ देते हुए महामान्य गोखले की भाँति अपनी प्रभावशाली वक्तृत्व-शक्ति द्वारा देश की माँगों की पूर्त्ति कराने में उन्होंने अनमोल योग दिया। इस संबंध में 'प्रेस एक्ट', 'शर्त्तबंद कुली-प्रथा' 'रौलट बिल', 'इन्डेम्निटी बिल' आदि के विरोध में कौंसल में दी गई उनकी वक्तृताएँ आज भी याद की जाती हैं। कहते हैं, उनकी वक्तृताएँ लिखित नहीं, प्रत्युत मौखिक ही होती थीं, फिर भी उनकी वाग्धारा में ऐसी सुसंगति और ओज रहता था कि सुननेवालों को मंत्रमुग्ध-सा हो जाना पड़ता था—वह किसी भी विषय पर बिना रुके घंटों हिन्दी अथवा अंग्रेज़ी में धाराप्रवाह के साथ बोलते चले जाते थे!

सन् १९०९ ई० में लाहौर-अधिवेशन के अवसर पर मालवीयजी पहली बार राष्ट्रीय महासभा कांग्रेस के सभापति चुने गए और इसके नौ वर्ष बाद सन् १९१८ के दिल्लीवाले अधिवेशन में भी मनोनीत सभापति लोकमान्य तिलक की शिरोल-केस के संबंध में अनुपस्थिति की दशा में पुनः एक बार और राष्ट्रपति के आसन पर बिठाकर उनका उचित सम्मान किया गया। इन दो मुख्य अधिवेशनों के अलावा सन् १९३२-३३ के सत्याग्रह-संग्राम के दिनों में जब कांग्रेस पर बंदिशें लगा दी गई थीं, तब दिल्ली और कलकत्ता के उसके तत्कालीन दो अधिवेशनों के भी सभापति वही मनोनीत हुए थे, परन्तु उन अधिवेशनों में सम्मिलित होने के लिए जाते समय दोनों मौक़ों पर राह ही में गिरफ़्तार कर लिये जाने के कारण वह उनमें उपस्थित न हो पाए थे। इस प्रकार राष्ट्र ने कुल मिलाकर चार बार उन्हें अपना सर्वोच्च पद प्रदान कर अपने आपको गौरवान्वित किया, जिससे अनुमान किया जा सकता है कि देश के हृदय में उनके प्रति सदैव ही कितना प्रगाढ़ श्रद्धा का भाव रहा और स्वयं वह भी कांग्रेस के प्रति कितनी अचल निष्ठा रखते हुए उसकी ओर अभिमुख रहे! यद्यपि यह एक जानी हुई बात है कि गोखले, सुरेन्द्रनाथ बेनर्जी एवं फ़ीरोज़शाह मेहता आदि की भाँति हमारे चरितनायक भी राजनीति के क्षेत्र में मूलतः नरम नीतिवाले या 'मॉडरेट' ही रहे, और उन्होंने भी ब्रिटिश साम्राज्य की छत्रछाया में रहते हुए ही स्व-शासन की प्राप्ति के लक्ष्य को अपने सन्मुख रक्खा, फिर भी उनकी अपनी यह एक विशेषता थी कि जब-जब भी जन-संग्राम छिड़ा, तब आरंभ में उससे अलग खड़े रहकर तथा इस प्रकार के उग्र पथ को ग्रहण करने से देश को प्रायः टोककर भी अंत में जब भी लड़ाई छिड़ी तो कई अवसरों पर उन्होंने उसमें अपना निश्चित भाग लेकर सबको आश्चर्य में डाल दिया! उदाहरणार्थ सन् १९३०-३२ के सत्याग्रह के दिनों में अपनी सारी नरमाई ताक पर रखकर वह रणक्षेत्र में कूद पड़े थे और अन्य नेताओं की अनुपस्थिति में सेनानी का स्थान ग्रहण कर उन्होंने ही संकट के समय में उस युद्ध को जारी रक्खा था। इसी प्रकार जब सन् १९१४-१८ ई० का महायुद्ध समाप्त हुआ था और मांटेगू-चेम्सफ़र्ड सुधारों के साथ-साथ देश को जलियाँवाला बाग़ के हत्याकाण्ड एवं ओडायरशाही के अधीन पंजाब के दमन की दिल दहला देनेवाली अन्य घटनाओं का पुरस्कार मिला था तब भी जहाँ समग्र जनता के अन्तराल में रोष की एक ज्वाला भभक उठी थी, वहाँ मालवीयजी का भी दिल बेतरह हिल उठा था और वह तत्काल अन्य नेताओं के साथ पंजाब दौड़े गए थे तथा उस वीभत्स काण्ड की स्वतन्त्र जाँच कराने एवं पीड़ित परिवारों को राहत पहुँचाने के कार्य में भरसक योग

देने में उन्होंने कोई भी कोर-कसर न रक्खी थी। इस समय की उनकी कौंसिल में दी गई लगातार पाँच घंटे की जोशभरी वक्तृता तो इतिहास में चिरस्मरणीय रहेगी! परन्तु जहाँ एक ओर इस प्रकार भावावेश में उग्र से उग्र पथ को भी ग्रहण करने के प्रचुर उदाहरण हमें उनके जीवन में मिलते हैं, वहाँ साथ ही साथ ऐसी भी मिसालें कम नहीं मिलतीं, जिनमें हम आश्चर्य के साथ उन्हें देश की यथार्थ लड़ाई से एकदम हटकर ऐसे कार्यों में भी संलग्न होते पाते हैं, जिनसे कि स्पष्टतः जनहृदय को ठेस पहुँच सकती है। उदाहरण के लिए, गांधीजी द्वारा आरंभ किए गए सन् १९२०-२१ ई० के महान् सत्याग्रह-आन्दोलन के समय वह न केवल तटस्थ ही बने रहे, प्रत्युत अंग्रेज़ों के प्रति अपनी अटल निष्ठा के जीते-जागते सबूत के रूप में उन्होंने हिन्दू-विश्वविद्यालय के प्राङ्गण में प्रिंस ऑफ़ वेल्स का सहर्ष स्वागत किया और सो भी तब जब कि सारा देश स्थान-स्थान में उस गोरे युवराज को काले झण्डे दिखा रहा था, एवं उसके स्वागत-समारोहों का डटकर बहिष्कार कर रहा था। यह वह समय था जब देशबन्धु दास, पं० मोतीलाल नेहरू और लाला लाजपतराय जैसे लोकनेताओं सहित लगभग पचास हज़ार भारतवासी जेलों की आड़ में बन्द किए जा चुके थे! इसी प्रकार माण्ट-फ़ोर्ड योजना द्वारा प्रवर्त्तित नई कौंसिलों का कांग्रेस द्वारा बहिष्कार किए जाने पर भी मालवीयजी ने उनका साथ ही दिया और अन्त में जब स्वराज्य-पार्टी की स्थापना होने पर कांग्रेस ने इन कौंसिलों में अपना मोर्चा बाँधने का निर्णय किया तो देशबन्धु और मोतीलालजी के विपक्ष में खड़े होकर सन् १९२६ में उन्होंने अलग से नेशनलिस्ट पार्टी बना कांग्रेस के अपने सहयोगियों के ही खिलाफ़ चुनाव की लड़ाई लड़ी! ये वे दिन थे जब मालवीयजी कांग्रेस से कहीं अधिक 'हिन्दू-महासभा' के साथ अपने आपको तन्मय किए हुए थे। पर आगे चलकर सन् १९२९ ई० में देश ने पुनः उन्हें अपना रुख बदलते देखा और अन्य लोकनेताओं के साथ मिलकर उन्होंने भी उसी साल आनेवाले सुप्रसिद्ध 'साइमन-कमीशन' का डटकर बहिष्कार किया। इसी प्रकार सन् १९३० ई० के जनान्दोलन में भी एसेम्बली से त्यागपत्र देकर वह खम ठोंककर मैदान में आ धमके और बम्बई में लोकमान्य की वर्षी के अवसर पर पुलिस-कमिश्नर की आज्ञा की अवज्ञा में एक जुलूस का नेतृत्व कर बरसते पानी में रात भर हज़ारों नर-नारियों की भीड़ के आगे सड़क पर डटे रहे तथा अन्त में गिरफ़्तार हो दो सप्ताह के लिए जीवन में पहली बार जेल भी हो आए! इसके शीघ्र ही बाद दिल्ली में कांग्रेस कार्य-समिति की बैठक के अवसर पर सरदार पटेल, डा० अंसारी आदि के साथ-साथ सरकार ने उन्हें पुनः गिरफ़्तार कर ६ महीने के कारावास की सज़ा ठोंक दी थी और वह नैनी-सेंट्रल-जेल भेज दिए गए थे, यद्यपि स्वास्थ्य की खराबी के कारण अन्त में शीघ्र ही वह फिर से मुक्त भी कर दिए गए थे।

सन् १९३१ ई० के अगस्त मास में द्वितीय गोल-मेज-कानफ़रेंस में निमंत्रित होकर मालवीयजी अपने जीवन में पहली बार विलायत गए और एक कट्टर हिन्दू के नाते समुद्र-यात्रा के निषेध के नियम में पूर्ण आस्था रखते हुए भी देश के लिए सब-कुछ करने को तैयार होने की अपनी तत्परता उन्होंने प्रदर्शित की! वहाँ से लौटने पर सितंबर, सन् १९३२, में दलितों के प्रश्न पर पूना में गांधीजी के आमरण उपवास के पथ पर उतारू होने पर जिन लोगों ने काफ़ी दौड़-धूप करके सुप्रसिद्ध 'पूना-पैक्ट' कराया था, उनमें मालवीयजी ही अग्रणी थे और इसी प्रकार सन् १९३१ ई० के प्रसिद्ध गांधी-इर्विन समझौते को कराने में भी उनका हाथ प्रमुख था। वस्तुतः कांग्रेस और सरकार दोनों के साथ अपने मधुर संबंध के कारण जब-जब भी अवसर आया, तब उन्होंने दोनों के बीच संधि अथवा समझौता कराने की बातचीत में महत्त्व का भाग लिया। किन्तु अंत में 'साम्प्रदायिक निर्णय' के मामले पर सरकार और कांग्रेस दोनों ही की नीति से उनका गहरा मतभेद हो गया और श्री० अणे के साथ पुनः 'कांग्रेस नेशनलिस्ट पार्टी' के नाम से एक नवीन दल की प्रस्थापना कर सन् १९३४ ई० में स्वयं कांग्रेस के ही विरुद्ध उन्होंने एसेम्बली का चुनाव लड़ा! परन्तु यह था वस्तुतः हमारे चरितनायक के राजनीतिक जीवन का आखिरी मोर्चा, क्योंकि इसके बाद यद्यपि वह हमारे बीच बने रहे पूरे

बारह-तेरह वर्ष तक, फिर भी स्वास्थ्य की खराबी के कारण सक्रिय राजनीति से उन्होंने एक प्रकार से सदा के लिए अवकाश ही ग्रहण कर लिया। हाँ, इस बीच भी दौड़-दौड़कर कांग्रेस के अधिवेशनों में वह अवश्य सम्मिलित होते रहे और इस प्रकार यदा कदा अपनी वाणी का मधुर प्रसाद हमें देते रहे !

राष्ट्रीय महासभा कांग्रेस के अतिरिक्त और भी जिन दर्जनों संस्थाओं और हलचलों में मालवीयजी का हाथ रहा, उनमें सबसे उल्लेखनीय और महत्त्वपूर्ण है निस्संदेह काशी का सुप्रसिद्ध हिन्दू-विश्वविद्यालय, जो देश को इस वृद्ध ब्राह्मण की सबसे ठोस देन कहा जा सकता है तथा जिसे संक्षेप में हम उसकी जीवनव्यापी तपस्या का संचित सार कह सकते हैं। इस महान् संस्था की योजना तो मालवीयजी के मस्तिष्क में आज से लगभग चालीस वर्ष पूर्व ही एक मानचित्र के रूप में जन्म ग्रहण कर चुकी थी, किन्तु उसे वास्तविक रूप मिल सका सन् १९१८ ई० में, जब कि तत्कालीन वायसराय लार्ड हार्डिंज के हाथों उसका विधिवत् शिलान्यास हुआ। तब से अपनी मृत्यु की अंतिम घड़ी तक महामना निरन्तर इस महान् शिक्षण-संस्था का विकास करने और उसके लिए धन एकत्रित करने में एकाग्र लवलीन रहे और इस प्रकार उन्होंने उसके लिए लगभग डेढ़ करोड़ रुपया चंदा माँगकर एकत्रित कर लिया। वस्तुतः यह उन्हीं के वस की बात थी कि इतना अधिक रुपया इकट्ठा हो सका ! वह बरसों इसके कुलपति (वाइस-चांसलर) रहे और अत्यन्त वृद्ध हो जाने पर जब उन्होंने उस पद से अवकाश ग्रहण कर लिया तब भी उसकी चिन्ता रखना उन्होंने न छोड़ा ! वस्तुतः जैसा कि उनकी ७०वीं वर्षगाँठ के अवसर पर गांधीजी ने कहा था, मालवीयजी थे काशी-विश्वविद्यालय के प्राण और बदले में काशी-विश्वविद्यालय भी मानों उनका जीवन जैसा था। इसमें संदेह नहीं कि उनके इस अमल-धवल कीर्त्तिस्तंभ के आगे उनकी अन्य कृतियाँ एकदम लघु और फीकी दिखाई देती हैं, यद्यपि नामोल्लेख के नाते यहाँ प्रयाग के 'मेकडोनल्ड हिन्दू-बोर्डिङ्ग हाउस', 'भारती-भवन', 'सेवा-समिति,' 'लीडर' आदि कई कृतियों के नाम लिये जा सकते हैं, जो उन्हीं की प्रेरणा के सुफल हैं। इसके अतिरिक्त हिन्दू-संगठन, गो-रक्षा-आंदोलन, सनातन-धर्म-प्रचार, स्वदेशी-आंदोलन एवं हिन्दी के उत्थान के लिए भी उन्होंने जीवन भर जो कुछ किया, वह भी अनुल्लेखनीय नहीं है। वही प्रख्यात 'हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन' के प्रथम सभापति हुए थे और अदालतों में हिन्दी का प्रवेश कराने के लिए भी सबसे ज़ोरों की आवाज़ उन्होंने ही पहले पहल आज से लगभग पचास वर्ष पहले उठाई थी ! किन्तु यहाँ इतना स्थान नहीं कि उनकी इन सेवाओं का पूरा ब्योरा हम दे सकें।

अपने जीवन के अंतिम दस-ग्यारह वर्षों से स्वास्थ्य की खराबी के कारण मालवीयजी महाराज एक प्रकार के राजनीतिक संन्यास का ही जीवन व्यतीत करते थे और यद्यपि कुछ वर्ष पूर्व आयुर्वेद की पद्धति से अपना कायाकल्प कर स्वास्थ्य-सुधार का एक ज़ोरदार प्रयास उन्होंने किया था, फिर भी उनका वृद्ध शरीर अब इस योग्य नहीं रह गया था कि सार्वजनिक जीवन की दौड़धूप का श्रम पूरी तरह वह सहन कर सकता ! तथापि महत्त्व के विषय पर अपनी आवाज़ बुलन्द करते हुए वह कभी भी नहीं चूकते थे। उदाहरणार्थ १२ नवंबर, सन् १९४६, के दिन काशी में सदा के लिए अपनी आँखें मूँद लेने के कुछ दिन पूर्व ही उन्होंने नोआखाली (पूर्व बंगाल) तथा अन्य स्थानों में हिन्दुओं पर किए गए जघन्य अत्याचारों के विषय में एक जोशीला वक्तव्य प्रकाशित किया था और हिन्दू जाति को स्वरक्षा के लिए अपने पैरों पर खड़ा होने के लिए ललकारा था ! कोई ताज्जुब नहीं कि इन लोमहर्षक घटनाओं के समाचारों के आघात से ही उनका हृदय एकबारगी टूक-टूक हो गया हो और इस प्रकार उनकी मृत्यु समीप आ गई हो !

वस्तुतः पं० मदनमोहन मालवीय एक व्यक्ति से भी अधिक बन गए थे इस देश के लिए एक संस्था और यदि उनके जीवन में विविध धाराओं का सम्मिलन हमें दिखाई देता है तो इसका कारण यही था कि वे एक साथ ही कई परस्पर-विरोधी हितों का प्रतिनिधित्व करते थे। वह राजाओं के भी प्रिय पात्र थे और जनता के भी; कांग्रेस के भी विश्वासभाजन थे और सरकार के

भी ! वह एक पहेली जैसे थे, फिर भी नख से शिख तक वह एक अद्भुत मधुरता से ओतप्रोत थे, उनमें कटुता का नामोनिशान भी नहीं पाया जा सकता था ! वस्तुतः उनके लिए यदि दुर्भाग्य की बात कोई थी तो यही कि जैसा कि एक समीक्षक ने कहा है, 'उनका दिल तो सदैव गरम रहा, पर दिमाग़ एकदम नरम !' इसीलिए जब-जब भी उनके दिल ने ज़ोर किया, तब अपनी सारी नरम नीति को ताक पर रखकर मानों केसरिया बाना पहन वह मैदान में कूद पड़े। लेकिन भावावेश का वह जोश ठंढा पड़ने पर फिर जब उनके दिमाग़ को विचार और मनन का मौक़ा मिला तब हमेशा राष्ट्र की उमड़ती हुई उन प्रवृत्तियों को एक सीमा से आगे बढ़ने से रोकने में लंगर का ही काम उन्होंने किया ! उदाहरणार्थ उनकी राजनीति ने गांधीजी के असहयोग और सत्याग्रह-संग्राम की नीति का कभी भी जी खोलकर अनुमोदन न किया, किन्तु जब सरकार के दमन-चक्र का अमानुषिक रूप प्रकट हुआ और अपनी ही आँखों देशभक्ति की मशाल उठाए हुए तरुण युवकों तथा कोमल कलियों जैसी महिलाओं पर लाठी-प्रहार के रूप में नौकरशाही के नग्न ताण्डव का दृश्य उन्होंने देखा तो दिल बेक़ाबू हो गया और कंधे से कंधा भिड़ाए तुरन्त ही वह भी साथ हो लिये तथा सन् १९३०-३२ में दो बार जेल तक हो आए ! दूसरी ओर सन् १९२२ ई० में प्रिंस ऑफ़ वेल्स के भारत-आगमन के अवसर पर जहाँ सारे देश में काले झंडे दिखाए गए और हड़तालें की गईं, वहाँ उन्होंने अपने हज़ारों देशवासियों के जेल के सींखचों की आड़ में बंद होने की दारुण घड़ी में भी अपनी लोकप्रियता की बाज़ी लगाकर हिन्दू-विश्वविद्यालय के प्रांगण में युवराज का स्वागत किया और उन्हें वरमाला पहनाई ! उनके जीवन की इन परस्पर-विरोधी धाराओं का रहस्य और कुछ नहीं था सिवाय इसके कि वह सदैव ही अपने जन्मजात पुरातन संस्कारों और नवीन परिस्थितियों के अनुरूप उमड़नेवाले भावोद्रेक की आँधियों से जीवन भर कभी इधर तो कभी उधर तरंगित और उद्वेलित होते रहे। इसीलिए एक ओर हमने उन्हें जहाँ १९३० ई० के सत्याग्रह के दिनों में बंबई की सड़क पर जुलूस के साथ बरसते पानी में रातभर हथियारबंद पुलिस के सामने डटे रहते देखा, वहाँ दूसरी ओर उन्हें केन्द्रीय धारा-सभा के चुनाव के समय नया दल बाँधकर दो बार गांधीजी के कांग्रेसी उम्मीदवारों का सामना करते हुए भी पाया ! जहाँ एक ओर वह अछूतों की दशा पर आँसू बहाते हुए गंगा-तट पर उन्हें राम-नाम की मंत्र-दीक्षा देते दिखाई दिए, वहाँ साथ ही साथ किसी भी तथाकथित अस्पृश्य जातिवाले के छू जाने पर नहाए बिना एक घूँट पानी तक पीने को न तैयार होते वह हमें कई बार नज़र आए और राउण्ड टेबल कान्फ्रेंन्स में शरीक होने के लिए विलायत जाते समय जहाज़ पर अपने साथ गंगाजल से भरे कई कनस्तर साथ लेते हुए भी हमने उन्हें देखा ! वस्तुतः जैसा कि स्व० दीनबन्धु सी० एफ० एण्ड्रूज़ ने उनके चरित्र की समीक्षा करते हुए एक बार लिखा था, 'भारतीय राजनीतिक क्षेत्र के अन्य सभी प्रथम श्रेणी के आधुनिक नेताओं से उनका जो मुख्य अंतर रहा है, वह है एक हिन्दू के रूप में उनके कट्टर धार्मिक दृष्टिकोण विषयक ही ! वह, जहाँ तक हिन्दूधर्म का संबंध है, एकदम कट्टरवादी रहे, किन्तु साथ ही साथ राष्ट्रीय मामलों में कई बातों के लिहाज़ से वह काफ़ी प्रगतिशील विचार के व्यक्ति दिखाई दिए। इसी कारण उनके अंतस्तल में अपनी हिन्दू धार्मिक कट्टरता एवं देशभक्तिपूर्ण राष्ट्रवादिता के बीच हमें सदैव एक संघर्ष-सा छिड़ा दिखाई दिया !' निश्चय ही यह कुछ अजीब-सा लगता है, किन्तु लगभग पौन शताब्दी की दीर्घ अवधि भर हमारे राष्ट्रीय क्षितिज पर निरन्तर चमकते रहनेवाला यह वृद्ध ब्राह्मण ऐसा ही एक अद्भुत व्यक्तित्व था ! वह था वर्णाश्रम-धर्म का पृष्ठपोषक एक जन्मजात कट्टर हिन्दू, इस देश के अतीत और उसकी पुरातन रूढ़ियों का एक अनन्य पुजारी, अपने परंपरागत संस्कारों की दृढ़ता का एक जीता-जागता नमूना, किन्तु साथ ही साथ इस देश की राष्ट्रीयता की नींव डालनेवाला एक महान् देश-भक्त, मातृभूमि की स्वाधीनता की लड़ाई में योग देनेवाला उसका एक सच्चा उपासक, मानवता और कोमल भावनाओं का मानों एक सजीव पुतला

तथा 'नख से शिख तक केवल हृदय ही हृदय'! उसका सारा जीवन इन्हीं दो प्रबल प्रवृत्तियों के निरंतर समझौते के अथक प्रयास का एक प्रतिबिंब जैसा था और यह उसके ही असाधारण चरित्रबल के बस की बात थी कि इन दोनों ही धाराओं के निरन्तर साथ-साथ रहते हुए वह अपनी जीवन-नौका को अंतिम क्षण तक सफलतापूर्वक खे ले गया! माना कि आज उसका युग बीत चुका है और हमारी राष्ट्रीय जीवनधारा अब एक नवीन गति से अपने भावी उत्कर्ष के क्षितिज की ओर बढ़ती चली जा रही है, फिर भी अपने समय में जो पदचिन्ह हमारे इतिहास-पथ की बालुकाराशि पर वह अंकित कर गया है, उन्हें मेटने का सामर्थ्य किसमें है?

मालवीयजी महाराज उतने अच्छे एक लेखक नहीं थे, जितने कि अद्भुत वह एक वक्ता थे। वह अपने भाव-प्रवाह में जिस आसानी के साथ एक अनूठा भाषण दे जाते थे, लेखनी द्वारा उतनी तेज़ी और निर्द्वन्द्व भाव से अपनी हृद्गत भावनाओं और मानसिक विचारधारा की अभिव्यक्ति वह नहीं कर पाते थे। उनकी वाणी का मधुर प्रवाह तो जहाँ आरंभ हुआ नहीं कि समगति से कलकल निनाद करता हुआ घंटों जारी रह सकता था, किन्तु लिखते समय उनकी क़लम मानों पग-पग पर ठिठकने लगती थी। इन पंक्तियों के लेखक को सन् १९३७-३८ ई० में कुछ महीनों तक इस वृद्ध राष्ट्रनेता के निकट संसर्ग में रहने का सद्भाग्य प्राप्त हुआ था और तभी पहलेपहल साश्चर्य वह यह जान पाया था कि लगातार पाँच-छः घंटों तक एसेम्बली-भवन में अपनी वाग्धारा प्रवाहित करने की असाधारण क्षमता रखनेवाले महामना एक छोटा-सा निबन्ध तक लिखने में कितने झिझकने लगते थे। उन्होंने एक ग्रन्थ के लिए केवल दो-तीन पैरेग्राफ़ का एक छोटा-सा प्राक्कथन लिखने में लगभग एक सप्ताह का समय लगा दिया था! यहाँ पुनः हमें उनकी उस विशिष्टता ही की एक झलक देखने को मिलती है, जिसका कि उल्लेख हम पिछले पृष्ठों में कर आए हैं, अर्थात् उनका व्यक्तित्व विचारमय से कहीं अधिक एक भावनामय व्यक्तित्व था- वह हृदय ही की वाणी से कहीं अधिक सार्थकतापूर्वक बोल सकते थे, मस्तिष्क द्वारा नहीं। जब तक भाव के प्रवाह में वह रहते थे, मुक्त भाव से अपनी अमृत-वाणी की पीयूष-वर्षा करते चले जाते थे, किन्तु जहाँ तर्क-वितर्क अथवा सोच-विचार का सामना पड़ा कि अटकने लगे! इसीलिए तो स्व० श्री चिन्तामणि ने उनके जीवन-काल ही में थोड़े में इन चुने हुए शब्दों द्वारा उनकी सही-सही झाँकी आनेवाली पीढ़ियों के लिए प्रस्तुत कर दी थी कि 'पंडित मदनमोहन मालवीय हैं नख से शिख तक केवल हृदय ही हृदय!' अतः पंडितजी के अंतस्तल की यथार्थ झलक यदि जिज्ञासु पाठक पाना चाहें तो उनके लेखों में नहीं, प्रत्युत उनकी उन अगणित वक्तृताओं के सरोवर में डुबकी लगाकर उनमें निरन्तर उँडेले गए उनके हृदय के सुधारस में अपने आपको सराबोर करना चाहिए, जो कि उनकी भावनाओं की यथार्थ थाती हैं। उन्हीं में हमें उनका यथार्थ दर्शन होता है। अंत में हम यहाँ सन् १९०९ ई० के लाहौर-अधिवेशन में कांग्रेस के सभापति के आसन से दिए गए उनके भाषण का एक अंश प्रस्तुत कर उनके इस परिचय-चित्र को समाप्त करते हैं, जिसमें निहित संदेश आज भी हमारे लिए उपादेय हो सकता है -'आज हमारे यहाँ लोगों की दशा कितनी दयनीय है! करोड़ों खाने के लिए पेट भर भोजन भी नहीं पाते और न सर्दी-गर्मी से बचने के लिए पर्याप्त कपड़े ही उन्हें मिलते हैं! वे गंदगी के वातावरण में पैदा होते, उसी में रहते और अंत में असमय ही उस अकाल मृत्यु के घाट उतर जाते हैं, जिससे अवश्य ही वे बचाए जा सकते थे! आज राष्ट्र-भक्ति और मानवता दोनों का यह तकाज़ा है कि सरकार जो कुछ भी कर रही है या करेगी उसके अतिरिक्त स्वयं हमें भी उनकी दशा सुधारने के लिए अपनी शक्ति भर प्रयत्न करना चाहिए। हमें अपनी शक्ति का एक-एक कण मातृभूमि की प्यार-भरी सेवा में लगा देना चाहिए! वस्तुतः इस पृथ्वी पर दूसरा कोई देश ऐसा नहीं है जो हमारी इस भूमि से अधिक इस प्रकार की सेवा और सहायता का पात्र हो!'

काश कि इस राष्ट्र-पिता के इन चुभते हुए वाक्यों पर हम ध्यान दे सकते तो हमारी मातृभूमि का वेशभूषा आज कुछ और होती!

ठंडे चोले में पहलेपहल एक वास्तविक सरगर्मी पैदा करने का साहस दिखाया था! वह थे पूर्वोक्त 'नरम' नेताओं के बजाय उग्र पक्ष के सिरताज लोकमान्य तिलक के संप्रदाय के एक पके हुए 'गरम' राजनेता, और उनकी दहाड़ में वह बल था कि किसी ज़माने में इस देश के लोकनायकों में तिलक के बाद यदि ब्रिटिश सत्ता किसी से सबसे अधिक भय खाती थी तो केवल उन्हीं से! तभी तो बंग-भंग के उन तूफ़ानी दिनों में, जबकि हमारी राष्ट्रीयता पहलेपहल सैनिक बाना पहनकर सामने आई थी, इस देश की भूमि पर उनकी विद्यमानता में भयंकर ख़तरे की बू पाकर गोरी नौकरशाही ने सुदूर बर्मा के माण्डले-क़िले में पहुँचाकर उन्हें नज़रबन्द कर रखने ही में अपना कल्याण समझा था और इसके बाद सन् १९१४-१८ का महायुद्ध छिड़ा था तब भी उसने उन्हें अपने विलायत के प्रवास से वापस स्वदेश आने से रोके रहकर वर्षों के लिए इस देश से एक प्रकार से निर्वासित-सा कर दिया था! और मातृभूमि के लिए उनके महान् बलिदान एवं कष्ट-सहन के बारे में तो इससे अधिक और कुछ कहने की आवश्यकता ही क्या है कि जीवन के अनेक मूल्यवान् वर्ष विदेशों में निर्वासन की दशा में व्यतीत कर तथा बार-बार जेल की यातनाएँ भोगकर अंत में पुलिस की लाठियों के सामने सीना तान स्वदेश के हेतु अपने प्राणों तक की आहुति चढ़ाते वह हिचकिचाए नहीं! निश्चय ही वह थे इस देश के उद्धार के लिए निरंतर जूझते रहनेवाले एक सच्चे राष्ट्रवीर—अक्षरशः 'पंजाब-केसरी', जिन्हें खोकर उनका अपना प्रान्त (पंजाब) तो राजनीति के क्षेत्र में इस प्रकार एकबारगी ही सूना पड़ गया कि फिर

लाजपतराय

अपने बलिष्ठ हाथों से हमारी राष्ट्र-वेदी की नींव की आरंभिक शिलाएँ रोपकर इस देश के आधुनिक राजनीतिक उत्थान का मार्ग प्रशस्त करनेवाले गिने-चुने दिग्गजों में 'लाल-बाल-पाल' की इतिहासप्रसिद्ध त्रिपुटी के अमर रत्न लाला लाजपतराय का स्थान निस्संदेह सबसे अग्रिम पंक्ति में है। वह उन असामान्य देशसेवकों में से थे, जिन्होंने कांग्रेस के उन बचपन के दिनों में, जब कि सुरेन्द्रनाथ, मालवीय, फ़ीरोज़शाह और गोखले जैसे हमारे आरंभिक कर्णधार पग-पग पर ब्रिटिश सत्ता के प्रति अपनी अटल राजभक्ति की दुहाई देते नहीं थकते थे, राष्ट्र की निगूढ़तम आकांक्षाओं की बेधड़क आवाज़ बुलन्द कर हमारी राजनीति के

कोई उनके खाली स्थान की वहाँ पूर्त्ति ही न कर पाया—वह एकदम कंगाल-सा हो गया !

लालाजी का जन्म हुआ था २८ जनवरी, सन् १८६५ ई०, के दिन पंजाब के एक छोटे-से ग्राम ढोंडीगाँव में, जहाँ कि उनका ननिहाल था, किन्तु वैसे दरअसल वह थे ज़िला लुधियाना के जगराँवा नामक एक क़स्बे के निवासी। उनके पिता लाला राधाकृष्ण सरकारी शिक्षा-विभाग में स्कूलों के इंस्पैक्टर थे, अतः स्वभावतः ही लाजपत की शिक्षा-दीक्षा काफ़ी देखरेख के साथ हुई—वह सन् १८८० ई० में लुधियाने के मिशन-स्कूल से एण्ट्रेंस-परीक्षा पास कर सरकारी छात्रवृत्ति पा एफ० ए० तथा मुख़्तारी की पढ़ाई के लिए लाहौर पहुँचे, और इस अध्ययन-काल की समाप्ति पर कुछ समय तक जगराँवा तथा रोहतक में मुख़्तारी का काम करने के उपरान्त शीघ्र ही वकालत की परीक्षा दे बाक़ायदा एक 'प्लीडर' बन गए। इसके बाद पाँच-छः वर्ष तक उन्होंने हिसार में प्रैक्टिस की, जहाँ की म्युनिसिपल कमेटी के अवैतनिक मंत्री के रूप में उन्होंने पहले-पहल सार्वजनिक क्षेत्र में अपना क़दम बढ़ाया, और तब सन् १८९२ ई० में वह चले आए लाहौर, जो कि आगे चलकर उनका मुख्य कार्यक्षेत्र बननेवाला था। ये दिन वे थे, जब कि ऋषि दयानन्द द्वारा रोपे गए 'आर्यसमाज' रूपी पौधे को सींचकर पं० गुरुदत्त विद्यार्थी एवं महात्मा हंसराज जैसे उनके उत्साही उत्तराधिकारी पंजाब में सामाजिक तथा धार्मिक अभ्युत्थान के महान् कार्य को आगे बढ़ाने में ज़ोरों के साथ तल्लीन हो रहे थे और फलतः लाहौर उत्तरी भारत में जनजागृति और सुधार का एक महत्त्वपूर्ण पीठस्थान-सा बन गया था ! इस जागृति की बाढ़ के साथ स्वभावतः ही हमारे चरितनायक भी अपने नैसर्गिक भावावेग एवं मातृभूमि के उत्थान विषयक अपने सहज अनुराग के कारण तुरन्त हो लिये और इस प्रकार आर्यसमाज की उस वेदी पर से अपने आरम्भ के इन दिनों में उन्होंने शिक्षा, समाज-संस्कार, दलितोद्धार, आदि के सम्बन्ध में अनमोल सेवा-कार्य किया। उन्होंने 'समाज' के तत्त्वावधान में स्थापित 'दयानन्द-एंग्लो-वैदिक-कॉलेज' के अवैतनिक मंत्री का भार ग्रहण कर अभूतपूर्व लगन के साथ उसकी उन्नति और वृद्धि के कार्य में अपने आपको तल्लीन कर दिया और उसमें अध्यापकी तक का काम करते हुए थोड़े ही दिनों में उन्होंने उसे प्रान्त के एक प्रमुख शिक्षालय की उच्च स्थिति पर पहुँचा दिया।

इसी बीच सन् १८८८ ई० में इलाहाबाद के चतुर्थ कांग्रेस-अधिवेशन में सम्मिलित हो वह राजनीति के क्षेत्र की ओर भी अपना प्रारंभिक क़दम बढ़ा चुके थे और २३ वर्ष की उस छोटी-सी उम्र ही में उक्त अधिवेशन में कौंसिल-सुधार विषयक एक प्रस्ताव पर बोलकर आगे चलकर विकसित होने-वाली अपनी प्रकाण्ड वक्तृत्व-शक्ति की मानों एक पूर्व-झलक दे चुके थे। यहाँ इस बात का उल्लेख अप्रासंगिक न होगा कि कांग्रेस के प्लेटफ़ार्म से अपनी यह पहली वक्तृता लालाजी ने हिन्दुस्तानी भाषा ही में दी थी और इसी प्रकार जब वह हिसार में म्युनिसिपल कमेटी के मंत्री थे, तब भी एक बार प्रान्तीय गवर्नर को मानपत्र देने का प्रश्न उठने पर उन्होंने हिन्दी ही में लिखकर उक्त मानपत्र को देने की ज़ोरों से हिमायत की थी। इन्हीं दिनों की बात है कि अपने पूज्य पिता के साथ मिलकर युवक लाजपतराय ने अलीगढ़ के प्रख्यात मुस्लिम नेता सर सैयद अहमद के नाम लाहौर के 'कोहनूर' नामक उर्दू पत्र तथा अंग्रेज़ी के भी कुछ अख़बारों में कई एक खुली चिट्ठियाँ प्रकाशित की थीं और उनकी कांग्रेस-विरोधी कार्रवाइयों तथा राजनीति के क्षेत्र में गिरगिट की तरह उनके आकस्मिक रूप-परिवर्त्तन की कड़ी आलोचना की थी, जिससे सारे देश का ध्यान अनायास ही इस युवक के प्रति खिंच गया था। इसके बाद तो कांग्रेस के साथ लालाजी का सम्बन्ध दिन पर दिन प्रगाढ़ होता चला गया और सन १९०५-६ ई० में जब राष्ट्र की माँग प्रस्तुत करने के लिए कांग्रेस की ओर से एक डेपुटेशन (शिष्टमण्डल) इँगलैंड भेजना तय किया गया तो महामना गोखले तथा बिशननारायन दर के साथ वह भी उस उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य के लिए तुरन्त चुन लिये गए। वहाँ महीने भर में चालीस व्याख्यान उन्होंने दिए, अनगिनत लेख लिखे और कितने ही प्रमुख व्यक्तियों से भेंट की, किंतु इससे केवल यही अनुभव लेकर वह वापस स्वदेश आए कि विलायत जाकर भीख माँगने से काम नहीं चलने का—

1

यदि इस देश को अपनी आकांक्षाओं की सिद्धि करना है तो स्वावलम्बन की नीति अपनाकर स्वयं ही अपना रास्ता आप खोजना पड़ेगा। और यही संदेश उन्होंने लौटकर देश को दिया।

इसी कालावधि में सन् १८९६, १८९९ और १९०७-१९०८ ई० में एक के बाद एक क्रमशः उत्तरी भारत, राजपूताना, बिहार-उड़ीसा, मध्यप्रान्त और संयुक्त प्रान्त (यू० पी०) को अपने चंगुल में दबोच लेनेवाले भीषण दुर्भिक्षों के मौक़ों पर पीड़ितों को राहत पहुँचाने का अनमोल सेवाकार्य हमारे चरितनायक ने किया, जिसका उल्लेख सरकार तक ने आभारपूर्वक सन् १९११ की अपनी मर्दुमशुमारी की रिपोर्ट में किया है। इसी प्रकार सन् १९०५ ई० के भयंकर काँगड़ा-भूकंप के अवसर पर भी लाहौर के 'आर्यसमाज' की ओर से एक सहायक-समिति की प्रस्थापना कर उन्होंने उस भीषण दुर्घटना से त्रस्त हज़ारों असहाय नर-नारियों की प्रशंसनीय सहायता की, और सन् १९०१ ई० के 'दुर्भिक्ष-कमीशन' के समक्ष एक महत्वपूर्ण गवाही भी दी, जिसमें अकाल के समय ईसाई मिशनरियों द्वारा की जानेवाली धर्म-परिवर्त्तन-विषयक धाँधलियों के प्रति ध्यान दिलाते हुए अनाथ बच्चों की रक्षा के बारे में कई एक मार्के के सुझाव उन्होंने पेश किए। वस्तुतः उन्हीं के प्रयत्नों से उत्तरी भारत में पहलेपहल सुसंगठित रूप से आधुनिक ढंग के अनाथालयों की प्रस्थापना हुई थी और इस प्रकार उस समय लगभग दो हज़ार असहाय बच्चों की विधर्मियों के हाथों में पड़ जाने से उन्होंने रक्षा की थी। तो फिर क्या आश्चर्य था यदि देखते ही देखते न केवल राजनीति के ही आँगन में बल्कि समाज-सेवा और सुधार के क्षेत्र में भी अल्पकाल ही में एक गौरवपूर्ण स्थान उनके लिए बन गया और स्वतः अपने प्रान्त पंजाब के तो निर्विवाद रूप से सोलहों आने वही सर्वप्रधान लोकप्रिय राष्ट्रनेता बन गए!

तब आया इतिहासप्रसिद्ध बंग-भंग का वह युगान्तरकाल, जिसने इस युग में पहलेपहल हमारी रगों में वास्तविक जागृति की उष्णता का संचार कर हमें अपनी राष्ट्रीय आकांक्षाओं की यथार्थ अभिव्यक्ति करने का पहला मंत्र सिखाया, और कहने की आवश्यकता नहीं कि आरंभ ही से उग्र राजनीतिक विचारों से सराबोर होने के कारण हमारे चरितनायक ने इस तूफ़ान को उगाने एवं राष्ट्रशक्ति के उभरते हुए मोर्चे को सबल बनाने के महान् अनुष्ठान में कोई कम महत्त्व का भाग न लिया। उन्होंने अपनी ओजस्वी वाणी और निर्भीक राजनीति द्वारा दमन-पथ पर आरूढ़ नौकरशाही का दिल दहलाते हुए ज़ोरों के साथ जनता को अपने निजी पैरों पर खड़ा होने के लिए उभाड़ना शुरू किया और गोखले की अध्यक्षता में होनेवाले काशी के प्रसिद्ध कांग्रेस-अधिवेशन में बंग-भंग-विषयक मुख्य प्रस्ताव पर बोलते हुए स्पष्ट शब्दों में यह उद्घोषित कर दिया कि 'गिड़गिड़ाते रहने की नीति अब हमने छोड़ दी है।.........वस्तुतः अंग्रेज़ स्वयं किसी भी बात से इतनी घृणा नहीं करते जितनी कि भिक्षावृत्ति से, और मेरा भी दृढ़ मत है कि भिखारी सच ही इसी योग्य होता है कि उससे नफ़रत की जाय। अतः हमारा यह कर्त्तव्य है कि हम अंग्रेज़ों को यह दिखा दें कि अब हममें इस बात की पूर्ण चेतना जग उठी है कि हम पहले के-से भिखारी न रहे!' निश्चय ही उस ज़माने को देखते हुए इस प्रकार की आवाज़ बुलन्द करना कोई खिलवाड़ न था—वह केवल लालाजी जैसे नरकेसरी ही के बूते की बात थी, अन्यथा सुरेन्द्रनाथ, गोखले, फ़ीरोज़शाह, मालवीय आदि हमारे अन्य बुज़ुर्ग तो उन दिनों पग-पग पर ब्रिटिश सत्ता के प्रति लालायित दृष्टि से देखते हुए उसके प्रति अपनी वफ़ादारी की दुहाई देते थकते नहीं थे और केवल वैधानिक रीति से कुछ सुधारों की माँग पूरी कराने के ही प्रयत्न में लवलीन थे! हाँ, लोकमान्य तिलक अवश्य हमारे आरंभकाल के दिग्गजों में एक ऐसे नेता थे, जो इन नरम नीतिवाले नेताओं से कोसों आगे बढ़कर देश की सच्ची राजनीतिक आकांक्षाओं को यथार्थतः व्यक्त करने का साहस करते दिखाई देते थे। किन्तु इसीलिए तो सरकारी आँखों में वह सबसे अधिक खटकते भी थे। कहना न होगा कि यही बात हमारे चरितनायक लालाजी के बारे में भी लागू थी। वह नख से शिख तक एक पक्के हुए 'गरम' राजनीतिज्ञ करार दिए जाते थे और ब्रिटिश नौकरशाही की निगाह में लोकमान्य के बाद उन दिनों यदि सबसे खतरनाक कोई व्यक्ति इस देश में दिखाई देता

था तो निस्सन्देह वह लालाजी ही थे। इन्हीं दिनों की बात है कि विक्षुब्ध बंगाल की आँच पाकर पंजाब में भी 'कैनाल कॉलोनाइज़ेशन बिल' के अन्तर्गत माएट-गुमरी जैसी नई आबादियों के ऊपर क़ायम किए गए लगान आदि के प्रश्न पर ज़ोरों के साथ असंतोष की आग भभक उठी, जिसको भड़कानेवालों में अग्रणी थे 'अंजुमन मुहिब्बाने वतन' के संस्थापक सुप्रसिद्ध सरदार अजीतसिंह, जिनके जोशीले भाषणों को सुनने के लिए लोग हज़ारों की संख्या में आ-आकर जमा होते और 'उट्ठो अलाज करो कोई वतन दा' जैसे गीतों का नारा लगाते हुए देश के उत्थान के यज्ञ में भाग लेने के लिए हाथ बढ़ाने में मानों एक-दूसरे से होड़ बदते! स्वभावतः ही इस अप्रत्याशित हलचल को दिन पर दिन बढ़ते देखकर गोरी सरकार बेतरह शंकित हो उठी और जब उसके पिछलग्गू 'सिविल एण्ड मिलिटरी गज़ट' जैसे अधगोरे पत्रों ने तरह-तरह की बेसिर-पैर की भूठी बातें फैला-फैलाकर न केवल अजीत-सिंह ही पर बल्कि साथ में लालाजी पर भी बग़ावत की आग भड़काने का आरोप लगाना शुरू किया तब तो उसने तुरन्त ही इन काँटों को अपनी राह से उखाड़ फेंकने ही में भलाई समझी! अतः एक दिन आया जब यह दिल दहला देनेवाला समाचार सुनने को मिला कि अजीतसिंह और लाजपतराय दोनों ही को सन् १८१८ ई० के रेगूलेशन नं० ३ के अन्तर्गत देशनिकाला दे दिया गया, और यह समाचार प्रकट हुआ तब तक तो वे देश से बाहर भी कर दिए गए!

यह मई, सन् १९०७ ई०, की बात है। अपने इस प्रथम निर्वासन की कथा को स्वयं लालाजी ने 'दि स्टोरी ऑफ़ माइ डिपोर्टेशन' (अर्थात् 'मेरे देशनिकाले की कहानी') नामक अपनी अंग्रेज़ी पुस्तक में काफ़ी विस्तार के साथ अंकित की है, जिसमें उन्होंने बताया है कि किस प्रकार अदालत जाते समय एकाएक रास्ते में गिरफ़्तार करके उन्हें ले जाकर 'लॉक-अप' में बन्द कर दिया गया था, किस प्रकार कड़े फ़ौजी पहरे में अत्यन्त छिपे तौर से एक स्पेशल ट्रेन द्वारा लाहौर से कलकत्ते के डायमण्ड-हार्बर तक उन्हें ले जाया गया था और वहाँ से जहाज़ द्वारा बर्मा पहुँचाकर माण्डले के क़िले में नज़रबंद कर दिया गया था! उनसे अधिकारीगण कितने प्रकंपित थे, इसका कुछ अन्दाज़ हम इस बात से लगा सकते हैं कि जब उन्हें लेकर रेलगाड़ी रंगून से माण्डले पहुँची थी तो उनके वहाँ उतरते समय सारा स्टेशन लोगों से ख़ाली कर दिया गया था! कहना अनावश्यक है कि मातृभूमि के हेतु निर्वासन के इस कठोर दण्ड के प्रहार ने हमारे चरितनायक के व्यक्तित्व को अपने देशवासियों की निगाह में और भी ऊँचा उठा दिया और जैसा कि कांग्रेस के इतिहासकार डा० पट्टाभि सीतारमैया ने लिखा है, उस साल की घटनाओं के वह एक तरह से प्रधान केन्द्र-से बन गए, जिसके कि चारों ओर तात्कालिक सारा राजनीतिक चक्र घूमा था! उनके इस अन्यायपूर्ण देश-निकाले के प्रश्न को लेकर न केवल भारत के राजनीतिक आँगन ही में प्रत्युत ब्रिटिश पार्लामेंट तक में प्रतिरोध की ज़ोरदार आवाज़ उठाई गई थी और कहते हैं, जब किसी दिलजले अनुदारदली गोरे ने यह कहकर अपनी कुढ़न प्रकट की थी कि क्यों न ऐसे आदमी को गोली से उड़ा दिया जाय तब तो चारों ओर से रोप की मानों ज्वाला-सी भभक उठी थी! सौभाग्य से उनका यह निर्वासन-काल अधिक लंबा न रहा—कुछ महीने बाद ही १८ नवम्बर, सन् १९०७ ई०, के दिन वह मुक्त करके बर्मा से वापस लाहौर पहुँचा दिए गए। तो फिर क्या पूछना था! जनहृदय उनके स्वागत के लिए मानों उछल पड़ा और हर कहीं, विशेष रूप से गरम दल के पक्षपातियों द्वारा, कांग्रेस के आगामी अधिवेशन के अध्यक्ष-पद के लिए मुक्त कण्ठ से उन्हीं का नाम लिया जाने लगा! परन्तु यह बात नरम दलवालों को, जिनका कि उन दिनों कांग्रेस में बहुमत था, क्योंकर स्वीकार हो सकती थी? अतः उन्होंने अपनी ओर से उक्त अधिवेशन के लिए मॉडरेट पक्ष के श्री० रासबिहारी घोष का नाम पेश किया। सौजन्यतापूर्वक लालाजी ने स्वयं अपना नाम हटाकर श्री रासबिहारी ही के नाम का समर्थन किया। किन्तु अन्त में जब सूरत में उक्त अधिवेशन के लिए कांग्रेस का समारोह जुटा तो जैसा कि लोकमान्य तिलक और सुरेन्द्रनाथ बेनर्जी के परिचय-चित्रों में बताया जा चुका है, दोनों दलों

के बीच गहरे मतभेद के कारण ऐसी धाँधली मची कि अधिवेशन पूर्णतया भंग हो गया। तदनन्तर दोनों दलों के अलग-अलग सम्मेलन किए गए, जिनमें नरम दलवालों के अध्यक्ष हुए रासबिहारी घोष और गरम पक्षवालों के श्री अरविंद घोष. और लालाजी उन दोनों ही में सम्मिलित हुए तथा उनमें परस्पर एकता स्थापित करने का उन्होंने भरपूर प्रयत्न किया, यद्यपि वह इस कार्य में सफलीभूत न हो सके। इसके बाद तो आगामी दस वर्षों के लिए गरम दलवाले कांग्रेस के मंच पर से एक प्रकार से बिलकुल निर्वासित-से हो गए और उस पर गोखले, सुरेन्द्रनाथ आदि नरम नेताओं ही का एकछत्र प्रभुत्व स्थापित हो गया। साथ ही देश में क्रान्तिकारी आतंकवादी दल का ज़ोर बढ़ने और जगह-जगह बम-विस्फोट आदि होने के साथ सरकारी दमन-चक्र का भी पारा दिन पर दिन ऊपर चढ़ने लगा, यहाँ तक कि एक ओर देश के हृदय-सम्राट् लोकमान्य तिलक को राजद्रोह के आरोप में छः वर्ष का कारावास का दण्ड देकर उसी मांडले के क़िले में बन्द कर दिया गया, जहाँ कि अभी-अभी लाजपतराय आठ महीने काट आए थे, तो दूसरी ओर बंगाल के कई एक देशभक्त नवयुवकों के साथ-साथ गरम दल के अन्य एक महान् नेता श्री अरविन्द घोष को भी एक षडयंत्र-केस में झूठे ही फँसाकर गिरफ़्तार कर लिया गया, जिससे कि बड़ी मुश्किल से श्री चित्तरंजन दास ने अपनी अद्भुत पैरवी द्वारा उन्हें छुटकारा दिलाया। इस राजनीतिक निराशा और अन्धकार के घटाटोप के वातावरण से एक प्रकार से खिन्न-से होकर लालाजी कुछ समय के लिए इंगलैंड चले गए, परंतु विलायत के अपने इस आवासकाल का भी उपयोग उन्होंने स्वदेश के हित के लिए ही किया। उन्होंने इस बीच भारत के संबंध में विलायत की पत्र-पत्रिकाओं में लेखादि लिखकर तथा व्याख्यानों की एक झड़ी बाँधकर विद्याध्ययन के लिए आए हुए प्रवासी भारतीय युवकों में जागरण का मंत्र फूँकने का स्तुत्य कार्य किया और जब प्रसिद्ध 'मार्ले-मिण्टो सुधारों' की घोषणा हुई तो उन्हें निरर्थक बताकर ज़ोरों के साथ उनके प्रति देश की राष्ट्रीय आत्मा के विरोध की अभिव्यक्ति की। वर्ष भर बाद जब सन् १९०९ ई० में वह वापस स्वदेश लौटे तो कुछ मित्रों के सहयोग से उन्होंने समस्त हिंदुओं को एक ही मंच पर लाने के सदुद्देश्य से 'पंजाब-हिंदू-सभा' के नाम से एक नवीन संस्था को जन्म दिया। किंतु इन्हीं दिनों अपने पुत्र के विलायत में बीमार पड़ जाने के कारण उन्हें फिर तुरन्त ही कुछ समय के लिए इंगलैंड की दौड़ लगानी पड़ी। वहाँ से वापस आने पर उन्होंने शिक्षा-प्रसार के कार्य में गहरी दिलचस्पी ली और अपने प्रांत में कई एक सार्वजनिक विद्यालय प्रस्थापित किए तथा इस कार्य की लौ जगाए रखने के लिए 'शिक्षा-संघ' के नाम से एक विशिष्ट संस्था का भी निर्माण किया। तब सन् १९१२ ई० में बाँकीपुर (पटना) के अधिवेशन में पूरे पाँच वर्ष बाद वह पुनः कांग्रेस की वेदी पर आ खड़े हुए तथा दक्षिणी अफ्रीका के प्रवासी भारतीयों की यातनाओं के संबंध में गोखले द्वारा पेश किए गए एक प्रस्ताव के समर्थन में मालवीयजी के साथ-साथ उन्होंने भी बड़े ज़ोरदार शब्दों में एक वक्तृता दी। तदुपरान्त जब गांधीजी के नेतृत्व में दक्षिण अफ्रीका का इतिहास-प्रसिद्ध सत्याग्रह-संग्राम अपने पूरे ज़ोर-शोर के साथ छिड़ा तो महामान्य गोपाल कृष्ण गोखले द्वारा उस लड़ाई के लिए मदद की अपील की जाने पर लालाजी ने अपने प्रान्त से लगभग पचीस हज़ार रुपए चंदे के रूप में इकट्ठा करके भिजवाए और कांग्रेस की ओर से इसी संबंध में जब एक डेपुटेशन विलायत भेजने का निश्चय किया गया तो उसके सदस्य के रूप में वह इंगलैण्ड भी गए, यद्यपि इस डेपुटेशन से कोई नतीजा नहीं निकल पाया।

जब यह डेपुटेशन वापस स्वदेश लौटा तो लालाजी उसके साथ न आकर कुछ समय के लिए इंगलैंड ही में रुक गए और इसी बीच उन्होंने वहाँ ठहरकर 'आर्यसमाज' के नाम से अंग्रेज़ी में एक महत्त्वपूर्ण पुस्तक लिखी, जो काफ़ी समादृत हुई। तदनंतर वह वहाँ से जापान चले गए। किन्तु इसी दर्मियान १९१४ ई० का महायुद्ध छिड़ जाने के कारण जब उन्हें स्वदेश आने के लिए पासपोर्ट न मिल सका तो विवश हो पुनः उन्हें वापस इंगलैंड चले जाना पड़ा, जहाँ से उसी वर्ष के आख़िर तक अंत में वह अमेरिका चले गए। यहाँ आकर

अपने जोशीले व्याख्यानों का एक ताँता-सा बाँधकर एवं भारत की सामाजिक तथा राजनीतिक समस्याओं पर पत्र-पत्रिकाओं में कई गवेषणापूर्ण लेख लिखकर उन्होंने मातृभूमि के हितार्थ ज़ोरों का प्रचार-कार्य करना शुरू किया, जिसका संयुक्त राष्ट्र की जनता पर गहरा प्रभाव पड़ा। उनका यह द्वितीय निर्वासनकाल पूरे पाँच वर्ष तक अर्थात् महायुद्ध की अवधि भर रहा, और इस बीच अपने कुछ प्रवासी भारतीय मित्रों के सहयोग से 'इंडियन होमरूल लीग' तथा 'इंडियन इन्फार्मेशन ब्यूरो' नामक संस्थाओं की प्रस्थापना करने के अतिरिक्त 'यंग इंडिया' नामक एक साप्ताहिक पत्र उन्होंने अमेरिका से निकाला एवं प्रचारार्थ कई एक पुस्तक-पुस्तिकाएँ भी लिखकर मुफ़्त बँटवाईं। कहते हैं, उनकी एक पुस्तक 'फाइट फ़ॉर फ्रम्स' तो कई लाख की संख्या में मुफ़्त वितरित की गई थी! तब घटित हुआ सन् १९१९ ई० का पंजाब का भीषण हत्याकाण्ड और मार्शल-लॉ के अंतर्गत वहाँ की जनता पर ढहाए गए अत्याचारों के पहाड़ का समाचार पाकर पंजाब के इस सिंह का हृदय अपनी बेबसी को देख मानों तिलमिला उठा! उस समय की अपनी अन्तर्वेदना लालाजी ने निम्न शब्दों में प्रकट की है—'मैं इस मौक़े पर, जबकि मेरे देशवासी ऐसी विकट आपदाओं का सामना करते हुए आज़ादी की लड़ाई लड़ रहे हैं, उस संग्राम में अपना हिस्सा अदा करने के लिए देश में मौजूद न रहने के कारण एक कटु आत्मग्लानि और लज्जा के भाव से दबा जा रहा हूँ! यहाँ तक कि यह तथ्य भी कि भारत न जा पाने की अपनी इस विवशता में स्वतः मेरा अपना कोई अपराध नहीं है, मेरे लिए कोई सांत्वना की बात नहीं है। यद्यपि भारत के लिए होमरूल के पक्ष में बाहरी दुनिया में अनुकूल मत पैदा करने का यह काम भी एक महत्त्व का काम है, फिर भी हमारा सच्चा कार्यक्षेत्र तो है हिन्दुस्तान ही। वस्तुतः सारे संसार का नैतिक समर्थन प्राप्त कर लेने पर भी हमें निर्णयात्मक रूप से मदद नहीं पहुँचेगी। भारत की यथार्थ आज़ादी तो स्वयं भारतीयों द्वारा भारत ही में सिद्ध हो सकेगी।' सौभाग्य से इसके शीघ्र ही बाद उन पर से स्वदेश वापस आने सम्बन्धी बंदिश उठा ली गई और २० फरवरी, सन् १९२० ई०, के दिन वह बंबई के बंदरगाह पर पुनः मातृभूमि के तट पर उतरे, जहाँ बिछुड़े हुए देशवासियों द्वारा बड़ी धूमधाम के साथ उनका स्वागत किया गया।

इसके बाद के उनके जीवन के शेष आठ वर्षों का वृत्तान्त तो आज के हमारे बृहत् इतिवृत्त की धारा के साथ इतना एकाकार हो चुका है कि उस को विस्तारपूर्वक दोहराने की आवश्यकता ही नहीं है। उन्होंने वापस आते ही अपने आपको पूर्णतया देश के उत्थान-कार्य में लवलीन कर इसी उद्देश्य से लाहौर से 'वन्देमातरम्' नामक एक उर्दू दैनिक निकालना शुरू किया, जिसके पहले अंक ही में सूत्रवत् रूप में अपने ज्वलन्त जीवनादर्श की एक रूपरेखा प्रस्तुत करते हुए ये उल्लेखनीय वाक्य उन्होंने उद्घोषित किए थे—'मेरा मज़हब हक़परस्ती (सत्य की उपासना) है, मेरी मिल्लत (धर्म-मत) क़ौमपरस्ती (राष्ट्र की पूजा) है, मेरी इबादत (पूजा) खलकपरस्ती (विश्व की उपासना) है, मेरी अदालत मेरा अन्तःकरण है, मेरी जायदाद मेरी क़लम है, मेरा मन्दिर मेरा दिल है, और मेरी उमंगें सदा जवान हैं।' और राष्ट्र ने भी उसी वर्ष गांधीजी द्वारा प्रस्तावित असहयोग-आंदोलन पर विचार करने के लिए कलकत्ते में आयोजित कांग्रेस के ऐतिहासिक विशेषाधिवेशन के अध्यक्ष-पद पर बिठाकर अपने इस एक हुए राजनेता के प्रति विश्वास प्रकट करते हुए उसका यथोचित सम्मान किया। इसके बाद जब नागपुर के अधिवेशन में कांग्रेस ने गांधीजी को पूरे विश्वास के साथ अपना कर्णधार बनाकर युद्ध की बिगुल बजाने का निर्णय किया और रणभेरी के उस निनाद के होते ही सरकार ने भी अपनी पूरी शक्ति के साथ अपना दमनचक्र चलाना शुरू किया तो आरंभ में गांधीजी की नीति से सहमत न होते हुए भी लालाजी पूरी तरह बाँहें चढ़ाकर मैदान में कूद पड़े और बात की बात में उन्होंने अपने प्रान्त के तमाम स्कूल-कॉलेजों के विद्यार्थियों से खाली करा दिया, यहाँ तक कि जिस डी०ए०वी० कॉलेज के वह कभी प्राण जैसे थे, उसकी भी सीढ़ियों पर बैठकर धरना देते वह हिचकिचाए नहीं। इसी बीच कार्यकर्त्ताओं को उच्च राजनीतिक शिक्षा देने के लिए 'तिलक स्कूल ऑफ़ पालिटिक्स' के नाम से

एक महत्त्वपूर्ण राष्ट्रीय विद्यालय की प्रस्थापना वह कर चुके थे, जो कालान्तर में 'सर्वेण्टस् ऑफ़ दी पीपुल सोसायटी' (अर्थात् लोक-सेवक-मंडल) नामक प्रसिद्ध जनसंस्था के रूप में परिणत हो गया तथा महामान्य गोखले की प्रख्यात 'सर्वेण्टस् ऑफ़ इंडिया सोसायटी' की भाँति जिसने आगे चलकर कई एक देशभक्त जनसेवकों को जन्म देने का गौरव पाया।

स्वभावतः ही लालाजी द्वारा होनेवाली इस प्रकार की राष्ट्रीय जागृति को भला गोरी नौकरशाही क्योंकर चुपचाप सहन कर सकती थी! अतः ३ दिसंबर, सन् १९२१ ई०, के दिन उन्हें गिरफ़्तार करके डेढ़ वर्ष की कैद तथा पाँच सो रुपए जुर्माने की सज़ा उसने ठोंक दी! इस कारागारवास से यद्यपि अवधि से पहले ही वह छोड़ दिए गए, किन्तु शीघ्र ही पुन: राजद्रोह के आरोप में वर्ष भर की कड़ी क़ैद देकर वह जेल के मेहमान बना दिए गए और इस बार की क़ैद ने उनके स्वास्थ्य को इतना अधिक गिरा दिया कि उसमें क्षय-रोग तक के आसार प्रकट होने लगे! कहने की आवश्यकता नहीं कि उनके छुटकारे के लिए देश-विदेश में सबकहीं ज़ोरों से पुकार उठाई गई, जिससे कि काफ़ी टालमटोल के बाद १६ अगस्त, सन् १९२३ ई०, को सरकार को उन्हें रिहा करने को विवश होना पड़ा! तब तक देश के राजनीतिक वायुमंडल ने कुछ और ही तरह का रंग दिखाना शुरू किया था। उधर गांधीजी जेल के सीखचों की आड़ में बंद थे, इधर देशबन्धु दास और पं० मोतीलाल नेहरू के नेतृत्व में कौंसल-प्रवेश के पक्ष में एक ज़बर्दस्त मोर्चा तैयार हो रहा था। साथ ही असहयोग के ज़माने के हिन्दू-मुस्लिम-ऐक्य के तार भी क्रमशः बिखर चले थे और तबलीग़ तथा शुद्धि के नारों के बढ़ते हुए स्वर के साथ देश के राजनीतिक आँगन में सांप्रदायिकता का भी रंग चढ़ता चला जा रहा था। इस बदलते हुए वातावरण का कुछ असर स्वभावतः ही हमारे चरितनायक पर भी पड़े बिना न रह सका। वह जहाँ कौंसिलों पर धावा मारने के लिए कटिबद्ध हुए, वहाँ ज़माने की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप इन्हीं दिनों 'मुस्लिम लीग' की भाँति 'हिन्दू-महासभा' के नाम से एक सांप्रदायिक संस्था को जन्म देने में भी उन्होंने योग दिया और वहां सन् १९२५ ई० के उसके कलकत्तावाले अधिवेशन के सभापति बनाए गए। किन्तु जहाँ इस प्रकार सांप्रदायिकता के तट की ओर वह बढ़ते दिखाई दिए, वहाँ राष्ट्रीयता की उपासना का भी क्रम उन्होंने ढीला न होने दिया, कारण 'हिन्दू-महासभा' को सहयोग देकर भी कांग्रेस के साथ अपना गठ-बंधन उन्होंने यथापूर्व दृढ़ बनाए रक्खा। उनका हिन्दू-महासभा के साथ जो संबंध था वह था वस्तुतः बहुत-कुछ वैसा ही एक नाता, जैसा कि आर्यसमाज के साथ भी उन्होंने जीवन भर बनाए रक्खा था। वह यथार्थ अर्थ में संप्रदायवादी तो कदापि बन ही नहीं सकते थे—वह तो 'सांप्रदायिक प्रतिनिधित्व' के कट्टर विरोधियों में से थे और उन्हीं का प्रभाव था कि हिन्दू-महासभा ने सन् १९२६ ई० के चुनाव में अपनी ओर से कोई उम्मीदवार न खड़ा करने का फ़ैसला किया था। यही नहीं, सन् १९२५ ई० में तो पं० मोतीलाल और देशबन्धु दास के स्वराज्य-दल के साथ उन्होंने खुले दिल से पूर्ण सहयोग दिया था और उसी की ओर से बड़ी धारा-सभा में जाकर कई दिनों तक उसकी डिप्टी-लीडरी भी उन्होंने की थी, यद्यपि पीछे मतभेद के कारण कुछ दिनों के लिए उससे अलग हो जाने को वह विवश हो गए थे और 'स्वतंत्र कांग्रेस-दल' के नाम से एक अलग पार्टी का संगठन कर सन् १९२६ ई० के चुनाव में 'स्वराज्य-दल' का विरोध करते हुए दलबंदी के जोश में एक साथ ही दो निर्वाचन-क्षेत्रों से खड़े हो दोनों ही से एसेंबली के लिए चुने जाने में वह समर्थ हुए थे! सौभाग्य से कांग्रेसी स्वराज्य-दल के साथ उनकी उपर्युक्त अनबन ज्यादा दिन न बनी रही और सन् १९२७ ई० में पं० मोतीलाल नेहरू के साथ पुनः उनका पूरा मेलजोल हो गया। फलतः सुप्रसिद्ध 'नेहरू-रिपोर्ट' को तैयार करने में उन्होंने पंडितजी को यथाशक्ति भरपूर योग दिया। किन्तु देश की क़िस्मत में अब अधिक दिनों तक उनके नेतृत्व का लाभ न बदा था। क्योंकि इसके शीघ्र ही बाद सन् १९२८ ई० में बदनाम 'सायमन-कमीशन' के भारत-आगमन के अवसर पर लाहौर में उसके प्रति विरोध-प्रदर्शन करते समय एक दुष्ट गोरे सार्जण्ट

की लाठी के घातक प्रहार ने इस महान् जननेता के जीवन का तारतम्य एकाएक तोड़ दिया और फलतः १७ नवंबर, सन् १९२८ ई०, के दिन राष्ट्र-यज्ञ के भावी अनुष्ठान में अपने महान् नेतृत्व और सहयोग से हमें सदा के लिए वंचित कर वह असमय ही परलोक के लिए प्रयाण कर गया। कह नहीं सकते कि यदि लालाजी अधिक दिन जीवित रहते तो देश के आगामी चित्रपट में अपनी ओर से कैसी अनूठी झाँकी वह प्रस्तुत करते! कम से कम पंजाब की राजनीति में जो घुन उनके बाद लगना शुरू हो गई, वह तो अवश्य ही रुक जाती!

लाजपतराय थे तिलक, गोखले और मालवीय-जी की भाँति इस देश की राष्ट्रीयता का शिलारोपण करनेवाले हमारे एक महान् अग्रनेता, और इसमें तनिक भी संदेह नहीं कि इस महादेश के पुनरुत्थान के बृहत् आलेख में अन्य राष्ट्र-विधायकों के साथ-साथ उनका भी नाम सबसे अग्रिम पंक्ति में सदैव सुनहले अक्षरों में जगमगाता रहेगा। उनकी प्रशस्ति में इस युग के संसार के सबसे बड़े महापुरुष गांधीजी के निम्न ज्वलन्त शब्दों के उपरान्त फिर और कुछ कहने की आवश्यकता ही क्या रह जाती है कि वह एक व्यक्ति नहीं बल्कि संस्था थे और अपने देश से इसलिए वह प्रेम करते थे चूँकि सारे संसार से उन्हें प्रेम था! तभी तो समाज-सुधार, शिक्षा-प्रसार, दलितोद्धार, एवं मातृभूमि की राजनीतिक मुक्ति आदि-आदि, सभी विषयों के प्रति समान उत्साह के साथ वह अग्रसर हुए थे और क्या भारतवर्ष तथा क्या इंगलैण्ड-अमेरिका, हर कहीं समान रूप से अपने बृहत् अनुष्ठान की सिद्धि करने में उन्होंने सफलता प्राप्त की थी! लाजपतराय का कार्यक्षेत्र कितना चहुँमुखी था, इसका कुछ अनुमान इस बात से किया जा सकता है कि एक साथ ही कांग्रेस, आर्यसमाज और हिन्दू-महासभा जैसी तीन विशाल संस्थाओं के नेतृत्त्व की बागडोर उन्होंने अपने जीवन में सँभाली थी! वह एक अद्वितीय वक्ता तो थे ही, पर साथ ही एक प्रकाण्ड लेखक भी थे, जिसकी साक्षी 'आर्यसमाज', 'तरुण भारत' (यंग इंडिया), 'दुःखी भारत' (अनहैपी इंडिया), 'भारत का राजनीतिक भविष्य' आदि उनकी बृहत् कृतियाँ और मेज़िनी, गैरीबाल्डी, दयानन्द, शिवाजी, गुरुदत्त, श्रीकृष्ण, आदि की उनके द्वारा लिखी गई छोटी छोटी जीवनियाँ तथा वे अनगिनत राजनीतिक-सामाजिक ट्रैक्ट हैं, जिन्हें विशेषकर अमेरिका में उन्होंने प्रचारार्थ निकाला था! और पत्रकला के क्षेत्र में तो उनकी निपुणता के प्रमाण में 'यंग इंडिया', 'वन्दे-मातरम्', 'पीपुल' आदि उनके द्वारा निकाले गए प्रसिद्ध पत्रों के नाम गिना देना ही पर्याप्त होगा। गांधीजी के शब्दों में, 'ऐसे एक भी जनान्दोलन का नाम लेना असंभव है, जिसमें अपने ज़माने में लालाजी सम्मिलित न हुए हों! वस्तुतः सेवा करने की उनकी भूख सदा अतृप्त ही रहती थी! उन्होंने शिक्षालय खोले, दलितों के वे मित्र बने, और जहाँ-कहीं भी दुःख-दैन्य दिखाई दिया, वहीं वे दौड़े गए!' लाजपतराय की सबसे बड़ी ख़ूबी थी उनकी अद्भुत भाषण-शक्ति, जिसके द्वारा जनता के हृदय पर वह सहज ही काबू पा लेते थे। वह लोकरुचि को देखकर चलने में बड़े पटु थे और इसी हेतु राजनीतिक क्षेत्र में प्राय तरह-तरह के पैंतरे बदलते वह देखे जाते थे। मौ० मुहम्मदअली ने ठीक ही कहा था कि 'वह थे तेज़ी से अपना रंग बदल लेने की क्षमता से युक्त एक पटु कलाकार!' लाजपतराय के जीवन का महत्त्व इसी में था कि उन्होंने जनसाधारण के मन में आज़ादी की चेतना जाग्रत कर ग़ुलामी की ज़ंज़ीरें तोड़ने के लिए उन्हें उभाड़ने में यथाशक्ति कोई कसर न रहने दी! और तो और, इसी 'एजिटेशन' या आन्दोलन मचाने के अनुष्ठान में अंत में अपने प्राणों तक की आहुति उन्होंने दे डाली! संक्षेप में, उनका एकमात्र धर्म था अपने राष्ट्र और जाति की हित-साधना ही—उनका जीवन-प्रवाह एक ऐसे उमड़ते हुए नद का प्रवाह था, जो एक ओर शुद्ध राष्ट्रीयता तथा दूसरी ओर आर्य-संस्कृति की अपनी महान् वसीयत दोनों के ऊँचे किनारों के कगारों को निरन्तर छूता हुआ आगे बढ़ा! इसीलिए कतिपय संकुचित दृष्टिवालों की आँखों में वह कांग्रेस के आँगन में इतना महत्त्व का स्थान पाकर भी संप्रदायवाद के रंग से रँगे हुए दिखाई दिए! किन्तु इस महान् देशभक्त को 'संप्रदायवादी' कहना हमारी निगाह में तो वस्तुतः राष्ट्रीयता का अपमान करने जैसा है।
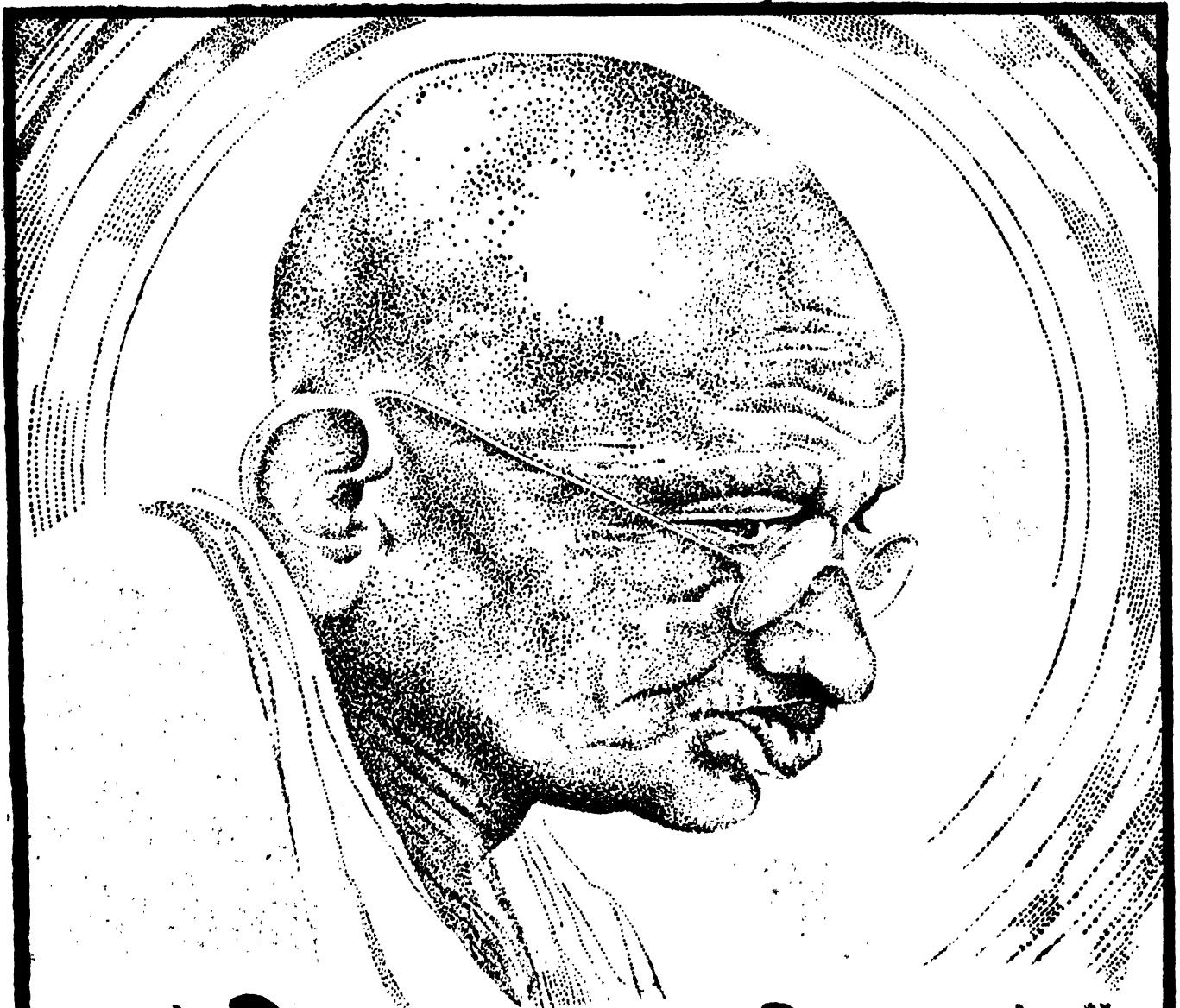
मोहनदास कर्मचन्द गांधी

आपने दुबले-पतले कंधों पर अठहत्तर वर्षों का भारी बोझ उठाए, फिर भी देखने में तपे हुए ताँबे की तरह तमतमाता हुआ वह था डेढ़ पसलियों का एक अनोखा मानवीय अस्थि-पंजर! उस पर कलश की भाँति सधा हुआ था एक बड़ा-सा घुटा सिर! कहीं भी साधारण दुनियावी पैमाने के अनुसार मन को लुभाने-जैसी बदन की काट या गठन की परछाईं भी नहीं—एक विचित्र ढंग के चौड़े कान, उभरकर बाहर निकले हुए ओठ, चश्मा चढ़ी हुई आँखें, बैठे-से गाल, दबी-सी ठोढ़ी, कुछ उठी कुछ मुड़ी हुई-सी नाक और हँसते समय खास तौर से ध्यान खींचनेवाला पोपला मुँह! और पहनने को क्या? पैरों में मामूली चप्पल तथा कमर में भिखारियों-जैसे घुटनों तक के लँगोटीनुमा अँगोछे के अलावा कंधों पर पड़ी केवल खद्दर की एक सफ़ेद सूती चादर!

यदि बाहरी दिखावे ही की बात कही जाय तब तो बस यही थी उस युग-पुरुष की तस्वीर—उस

विश्ववंद्य महात्मा की, जिसके कि व्यक्तित्व में इस महादेश की त्रस्त मानवता ने इस युग में मुक्ति का एकमात्र आश्रय पाया—जो था भौतिकवाद के धूम्राच्छादित खड्ड में छटपटा रहे रक्त से लथपथ घायल संसार का एकमात्र आशीर्वाद और इस पीड़ित राष्ट्र का सच्चा त्राता एवं मुक्तिदाता! निश्चय ही इस युग की अनेक पहेलियों में वह भी था एक अद्भुत पहेली-जैसा ही—उसके इस बाह्य कलेवर को देखकर भला एकाएक कौन कभी यह समझ सका कि अपने ज़माने में इसी डेढ़ पसलियों के आदमी में मानव की मानवता देवत्व की उसी ऊँचाई तक ऊँची उठ सकी जैसी कि भगवान् श्रीकृष्ण और करुणावतार बुद्ध, प्रेमयोगी ईसा और महात्मा ज़रथुस्त्र के व्यक्तित्व में कभी उठते दिखाई दी थी? वस्तुतः जिस किसी ने भी उसे देखा, वह पहलेपहल आश्चर्य से एकदम अवाक् हुए बिना न रह सका! प्रत्येक के मन में यही अचरजभरा प्रश्न उठा—क्या इसी मुट्ठी भर हड्डियों के खिलौने-जैसे आदमी ने इस युग की उस दुर्द्धर्ष आँधी को जगाया, जिसने डेढ़ सौ वर्षों से इस देश में ऊँचा सिर किए डटे रहनेवाले एक सुदृढ़ साम्राज्य का गढ़ जड़ से हिला दिया और हमें राजनीतिक मुक्ति का वरदान दिलाया? क्या इसी व्यक्ति को उसके शत्रुओं तक ने 'दूसरा ईसा मसीह' कहकर पुकारा और इस देश के कोटि-कोटि नर-नारियों की भावदृष्टि में जो बन गया एक अवतारी पुरुष?

पर जहाँ प्रत्येक के मन में यह गूढ़ प्रश्न उठा, वहाँ साथ ही साथ, जिस किसी ने भी उसे देखा उसकी काया में एक अद्भुत कंपन, एक सिहरन की-सी कँपकँपी भी विद्युल्लहरी की भाँति सिर से पैर तक दौड़े बिना न रही—वैसी ही कुछ जैसी कि पतितपावनी गंगा में पहलेपहल डुबकी लगाने या उत्तुङ्ग हिमालय के किसी धवल हिम-शिखर के एकाएक दर्शन हो जाने पर हमारे शरीर में एकबारगी ही दौड़ जाती है! उसका यही रहस्यमय जादूभरा प्रभाव ही तो विवश कर देता था कारागार के सीखचों की आड़ में बार-बार उसे ठेलनेवाले विरोधियों तक को उसके महान् व्यक्तित्व और आत्मतेज के आगे प्रणिपात करने और केवल ईसा, सुकरात या बुद्ध ही से उसकी तुलना करने के लिए! कारण, उसके अस्थि-मांस-निर्मित उस डेढ़ पसलियों के कलेवर में चाहे दुनियावी पैमाने के अनुसार किसी प्रकार का आकर्षण या सौंदर्य का पुट न रहा हो तो क्या, पर उसकी महान् आत्मा में तो समस्त विश्व की अन्तरात्मा का प्रखरतम तेज उद्भासित था! उसकी आत्म-ज्योति के अमित सौन्दर्य पर बड़े से बड़े कलाधरों की भी तूलिकाएँ लट्टू होकर निछावर हो सकती थीं और उसकी जीवन-कहानी में पाए जा सकते थे न जाने कितने ही महाकाव्यों के लिए मौलिक बीज! तभी तो उसके जीवन-काल ही में श्रद्धाञ्जलि अर्पित करते हुए इस देश के हृदय-सम्राट् पंडित जवाहरलाल ने उसके बारे में एक बार कहा था—'यह नाटा-सा आदमी अपनी ऊँचाई में ऐसा गगनस्पर्शी है कि अपने-अपने ढंग से दूसरे सभी लोग अपनी-अपनी परिधि में महानता से युक्त होने पर भी उसके आगे क़द में एकदम छोटे ही दिखाई देते हैं! वह हमारी आज की इस पारस्परिक घृणा, प्रतिहिंसा और परमाणु-बम जैसे घातक उपकरणों की दुनिया में शक्ति और सद्भाव के प्रतीक के रूप में एक बिल्कुल ही निराले आदर्श को लेकर चुनौती की तरह सबसे अलग खड़ा दिखाई देता है, और जब कि उसके आसपास का तृष्णाबद्ध समाज पागलों की तरह नित नए विलास के साधन और यांत्रिक उपकरणों ही की खोज में तल्लीन है, वह अपनी उस लँगोटी और मिट्टी की कुटिया ही को अपनाकर संतुष्ट है! उसे मनुष्य की इस धन-दौलत और शक्ति की होड़ा-होड़ में भाग लेते हम नहीं देखते—वह तो वस्तुतः इससे उल्टी ही दिशा की ओर अपनी आँखें लगाए हमें दिखाई पड़ता है! और फिर भी उसकी उन सौम्य किन्तु सुदृढ़तासूचक आँखों से शक्ति का कैसा प्रखर स्रोत उमड़ते हम देखते हैं—उसके उस जरा-ग्रस्त अस्थिपंजर में कैसा अद्भुत बल और प्रताप है और किस प्रकार उससे निरन्तर प्रवाहित शक्ति की वह लहर उमड़कर दूसरों तक को सबल बना देती है! आखिर कहाँ है उसकी इस सारी अमित शक्ति का मूल स्रोत—कहाँ से उसे यह सामर्थ्य और प्रभुत्व प्राप्त हो पाया है? क्या उसने भी कहीं उस प्राणवाहिनी जीवन-धारा के किसी छिपे निर्झर में से ही तो अमृतपान नहीं किया है, जोकि पिछले

युग-युगादिकाल से भारत को शक्ति प्रदान कर निरन्तर उसे पोषित करती आई है ?'*

महात्मा मोहनदास कर्मचन्द गांधी, जिनकी कि आरती अब हम उतारने जा रहे हैं, इस युग के न केवल भारत ही बल्कि सारे संसार के सबसे महान् साथ ही सबसे अधिक प्रख्यात महापुरुष थे! पड़ोसी तिब्बत से सुदूर अलास्का तक पृथ्वी का ऐसा कोई कोना नहीं बचा था जहाँ कि उनका नाम न पहुँच चुका हो! बल्कि पिछले वर्षों में तो बाहरी दुनिया गांधी ही को भारतवर्ष और भारतवर्ष को गांधी समझने लगी थी! ऐसी विश्व-विश्रुत विभूति का भी क्या किसी को परिचय देने की आवश्यकता हो सकती है? और फिर यदि हम उसका परिचय देना भी चाहें तो हमारे लिए जो कि उसके इतने निकटस्थ थे कि घुल-मिलकर उसके एक अंग जैसे बन गए थे, क्या यह कोई सरल कार्य है कि उसके बारे में कुछ कह सकें? वस्तुतः जवाहरलाल जैसे लेखनी के धनी को भी तो उस पर क़लम उठाते समय अपनी 'झिझक' जाहिर करते हुए यह कहने को विवश होना पड़ा था कि 'हम जो इस ज़माने में बढ़े और उसके असर में पले, हम कैसे उसका अन्दाज़ा करें? हमारे रग और रेशे में उसकी मोहर पड़ी और हम सब उसके टुकड़े हैं!' और सच पूछिए तो थोड़े में यह बता पाना भी क्या कोई खिलवाड़ है कि वह क्या था? वास्तव में, जैसा कि श्री हेनरी पोलक ने कहा था, 'हम यह नहीं बता सकते कि गांधी यह चीज़ है, वह चीज़ है! हम अधिक से अधिक निश्चयपूर्वक केवल यही कह सकते हैं कि वह यहाँ है, वहाँ है!' क्योंकि गांधी केवल एक व्यक्तित्व मात्र तो था नहीं, वह तो था एक पूर्ण विचारधारा, एक युगव्यापी पुकार, एक गूढ़ दार्शनिक मत, एक व्यापक नीति! और इन सबसे कहीं अधिक तो वह था आधिभौतिक उत्कर्ष की विफलता का अनुभव कर रही, भ्रान्त थकित मानवता का एक विश्वजनीन आशा-स्वप्न एवं चालीस करोड़ हाड़-मांस के पुतले इस देश के निवासियों के विगत तीस वर्षों के अपूर्व पुनरुत्थान का मूर्त्तिमान् इतिहास! तो फिर क्योंकर हम उसे इन थोड़ी-सी पंक्तियों की परिधि में बाँधने में समर्थ हो सकते हैं? कैसे एक ही चित्र में एक साथ ही उसके सभी पहलुओं के व्यापक चित्रपट का दिग्दर्शन कराना संभव है? वह तो सभी युग-प्रणेता महापुरुषों की तरह अप्रमेय था, परिभाषा से परे की वस्तु!

और अब तो, पतन के अतल गर्त्त की ओर फिसलते चले जा रहे आज के इस मानवतनधारी नरपशु को पुनः अपने वास्तविक धर्मपथ पर लौटा ले आने तथा 'हैवान' की इस दशा से उबारकर उसे सच्चा 'इंसान' बनाने के अपने जीवनव्यापी पुण्यानुष्ठान की पूर्णाहुति के रूप में अपने प्राणों तक की बलि चढ़ाकर जब सचमुच ही वह बन चुका है इस युग का दूसरा 'ईसा मसीह'—जब कि हमारी इस रक्तरंजित, स्वार्थसिंचित, गँदली दुनिया से सदा के लिए कूच कर वह बस चुका है उस शाश्वत अमर लोक में, जहाँ कि अनन्तकाल तक विश्व की गिनी-चुनी सर्वोच्च विभूतियों में उसका स्थान निर्दिष्ट हो चुका है—ऐसी स्थिति में उसकी महत्ता की नाप-जोख की आवश्यकता ही क्या रह गई है? भला कौन कभी जानता था कि उसके उस अद्भुत जीवन-नाटक का अंतिम पटाक्षेप भी ऐसा ही असाधारण और अद्भुत होगा—वह सामने आएगा बलिदान की पराकाष्ठा का ऐसा दिल हिला देनेवाला स्वरूप लेकर तथा प्रस्तुत करेगा महानता की गगनभेदी ऊँचाई की ऐसी दिव्य झाँकी? कब किसे मालूम था कि उसकी वह अमर कहानी, जो कि न केवल उसके ही अपने व्यक्तित्व के प्रस्फुटन और विकास की एक जटिल कहानी थी, प्रत्युत विकारों के घटाटोप में प्रगति की नवीन पथरेखा के निर्माण का निरन्तर प्रयास करते रहनेवाले चिरन्तन मानव के भी सत्यान्वेषण की एक प्रतीक-सी थी—जोकि मनोवैज्ञानिकों के लिए एक अध्ययन की चीज़ थी, कवियों के लिए उच्चतम आदर्श की जगमगाती हुई प्रेरक सामग्री जिसमें भरी पड़ी थी और इतिहासकार जिसमें पा सकते थे आधुनिक युग की उमड़ती हुई क्रान्तिधारा का एक धधकता अंगारवत् आलेख—वही अंत में उत्कर्ष की इस चरम सीमा पर जाकर समाप्त होगी? यों तो हम पढ़ा करते थे नित्यप्रति ही अपनी पाठ्य-

*गांधीजी की ७५ वीं वर्षगाँठ के उपलक्ष में आयोजित अंग्रेज़ी भेंट-ग्रंथ की प्रस्तावना से।

पुस्तकों में मानव को मानवता की राह पर लाने के हेतु आज से हज़ारों वर्ष पूर्व ऋषि सुकरात के विषपान और हज़रत ईसा मसीह के सूली पर चढ़ने की गौरव-कथाएँ, फिर भी तर्क-वितर्क के जंजाल में उलझा हुआ हमारा मन प्राय: अतिरंजित पौराणिक कथाएँ समझकर सच्चे इतिहास की कोटि में उन्हें रखते हुए हिचकने ही लगता था। किन्तु गांधीजी ने अभी-अभी इतिहास के खुले आँगन में सारे संसार की आँखों के आगे ईसा और सुकरात के प्राणदान के उस महायज्ञ की फिर से पुनरावृत्ति करके जिस प्रकार आज के तर्कवादियों को सदा के लिए भौंचक्का-सा कर दिया—जिस प्रकार विश्व-कल्याण के हेतु भगवान् शिव के हलाहल विष पीने की उस पुराण-प्रसिद्ध मंगल-कथा का मानों एक जीता-जागता भाष्य अपने महान् जीवन-नाटक के इस अंतिम अध्याय द्वारा उन्होंने प्रस्तुत किया, उसे देखते हुए किस प्रकार उनकी अतिमानवता, उनकी अलौकिकता और देवत्व में विश्वास जमाए बिना अब हम रह सकेंगे? निश्चय ही वह उसी प्रकार के एक महान् अवतारी पुरुष थे जैसे कि कृष्ण और राम, बुद्ध और महावीर, ज़रथुश्त्र और ईसा अथवा रामकृष्ण परमहंस हुए। वह थे इस युग को भारत की आत्मा, बल्कि साक्षात् विश्वात्मा, जो कि छल-प्रपंच के मायावी मकड़ी-जाल में उलझे हुए हम पामर प्राणियों को मुक्ति का प्रकाश दिखाने के लिए ही शरीर धारण कर हमारे बीच आ खड़ी हुई थी!

और अपने उस घटनापूर्ण जीवनकाल में क्या-क्या वरदान वह हमें न दे गए—क्या-क्या पाठ न सिखा गए? उन्होंने ही तो हमें पंगु दशा से मुक्ति दिलाकर इस युग में अपने पैरों पर खड़ा किया और वास्तविक रूप में निर्भय बनाया! उन्होंने ही तो फिर से हमारे अंतस्तल में पिछले दिनों गँवाए हुए अपने आत्मविश्वास की भावना मजबूत बनाकर केवल आत्मबल के बल पर अपनी हथकड़ी-बेड़ियों को तोड़ने का अमोघ मंत्र हमें सिखाया और पुनः 'सरल जीवन एवं उच्च विचार' के उस पुरातन आदर्श के प्रति सबल रूप से प्रेरित किया, जोकि हमारी संस्कृति की सच्ची रीढ़ एवं उसकी प्राणधारा का वास्तविक जीवनस्रोत है! और आश्चर्य तो यह था कि अपने इस अनुष्ठान को अकेले ही हाथ कितना व्यापक उन्होंने बना डाला—किस प्रकार हमारे राष्ट्रीय जीवन के अंग-प्रत्यंग को अपने जादूभरे संस्पर्श द्वारा एक नवीन स्फूर्ति से उन्होंने सजग बना दिया? भला चरखा, खादी, ग्रामोद्योग, गोसेवा, प्राकृतिक उपचार, हरिजनोद्धार, राष्ट्रभाषा-प्रचार, महिलाओं का उत्थान, शिक्षा-विधान, मादक वस्तुओं का निषेध, समाज-संस्कार, आदि-आदि सामान्य कार्यों से लेकर चालीस करोड़ मानवों के राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक अभ्युत्थान विषयक ऐसा कौन-सा क्षेत्र रहा, जो कि उनकी छाया के प्रभाव से अछूता रह गया हो? तो फिर कैसे हम उनकी व्यापक देन को शब्दों की सीमित तराजू पर तौलकर उनके प्रति अपने अगाध ऋण का अनुमान करें? सच तो यह है कि यदि इस महादेश के पार्थिव और सांस्कृतिक स्वरूप की विशद् पृष्ठभूमि में नगाधिराज हिमालय अथवा गंगा-यमुना की पुनीत धाराओं की महत्ता तथा युगादिकाल से उनके द्वारा अपने ऊपर लादे जा रहे राष्ट्र-ऋण की अमित राशि का कोई आँक हम लगा सकें तो संभव है कि गांधीजी के महत्व और मूल्य का भी पूरा-पूरा अंदाज़ हम कर सकें! दूसरे शब्दों में, वह अब कोरे नाप-जोख और तर्क-वितर्क की वस्तु रहे ही नहीं—वह तो बन चुके हैं हमारे लिए केवल असीम श्रद्धाभावपूर्वक वंदना करने योग्य एक अन्यतम राष्ट्र-विभूति, हमारे राष्ट्रपिता 'बापू'! अतः अपनी मातृभूमि की गौरव-प्रशस्ति के इस संक्षिप्त अभिलेख में उनका परिचयात्मक चित्र अंकित करते समय हमारे लिए श्रेयस्कर यही है कि आज के युग के निर्माणकर्त्ता सर्वप्रधान शिल्पी के रूप में उनके निश्चित उच्च आसन को एक स्वयंसिद्ध ध्रुव सत्य मानकर, विशेष ऊहापोह में पड़े बिना, केवल सरल ढंग से उनके महान् जीवन एवं चरित्र की एक संक्षिप्त सूत्रवत् रूपरेखा प्रस्तुत करने के बहाने ही उन्हें अपनी श्रद्धांजलि के दो पुष्प समर्पित कर लेने में हम संतोष कर लें, कारण इस पोथी के परिमित आकार और उनके दिग्गज व्यक्तित्व तथा जीवन-कार्य के बृहत् विस्तार को देखते हुए अधिक से अधिक यही भर यहाँ किया जा सकता है!

हाँ, तो आज से अठहत्तर वर्ष पूर्व, २ अक्टूबर, सन् १८६९ ई०, के दिन काठियावाड़ के समुद्र-तट पर स्थित पोरबन्दर (सुदामापुरी) नामक प्रसिद्ध बस्ती में, महाभाग्यशाली कर्मचन्द (अथवा 'कबा') गांधी के घर इस युग का यह महान् तपस्वी लोकनायक हमारे बीच अवतीर्ण हुआ था—उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्धकाल के उन्हीं चिर-स्मरणीय दश वर्षों में, जिनमें कि एक के बाद एक क्रमशः रवीन्द्रनाथ टाकुर, मोतीलाल नेहरू, मदन-मोहन मालवीय, गोपालकृष्ण गोखले, लाजपतराय और चित्तरंजनदास जैसी समकालीन भारत की अन्य विशिष्ट विभूतियों ने भी दैवयोग से अपना पार्थिव शरीर धारण किया था! जिस घराने में गांधीजी का जन्म हुआ था, वह काठियावाड़ का एक प्रतिष्ठित घराना था—उसकी तीन पुश्तें लगातार भिन्न-भिन्न रियासतों में दीवानगीरी (मंत्रित्व) का कार्य करते हुए खप चुकी थीं। अतएव मोहन-दास को दुनिया के घाट पर उतरते ही आरंभ में एकदम आरामतलबी ही का वातावरण मिला। इसके अतिरिक्त कट्टर समाज-रूढ़िबन्धन के दायरे में बँधे रहने के कारण जब केवल तेरह वर्ष की आयु ही में उनका विवाह भी हो गया तो स्वभावतः ही संयम की अपेक्षा विषय-विकारों की प्रवृत्तियाँ उस छोटी-सी उम्र में भी काफ़ी ज़ोर भरने लगीं! किन्तु जन्मजात संस्कारों की कृपा कहिए या उनके जीवन-लेख में आदि ही से विधाता द्वारा लिख दिए गए भावी उत्कर्ष की लकीरों के प्रभाव का जादू समझिए कि विकार की उस आँधी के साथ ही साथ उनके अन्तस्तल में विवेक की भी शक्तियाँ दिन पर दिन अपना प्रभुत्व प्रकट करने लगीं और इस प्रकार भलाई व बुराई की प्रवृत्तियों के बीच एक अनवरत संग्राम उनके मस्तिष्क में उस किशोरा-वस्था ही में उठ खड़ा हुआ, जिसने अन्त में उन्हें सदा के लिए पतन के ढालू रास्ते से मोड़कर सत्पथ का सच्चा राही बना दिया! अपने इस आरंभिक अन्तर्द्वन्द्व का बहुत ही चुभता हुआ सजीव चित्रण गांधीजी ने अपनी प्रसिद्ध गुजराती आत्मकथा—'सत्य ना प्रयोगो'—में किया है। उन्होंने विपथ की ओर अपना जो सबसे पहला क़दम बढ़ाया, वह था वर्जित खान-पान की दिशा में! उनका शरीर तो जन्म ही से बड़ा दुबला-पतला और डेढ़ पसली का-सा था, अतएव दोस्तों द्वारा जब यह सुझाया गया कि बिना मांस खाए न तो बदन ही हृष्ट-पुष्ट होना संभव है न जन्मजात सुस्ती और झेंपूपन दूर होना ही, तो अपने परिवार के कट्टर निरामिष-भोजी होने पर भी वह गुपचुप आमिष-भोजन के लिए तत्पर हो गए और इसी उद्देश्य से एक दिन छिपकर एक कुमित्र के साथ एक एकान्त स्थल पर पहुँचे! परन्तु जब निषिद्ध आहार गले से नीचे पहुँचा तो पहले ही दिन ऐसा मालूम हुआ मानों पेट में बकरा पुनर्जीवित हो 'बें-बें' की आवाज़ लगा रहा हो! अतः इस कार्य में फिर आगे बढ़ने की उनकी हिम्मत ही न हुई! इसी तरह बीड़ी-सिगरेट पीने की कोशिशें भी विफल रहीं और घर में चोरी करने के प्रयास में भी हाथ अधिक आगे न बढ़ पाया! यही नहीं, एक दिन एक दुस्साहसी साथी बहकाकर इन्हें चकले (वेश्यालय) की भी हवा खिलाने ले गया, किन्तु अपने झेंपूपन की वजह से कहिए, या दृढ़ नैतिक संस्कारों के प्रभाव से, उल्टे पैरों ही वहाँ से भी वापस आना पड़ा! सच तो यह था कि ये सब काम करना पड़ते थे गुपचुप या चोरी से ही और उनके दुराव-छिपाव के लिए कोई न कोई बहाना बना माता-पिता के आगे झूठ बोलना नितान्त आवश्यक हो जाता था। पर यही तो एक ऐसी बात थी जो कि उनके बस की न थी, कारण झूठ बोलने को न तो कभी इनका मन राज़ी हुआ और न होने की आशा ही थी!

इसी प्रकार विकार और विवेक की प्रवृत्तियों के तुमुल संघर्ष में आंदोलित-विलोड़ित होते मोहनदास किशोरावस्था को लाँघकर यौवन के द्वार की ओर बढ़े। इन्हीं दिनों १८८५ ई० में उनके पिता की मृत्यु हो गई और उसी वर्ष उनकी अल्पवयस्का पत्नी कस्तूरबाई ने अपनी पहली संतान—एक बालक—को जन्म दिया, जो अपरिपक्व होने के कारण स्वभा-वतः दो-चार दिनों में ही चल बसा! इसके दो वर्ष बाद मैट्रिक की परीक्षा पास कर लेने पर वह विशेष अध्ययन के लिए भावनगर के 'श्यामलदास कॉलेज' में प्रविष्ट हुए, किंतु इसी समय उनके पिता के एक मित्र के अनुरोध से बैरिस्टरी के लिए उन्हें विलायत भेजने की चर्चा उठी और बड़ी मिन्नतों के

बाद अपनी कट्टर धर्मावलम्बी माता और बड़े भ्राता को इस प्रस्ताव के लिए राज़ी करके ४ सितंबर, सन् १८८८ ई०, के दिन वह बंबई से इंगलैण्ड के लिए रवाना हो सके। चलते समय उन्हें खास तौर से अपनी माँ के आगे यह प्रण करना पड़ा कि उस सुदूर विदेश में मांस-मदिरा और परस्त्रीसंग के दुर्व्यसनों के कभी समीप भी वह न फटकेंगे, और यह एक उल्लेखनीय बात है कि युवक गांधी ने अपनी यह प्रतिज्ञा पूरी तरह निभाई, यद्यपि इंगलैंड जैसे मांसाहारी और सामाजिक आचरण में स्वच्छंद देश में निरामिष भोजन की व्यवस्था करने एवं शराब तथा स्त्रियों की संगति से दूर रहने में उन्हें कोई कम मुसीबत का सामना न करना पड़ा! यद्यपि आरम्भ के दिनों में इन्हें भी कुछ समय तक अन्य लोगों की तरह 'ड्रेस-सूट' सिलवाकर तथा पाश्चात्य ढंग का नृत्य सीखकर 'सभ्य' बनने की सनक लगी थी, परन्तु यह झेंपू मिज़ाज के जो थे इसलिए फेशन की दुनिया में ज्यादा पैर न पसार सके! वस्तुतः आगे चलकर आत्म-संयम, त्याग, तप, सत्याचरण और आस्तिकता के जो भाव उनके चरित्र में प्रखर रूप से प्रस्फुटित होनेवाले थे, उनके बीज उनके मन में इस विद्यार्थी-काल ही में गहराई के साथ अंकुरित हो चले थे। उन्होंने एक कट्टर आस्तिक वैष्णव परिवार में जन्म लिया था, अतः उनके मन पर बचपन ही से नैतिकता-विषयक अत्यन्त दृढ़ संस्कार जमे हुए थे और इसीलिए चारों ओर तरह-तरह के आकर्षणों के जंजाल से घिरे रहकर भी उनका आंतरिक विवेक उन्हें आसपास की खाइयों से निरंतर बचा-बचाकर सत्य और अहिंसा के पथ पर ही लिये चला जा रहा था। अपने इस आध्यात्मिक और नैतिक विकासक्रम में उन्हें गीता, बाइबिल और बुद्ध-चरित्र तथा टाल्स्टाय एवं थियासाफ़ी के साहित्य से अनमोल सहायता मिली, जिनके कि प्रति इन्हीं दिनों पहलेपहल वह आकृष्ट हुए थे। किन्तु इन सबसे कहीं अधिक सशक्त प्रभाव जो उनके जीवन पर पड़ा, वह था श्री रायचन्द भाई नामक एक पहुँचे हुए आत्मदर्शी साधक का, जिनसे उनका परिचय वैरिस्टरी की सनद लेकर सन् १८९१ ई० में वापस स्वदेश आने पर बंबई में हुआ। इस महापुरुष के संसर्ग में आकर गांधीजी की दबी हुई आध्यात्मिक प्रवृत्तियाँ उसी प्रकार खिल उठीं, जैसे कि सूर्य की किरणों का संस्पर्श पाकर कमल की पंखुड़ियाँ प्रस्फुटित हो जाती हैं! तभी से दृढ़ निश्चयपूर्वक आत्मोत्थान के पथ पर आरूढ़ हो कालान्तर में उन्होंने अपने जीवन को पूर्णतः सत्य के एक विशद प्रयोग में परिणत कर दिया! उन्होंने अपनी 'आत्मकथा' में लिखा है कि 'बहुतेरे धर्माचार्यों के संसर्ग में मैं बाद में आया हूँ और प्रत्येक धर्म के प्रतिपादकों से मिलने का प्रयत्न मैंने किया है, किंतु जो छाप मेरे ऊपर रायचंद भाई ने स्थापित की, वह दूसरा कोई न जमा सका', यद्यपि साथ ही साथ उन्होंने यह बात भी स्पष्ट कर दी थी कि 'रायचन्द भाई के प्रति इतना प्रगाढ़ आदर-भाव रखते हुए भी मैं उन्हें अपने हृदय में धर्मगुरु का स्थान न दे सका! तत्संबंधी मेरी खोज तो अब भी जारी ही है!'

स्वदेश वापस आने पर वैरिस्टर गांधी ने बंबई में अपनी वकालत शुरू की, परन्तु लगातार छः महीने तक डटे रहने पर भी जब उन्हें इसमें सफलता न मिली, तब राजकोट में डेरा-तंबू डालकर अर्ज़ी-दावे लिखकर ही वह सौ दो सौ प्रति माह कमाने लगे—और सो भी अपने बड़े भाई के प्रभाव से, जोकि उन दिनों पोरबंदर के राजा के सलाहकार मंत्री थे। यहीं पहलेपहल भारतीयों की ग़ुलामी और उनके प्रति अंग्रेज़ शासकों के अपमानजनक व्यवहार तथा काले-गोरे के भेद का सच्चा अनुभव करने का मौक़ा उन्हें मिला। बात यों हुई कि विलायत की पहचान निकालकर वह एक दिन अपने बड़े भाई का कोई काम साधने के लिए स्थानीय पोलिटिकल एजेण्ट से मिलने गए, पर उनके आश्चर्य का ठिकाना न रहा जब उस गोरे अधिकारी ने सारी जान-पहचान को ताक पर रखकर इनकी बात तो सुनना दूर रहा, उल्टे चपरासी से धक्के दिलवा दफ़्तर से इन्हें बाहर निकलवा दिया! इस घटना ने युवक गांधी के दिल पर गहरी ठेस पहुँचाई और पहलेपहल उसने उनके मन में वह राजनीतिक चेतना जाग्रत की, जिसने अनतिदूर भविष्य ही में उन्हें इस देश की आज़ादी के लिए कफ़नी पहन लेनेवाला फ़क़ीर बना दिया! इन्हीं दिनों पोरबंदर की एक मेमन व्यापारिक फ़र्म की ओर से एक मुक़दमे के सिलसिले में अफ़्रीका जाने

का निमंत्रण पाकर वह पुनः स्वदेश से बाहर चल दिए। किन्तु अफ़्रीका के उस अजीब प्रदेश में आकर रंगभेद के कारण होनेवाले अपमान तथा एक पराधीन जाति के प्रति गोरे शासकों के दुर्व्यवहार का और भी गहराई के साथ पग-पग पर कटु अनुभव उन्हें होने लगा। कहते हैं, पहले ही दिन जब वह डर्बन की अदालत में पहुँचे तो मजिस्ट्रेट से अपनी देशी पगड़ी उतारने के सवाल पर उनकी गहरी ठन गई और विरोध प्रकट करने के लिए अंत में उन्हें अदालत से उठकर चले आना पड़ा! यही नहीं, उसी मुक़दमे के सिलसिले में डर्बन से प्रिटोरिया जाते समय पहले दर्जे का टिकट होने पर भी केवल भारतीय होने के कारण उन्हें उतरकर आख़िरी डिब्बे में बैठने को कहा गया और अस्वीकार करने पर एक सिपाही ने उन्हें हाथ खींच प्लेटफ़ार्म पर धकेल दिया तथा उनका सारा सामान भी फेंक दिया! वह रात उन्होंने ठिठुरते हुए रास्ते के उस स्टेशन पर ही काटी! इसी तरह आगे चार्ल्सटाउन से जोहान्सबर्ग को घोड़ागाड़ी से यात्रा करते समय भी पावदान पर बैठने से इन्कार करने पर एक गोरे ने इन्हें ख़ूब मारा-पीटा और पुनः जोहान्सबर्ग से प्रिटोरिया के लिए रेल पकड़ने पर पहले तो फ़र्स्ट क्लास का टिकट ही न मिला और काफ़ी ज़ोर लगाने पर मिला भी तो रास्ते में फिर गार्ड ने उनके साथ गाली-गलौज किया तथा उतरकर तीसरे दर्जे में जाने को कहा गया!

लेकिन बाद में उन्हें मालूम हुआ कि ये घटनाएँ तो यहाँ आए दिन की बातें थीं—वे नित्य ही घटा करती थीं! यही नहीं, ट्रांसवाल में तो कोई भी भारतीय गोरों की तरह न सड़कों के फुटपाथ पर ही चल पाता था, न बिना परवाने के रात को ९ बजे बाद घर से बाहर ही निकल सकता था! साथ ही प्रति वर्ष प्रति व्यक्ति ३ पौंड (लगभग ४० रुपए) प्रवेश-फ़ीस के रूप में उसे कर देना पड़ता और इस पर भी उसे वहाँ न तो ज़मीन की मालिकी का ही अधिकार था न वोट देने का—वह तो भारतवर्ष के 'अछूतों' से भी गया-बीता वहाँ माना जाता था और नफ़रतभरे 'कुली' शब्द द्वारा ही वह वहाँ पुकारा जाता था, चाहे वह कितना ही धनी अथवा उच्च पेशेवर क्यों न हो!

इन थर्रा देनेवाली बातों का परिचय पा गांधीजी का माथा ठनका और इस अमानुषिक स्थिति के विरुद्ध तनकर खड़ा होने के लिए अपने प्रवासी देशबन्धुओं को जगाने का सुदृढ़ संकल्प उन्होंने किया! यहीं से दक्षिण अफ़्रीका में उनके द्वारा उठाए गए उस ज़ोरदार आन्दोलन का सूत्रपात हुआ, जिसने उन्हें एक नए मुक्तिदाता के रूप में दुनिया के आँगन में खड़ा कर दिया। यह लड़ाई ही वह आरंभिक प्रयोगशाला थी, जिसमें अहिंसात्मक सत्याग्रह-रूपी अमोघ अस्त्र का पहलेपहल आविष्कार कर उन्होंने राजनीतिक क्षेत्र में अधिकार-प्राप्ति के लिए पहली बार सामूहिक रूप से उसका सफल प्रयोग किया। साथ ही यहीं उनके निजी जीवन और व्यक्तित्व का भी यथार्थ प्रस्फुटन और विकास हुआ तथा अहिंसा, सत्य एवं त्याग के प्रति उनकी वह सुदृढ़ आस्था जमी, जो आगे चलकर उनके महान् चरित्र में इतने प्रखर रूप से प्रकाशित होते हमें दिखाई दी। स्थानाभाववश उनके इस महत्त्वपूर्ण प्रथम संग्राम का सुविस्तृत विवरण प्रस्तुत करने तथा उनके महान् व्यक्तित्व एवं चरित्र के क्रमागत विकास की उन आरंभिक सीढ़ियों की संपूर्ण रूपरेखा अंकित करने में हम यहाँ असमर्थ हैं - केवल उसकी कुछ मुख्य-मुख्य कड़ियों का ही निर्देश यहाँ किया जा सकता है। उनकी यह लड़ाई पूरे बीस वर्ष तक चालू रही थी—सन् १८९३ ई० में पहलेपहल अफ़्रीका की भूमि पर क़दम रखने की घड़ी से लेकर सन् १९१४ ई० में जनरल स्मट्स के साथ अपनी विजय-संधि के ऐतिहासिक दिवस तक, और इस बीच केवल दो बार वह भारत आए थे। इस दीर्घ कालावधि में अपने प्रवासी भाइयों को रंगभेद के घृणित अन्याय के विरुद्ध खड़ा करने तथा अहिंसात्मक पद्धति से अपने अधिकारों की पूर्त्ति कराने के हेतु युद्ध लड़ने के लिए उन्हें तत्पर करने के अपने प्रयास में उन्होंने क्षण भर का भी विराम न लिया। उन्होंने सन् १८९४ ई० में इस अनुष्ठान में योग देने के लिए 'नेटाल इंडियन कांग्रेस' के नाम से एक शक्तिशाली जनप्रतिनिधि संस्था की प्रस्थापना में हाथ लगाया और उसी वर्ष जब नेटाल-सरकार द्वारा मज़दूरी करनेवाले भारतीयों पर २५ पौण्ड (४२५ रुपए)

का सालाना कर लगाने का एक बिल पेश किया गया तो इस नई जनवेदी पर से विरोध की आवाज़ उठाकर देखते ही देखते अपने देशवासियों का एक ज़ोरदार संगठित मोर्चा अफ़्रीका के उन अन्याय पर तुले हुए गोरों के सामने उन्होंने खड़ा कर दिया! इसी समय अपने परिवार को लिवा ले जाने के लिए जब कुछ दिनों की छुट्टी ले वह स्वदेश आए तो सर फ़ीरोज़शाह मेहता, लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक, महामान्य गोपाल कृष्ण गोखले आदि चोटी के नेताओं से मिलकर तथा बंबई, पूना, मदरास, कलकत्ता आदि का दौरा कर अफ़्रीका के उन मुट्ठी भर गोरों द्वारा तथाकथित 'रंगीन' जातियों पर ढहाए जानेवाले नितप्रति के अमानुषिक अत्याचारों का एक सजीव खाका खींचकर उन्होंने इस अन्याय के विरुद्ध इस देश के नेताओं की भी आँखें खोल दीं। यह एक उल्लेखनीय बात है कि देश के सार्वजनिक आँगन में कांग्रेस तथा उसके तत्कालीन दिग्गजों के संसर्ग में पहलेपहल आकर अपनी उस आरंभिक झाँकी ही में गांधीजी ने गोखले जैसे दूरदर्शी नेता की आँखों में पैठकर उनकी तथा देश की निगाह में अपने लिए एक ऊँचा स्थान बना लिया था! कहना अनावश्यक है कि उनके द्वारा उठाए गए आन्दोलन से अफ़्रीका के गोरे बेतरह जल-भुन गए और फलतः जब १८९६ ई० में स्त्री-बच्चों सहित वह पुनः वहाँ पहुँचे तो आठ सौ अन्य हिन्दुस्तानी यात्रियों सहित उनके जहाज़ को अकारण ही डर्बन के बंदरगाह पर हफ़्तों रोक रक्खा गया, और अंत में जब वह उससे उतरे तो गोरों द्वारा उन पर कंकड़-पत्थरों की वर्षा की गई एवं घूँसों व लातों से उनका सत्कार किया गया! बड़ी मुश्किल से स्थानीय पुलिस सुपरिंटेंडेंट की पत्नी के बीच-बचाव द्वारा गोरे उपद्रवियों द्वारा घेर लिये गए ठहरने के अपने मुक़ाम से एक पुलिस कांस्टेबल के वेश में सुरक्षित स्थान में ले जाए जाकर उनकी जान बचाई गई। पर गांधीजी इन सब बातों से तिल भर भी अपने पथ से डिगाए न जा सके! बल्कि अपने महान् नैतिक आदर्श को सामने रखकर उन्होंने न केवल अपने आक्रमणकारियों के प्रति क्षमा का ही बर्ताव किया, प्रत्युत सन् १८९७-९९ ई० के प्रसिद्ध बोअर-युद्ध में विपत्ति के समय एक भारतीय स्वयंसेवक-टोली संगठित कर रणभूमि में सेवा-शुश्रूषा द्वारा उन्हीं गोरों की बुराई का बदला भलाई द्वारा ही उन्होंने चुकाया! साथ ही जनोत्थान के अपने महान् अनुष्ठान को तनिक भी ढीला न पड़ने देकर अहिंसात्मक तथा शान्तिपूर्ण उपायों से अपने अधिकारों की प्राप्ति के लिए आन्दोलन मचाना भी उन्होंने पूर्ववत् बराबर जारी रक्खा!

इस बीच उन्होंने अपनी जीवन-प्रणाली में दिन पर दिन सादगी तथा त्याग का अधिकाधिक समावेश करते हुए अपने रहन-सहन में गंभीर परिवर्त्तन करने की ओर हाथ बढ़ाया और स्वयं अपने ही हाथों अपने कपड़े धोना, बाल कतरना और दैनिक जीवन के अन्य कार्यों को करना शुरू किया, यहाँ तक कि अपनी अन्तिम संतान के प्रसव के समय स्वयं उन्होंने ही दाई का भी काम किया! तब सन् १९०१ के आख़िरी दिनों में वह पुनः कुछ समय के लिए स्वदेश आए और कलकत्ते के कांग्रेस-अधिवेशन में सम्मिलित हो तथा उक्त अधिवेशन के लिए नियोजित स्वयंसेवकों की टोली में भरती होकर उन्होंने विविध प्रकार से वहाँ सेवाकार्य किया। इसी अधिवेशन में पहलेपहल अखिल भारतीय कांग्रेस के प्लेटफ़ार्म पर वह प्रकट हुए और अफ़्रीका के भारतीयों की दुर्दशा-विषयक एक प्रस्ताव के समर्थन में कुछ मिनट पहली बार बोले भी! इस समय तक गोखले के साथ उनका घनिष्ठ परिचय हो चुका था, जिनके संग लगभग एक महीने तक वह कलकत्ते ही में रहे। कहते हैं, जब वहाँ से राजकोट जाने के लिए वह रवाना हुए तो साथ में गोखले द्वारा भेंट किया गया पीतल का एक साधारण टिफ़िन-बक्स, बारह आने क़ीमत का एक केनवस का झोला, एक कंबल और पहनने के कपड़े—यही कुल सामान उनके साथ था। यह उल्लेखनीय यात्रा गांधीजी ने तीसरे दर्जे ही में की और रास्ते में काशी, आगरा, जयपुर, पालनपुर आदि स्थानों में साधारण तीर्थ-यात्रियों की तरह कहीं धर्मशालाओं में तो कहीं पंडों के घर पर उतरते हुए केवल ३१) रु० कुल ख़र्च करके उन्होंने उसे संपूर्ण की थी! पर राजकोट से बंबई आकर सन् १९०२ ई० के आरंभ में वहाँ वकालत करने के इरादे से उन्होंने अपना तंबू खड़ा किया

ही था कि अफ्रीका से पुनः वहाँ के मित्रों द्वारा मदद की पुकार और ज़रूरी बुलावा पाकर फिर से बोरा-बँधना समेट उन्हें स्वदेश से चल देना पड़ा! इस बार अफ्रीका पहुँचते ही उन्होंने पत्रकला के क्षेत्र की ओर भी अपना क़दम बढ़ाया और 'ट्रांसवाल ब्रिटिश इंडियन एसोसियेशन' नामक एक संस्था की प्रस्थापना कर एक साथ ही अंग्रेज़ी, तामिल, गुजराती और हिन्दी में 'इंडियन ओपीनियन' नामक एक पत्र अपने संपादन में निकालना शुरू किया। साथ ही धार्मिक अनुशीलन के प्रति गंभीर रूप से आकृष्ट हो उन्होंने अपने आपको अब स्वाध्याय और एकान्त मनन-चिन्तन में भी अधिकाधिक लगाना शुरू किया तथा इसी बीच गीता के कई अध्यायों को कंठस्थ कर लेने के अलावा विवेकानंद के 'राजयोग' एवं पतंजलि के 'योगसूत्र' को गहराई के साथ मथ डाला। इन्हीं दिनों की बात है कि एक बार रेल से डर्बन जाते हुए रास्ते में महान् अंग्रेज़ लेखक रस्किन की 'अन्टू धिस लास्ट' नामक कृति पढ़ने का उन्हें अचानक मौक़ा मिल गया और उसके विचारों का ऐसा गहरा प्रभाव उन पर पड़ा कि तत्काल ही तदनुसार अपने जीवन को बदलने का उन्होंने दृढ़ संकल्प कर लिया। इसी पुस्तक को आगे चलकर गांधीजी ने 'सर्वोदय' के नाम से स्वतः गुजराती में भाषान्तर कर प्रकाशित कराया था। यह पुस्तक क्या थी मानों सरल जीवन और उच्च विचार के आदर्श को प्रतिपादित करनेवाली एक इंजिल-सी थी! उसी महान् आदर्श को सामने रखकर अब गांधीजी ने 'फ़िनिक्स' नामक स्थान में १०० एकड़ ज़मीन ख़रीद स्वावलम्बन और सादगी की आधारभित्ति पर वहाँ एक 'फ़ार्म' अथवा आश्रम-सा स्थापित किया और वहीं रहते हुए 'इंडियन ओपीनियन' को उन्होंने अब निकालना शुरू किया। इस समय तक उनकी सत्यनिष्ठा एवं अहिंसात्मक जीवन-प्रणाली से आकृष्ट होकर वेस्ट, हेनरी पोलक, कैलनबेक आदि कई गोरे भी उनके भक्त बन गये थे और सरल जीवन बिताते हुए अपना आत्मविकास करने के हेतु उनके साथ ही आ बसे थे। तब अपने शेष जीवन भर कठोर ब्रह्मचर्य-पालन का व्रत ले खान-पान के विषय में पहले से भी अधिक संयम का पालन करने की ओर गांधीजी ने अपना क़दम बढ़ाया, यहाँ तक कि उन्होंने भोजन में दूध, दाल तथा नमक तक का त्याग कर दिया! साथ ही दिन में केवल दो बार मिताहार करने का नियम अपनाकर एवं शारीरिक शिकायतों को दूर करने के लिए वैद्य-डॉक्टरों की शरण लेने के बजाय मिट्टी-पानी के प्राकृतिक प्रयोगों को आजमाकर अपने जीवन को अधिकाधिक प्रकृति की ओर मोड़ने का प्रयत्न भी उन्होंने शुरू किया। इस प्रकार अपने आपको निरन्तर तप की निर्धूम अग्नि में तपाता हुआ यह सत्यशोधक मनुष्य मात्र को अपने फंदे में फँसाए रखनेवाली दुर्दम्य इंद्रियों पर लगाम लगाकर क्रमशः सात्विक जीवन के उस शिखर की ओर तेज़ी के साथ बढ़ने लगा, जिस पर पहुँचकर अल्पकाल ही में वकालत का पेशा करनेवाले एक मामूली दुनियावी आदमी की स्थिति से ऊँचा उठ अपने युग के संसार के सबसे महान् आध्यात्मिक एवं नैतिक व्यक्तित्व में वह परिणत होनेवाला था।

और तब आया दक्षिण अफ्रीका में उनके द्वारा आरंभ किए गए उस महान् स्वातंत्र्य-आन्दोलन का वह महत्त्वपूर्ण युग, जबकि ट्रांसवाल-सरकार द्वारा प्रवासी भारतवासियों के लिए हुलिया तथा अँगूठों की निशानी देकर परवाना लेने के घोर अपमानजनक काले क़ानून के जारी किए जाने पर गांधीजी ने राजनीति के क्षेत्र में निष्क्रिय प्रतिरोध अथवा अहिंसात्मक सत्याग्रह के अद्भुत अस्त्र का सफल प्रयोग कर मानवीय इतिहास में एक युगान्तर प्रस्तुत कर दिया और फलतः उनका यश अब दक्षिणी अफ्रीका की सीमाओं को लाँघकर दुनिया के कोने-कोने तक फैल गया! यह बात है सन् १९०६-७ ई० की, जब कि गांधीजी की उम्र कोई सैंतीस या अड़तीस साल की रही होगी। १९०६ ई० के अप्रैल में जुलू नामक अफ्रीका की एक आदिवासी वीर जाति ने कतिपय शिकायतों के कारण अंग्रेज़ों के ख़िलाफ़ विद्रोह का झंडा खड़ा कर दिया था, जिसने कि एक विधिवत् संग्राम का रूप ग्रहण कर लिया था। अतः पिछले बोअर-युद्ध की भाँति इस लड़ाई के अवसर पर भी गांधीजी ने साथी भारतीयों की एक टुकड़ी लेकर घायलों की शुश्रूषा के लिए अपने आपको अर्पित किया और

लगभग डेढ़ मास तक बड़ी लगन के साथ उन्होंने वह सेवा-कार्य किया। किन्तु जैसे ही उक्त सेवा-मिशन को पूरा करके फ़िनिक्स के आश्रम में वह वापस आए, वैसे ही उन्हें ट्रांसवाल-सरकार द्वारा प्रवासी भारतीयों के विरुद्ध प्रस्तावित उपरोक्त काले क़ानून के मसविदे के प्रकाशन का समाचार मिला। तो फिर वह चुप कैसे बैठे रह सकते थे? फ़ौरन ही उन्होंने ट्रांसवाल के प्रवासी भारतीय बन्धुओं की एक बृहत् सभा बुलाकर अपनी मातृ-भूमि अथवा यों कहिए कि समस्त एशिया का अपमान करनेवाले इस गुस्ताख़ी से भरे प्रस्ताव के विरोध में साहसपूर्वक खड़ा होने के लिए सबका ज़ोरों से आह्वान किया और सबने एक स्वर से उसका मुक़ाबला करने की प्रतिज्ञा ले किसी हालत में भी परवाना न लेने का अपना दृढ़ संकल्प प्रकट किया! बस, फिर क्या पूछना था! जैसा कि पहले कभी भी देखने में न आया था, ऐसा एक ज़बर्दस्त जनान्दोलन उठ खड़ा हुआ। पहले तो हर प्रकार के वैध प्रयत्न करके देखे गए, सरकार के पास डेपूटेशन भेजे गए और ब्रिटिश पार्लामेंएट तक का द्वार खटखटाया गया, यहाँ तक कि स्वयं गांधीजी अन्य एक प्रतिनिधि को साथ ले इंगलैंड गए। किन्तु यह सब-कुछ व्यर्थ साबित हुआ और सरकार अपने निश्चय से टस से मस भी न हुई। उसने १ अगस्त, सन् १९०७ ई०, को परवाना लेने की अंतिम तारीख़ घोषित कर दी और उसके लिए जगह-जगह 'एशियाटिक दफ़्तर' के नाम से चौकियाँ भी स्थापित कर दीं। गांधीजी तो इस कार्रवाई का मुक़ाबला करने के लिए 'निष्क्रिय प्रतिरोध मण्डल' (पेसिव रेज़िस्टेन्स एसोसिएशन) नामक एक संस्था की प्रस्थापना पहले ही कर चुके थे। अतः जब बाक़ायदा रस्साकसी शुरू हुई तो जगह-जगह विरोधसूचक सभाएँ की गईं, जिनमें किसी भी दशा में परवाने न लेने की गंभीर शपथें ली गईं, और परवाना की चौकियों पर धरना देने के लिए सैकड़ों की संख्या में स्वयंसेवक भरती किए गए! इस प्रकार जनता और शासकों के बीच एक अभूतपूर्व अहिंसात्मक संग्राम छिड़ गया, जिसका अंतिम परिणाम देखने के लिए उत्सुकतापूर्वक सारा संसार बाट जोहने लगा। स्वभावतः ही यूनियन-सरकार अपने कार्य में रोड़ा अटकाते देख खीझकर दमन-पथ पर उतर पड़ी और उसने गिरफ़्तारियाँ शुरू कर दीं, जिससे कि दिसंबर, सन् १९०७ ई०, में गांधीजी भी अन्य कार्यकर्त्ताओं सहित दो मास की सादी क़ैद की सज़ा में पहली बार जेल में ठूँस दिए गए! किन्तु जब आन्दोलन किसी भी तरह दबता नज़र न आया और गांधीजी के जेल जाने के हफ़्ते भर के भीतर ही एक सौ से अधिक सत्याग्रही और जेल में आ पहुँचे तो सरकार घबड़ा उठी और अब उसने सुलह की चाल चली। फलतः गांधीजी के साथ संधि की बातचीत शुरू की गई और एक समझौता तय होने पर सब लोग छोड़ दिए गए। इस पर कुछ लोगों में यह ग़लतफ़हमी फैल गई कि गांधीजी सरकार से मिल गए हैं और फलतः कुछ पठानों ने तो लाठियों से उन पर हमला भी बोल दिया, जिससे कि वह मरते-मरते बचे! परन्तु अंत में सरकारी चाल का रहस्य खुल गया, क्योंकि 'हाथी के दाँत खाने के और, दिखाने के और होते हैं' इस कहावत के अनुसार मौक़ा देखते ही उसने सम-झौता भंग कर दिया! तब तो सिवा आन्दोलन जारी रखने के पुनः और कोई चारा ही न रह गया। अतः वही दौरदौरा पुनः शुरू हुआ और इस बार जब पुनः गांधीजी गिरफ़्तार हुए तो सादी के बजाय कड़ी क़ैद की सज़ा उन्हें दी गई तथा ख़ौफ़नाक मुलजिमों के लिए नियुक्त एकान्त काल-कोठरी में उन्हें जेल में रक्खा गया! छूटने पर एक बार फिर ब्रिटिश न्याय के प्रति अपने अनन्य विश्वास के कारण वह इस मामले में मदद की आशा से इंगलैण्ड पहुँचे, किन्तु वहाँ से भला उन्हें क्या मिलना था! अतः अब केवल सत्याग्रह का पल्ला पकड़े रहने ही में उन्हें एकमात्र उपाय दिखाई दिया और सब ओर से चित्त हटाकर इसी एक मोर्चे को मज़बूत बनाने में वह जुट गए।

इन्हीं दिनों भारत के प्रसिद्ध धन-कुबेर श्री रतन-जी ताता से दक्षिण अफ़्रीका के सत्याग्रह की इस लड़ाई की मदद के लिए पचीस हज़ार रुपए की आर्थिक सहायता पा गांधीजी ने तय किया कि सभी सत्याग्रही और उनके परिवार एक साथ एक ही जगह पर रहें और परस्पर मदद करते हुए कठोर आत्मसंयम द्वारा इस अहिंसात्मक संग्राम के सच्चे

सैनिक बनने की शिक्षा लें। इसी उद्देश्य से जोहान्सबर्ग से २१ मील दूर, अपने उदार जर्मन मित्र कैलनबेक से ११०० एकड़ भूमि का मुफ़्त प्रयोग करने का लाभ पाकर, सन् १९१० ई० में उन्होंने 'टाल्स्टाय फ़ार्म' के नाम से एक बृहत् आश्रम की प्रस्थापना की, जहाँ स्त्री-पुरुष दोनों अलग-अलग कुटियाओं में रहकर खाना पकाने से लेकर भंगी-मेहतर तक का काम करते हुए बिना किसी भेदभाव के भाई-बहनों की तरह रहने लगे और उस महान् अहिंसात्मक लड़ाई के लिए मानों आध्यात्मिक क़वायद करते हुए उसके हेतु भावी कार्यकर्त्ताओं को तैयार करने लगे। इस आश्रम में रहनेवाले सभी व्यक्तियों को अनिवार्यतः किसी न किसी दस्तकारी के काम को करना पड़ता था और तमाखू, मांस-मदिरा आदि का वहाँ सबके लिए परम निषेध था। स्वयं गांधीजी ने भी यहाँ जूता बनाने की शिक्षा ली थी और वहीं आश्रम के बच्चों को पढ़ाने का भी काम करते थे! सभी आश्रमवासियों को सार्वदेशिक धर्म-शिक्षा दी जाती, जिसके सिलसिले में रामायण या क़ुरान से पाठ पढ़े जाते, भजन गाए जाते और नियमित रूप से शाम को प्रार्थना की जाती थी। बीमार पड़ने पर केवल प्राकृतिक उपचारों ही का सहारा वहाँ लिया जाता था, परन्तु वस्तुतः उन दिनों वहाँ कोई बीमार पड़ा ही नहीं! और तो और, स्वयं गांधीजी ही को शारीरिक श्रम करने का इतना अभ्यास अब तक हो गया था कि कहते हैं, एक दिन तो इन्हीं दिनों पूरे पचपन मील तक वह पैदल चले गए थे, फिर भी थककर चूर होते नहीं पाए गए! इस प्रकार 'टाल्स्टाय-फ़ार्म' में वह महान् प्रयोग और भी अधिक प्रखर रूप में अहिंसा और सत्य की अपनी गुह्य सिद्धियों का चमत्कार दिखलाता हुआ मूर्त्तिमान् बना, जिसका कि आरंभ गांधीजी ने पाँच वर्ष पूर्व 'फ़िनिक्स-आश्रम' के रूप में पहलेपहल किया था! वास्तव में 'फ़िनिक्स-आश्रम' और 'टाल्स्टाय-फ़ार्म' ही वे आरंभिक प्रयोगशालाएँ थीं, जिनमें 'गांधीवाद' के नाम से भविष्य में अभिहित किए जानेवाले मानव-जीवन-संबंधी विशिष्ट दृष्टिकोण तथा उसके अनुरूप गढ़ी जानेवाली अनासक्त कर्ममूलक सरल जीवन-प्रणाली को कसौटी पर कसकर जाँचा-परखा एवं निर्धारित किया गया, और उन्हीं का परिष्कृत रूप भविष्य में साबरमती तथा सेवाग्राम के उन संसार-प्रसिद्ध आश्रमों में विकसित हुआ, जो कि आगे चलकर स्वयं भारत में उन्होंने स्थापित किए तथा जिन्होंने हमारे पिछले स्वाधीनता-संग्राम के प्रधान शिक्षण-शिविरों का काम किया। स्थान की कमी के कारण इन आश्रमों के जीवन की विस्तृत झाँकी प्रस्तुत करने में हम यहाँ असमर्थ हैं, किन्तु पाठकों से हमारा अनुरोध है कि वे कम से कम महात्माजी की 'आत्मकथा' में दिए गए उनके ब्यौरे को तो अवश्य ही पढ़ लें, क्योंकि इस महापुरुष की जीवन-धारा और उसके चरित्र-विकास के क्रम के साथ इन आश्रमों का इतना महत्त्व का संबंध है कि उनकी जानकारी पाए बिना उसके व्यक्तित्व की विकास-रेखा का यथार्थ रूप समझ पाना कठिन है।

यहाँ यह उल्लेख कर देना अप्रासंगिक न होगा कि जब दक्षिण अफ़्रीका का सत्याग्रह-संग्राम पीछे उल्लिखित मंज़िल पर पहुँच चुका था, तभी अपने प्रवासी देशबंधुओं की दशा की जाँच के लिए स्वनामधन्य गोखले का वहाँ आगमन हुआ और स्वतः अपनी आँखों से सारा हाल देख-परखकर उन्होंने यूनियन-सरकार से इस सम्बन्ध में चर्चा उठाई। किंतु चतुर गोरे अधिकारी तो इंगलैण्ड के अपने नातेदारों से इशारा पाकर पहले ही अपनी चाल सोचकर बैठे थे! अतः उन्होंने भोलेभाले गोखले को बाहरी आवभगत और शिकायतें दूर करने के ज़बानी आश्वासन द्वारा सहज ही बहला दिया और चिकनी-चुपड़ी बातों से उनके मन में अपनी सदिच्छाओं के प्रति विश्वास पैदा कर ज्यों-का-त्यों उन्हें वापस विदा कर दिया! परन्तु गांधीजी तो काफ़ी कटु अनुभव इन गोरे शासकों की कूटनीति का कर चुके थे। अतः वह स्वयं तनिक भी इस फुसलावे से प्रभावित न हुए। और शीघ्र ही हालत की सच्चाई भी प्रकट हो गई, क्योंकि जैसे ही गोखले ने वापस स्वदेश का रास्ता लिया, त्यों ही अपनी नीति में कोई फेरफार करना तो दूर रहा, उल्टे जले पर मानों नमक छिड़कते हुए इन्हीं दिनों अपनी एक अदालत के फ़ैसले को आधार बनाकर ईसाई धर्म-विधि से संपन्न न होनेवाले तमाम विवाहों को नाजायज़ करार दे शीघ्र ही एक ऐसा नया प्रहार अफ़्रीका के इन गोरों ने सभी प्रवासी जातिवालों पर

किया कि जिससे बढ़कर अपमानजनक कोई चोट दूसरी शायद ही हो सकती थी! इस नई चाल के अनुसार तो जितने भी विवाहित भारतवासी अथवा अन्य प्रवासीजन दक्षिण अफ्रीका की भूमि पर अपना क़दम रख चुके थे, उनकी स्त्रियों की वैधानिक दृष्टि से कोई भी स्थिति नहीं रह गई थी—वे अपने-अपने धर्मों के अनुसार विधिवत् लग्न-बंधन द्वारा धर्मपत्नी के रूप में प्रतिष्ठित होकर भी इन चालबाज़ों की कूटनीति के एक ही प्रहार द्वारा मानों रखेलियों की-सी स्थिति में उतार दी गई थीं! भला इससे बढ़कर मातृजाति का दूसरा अपमान और क्या हो सकता था? अतः स्वभावतः ही न केवल अपनी आत्मरक्षा के हितार्थ प्रत्युत आत्मसम्मान के ख़ातिर भी इस दुष्टतापूर्ण आघात का सम्पूर्ण शक्ति के साथ प्रतिरोध कर सत्याग्रह की रणभेरी बजाने के सिवा दूसरा चारा ही लोगों के लिए अब न रह गया! तो फिर क्या पुरुष और क्या स्त्रियाँ, क्या मज़दूरी करनेवाले श्रमजीवी और क्या वाणिज्य-व्यापार में व्यस्त धनी वर्ग के लोग, सभी एक ही झंडे के नीचे आ खड़े हुए और इस प्रकार पहले से भी अधिक ज़ोरदार एक अहिंसात्मक युद्ध छिड़ गया, जिसके पहले ही मोर्चे में अन्य कई सहयोगिनी सत्याग्रही महिलाओं के साथ गांधीजी की धर्मपत्नी कस्तूरबाई भी गिरफ़्तार कर ली गईं!

इसके शीघ्र ही बाद गांधीजी ने सरकार को अपना वह प्रसिद्ध 'अल्टीमेटम' दिया, जिसके अनुसार क़ानून भंग कर बिना परवाने के एक पूरी टोली के साथ ट्रांसवाल की सीमा पार करने का अपना संकल्प उन्होंने प्रकट किया था। इस नए ढंग की कूच की योजना यह थी कि सब लोग तब तक रुकें नहीं, जब तक कि गिरफ़्तार न हो जायँ और जब पहली टोली गिरफ़्तार हो जाय तो दूसरी टोली तुरन्त ही उसका स्थान ले ले। तदनुसार नवम्बर ६, सन् १९१३ ई०, के दिन सत्याग्रह के इस नए मोर्चे का श्रीगणेश कर दिया गया और एक विशाल टोली के साथ, जिसमें कि २०३७ पुरुष, १२७ महिलाएँ और ५७ बच्चे थे, अहिंसात्मक संग्राम का यह महासेनापति बिना परवाने के क्रमशः ट्रांसवाल की सरहद की ओर बढ़ा। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह सारी जमात राह ही में गिरफ़्तार कर ली गई। परन्तु मुक़दमा चलने पर गांधीजी ज़मानत पर छूटते ही जब पुनः सत्याग्रहियों की कूच करती हुई टोली में आ मिले तब तो यूनियन-सरकार का पारा चढ़ गया और उसने पकड़कर उन्हें नौ महीने की कड़ी सज़ा दे अपने जेल का मेहमान बना लिया! साथ ही उसने उनके योरपियन साथी पोलक और कैलनबेक को भी पकड़कर जेल में ठूँस दिया। इसी बीच नेटाल के लगभग बीस हज़ार मज़दूरों ने एक सहानुभूति-सूचक हड़ताल कर दी, जिससे सरकारी दमन-चक्र और भी उत्तेजित हो उठा और कहीं-कहीं तो काफ़ी ख़ूनख़राबी तक हो गई! उधर भारत में महामान्य गोखले ने यूनियन सरकार के वचन-भंग की तीव्र निन्दा तथा गांधीजी द्वारा उठाए गए सत्याग्रह-आंदोलन के प्रति हार्दिक समवेदना प्रकट करते हुए ज़ोरों के साथ मदद की आवाज़ बुलन्द की और सहायतार्थ बहुत-सा धन इकट्ठा करके श्री एण्ड्रूज़ एवं पियर्सन के साथ दक्षिण अफ्रीका भेजा और भारत-सरकार पर भी इस मामले में हस्तक्षेप के लिए भरपूर ज़ोर डाला। फलतः क्या सत्याग्रह के अमोघ प्रभाव और गांधीजी के महान् संकल्प तथा क्या गोखले की आवाज़ और भारत-सरकार द्वारा किए गए बीच-बचाव, सभी बातों के दबाव से अफ्रीका के गोरे अधिकारियों को अंततः शीघ्र ही अपने घुटने टेक देने को विवश हो जाना पड़ा और काफ़ी पैंतरेबाज़ी दिखाने के बाद उन्होंने आख़िरकार गांधीजी की तमाम शर्तें कबूल कर लीं, जिनके कि अनुसार परवाने का वह रिवाज़ तथा तीन पौण्ड का काला कर रद्द कर दिया गया, सभी विवाह जायज़ करार दे दिए गए और आन्दोलन में भाग लेनेवाले तमाम सत्याग्रही मुक्त कर दिए गए। इस प्रकार लगभग बीस वर्ष के अनवरत संग्राम के बाद दक्षिण अफ्रीका में उठाई गई गांधीजी की सत्य और न्याय की वह पुकार फलीभूत हुई, जिसने मनुष्य-मनुष्य के बीच रंग-भेद के कारण प्रयुक्त की जानेवाली घृणित नीति का पहली बार पर्दाफ़ाश किया, और इस महान् संग्राम में अहिंसात्मक सत्याग्रह के रूप में जिस अद्भुत ब्रह्मास्त्र का उन्होंने पहली बार प्रयोग किया, उसकी अप्रत्याशित सफलता ने तो एकबारगी ही सारे संसार की आँखें विस्मय, उल्लास एवं आशा के साथ उनकी ओर केन्द्रित कर दीं!

इसके बाद की उनकी जीवन-कथा तो हमारे पिछले तीस साल के राष्ट्रीय इतिहास के साथ घुलमिलकर इतनी अधिक एकाकार हो चुकी है कि उसे पृथक् रूप में देखना-परखना लगभग असंभव है, और इसीलिए इतनी लंबी भी है वह कि उसका निरा सारांश देने के लिए भी कई एक पृष्ठ चाहिएँ! सन् १९१४ ई० के अगस्त मास में दक्षिण अफ्रीका से अंतिम विदा ले गांधीजी, इंगलैण्ड में बीमार पड़े हुए अपने परम स्नेही श्री गोपाल कृष्ण गोखले से मिलने के इरादे से, अपने जर्मन मित्र कैलनबेक तथा धर्मपत्नी श्रीमती कस्तूरबाई के साथ जब लंदन पहुँचे तो योरप में महासमर की रणदुंदुभि बज जाने के कारण संसार के लिए तब तक एक नया ही वातावरण प्रस्तुत हो चुका था। यह कम उल्लेखनीय बात नहीं है कि विलायत के अपने इस अल्पकालिक प्रवासकाल में भी गांधीजी ने मानवता की सेवा के अपने महाव्रत को शिथिल न होने दिया और युद्ध में आहत व्यक्तियों की सेवा-शुश्रूषा के लिए इन्हीं दिनों एक भारतीय स्वयंसेवक-टोली का प्रशंसनीय संगठन उन्होंने वहाँ किया। यहीं पहलेपहल श्रीमती सरोजिनी नायडू ने अपने इस महान् भावी नेता से प्रथम परिचय प्राप्त किया। परन्तु दिसंबर में पसली के भयंकर दर्द से एकाएक पीड़ित हो स्वास्थ्य की विवशता के कारण अपने उस सेवाकार्य को अपूर्ण ही छोड़कर उन्हें शीघ्र ही स्वदेश के लिए चल देना पड़ा और इस प्रकार ९ जनवरी, सन् १९१५ ई०, के दिन भारत का यह भावी भाग्य-विधाता काठियावाड़ी तर्ज़ की पगड़ी, अँगरखा और धोती पहने हुए अंततः चौदह वर्ष बाद पुनः बंबई के बंदरगाह पर इस देश की धरती पर उतरा, जहाँ कि स्वभावतः ही एक महान् राष्ट्रवीर के रूप में ज़ोरों के साथ उसका स्वागत-सत्कार किया गया! यहाँ इस बात का उल्लेख कम मनोरंजक न होगा कि बंबई में इस अवसर पर गांधीजी के सम्मान में आयोजित एक समारोह में मि० मुहम्मदअली जिन्ना ने भी प्रमुख रूप से भाग लिया था! बंबई से तुरन्त ही गोखले की इच्छानुसार गांधीजी पहुँचे पूना, जहाँ उनकी प्रख्यात 'भारत-सेवक-समिति' के सभ्यों से भेंट कर उन्होंने किसी अनुकूल स्थान में फ़िनिक्स-आश्रम के अपने साथी-संगियों के लिए, जो कि इस समय तक अफ्रीका से भारत आ पहुँचे थे, एक आश्रम प्रस्थापित करने के विषय में चर्चा की। साथ ही उस महान् नेता के आदेश से किसी सक्रिय राजनीतिक अनुष्ठान में कम से कम एक वर्ष तक न उतरने तथा इस अरसे में पर्यटन आदि द्वारा देश की परिस्थिति का अध्ययन करने का निश्चय भी उन्होंने किया। पूना से राजकोट जाते समय वीरमगाम की जकात के प्रश्न के सम्बन्ध में लोगों द्वारा आग्रह करने पर उन्होंने क्रमशः बंबई के गवर्नर लार्ड विलिंग्डन तथा कुछ समय बाद तत्कालीन वायसराय लार्ड चेम्सफ़र्ड से भी मुलाक़ात की, जिसके फलस्वरूप वह जकात कालान्तर में उठा दी गई! इन्हीं दिनों की बात है कि कविवर रवीन्द्रनाथ ने शान्ति-निकेतन के आश्रमवासियों के नाम अपने एक पत्र में गांधीजी के लिए पहलेपहल 'महात्मा' शब्द का प्रयोग किया, जो कि तब से सार्वजनिक रूप से उनके नाम का मानों पर्याय-सा बन गया! यह एक दुर्भाग्य की बात थी कि गांधीजी के स्वदेश की भूमि पर क़दम रखने के केवल सवा महीने बाद ही उनके महान् श्रद्धाभाजन महामान्य गोखले का पूना में अवसान हो गया, जिसका कि उनके हृदय पर गहरा आघात पड़ा! इस समय वह थे रवीन्द्रनाथ के शान्ति-निकेतन आश्रम में, जहाँ कि उनके फ़िनिक्स-आश्रम के अन्तेवासियों को कुछ समय के लिए टिकाया गया था। अतः फ़ौरन् ही दौड़कर वहाँ से वह पूना आए और तदनंतर उस वर्ष के कुम्भ-मेले में सेवा-कार्य करने के उद्देश्य से पहुँचे हरद्वार! इन्हीं दिनों स्वामी श्रद्धानन्द (महात्मा मुन्शीराम) के नवसंस्थापित गुरुकुल-काँगड़ी के अद्भुत शिक्षा-केन्द्र का भी परिचय उन्होंने पाया, जहाँ कि एक मानपत्र उन्हें भेंट किया गया। इसके बाद स्थिति के अध्ययन के लिए देश के अन्य भागों का भी दौरा उन्होंने किया और कुछ समय में तो उनका नाम इतना मशहूर हो चला कि अब जहाँ-जहाँ भी वह जाते उनके दर्शन के लिए लोगों की भीड़ लग जाती एवं सब कोई यही सोच-सोचकर अचरज करते कि आख़िर इस दुबले-पतले बनिए ने सुदूर अफ्रीका के उस अपरिचित विदेश में एक सशक्त राजतन्त्र के साथ बिना हथियार के लड़ाई लड़कर उसे क़रारी मात दी तो कैसे!

और तब धीमे-धीमे किन्तु चुभते हुए स्वरों में क्रमशः गूँजने लगी इस देश के वायुमण्डल में इस महापुरुष की वह आवाज़ भी, जिसके द्वारा निकट भविष्य ही में इतनी भारी उथलपुथल वह इस धरती पर मचानेवाला था! वह 'सत्याग्रह' के अस्त्र की अनन्त शक्ति और महिमा का तो उल्लेख इस देश की भूमि पर फिर से पैर रखते ही काठियावाड़ के बगसरा नामक स्थान में स्पष्ट रूप से कर चुका था; इसके अलावा अब पहलेपहल दक्षिण भारत के मायावरम् नामक स्थान में हिन्दू-समाज के उस महान् कलंक छूआछूत की गर्हित प्रथा और उसके कारण त्रस्त तथाकथित 'अछूत' वर्ग के लोगों के सम्बन्ध में भी अपनी आवाज़ ज़ोरों से उसने बुलंद की और कहा कि 'सच्चे हिन्दू-धर्म का यह कदापि अंग नहीं हो सकता कि उसमें लोगों का ऐसा भी एक वर्ग हो, जिसे कि 'अछूत' या 'अस्पृश्य' कहा जाय। यदि कोई यह साबित करके मुझे दिखा दे कि यह हिन्दू-धर्म का एक अनिवार्य अंग है तो मैं खुले आम अपने को ऐसे हिन्दू-धर्म के विरुद्ध बागी घोषित करते हिचकूँगा नहीं।' इन स्फुट वाक्यों से विचारवान् लोगों को स्पष्ट ही इस बात का बहुत-कुछ आभास अब मिलने लगा था कि हवा किस दिशा में बहनेवाली है और सब कोई उत्सुक आँखों से देश के सार्वजनिक क्षितिज पर उदय होनेवाले इस नए नक्षत्र की ओर टकटकी बाँधे देखने लगे थे—इसी आशा में कि पता नहीं कौन-सा चमत्कार उसके हाथों हो जाय, यद्यपि अभी तक न तो उसने अपना कोई सुनिर्दिष्ट कार्य-क्रम ही घोषित किया था, न राजनीतिक मुक्ति के लिए देश के आँगन में सत्याग्रह के उस अस्त्र को लेकर अग्रसर होने की ही मंशा अभी तक उसने स्पष्टतः प्रकट की थी, जिसे कि दक्षिण अफ्रीका में सफलतापूर्वक आजमाकर संसार को वह चकित कर चुका था। वस्तुतः अभी तो लोकमान्य जैसे जननायक राष्ट्रीय आँगन में विद्यमान थे, अतः किसी और के नेतृत्व का सवाल ही नहीं उठ सकता था! फिर भी चूँकि अभी-अभी एक बिल्कुल ही नए ढंग की लड़ाई द्वारा विजय की उसकी यशोगाथा के प्रखर स्वर लोगों के कानों में गूँज रहे थे, अतः स्वभावतः ही उसके महान् जनक एवं विजेता के रूप में इस महापुरुष के व्यक्तित्व के प्रति देश का ध्यान सहज ही खिंचता चला जा रहा था और सभी के मन में भीतर ही भीतर एक आवाज़ धीमे-धीमे यह बात कहने लगी थी कि भारत की मुक्ति की कुंजी यदि कहीं है तो इसी दुबले-पतले आदमी के हाथों में! और क्रान्तदर्शी रवीन्द्रनाथ ने तो इन पैगंबर के-से शब्दों में इस बात को स्पष्ट रूप से प्रकट भी कर दिया था जब कि शान्ति-निकेतन में गांधीजी द्वारा यह सुझाव रखने पर कि आश्रमवासियों को रसोइयों, नौकरों, यहाँ तक कि भंगी-मेहतरों को भी छुट्टी देकर स्वयं ही सब काम अपने हाथों करना चाहिए, कवि ने कहा था कि 'इसी प्रयोग में वास्तव में स्वराज्य की कुंजी छिपी है!'

तब अंत में आ पहुँचा इस देश के मुक्ति-विषयक उनके महान् अनुष्ठान के श्रीगणेश का वह आरंभिक काल भी, जब कि २५ मई, सन् १९१५ ई०, के दिन सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अस्वाद, अस्तेय, अपरिग्रह, अभय, स्वदेशी, अस्पृश्यता-निवारण, मातृभाषा द्वारा शिक्षण एवं खद्दर का आजन्म महाव्रत लेनेवाले कतिपय प्राथमिक अंतेवासियों को साथ लेकर अहमदाबाद के पास उन्होंने अपना सुप्रसिद्ध 'सत्याग्रह-आश्रम' प्रस्थापित किया और अपने भावी संग्राम के लिए सच्चे अहिंसाधर्मी देशसेवकों के इस प्रारम्भिक शिक्षण-शिविर के उद्घाटन के दो वर्ष बाद ही पहले तो 'तीन कठिया' की घृणित प्रथा से बिहार में निलहे गोरों के अत्याचार से पीड़ित नील की खेती करनेवाले चंपारन के किसानों की मुक्ति के हेतु और तदुपरान्त शीघ्र ही गुजरात के खेड़ा ज़िले के कृषकों के कष्ट-निवारणार्थ सत्याग्रह के अपने अमोघ अस्त्र का सफल प्रयोग कर उन्होंने कोरे वाक्-युद्ध ही तक सीमित हमारे राजनीतिक जीवन में मानों एक युगान्तर प्रस्तुत कर दिया। इसके पूर्व ही ४ फरवरी, सन् १९१६ ई०, के दिन काशी-हिन्दू-विश्वविद्यालय के उद्घाटन के अवसर पर देश के बड़े-बड़े राजा-नवाबों, रईसों और नेताओं की उपस्थिति में वह इन इतिहास-प्रसिद्ध वाक्यों की घोषणा कर चुके थे कि 'यदि मैं यह अनुभव करूँगा कि भारत की मुक्ति के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि अंग्रेज़ इस देश से अवकाश ग्रहण कर लें और खदेड़कर

यहाँ से वे बाहर निकाल दिए जाएँ तो यह घोषित करते ज़रा भी मैं हिचकूँगा नहीं, फिर चाहे अपने इस विश्वास के समर्थन के लिए मुझे मौत का भी सामना क्यों न करना पड़े!' साथ ही सन १९१५ ई० के बम्बई-अधिवेशन एवं उसके बाद के ऐतिहासिक लखनऊ अधिवेशन में सम्मिलित हो उस महान् राष्ट्रीय संस्था कांग्रेस के साथ अपना गहरा गठ-बंधन भी वह प्रस्थापित कर चुके थे, जिसके कि मंच पर से आगे चलकर अपना गौरवपूर्ण अनुष्ठान उन्हें संपन्न बनाना था। इसी कालावधि में, मज़दूरों को शर्त्तबन्दी के अधीन बाहर ले जाने की 'गिरमिट-प्रथा' के नाम से बदनाम प्रणाली के विरुद्ध उठाए गए आन्दोलन एवं अहमदाबाद के मिल-मज़दूरों द्वारा अपनी शिकायतों के निवारणार्थ की गई हड़ताल के समय भी अपना विशिष्ट चमत्कार दिखा अपनी महान् क्षमता के प्रति इस देश के जनवर्ग के मन में सुदृढ़ विश्वास का भाव उन्होंने जमा दिया था। साथ ही चंपारन-सत्याग्रह के सिलसिले में बाबू राजेन्द्रप्रसाद, अहमदाबाद के मिल-मज़दूरों की हड़ताल के समय वल्लभभाई पटेल और लखनऊ-कांग्रेस के मौक़े पर युवक जवाहरलाल जैसे अपने महान् भावी सहकारियों से पहले-पहल परिचय प्राप्त कर आगे आनेवाली लड़ाई के लिए अपने सेनानियों को भी इसी समय से उन्होंने मानों निर्धारित कर लिया था। यही नहीं, चंपारन में ज़िला-मैजिस्ट्रेट का हुक्म मानने से इंकार करते समय निर्भयतापूर्वक पुलिस द्वारा गिरफ़्तारी एवं हिरासत का आह्वान कर अपनी अहिंसात्मक युद्ध-प्रणाली का एक सूत्रवत् पूर्वाभास भी इन्हीं दिनों देश को उन्होंने दे दिया था एवं अहमदाबाद की मज़दूर-हड़ताल के समय एक छोटा उपवास कर सत्याग्रही के उस अमोघ अस्त्र की क्षमता की भी एक झाँकी उन्होंने दिखा दी थी, जिसका कि आगे चलकर संकट की स्थिति में कितनी ही बार उन्हें प्रयोग करना था। इन्हीं दिनों की बात है कि जब उन्होंने प्रथम गुजरात-प्रान्तीय राजनीतिक सम्मेलन का अध्यक्षपद ग्रहण किया था तो ये उल्लेखनीय वाक्य उद्घोषित किए थे कि 'मैं यह भूलता नहीं कि भारत योरप नहीं है, न वह जापान या चीन है।........मैं निरंतर यह याद रखता हूँ कि हमारे देश का ध्येय और कार्य इन सबसे जुदा है।' और इसके कुछ दिनों बाद ही जब कलकत्ता-कांग्रेस-अधिवेशन के अवसर पर समाज-सेवा-संघ (सोशल-सर्विस-लीग) के जल्से के सभापति के आसन पर वह बिठाए गए थे तो देश के उद्धार के लिए उन्होंने सामाजिक उत्थान एवं सेवा-धर्म-मूलक उस रचनात्मक कार्यक्रम की आवश्यकता का भी स्पष्ट निर्देश कर दिया था, जिसकी नींव पर भविष्य में उनका सारा संग्राम रचा जानेवाला था। किन्तु यह तो था वस्तुतः उनके द्वारा नियोजित यज्ञ का आह्वान-मात्र—उसका प्रारम्भिक मंत्रोच्चार ही! उसके हवन-कुण्ड की समिधा में अग्नि-संचार करने में तो अब भी कई दिनों की देर थी। हाँ, इतना ज़रूर था कि इन आरंभिक प्रयोगों द्वारा देश के आँगन में आगे चलकर उनके हाथों नियोजित होने-वाले महान् अनुष्ठान के लिए काफ़ी तेज़ी के साथ उपयुक्त वायुमण्डल का सर्जन होने लगा था।

तब देखते ही देखते आख़िरकार कुछ ही दिनों में रस्साकसी की वह घड़ी भी आ पहुँची, जब कि मातृभूमि की सर्वाङ्गीण मुक्ति के हेतु लँगोटी पहनकर मैदान में उतर पड़नेवाले इस डेढ़ पसलियों के गुजराती को मुक्ति-यज्ञ का प्रधान होता स्वीकार कर देश ने एक स्वर से स्वराज्य-प्राप्ति का अपना भगीरथ संकल्प प्रकट किया और पूरी तैयारी के साथ स्वातंत्र्य-यज्ञ के हवन-कुण्ड में आग छोड़ दी। इसके पहले भलाई द्वारा बुराई की जड़ काटने की अपनी ध्रुव नीति का अनुसरण करते हुए, लोकमान्य तिलक जैसे नेता की असम्मति होते हुए भी, महा-युद्ध में साथ देने के प्रश्न पर गांधीजी सरकार के साथ संपूर्ण सहयोग करने की आवाज़ भी उठा चुके थे और इस सम्बन्ध में अपने स्वास्थ्य तक को ख़तरे में डालकर रँगरूटों को भरती कराने के काम के लिए काफ़ी दौड़-धूप वह कर चुके थे। किन्तु शीघ्र ही युद्ध की सफल समाप्ति पर जब मुक्ति की आशा लगाए बैठे बेचारे भारत को उस सहयोग के पुरस्कार के रूप में अंग्रेज़ों से मिली केवल 'रौलट ऐक्ट' जैसे काले क़ानून की थपेड़ ही, तब तो गांधीजी जैसे उदारमना व्यक्ति का भी उनकी ईमान-दारी के प्रति विश्वास जाता रहा और देश की पुकार पर उन्होंने स्वयं ही सामने आ स्वाधीनता की क्रियात्मक लड़ाई लड़ने का बीड़ा उठा लिया।

इस संग्राम का आरंभ करने से पूर्व वल्लभभाई और सरोजिनी नायडू जैसे अपने कतिपय अनन्य सहयोगियों की मन्त्रणा से उन्होंने सत्याग्रह का एक प्रतिज्ञा-पत्र तैयार किया, जिस पर हस्ताक्षर करके इन सबने सत्य और अहिंसा की शपथ ली। तदनन्तर ६ अप्रैल, सन् १९१९, के दिन एक देशव्यापी हड़ताल की तिथि निश्चित कर उसी के साथ युद्ध का आरंभ करने की घोषणा की गई। इस बीच जगह-जगह घूम-फिरकर गांधीजी इस नई लड़ाई को लड़ने की पद्धति तथा सत्याग्रह का यथार्थ मर्म देश को समझाते रहे और किसी भी दशा में अहिंसा की भित्ति पर से न हिलने का उपदेश वह जनता को लगातार देते रहे! तब तो पूछना ही क्या था! मानों एक छिपे हुए बारूद के ढेर में अचानक चिनगारी पड़ गई और देखते ही देखते जनशक्ति के प्रचण्ड विस्फोट तथा उसे दबाने के लिए सरकार द्वारा दमन-चक्र के नग्न प्रयोग की पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रिया द्वारा ऐसा एक अनोखा दृश्य इस देश की धरती पर प्रस्तुत हो गया, जैसा कि सन् १८५७ ई० के महान् विप्लव के समय भी नहीं हुआ था—क्योंकि जहाँ वह लड़ाई लोगों ने लड़ी थी हाथों में तलवार-बंदूक लेकर, वहाँ इस नए युद्ध में तो जनता का एकमात्र शस्त्र था 'अहिंसात्मक सत्याग्रह' ही! इस तूफ़ान की चरम सीमा पहुँची पंजाब में, जहाँ १३ अप्रैल, सन् १९१९, के दिन जलियाँवाला बाग़ का वह वीभत्स काण्ड घटित हुआ, जिसमें कि निहत्थे शान्त स्त्री-पुरुषों और बच्चों की एक अहिंसक भीड़ को मशीनगनों की गोलियों से भूनकर अंग्रेज़ सत्ता ने सदा के लिए अपना मुँह कालिख से पोत लिया और जिसने एकबारगी ही सारे देश को वर्षों की अपनी तंद्रा से जगाकर बलपूर्वक लड़ाई के मैदान में ला खड़ा कर दिया! इसी दारुण परिस्थिति में जब दिल्ली तथा पंजाब की ओर जाते हुए गांधीजी आगे बढ़ने से रोक दिए गए और रास्ते ही में गिरफ़्तार कर वापस बंबई लाकर छोड़ दिए गए, तो मानों आग में घी पड़ गया और प्रतिक्रिया-स्वरूप जगह-जगह जनता की ओर से भारी दंगे और उपद्रव तक हो गए! यह बात भला अहिंसा के पुरोहित गांधीजी कैसे सहन कर सकते थे! अतः उन्होंने एकाएक सत्याग्रह का युद्ध स्थगित कर दिया और नड़ियाद की एक सभा में अपनी हृदय-व्यथा प्रकट करते हुए कहा कि यह उन्होंने हिमालय जैसी एक बड़ी भारी भूल कर डाली थी कि जनता की अहिंसक शक्ति का सही-सही माप किए बिना ही सत्याग्रह छेड़ दिया था!

इस बीच फ़ौजी शासन के अधीन पंजाब में दमन पशुता की भी सीमा को पार कर चुका था—लोग पेट के बल सड़कों पर रेंगाए जा रहे थे, हवाई जहाज़ों से उन पर कहीं-कहीं बम तक बरसाए जा रहे थे, और कोड़ों की मार के साथ लंबी-लंबी सज़ाएँ उन्हें ठोकी जा रही थीं! इस संबंध में जब पं० मोतीलाल, मालवीयजी एवं चित्तरंजनदास आदि द्वारा संगठित कांग्रेसी जाँच-समिति की रिपोर्ट निकली और इन ज़्यादतियों का यथार्थ स्वरूप प्रकट हुआ तो देश का हृदय एक भयंकर रोष और विद्रोह की ज्वाला से उत्तप्त हो उठा! इसी समय की बात है कि मुसलमानों की ओर से प्रसिद्ध 'ख़िलाफ़त' आन्दोलन शुरू हुआ और गांधीजी ने दिल्ली में उसकी एक कान्फ़रेंस की अध्यक्षता ग्रहण कर हिन्दू-मुसलमान दोनों ही को स्वदेशी की प्रतिज्ञा लेने तथा विदेशी वस्त्रों का पूर्ण बहिष्कार करने के लिए पुकारा। इसी ज़माने में पं० मोतीलालजी के सभापतित्व में सन् १९१९ के दिसंबर में कांग्रेस के प्रसिद्ध अमृतसर-अधिवेशन में एक साथ ही एक ही मंच पर लोकमान्य, गांधीजी, मालवीयजी, देशबन्धु और स्वयं मोतीलाल, आधुनिक भारत के इन पाँच महान् राष्ट्रनायकों के एकत्रित होने का कभी भी न भूलनेवाला दृश्य दिखाई दिया! इस अधिवेशन में प्रसिद्ध 'मांटेगू-चेम्सफ़र्ड सुधारों' के प्रश्न को लेकर नेताओं में काफ़ी कशमकश भी हुई, किन्तु जो सबसे महत्त्वपूर्ण बात इस समय हुई वह तो यह थी कि तब से ही गांधीजी के हाथों में क्रमशः कांग्रेस का शक्ति (बागडोर) आई। इस अवधि में ख़िलाफ़त का आन्दोलन दिन पर दिन तेज़ी पकड़ता चला गया और उसके संबंध में गांधीजी का आशीर्वाद पाकर मौ० मुहम्मदअली के नेतृत्व में इंगलैण्ड के लिए एक डेपूटेशन भी रवाना हो गया! तब प्रकाशित हुई पंजाब के हत्याकाण्ड के संबंध में सरकार द्वारा बिठाई गई हंटर-कमेटी की

वह प्रसिद्ध रिपोर्ट. जिसमें दिए गए विवरणों से गांधीजी का दिल ऐसा हिल उठा कि उनके मन से इस अत्याचारी सरकार के प्रति रही-सही सहानुभूति भी अब उखड़ गई ! फलतः सरकार के साथ सहयोग करने की नीति को संपूर्णतया तिलांजलि दे अब वह बन गए एक पक्के असहयोगी और इस प्रकार भारतीय राष्ट्रीय संग्राम का एक नया युग सामने आया, जिसका कि आरंभ हुआ २८ मई, सन् १९२०, के दिन खिलाफ़त-कमेटी के उस असहयोग के प्रस्ताव से, जिसके कि अनुसार पहली अगस्त को असहयोग-आन्दोलन के समर्थन में पुनः एक देशव्यापी हड़ताल मनाने का निश्चय किया गया। दुर्भाग्य से उसी दिन बंबई में लोकमान्य तिलक सदा के लिए उठ गए, जिससे वह हड़ताल एक महान् शोक-दिवस में परिणत हो गई। फिर भी प्रदर्शन ज़ोरों के साथ हुआ। इसके शीघ्र ही बाद सितंबर मास में कलकत्ते में लाजपतराय की अध्यक्षता में कांग्रेस का वह विशेष अधिवेशन किया गया, जिसमें काफ़ी बहस के बाद पहलेपहल असहयोग का प्रस्ताव स्वीकार किया गया और इसके दो महीने बाद नागपुर के सुप्रसिद्ध अधिवेशन में तो असहयोग, हिन्दू-मुस्लिम एकता, खद्दर-प्रचार, एवं अस्पृश्यता-निवारण संबंधी कार्यक्रम की संपूर्ण स्वीकृति के साथ अहिंसात्मक लड़ाई का केसरिया बाना पहन देश ने पूरे विश्वास और अधिकारों सहित गांधीजी को अपना एकमात्र सेनानी स्वीकार कर लिया और कांग्रेस की राष्ट्रवेदी पर से विधिपूर्वक युद्ध का शंखनाद कर दिया !

फिर तो देश में जो व्यापक तूफ़ान उठा और जागृति की जैसी अपूर्व आँधी आई, जो-जो अनोखी लड़ाइयाँ लड़ी गईं और जैसे-जैसे अभूतपूर्व बलिदान किए गए, उनका संपूर्ण ब्योरा देने के लिए यहाँ पर्याप्त स्थान ही कहाँ है ? कौन नहीं जानता कि गांधीजी द्वारा उस महान् युद्ध की घोषणा होते ही अपने महान् नेता की एक ही आवाज़ पर देखते ही देखते विद्यार्थियों ने स्कूल-कॉलेज खाली कर दिए, वकीलों ने अदालतें छोड़ दीं, पदवीधारियों में से बहुतों ने अपनी उपाधियाँ लौटा दीं, विदेशी का बहिष्कार और स्वदेशी का अंगीकार सबका धर्म-सा हो गया, जगह-जगह विलायती वस्त्रों की होलियाँ धधक उठीं, देश भर में चरखे और खद्दर का मंत्र गूँज उठा, नए-नए राष्ट्रीय विद्यापीठ उठ खड़े हुए, राष्ट्रीय आवाज़ को बुलन्द करनेवाले पत्र-पत्रिकाओं की बाढ़-सी आ गई, हिन्दू-मुसलमान एक-दूसरे की बाँह थामे एक ही झंडे के नीचे साथ-साथ बढ़ते दिखाई दिए, और जेलों में सत्याग्रहियों की भीड़ के मारे जगह तक बाक़ी न रही. यहाँ तक कि कोमलांगी महिलाओं ने भी अपनी चूड़ियों की जगह सरकारी हथकड़ियाँ धारण करते हिचकिचाहट न की ! स्पष्ट ही ऐसा प्रतीत हुआ कि शासनसत्ता का गढ़ अब ढहा, तब ढहा ! इस समय तक लगभग तीस हज़ार सत्याग्रही जेलों में पहुँच चुके थे, जिनमें थे मोतीलाल, देशबन्धु, लाजपतराय और जवाहरलाल जैसे रत्न भी ! इसी समय की बात है कि एक और महत्त्वपूर्ण मोर्चे के आरंभ की सूचना देते हुए गांधीजी ने बारदोली में सविनय अवज्ञा आन्दोलन शुरू करने का अपना इरादा प्रकट किया। किन्तु तभी वज्रपात की भाँति एकाएक चौरीचौरा के हत्याकाण्ड की घटना घटी और आन्दोलन में हिंसा की बू घुसते देख हमारे सेनापति ने पुनः तत्काल ही सारा युद्ध स्थगित कर दिया ! सब कोई मानों दिल मसोसकर रह गए ! इसके शीघ्र ही बाद सरकार ने १० मार्च, सन् १९२२ ई०, के दिन स्वयं गांधीजी को भी, उनके नवप्रकाशित 'यंग इंडिया' तथा 'नवजीवन' नामक पत्रों के कतिपय लेखों को राजद्रोहात्मक बताकर, गिरफ़्तार कर लिया और न्याय का एक थोथा नाटक रचकर लोकमान्य की भाँति भारत के इस सबसे बड़े महापुरुष को भी छः वर्ष की सज़ा दे एक अरसे के लिए जेल का अपना मेहमान बना लिया !

इस प्रकार संपूर्ण हुआ हमारी आज़ादी की लड़ाई का वह पहला सर्ग, जिसने इस महान् नेता के अगाध सामर्थ्य का प्रथम परिचय देकर तथा स्वतः अपनी गुह्य शक्तियों के प्रति भी आत्म-विश्वास का एक अपूर्व भाव हमारे मन में जगाकर और भी ज़ोरों के साथ अगला क़दम बढ़ाने की तैयारी करने का एक हौसला इस देश में पैदा किया—जिसने देश की कोटि-कोटि जनता को पहलेपहल राजनीतिक मैदान में ला खड़ाकर तथा एकदम सीधी और सक्रिय कार्रवाई द्वारा मुक्ति का प्रयास करने के

लिए उभाड़कर हमारे स्वातंत्र्यानुष्ठान की सारी शक्ल ही बदल दी, और न केवल राजनीति ही बल्कि समाज, साहित्य, कला, धर्म, विचार, उद्योग, व्यवसाय सभी क्षेत्रों में युगान्तर की एक नवीन लहर प्रस्तुत कर दी! और यह सब-कुछ केवल उस महान् जादूगर ही का चमत्कार था, जो कि दक्षिण अफ्रीका के तट से कुछ ही वर्ष पूर्व आकर पुनः स्वदेश की भूमि पर हमारे बीच उतरा था! इसके बाद एक ओर तो गांधीजी गए जेल की मेहमानी करने, और दूसरी ओर कारागार से बाहर आकर देशबन्धु दास तथा पंडित मोतीलाल ने रचा गवर्नमेण्ट से दो-दो हाथ करने का अपना प्रसिद्ध अडंगा नीतिवाला कौंसिलों का मोर्चा! तब सन् १९२४ के आरंभ में पेट में फोड़ा हो जाने के कारण आपरेशन के उपरान्त अवधि से पहले ही सरकार को गांधीजी को जेल से मुक्त कर देने के लिए विवश हो जाना पड़ा और उसी वर्ष जब दिल्ली, लखनऊ, इलाहाबाद, नागपुर, जबलपुर, गुलबर्गा और कोहाट आदि स्थानों में भयंकर हिन्दू-मुस्लिम दंगों की दुर्घटनाएँ घटीं तो प्रायश्चित्तस्वरूप अगले सितंबर में दिल्ली में २१ दिनों का अपना पहला इतिहासप्रसिद्ध उपवास करते हमने उन्हें देखा। तीन महीने बाद ही बेलगाँव के उन्तालिसवें अधिवेशन में कांग्रेस के अध्यक्ष-पद पर बिठाकर राष्ट्र ने पुनः उनकी अर्चना की और खादी, स्वदेशी, हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य, तथा अस्पृश्यता-निवारण विषयक उनके कार्यक्रम को अपनाकर उनके नेतृत्व में संपूर्ण विश्वास प्रकट किया। किन्तु इसके बाद के कुछ वर्ष अब गांधीजी ने एक प्रकार से तथाकथित राजनीतिक अखाड़े की कुश्तियों से किनारा कसकर अपने रचनात्मक कार्यक्रम, विशेषकर खादी-प्रचार एवं अस्पृश्यता-निवारण को सफल बनाने ही में बिताए। उनका यह रचनात्मक कार्यक्रम उनकी लड़ाई ही का एक प्रधान अंग नहीं, प्रत्युत इस देश में अपने मनोराज्य के उस आदर्श स्वराज्य की प्रस्थापना का भी सबसे प्रथम और आवश्यक सोपान था, जिसका कि 'रामराज्य' के नाम से बार-बार वह उल्लेख करते थे! इसी अरसे में देश भर में राष्ट्रभाषा हिन्दी का प्रचार करने तथा उसके सरल रूप को प्रान्त-प्रान्त के बीच माध्यम के एकमात्र साधन के रूप में प्रचलित करने के संबंध में भी उन्होंने अनमोल कार्य किया। उन्होंने स्वयं तो हिन्दी में अपने भाषण देना पहले ही शुरू कर दिया था, अब कांग्रेस की भी कार्रवाई इसी भाषा में करने की प्रथा उन्होंने जारी कर दी। उन्हीं के प्रयत्न से दक्षिण-भारत में राष्ट्रभाषा के प्रचार को आगे बढ़ाने के लिए सुप्रसिद्ध 'दक्षिण-भारत हिन्दी-प्रचार समिति' की प्रस्थापना हुई थी और प्रयाग के प्रख्यात 'हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन' को भी, जिसका कि अपने जीवन में दो बार सभापतित्व का भार उन्होंने ग्रहण किया था, अपना अखिल भारतवर्षीय रूप उन्हीं के प्रताप से मिला था। इसके अतिरिक्त नागरी लिपि के सुधार, गौओं के उद्धार, ग्राम-उद्योगों के विस्तार, महिलाओं के उत्थान, शिक्षा-प्रसार, आदि आदि और भी कितने ही जनोन्नति के कार्य उनके इस विशद रचनात्मक कार्यक्रम के दायरे में आए और उनके जादूभरे संस्पर्श से मुखरित हुए, जिनसे कि आज भला कौन राष्ट्र-प्रेमी व्यक्ति परिचित न होगा!

इस बीच राष्ट्र के हृदय में राजनीतिक मुक्ति की उत्कंठा की आग तो भीतर ही भीतर ज्यों की त्यों सुलग ही रही थी। अतः जब शासन-सुधारों के संबंध में ब्रिटिश पार्लामेन्ट द्वारा प्रेषित प्रसिद्ध 'सायमन-कमीशन' के भारत-आगमन पर जगह-जगह विरोध-प्रदर्शन हुए और उसी सिलसिले में लालाजी, पंडित जवाहरलाल तथा पं० गोविन्दवल्लभ पंत जैसों पर भी पुलिस की लाठियाँ बरस पड़ीं, जिससे कि लालाजी तो असमय ही सदा के लिए हमारे बीच से उठ ही गए, तब तो एक बार पुनः भीतर ही भीतर प्रज्वलित वह अग्नि धधके बिना न रह सकी। फलतः ३१ दिसम्बर, सन् १९२९ ई०, की आधी रात को जवाहरलाल की अध्यक्षता में लाहौर में कांग्रेस द्वारा पहलेपहल पूर्ण स्वतंत्रता के ध्येय की उद्घोषणा के साथ ही पुनः युद्ध का शंखनाद हो गया! इस संबंध में अगली २६ जनवरी को सारे देश में 'स्वतंत्रता-दिवस' मनाकर लाखों-करोड़ों नर-नारियों द्वारा पूर्ण स्वतंत्रता की प्राप्ति के लिए गंभीर शपथ ली गई और इस परम ध्येय की सिद्धि के हेतु कांग्रेस ने सविनय अविज्ञा आंदोलन का श्रीगणेश करने का निश्चय किया, जिसके कि अनुसार १४ फरवरी, सन् १९३० ई०, के दिन अंतिम रूप से

पूर्ण अधिकार सौंपकर उसने गांधीजी को आगामी युद्ध का सर्वोपरि सेनानी अथवा 'डिक्टेटर' नियुक्त कर दिया। तदनुसार सदैव की अपनी नीति के अनुरूप शान्तिपूर्ण समझौते की आशा में पहले तो गांधीजी ने वायसराय के नाम एक पत्र लिखा, जो मि० रेजिनाल्ड रिनाल्डज़् नामक एक अंग्रेज़ के हाथों दिल्ली पहुँचाया गया; किन्तु जब स्वतः उन्हीं के शब्दों में 'घुटनों पर झुककर रोटी माँगने पर मिला बदले में केवल पत्थर का टुकड़ा ही,' तब तो सिवा युद्ध की बिगुल बजा देने के फिर कोई दूसरा मार्ग ही न रह गया! अतः १२ मार्च, सन् १९३० ई०, के दिन ७९ चुने हुए सत्याग्रहियों की एक टोली लेकर पूर्ण स्वराज्य न मिलने की घड़ी तक वापस न लौटने की भीष्म-प्रतिज्ञा कर इस महापुरुष ने अहमदाबाद के अपने आश्रम से, नमक-क़ानून भंग करने के इरादे से, पैदल ही समुद्र-तट की ओर प्रयाण किया और इस प्रकार आरंभ हुई उनकी वह ऐतिहासिक 'दाँड़ी-यात्रा,' जिसकी कि समता की हृदय हिला देनेवाली दूसरी कूच भगवान् श्रीराम के वन गमन के बाद इस महादेश में पिछले हज़ार वर्षों से देखने को नहीं मिली थी! इस दो सौ मील लंबी यात्रा को पूरी करने में गांधीजी को चौबीस दिन लगे और इस बीच हाथों में लकुटिया लिये एवं माथे पर कुंकुम-तिलक लगाए तेज़ी के साथ क़दम बढ़ाते हुए इस लँगोटीधारी वृद्ध तपस्वी का दर्शन कर उसकी चरणधूलि मस्तक पर लगाने के लिए हज़ारों लाखों नर-नारी जिस प्रकार उसकी अगवानी में मानों पलक-पाँवड़े बिछाए आम्र, ताड़ आदि वृक्षों से आच्छादित एवं वंदनवारों से सुसज्जित उसकी राह के दोनों बाजू में क़तार बाँधे जगह-जगह खड़े रहे, उसे देख सारा संसार थकित-चकित रह गया! कोई भी समझ न सका कि आख़िर ग़ैर-क़ानूनी ढंग से मुट्ठी भर नमक हथियाकर ही यह दुबला-पतला निहत्था आदमी क्योंकर एक साम्राज्य के पंजों में से अपने देश की आज़ादी छीन सकेगा! किन्तु जब ५ अप्रैल को प्रातःकाल ही दाँड़ी के समुद्र के किनारे पर पहुँच चौबीस दिन बाद अंत में अपने साथियों सहित नमक बीनकर क़ानून का उल्लंघन करने की अपनी वह ऐतिहासिक घोषणा गांधीजी ने की और उनके हाथों इस प्रकार राज्य के क़ानून के टूटने की उस घटना का संकेत पाते ही जब पुनः जगह-जगह सविनय अवज्ञा आन्दोलन के रूप में युद्ध की वह आग भड़की, जिसकी आँच पाकर हर जगह उसी प्रकार नमक बनाकर क़ानून भंग किया जाने लगा, लाखों की संख्या में सभाएँ भरी जाने लगीं, मीलों लम्बे जुलूस निकलने लगे, और पुनः गिरफ़्तारियों, लाठियों, गोलियों, संगीनों का नाटक दोहराया जाने लगा, तब कहीं दुनिया ने जाना कि इस पैग़म्बर के इस नए अनुष्ठान में कैसा जादू छिपा था!

इसके हफ़्ते भर बाद ही राष्ट्रपति पंडित जवाहरलाल नेहरू गिरफ़्तार कर लिए गए और ५ मई को तो स्वयं गांधीजी भी आधी रात को चुपके से गिरफ़्तार करके यरवड़ा-जेल पहुँचा दिए गए! तब तो आर्डिनेन्सों के अंधेर-राज्य के अधीन दमन की अन्धाधुन्धी एवं जनान्दोलन की बढ़ती के साथ बलिदान की पुनरावृत्ति का जो सिलसिला शुरू हुआ, जिस प्रकार सत्याग्रहियों से पुनः जेलें भर गईं, स्कूल-कॉलेज खाली हो गए, करोड़ों का विदेशी कपड़ा मुहरबंद दूकानों में बंद कर दिया गया, धरना देनेवालों के मारे शराब की दूकानों पर ताले पड़ गए, जंगलों के क़ानून तोड़ दिए गए, पुलिस की संगीनों का सामना करते हुए हज़ारों की टोली के साथ नमक-गोदामों पर धावे मारे गए, लाठियों और गोलियों की बौछार तथा मकानों की ज़ब्ती और जुर्मानों की भरमार हुई एवं इन सबसे कहीं अधिक आश्चर्यजनक रीति से बारदोली का वह गौरवपूर्ण अध्याय रचा गया, जिसने कि सामूहिक रूप से सरकारी लगान देने से इंकार करने, अपने हाथों अपनी खड़ी फसलों को जलाकर अपने-अपने घरों से किसानों के हिजरत कर जाने, तथा हर प्रकार से सरकारी हुकूमत को पंगु बना देने का वह अनोखा दृश्य प्रस्तुत किया था, उसकी तो पूरी कहानी लिखने की गुंजाइश ही यहाँ कहाँ है? पुनः यही प्रतीत हुआ कि शासनसत्ता का क़िला अब टूटा, तब टूटा! किन्तु इसी समय घबड़ाकर सरकार ने समझौते की बातचीत शुरू कर दी, जिसके सिलसिले में सर तेजबहादुर सप्रू और श्री जयकर जेल में गांधीजी तथा पंडित मोतीलाल और जवाहरलाल से बारी-बारी से मिले और अंततोगत्वा 'गांधी-

इर्विन पैक्ट' नामक वह प्रसिद्ध समझौता किया गया, जिसके अनुसार सविनय अवज्ञा आन्दोलन बन्द कर दिया गया तथा कुछ ही महीने बाद कांग्रेस की ओर से एकमात्र प्रतिनिधि के रूप में द्वितीय गोलमेज परिषद् में सम्मिलित होने के लिए गांधीजी लंदन भेजे गए!

परन्तु जब उस विलायत-यात्रा से पुनः निराशा ही हाथ लेकर वह वापस लौटे तथा देश में फिर से दमन का दौरदौरा बढ़ा एवं जवाहरलाल तथा अब्दुल-गफ़्फ़ारखाँ जैसे नेता पुनः कारागार के सीखचों की आड़ में ले लिये गए, तब तो विवश हो कांग्रेस-कार्यकारिणी को फिर से गांधीजी को आन्दोलन जारी करने का अधिकार देना पड़ा और फलतः सरकार ने भी मानों जवाब में कांग्रेस तथा उससे संलग्न समस्त राष्ट्रीय संस्थाओं को ग़ैर-क़ानूनी घोषित कर तथा तुरन्त ही महात्माजी को फिर से यरवड़ा-जेल में नज़रबंद कर उस चुनौती को मंजूर किया। इस प्रकार फिर से क़ानून-भंग और बहिष्कार, जुलूस और लाठीमार, गिरफ़्तारी और ज़ब्ती, तथा गोलियों की बौछार का वही पुराना नाटक जगह-जगह दोहराया जाने लगा, जिसके अंतर्गत सुभाषचन्द्र, वल्लभभाई, अंसारी, प्रभृति सभी मुख्य-मुख्य नेता जेलों में ठूँस दिए गए, यहाँ तक कि वृद्ध मालवीयजी को भी कुछ दिनों के लिए बाहर न रख छोड़ा गया! किन्तु ऐसा था जनता का उत्साह और अपनी लड़ाई में एक क़दम भी पीछे न हटने का उसका जोश कि इस सारे दमन-ताण्डव के बावजूद भी इन्हीं दिनों दिल्ली में कांग्रेस का एक अधिवेशन पुलिस को चकमा देकर ग़ैर-क़ानूनी तौर से किया गया! इन्हीं दिनों की बात है कि प्रसिद्ध 'साम्प्रदायिक निर्णय' की घोषणा होने पर दलितों को हिन्दुओं से पृथक् रखने की कूटयोजना के विरोध में गांधीजी ने यरवड़ा-जेल में सितंबर, सन् १९३२ ई०, में इक्कीस दिनों का अपना वह इतिहास-प्रसिद्ध लंबा उपवास किया था, जिसे लगभग मृत्यु के मुख पर पहुँचकर 'पूना-पैक्ट' नामक प्रख्यात समझौते के होने पर ही उन्होंने छोड़ा था तथा जिसके अवसर पर स्वयं कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ शान्ति-निकेतन से दौड़कर यरवड़ा (पूना) पहुँचे थे और वहाँ उन्होंने अपने श्रीमुख से अपने वे गीत सुनाए थे, जो गांधीजी को अत्यन्त प्रिय थे!

इसके बाद कुछ समय के लिए राजनीतिक लड़ाई का युग तो मानों स्थगित-सा हो गया और उसके बदले आरंभ हुआ तथाकथित 'अछूतों' अथवा (स्वतः गांधीजी की शब्दावली में) 'हरिजनों' के उद्धार का वह युग, जब कि भिखारियों की तरह झोली लटकाकर उन्होंने सारे देश का इस छोर से उस छोर तक एक लंबा प्रवास किया और स्थान-स्थान में हिन्दू-समाज के इस घृणित कलंक को धो डालने के लिए ज़ोरों से अपनी आवाज़ बुलन्द की! और उनके हाथों इस अनुष्ठान के आरंभ होने के कारण वह अद्भुत और असम्भव-सी सामाजिक क्रान्ति हिन्दू-समाज के आँगन में चंद दिनों ही में फलीभूत होते दिखाई दी कि जगह-जगह धड़ाधड़ हरिजनों के लिए मंदिरों के दरवाज़े खुल गए और उन्हें प्रेम से गले लगाया जाने लगा, तथा उनके उत्थान के लिए हर प्रकार से सहायता देने के प्रयास जनता की ओर से होने लगे, यद्यपि कतिपय प्रतिक्रियावादी कट्टरपंथियों ने इस संबंध में उन पर कीचड़ उछालने में भी कोई कोर-कसर न रक्खी—यहाँ तक कि पूना में तो किसी ने उन पर बम फेंकने तक का प्रयास किया, जिससे कि उस समय बाल-बाल वह बचे! इन्हीं दिनों की बात है कि विरोधी दल के एक नेता पं० लाल-नाथ पर किसी के द्वारा लाठी बरसाई जाने के प्रायश्चित्तस्वरूप महापुरुष गांधीजी ने पुनः हफ़्ते भर का एक उपवास किया था, जिससे उनकी प्रखर अहिंसावादिता एवं ऊँचाई का अनुमान किया जा सकता है!

तदनंतर सविनय अवज्ञा आन्दोलन की डोर ढीली करके सन १९३५ ई० के लगभग जब कांग्रेस पुनः कौंसिलों की ओर अभिमुख हुई तो उसके सर्वेसर्वा होकर भी गांधीजी प्रसिद्ध बंबई-अधिवेशन में उसकी सदस्यता से अलग हो गए, यद्यपि उसकी बागडोर तो इसके बाद भी उन्हीं के हाथों में बनी रही और अहमदाबाद के अपने प्रख्यात 'साबरमती-आश्रम' को तोड़कर सन् १९३६ ई० के मई मास में वर्धा के समीप सेगाँव (सेवाग्राम) नामक बस्ती में जब उन्होंने अपना नया आसन जा जमाया तो मध्य-प्रदेश का वह छोटा-सा गाँव कांग्रेस की कार्य-कारिणी की बैठकों के कारण मानों भारत की

राष्ट्रीय राजधानी बन गया! इसके पूर्व सन् १९३३ ई० के मई महीने में आत्मशुद्धि के हेतु पुनः २१ दिन का एक दीर्घ उपवास वह कर चुके थे और उसके तीन महीने बाद ही साबरमती-आश्रम को भंग करते समय क्रमशः रास नामक गाँव को जाने तथा पूना से बाहर जाने के निषेध-विषयक सरकारी आज्ञाओं का उल्लंघन करने के लिए पुनः वर्ष भर की सज़ा में जेल के वासी भी वह बनाए जा चुके थे, जहाँ फिर से एक लंबा उपवास उन्होंने किया था, जिसके कारण अवधि से पहले ही सरकार को उन्हें छोड़ देना पड़ा था। यही ज़माना था जबकि प्रसिद्ध 'हरिजन-सेवक-संघ' की स्थापना की गई थी तथा 'यंगइंडिया' और नवजीवन' के उत्तराधिकारियों के रूप में 'हरिजन' एवं 'हरिजन-बन्धु' नामक उन पत्रों को उन्होंने पहलेपहल निकालना शुरू किया था, जोकि तबसे उनकी वाणी के मुखपत्र जैसे बन गए, और जिनसे कि आज सारा संसार सुपरिचित है।

इसके बाद की उनकी जीवन-घटनाएँ तो हमारे आज के अपने युग के एकदम इतनी नज़दीक आ जाती हैं कि शायद ही कोई ऐसा व्यक्ति होगा, जो कि उनसे अपरिचित हो! स्वयं गांधीजी ही का आशीर्वाद पा कांग्रेस ने सन् १९३७-३९ ई० के उन ढाई वर्षों की अवधि में पुनः धारा-सभाओं में अपना मोर्चा स्थापित कर पहले-पहल प्रांतों के शासन की बागडोर सँभालने का एक नवीन प्रयोग कर देखा था। किन्तु अंत में जब योरप में दूसरे महासमर की आग भड़क उठने पर, पग-पग पर विशिष्ट कठिनाइयों का सामना पड़ने के कारण, उस नक़ली स्वराज्य से किनारा कस शीघ्र ही उसे सरकारी कुर्सियाँ छोड़ पुनः मैदान में आना पड़ा तो स्वभावतः ही विदेशी शासन-तंत्र के साथ फिर से उसकी गहरी रस्साकसी शुरू हो गई। इस प्रकार सन् १९४२ ई० के उस महान् जन-संग्राम की पगडंडी पड़ी, जिसने कि अंतिम रूप से इस देश की भूमि पर से अंग्रेज़ों के पैर उखाड़ दिए! इसी अरसे में गांधीजी मार्च, १९३९ ई०, में राजकोट के सत्ताधारियों की ज्यादती के विरोध में पुनः अनशन की एक अग्नि-परीक्षा में से सफलतापूर्वक बाहर निकल चुके थे और सन् १९४१ ई० के अक्टोबर में उस वर्ष के अपने उस अनूठे 'व्यक्तिगत सत्याग्रह' का भी दृश्य रच चुके थे, जिसके कि उद्‌घाटन का श्रेय पाकर उनके अनन्य शिष्य श्री विनोबा भावे देश के इतिहास में सदा के लिए अमर बन गए! यद्यपि यह सत्याग्रह बहुत ही अल्पकालिक रहा, क्योंकि शीघ्र ही सरकार ने उसके सिलसिले में गिरफ़्तार किए गए तमाम राजबंदियों को छोड़ दिया, फिर भी वह कम महत्त्व का न था, क्योंकि उसने ही उस शिथिलप्राय वातावरण में जनशक्ति की युद्ध की लौ को मंद पड़कर बुझ जाने से बचाए रक्खा! तदनन्तर एक ओर तो कई दिनों तक थोथे आश्वासनों का नाटक रचकर कूटनीतिज्ञ मिस्टर चर्चिल की सरकार ने सन् १९४२ ई० के प्रसिद्ध 'क्रिप्स-मिशन' के रूप में भारतीय राष्ट्रीय आकांक्षाओं की पूर्ति करने की अपनी मंशा का ढोंगभरा स्वाँग दिखाया और दूसरी ओर उनकी चालबाज़ी समझकर गांधीजी ने उन्हीं को संबोधित कर बुलंद किया 'भारत छोड़ो' का अपना वह युग-प्रवर्त्तक नारा, जोकि इस देश में विगत डेढ़ सौ वर्षों से आतंक का डेरा प्रस्थापित किए हुए ब्रिटिश साम्राज्यशाही के लिए मानों मृत्यु-घंट की आवाज़ साबित हो गया! इसी नारे के साथ छिड़ा १९४२ ई० का वह महान् जन-संग्राम, जो कि अंग्रेज़ों के ख़िलाफ़ हमारी आज़ादी की लड़ाई का सबसे ज़ोरदार और अंतिम निर्णयात्मक मोर्चा था! इस युद्ध का श्रीगणेश ९ अगस्त, १९४२ ई०, के उस युगान्तरकारी प्रातःकाल की घड़ियों में हुआ, जबकि बंबई में अखिल भारतीय कांग्रेस समिति के मंच से विधिवत् 'भारत छोड़ो' प्रस्ताव तथा गांधीजी द्वारा 'करेंगे या मरेंगे' की नवीन शपथ की घोषणा के कुछ ही घंटे बाद लड़ाई शुरू होने से पहले ही सरकार ने स्वयं गांधीजी, जवाहरलाल, वल्लभभाई, अबुलक़लाम आज़ाद, आदि उच्चतम नेताओं एवं कांग्रेस-कार्यकारिणी के अन्य सभी सदस्यों से लगाकर छोटे से छोटे कांग्रेसी कार्यकर्त्ताओं तक सभी देशसेवकों को जगह-जगह एकाएक गिरफ़्तार कर लिया और बिना मुक़दमा-मामला चलाए 'भारत-रक्षा-क़ानून' की आड़ में उन्हें जेलों में ठूँस दिया! इस बार स्वयं गांधीजी तो अपने कुछ निजी साथियों एवं श्रीमती कस्तूरबा के साथ पूना के समीप

आगाखाँ की कोठी में कड़े पहरे में नज़रबंद कर दिए गए, और पंडित जवाहरलाल, वल्लभभाई आदि कार्य-कारिणी के सदस्यों को क़ैद किया गया उनसे अलग अहमदनगर के क़िले में! और यह सारी कार्रवाई इस प्रकार छिपाकर गुपचुप की गई कि बहुत दिनों तक जनता को पता ही नहीं लग पाया कि आख़िर ये सब नेता कहाँ ले जाए गए थे! इसके बाद तो सारे देश में जन-शक्ति का जो रुद्र-रूप प्रकट हुआ और जिस प्रकार नेताओं की अनुपस्थिति में स्वयं जनता ही ने हाथों में युद्ध की बागडोर ले आज़ादी का रण-यज्ञ रचा; जिस प्रकार नौकरशाही ने लाठियों, संगीनों और मशीनगनों के नग्न ताण्डव तथा कभी भी न सुने गए ऐसे वीभत्स अत्याचारों का अभिनय किया एवं उस अत्याचार के सामने हर प्रकार से लोहा ले अगणित बेनाम देशभक्तों ने अपने प्राणों की बाज़ी लगा तथा घर-जायदाद, गाँव-खेत आदि सर्वस्व की आहुति चढ़ा जिस तरह हँसते-हँसते अपने आपको गोलियों और संगीनों का निशाना बनने दिया; एवं लगभग दो-ढाई वर्ष तक जारी रक्खे गए इस अभूतपूर्व बलिदान-यज्ञ के महान् सुफल के रूप में अंत में जिस प्रकार इस देश से सदा के लिए ब्रिटिश सत्ता का डेरा-तंबू उखड़ा और हमारे स्वातंत्र्य के प्रतीक के रूप में दिल्ली के ऐतिहासिक लाल क़िले पर स्वयं पंडित जवाहरलाल के हाथों जिस ठाठ के साथ गत १५ अगस्त, सन् १९४७ ई०, के दिन अपना नवसिद्ध चक्रांकित तिरंगा ध्वज पहली बार फहराया गया, उस गौरवपूर्ण कहानी से आज के दिन कौन भारतवासी अपरिचित और अनजान होगा? यहाँ यह बता देना अप्रासंगिक न होगा कि अन्य कई राष्ट्रसेवकों की भाँति स्वयं गांधीजी को भी इस बार अपने सबसे प्रिय दो जीवन-साथियों की भेंट इस युद्ध की वेदी पर चढ़ानी पड़ी—एक तो उनके हृदय-समान महान् प्रतिभा-शाली श्री महादेव देसाई, जो आगाखाँ-कोठी में नज़रबंद किए जाने के हफ़्ते भर बाद ही एक रहस्य-पूर्ण ढंग से अकस्मात् इस दुनिया से चल बसे, और दूसरी उनकी महान् सहधर्मिणी श्रीमती कस्तूरबा, जिन्हें भी इस घटना के डेढ़ वर्ष बाद जेल-जीवन की कठोरताओं तथा उपचार-विषयक अव्यवस्थाओं के फलस्वरूप असमय ही सदा के लिए इस लोक से उठ जाना पड़ा! इन दोनों ही शहीदों का अंतिम संस्कार आगाखाँ-कोठी के उस हाते ही में किया गया और वहीं स्वयं अपने हाथों से चुनकर पुण्यपुरुष गांधीजी ने उन दोनों की वे समाधियाँ निर्मित कीं, जो एक सजीव करुण काव्य के रूप में युग-युग तक अपनी कहानी विश्व को सुनाती रहेंगी!

इस बीच फ़रवरी, सन् १९४३ ई०, में अपनी इस नज़रबंदी ही की दशा में तीन हफ़्ते का एक और लंबा उपवास गांधीजी कर चुके थे, जिसके कारण उनकी हालत इतनी अधिक कमज़ोर हो गई थी कि डॉक्टरों ने भी उनके जीवन की आशा छोड़ दी थी, फिर भी सरकार उन्हें जेल से मुक्त करने को तैयार नहीं हुई थी। यह देश का परम सौभाग्य था कि अपने अगाध आत्मबल के सहारे इस कठोर अनशन की घाटी को वह पूर्णतः सुरक्षित रूप से पार कर गए, किन्तु श्रीमती कस्तूरबा के देहावसान के कुछ ही हफ़्ते बाद उनका स्वास्थ्य पुनः एकाएक बहुत गिर गया और स्थिति हद से बाहर जाते देख अंत में नौकरशाही ने उन्हें बिना शर्त रिहा कर देने ही में अपनी भलाई समझी! इस प्रकार पूरे पौने दो वर्ष बाद ६ मई, सन् १९४४ ई०, के दिन आगाखाँ-कोठी से पुनः वह बाहर आए और कई दिनों तक स्वास्थ्य-लाभ के लिए पहले बंबई में जुहू के समुद्र-तट पर और तब पूना में एक प्राकृतिक चिकित्सालय में टिके रहे। तदुपरान्त आरंभ हुआ पुनः देश की उलझी हुई राजनीतिक गुत्थी को सुल-झाने के प्रयत्न में दो-ढाई वर्षों तक जारी रहनेवाला उनका वह सुदीर्घ और सर्वविदित अनुष्ठान, जिसका श्रीगणेश सितंबर, सन् १९४४ ई०, में बंबई में मुस्लिम लीग के प्रधान मि० जिन्ना के साथ उनके द्वारा उठाई गई समझौते की उस प्रख्यात किन्तु असफल बातचीत के साथ हुआ, जो आज़ादी की सिद्धि और शान्ति की चिरस्थापना के लिए गांधीजी द्वारा मुसलमानों को अंतिम हद तक मनाने के सबसे उज्ज्वल प्रयास तथा उसी हद तक इस कार्य में मानों हर प्रकार से रोड़ा अटकाने के लिए कमर कसकर बैठे हुए मि० जिन्ना की हठधर्मिता एवं देशद्रोह के चिर प्रमाण के रूप में इस देश के इतिहास में युग-युग तक याद रहेगी! इस महान् अनुष्ठान की समाप्ति हुई अंत में 'हिन्द' एवं 'पाकिस्तान' के

रूप में भारत के कृत्रिम विभाजन के बाद सन् १९४७ ई० की १५ वीं अगस्त के दिन विदेशी साम्राज्य-शाही का क़िला अंतिम रूप से ध्वस्त होने और उसके साथ ही हमारे वायुमण्डल में राजनीतिक स्वातंत्र्य के उस प्रभातकाल के प्रस्फुटन द्वारा, जिसकी कि रश्मियाँ अभी निखर ही रही हैं ! इस बीच सन् १९४५ ई० की 'शिमला-कान्फ़रेन्स' से लेकर 'ब्रिटिश केबिनेट-मिशन' की सन् १९४६ ई० की महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक घोषणाओं तक, देश के राजनीतिक अखाड़े में न जाने कितने पेचीदा और उलझनभरे दाँव पेंचों और कूटचालों से रँगे हुए पैंतरों का लगातार मुक़ाबला करते हुए, राष्ट्रवेदी कांग्रेस के धीरप्रवर नेताओं ने गांधीजी के नेतृत्व में एक ओर साम्राज्यवादी ब्रिटिश सत्ता के चाणक्य-जैसे मँजे हुए राजनीतिक शतरंज के चतुर खिलाड़ियों तथा दूसरी ओर स्वतः अपने ही देश की संप्रदाय-मूलक मुस्लिम लीग एवं सामन्तवादी राजा-नवाबों के गुट्ट की दोहरी स्वातंत्र्य-विरोधी प्रतिक्रियावादी शक्तियों के साथ जो लंबी कुश्ती लड़ी, उसका विवरण प्रस्तुत करने के लिए यहाँ न तो स्थान ही है न वह हमारे प्रसंग का विषय ही है ! और न उन दुर्भाग्यप्रद कलंकमयी घटनाओं ही का ब्यौरा लेखबद्ध करना इस क्षण हमें अभीष्ट है, जोकि ब्रिटिश कूटनीति द्वारा बोए गए फूट के विषवृक्ष एवं मि० जिन्ना तथा मुस्लिम लीग द्वारा अपनाई गई पारस्परिक वैमनस्य, घृणा, विद्वेष और 'दो राष्ट्रों' की नीति के ज़हरीले प्रचार के नैसर्गिक फल के रूप में अंततोगत्वा इस देश के प्राङ्गण में प्रस्तुत होनेवाले कलकत्ता, नोआखाली, बिहार और पंजाब के प्रलयंकर हत्याकाण्डों, निर्दोष स्त्री-पुरुषों और बालकों के रक्तपात, राक्षसों को भी लजानेवाले नारकीय कुकृत्यों तथा संसार के इतिहास में पहले कभी भी न देखी गई ऐसी दिल दहला देनेवाली लाखों असहाय नर-नारियों की एक प्रान्त से दूसरे प्रान्त में फेरबदली का वह कुचक्र लेकर पिछले दिनों हमारे सामने आईं, जिसका कि ताँता आज भी संपूर्णतया टूटने नहीं पाया है ! वह तो है वस्तुतः ऐसी एक लंबी और दर्दनाक कहानी कि यदि उसका ब्योरेवार चित्रण किया जाय तो इस ज़माने का दूसरा महाभारत तैयार हो जाय !

वस्तुतः यहाँ तो हमारा ध्येय है केवल उस तपोपुञ्ज महापुरुष ही की गगनविचुंबित ऊँचाई के प्रति पाठकों का ध्यान दिलाकर उसके उस दिव्य व्यक्तित्व का कुछ भान कराना, जिसने कि इस रक्त-रंजित कलह के गहन घटाटोप में भी, मानों कुहरे से आच्छादित तूफ़ानी सागर के बीच अटल अडिग खड़े एक प्रकाशस्तंभ की भाँति, अपने ज्योतिर्मय प्रेम-संदेश द्वारा हमें निरंतर सच्चे मार्ग की दिशा दिखाने के अपने पुण्यकार्य में क्षण भर के लिए भी विराम नहीं लिया ! आज कौन वह अभागा व्यक्ति होगा, जिसके कानों पर उपनिषद्कालीन पुरातन ज्ञान-गोष्ठियों का स्मरण करानेवाली उस संत की नितप्रति की उन सार्वजनिक सांध्य-प्रार्थनाओं में इस देश के विनाशोन्मुख अराजक तत्त्वों के शमन के हेतु निरंतर उद्घोषित शान्ति, स्वस्ति और कल्याण के उस अविरल बोधपाठ के मंगलमय स्वर न पड़े हों, जोकि इस कोलाहल से भरी दुनिया के बीच पीड़ितों की एकमात्र आश्वासन की वस्तु थी ! आज किसे ज्ञात नहीं होगी नोआखाली की उन पंकिल वन-वीथिकाओं को एक सिरे से दूसरे सिरे तक एकाकी ही पैदल नापकर, सांप्रदायिकता के दानव द्वारा ध्वस्त-त्रस्त प्रत्येक कुटिया के द्वार पर पहुँच रक्त से लथपथ घायल मानवता के घावों को धोने और असहाय विधवाओं एवं बिलखते हुए अनाथ बच्चों के आँसू पोंछने के उसके उस महाप्रयास की वह अजरामर कहानी, जिसकी कि तुलना केवल दो हज़ार वर्ष पूर्व के हज़रत ईसा मसीह अथवा उनसे भी पूर्व के भगवान बुद्ध के करुणार्द्र प्रेमानुष्ठान ही से की जा सकती है ? और उस महत् अनुष्ठान की परम सिद्धि के रूप में पुनः आमरण उपवास के अंगारमय पथ पर उतरकर पहले तो पचास लाख नर-नारियों को अपने अंचल में लिये हुए महानगर कलकत्ते में और तदनंतर स्वयं राजधानी दिल्ली ही में बुरी तरह फूट निकलनेवाली गृहकलह की चिनगारियों को जादू की तरह जिस प्रकार देखते ही देखते उसने अकेले ही हाथ ठंढा कर दिया, तथा जिसके परिणामस्वरूप पत्थर के दिलों ने भी पिघलकर उसके चरणों में पश्चात्ताप और लज्जा के आँसू गिराए, उसकी भी क्या किसी को याद दिलाने की आवश्यकता है ? किन्तु यह

तो थी वस्तुतः उसके उस महाव्रत की केवल भूमिका मात्र, जिसका कि पुण्य संकल्प ले यह संत इस देश के ललाट पर से दुर्भाग्य की रेखाएँ मिटाने के लिए अग्रसर हुआ था! वह अब तक जो एक-एक तिल अपने आपको जनकल्याण के हवनकुण्ड में लगातार होमता चला जा रहा था, उसकी पराकाष्ठा—उसकी पूर्णाहुति—का अन्तिम विनियोग तो अब भी शेष ही था! क्योंकि इस धरती पर से विदेशी शासन का झंडा उखाड़ा जा चुका था तो क्या, अब भी उसकी भीतरी आग तो ज्यों-की-त्यों जल ही रही थी—अब भी इस महापुरुष के अपने स्वप्नलोक का वह 'रामराज्य' तो सिद्ध होना शेष ही था, जिसका कि निर्देश वर्षों पूर्व ही इन स्मरणीय शब्दों में वह कर चुका था—'मैं तो देख रहा हूँ एक ऐसे भारत के निर्माण का स्वप्न, जिसके कि आँगन में ग़रीब से ग़रीब भी यह अनुभव कर सके कि यह उसकी ही अपनी धरती है; जिसके निर्धारण में सभी की भरपूर आवाज़ हो; जिसमें ऊँच-नीच के इस वर्गीकरण का नामोनिशान भी न हो, और जिसमें सभी जाति के लोग पूर्ण सामंजस्यपूर्वक मिल-जुलकर रह सकें!'

किन्तु अभी कहाँ था उसके मनोराज्य का वह आदर्श भारत? कितनी अधिक दूर थी अब भी उसके स्वप्नलोक के उस 'रामराज्य' की मंज़िल? कारण, इस क्षण तो जिस प्रकार का भारत वह अपने चारों ओर पनपते देख रहा था, वह तो ऐसा भयावह था कि उसकी तुलना केवल एक ऐसे विनाशोन्मुख उद्भ्रान्त रोगी ही से की जा सकती थी, जो कि स्वयं अपने ही मनोविकारों से उत्पन्न भीषण ज्वर-ताप से संतप्त हो तेज़ी के साथ त्रिदोषजनित सन्निपात की अवस्था की ओर लुढ़कता चला जा रहा हो और उस भयंकर रोगाक्रान्त दशा में स्वयं अपने ही हाथों अपने अंग-प्रत्यंग पर छुरी चलाता हुआ मदिरा पिए हुए की भाँति आत्महनन की सर्वनाश-क्रीड़ा में लीन हो! यह तो ऐसा एक भारत था, जिसका कि आँगन रक्त-मज्जा से लथपथ था और जिसका घर अपने ही हाथों लगाई गई आग से धाँय-धाँय जल रहा था! यद्यपि यह बात सच थी कि डेढ़ सौ वर्षों से जो लौह कपाट उसके इस घर-आँगन को एक विशद बंदीगृह में परिणत किए हुए थे, वे अब खुल चुके थे, किन्तु अपनी कलाइयों पर मूर्खता की जो हथकड़ियाँ अब भी उसने कस रक्खी थीं, वे तो उसके इस उच्छृंखल ताण्डव की उछलकूद में दिन पर दिन और भी अधिक कसती चली जा रही थीं! तो फिर क्या इसी भारत का सपना अब तक हम सब देखते रहे? इसी की सिद्धि के हेतु क्या इतना रक्त और पसीना बहाया गया और उसी के लिए पिछले तीस वर्षों में कोटि-कोटि नर-नारियों ने अपना सर्वस्व होमकर संसार के प्राङ्गण में रचा वह प्रचण्ड रण-यज्ञ?

रह-रहकर जी को कुरेदनेवाला यही प्रश्न अठहत्तर वर्ष के इस बूढ़े संत के हृदय में अब उठने लगा और फलतः वही जो कि 'जीवेम शरदः शतम्' के आर्ष मंत्र में अभिव्यक्त दीर्घ जीवन की कामना रखते हुए १२५ वर्ष की पूर्ण आयु तक जीवित रहने का अपना संकल्प अब तक दोहराया करता था, अब दिन प्रति दिन अपने आसपास बढ़ते चले जा रहे उस विष के ज्वार को देखकर ईश्वर से बार-बार यही प्रार्थना करते देखा जाने लगा कि 'हे भगवन्, या तो तू इस ज़हर को शान्त कर दे या फिर इस धरती पर से मुझे उठा ही ले। मैं अब जीना नहीं चाहता!' और कैसी अद्भुत थी उस प्रभु की लीला कि कुछ सप्ताहों के भीतर ही अंत में वह बात हो गई, जिसकी कि प्रतिध्वनि इस बूढ़े तपस्वी के उपर्युक्त मनोव्यथाजनित शब्दों में इधर लगातार कई दिनों से हमें सुनाई देने लगी थी—वह सचमुच ही एक दिन पलक मारते इस अभिशापग्रस्त अवनितल से सदा के लिए उठ गया और देखते-देखते महाकाश में लीन होकर इस कोलाहलमय जगती से उसने परम निर्वाण पा लिया! किन्तु हा दुर्दैव, कितनी क्रूरता—कैसी निर्ममता—के साथ तूने अपना वह विधान पूरा किया! किस प्रकार युग-युगान्त तक के लिए हमें रुलाकर—कैसा अतलस्पर्शी घाव हमारी छाती में कुरेदकर—तूने अपना वह काम पूरा किया!

हृदय फटने लगता है और लेखनी रो-सी पड़ती है उस दुर्घट घटना का वर्णन यहाँ करते हुए! वह कलंकमयी अभागी संध्या—३० जनवरी, सन् १९४८ ई०, की वह अशुभ संध्या—जिसने कि इस युग के भारत के उस ज्वाज्वल्यमान सूर्य को सदा के

लिए अपने अंचल में समेट लिया, क्या भगवान् श्रीकृष्ण के परमधामगमन की दुर्भाग्य-वेला के बाद ऐसी घोर निशा का यवनिकापात करनेवाली दूसरी कोई संध्या पिछले पाँच हज़ार वर्षों में कभी इस देश के इतिहास में इस बीच आई थी? इस भीषण संध्या ने तो अभी-अभी हमारे ललाट पर पुनः चमक उठनेवाली भाग्य-रेखाओं को सदियों के लिए फिर से मानों मेट डाला और उस पर पोत दिया विजय-तिलक की मांगलिक कुमकुम-रोरी के बदले कलंक का वह काला काजल, जिसे स्वयं काल की उँगलियाँ भी संभवतः अब नहीं पोंछ पाएगी! क्योंकि यही तो थी वह महापातकी संध्या, जिसकी कि छाया में भारत-माता की कोख को लजानेवाले एक नरपशु ने राक्षसों को भी शर्मिन्दा कर देनेवाला वह जघन्य कृत्य कर डाला, जिसने कि दुनिया के सामने मुँह तक दिखाने योग्य हमें न रक्खा! यही तो थी वह अशुभ घड़ी जब कि उस कुटिल कपूत ने अस्सी वर्ष के अपने उस वयोवृद्ध राष्ट्र-पिता को, हमारे पूज्य 'बापू' को— जो कि सत्य के साक्षात् अवतार, अहिंसा की सजीव मूर्त्ति और मानवता की जीती-जागती प्रतिमा-से थे— अपनी पिस्तौल का निशाना बनाकर पलक मारते सारे राष्ट्र को एकदम अनाथ कर दिया......! इस हलाहल-सी कटु घटना का हम यहाँ विवरण दें तो कैसे दें?

उस दिन भी वह आए थे नित्य की तरह उसी प्रकार अपनी पौत्री और पौत्रवधू मनु तथा आभा के कंधों पर हाथ धरे—उसी प्रकार घुटनों तक का अपना वह लँगोटीनुमा अँगोछा पहने और बदन पर खद्दर की वही सफ़ेद चादर ओढ़े—'बिड़ला-भवन' के अपने कक्ष से निकलकर समीप के उस खुले प्रार्थनास्थल के मैदान में, जहाँ कि नित्य ही उनके मुखारविन्द से झड़नेवाले अमृत-बिन्दुओं को बटोरने के हेतु शान्ति के प्यासे मुमुक्षुजनों की एक छोटी-सी भीड़ पिछले कई महीनों से शाम को जुट जाया करती थी। वस्तुतः आज उन्हें आने में थोड़ा-सा विलंब हो गया था, कारण अभी-अभी तक गृह-सचिव सरदार वल्लभभाई से किसी गंभीर विषय पर वह बातचीत करते रहे थे। और तब जैसे ही प्रतिदिन की तरह शान्त स्थिर भीड़ के बीच से अपने निकलने के लिए बनाए गए मार्ग से होते हुए, सीढ़ियाँ चढ़कर उस ऊँचे उठे हुए चबूतरे पर वह जा खड़े हुए, जो कि प्रार्थना का वास्तविक स्थान था, और सबके अभिवादन के प्रत्युत्तर में उन्होंने दोनों हाथ उठाकर प्रणाम किया, वैसे ही बिजली की तरह तड़पकर एक अजनबी व्यक्ति भीड़ में से उनके सामने आ खड़ा हुआ और बिल्कुल नज़दीक आकर अपनी जेब से पिस्तौल निकाल तड़ातड़ तीन गोलियाँ बेतहाशा उसने उन पर छोड़ दीं! क्षणभर ही में महापुरुष का वह वृद्ध शरीर लटककर दोनों लड़कियों के कंधों पर अपना बोझ डालता हुआ पृथ्वी पर आ लगा और जहाँ वह गिरे वह जगह तथा उनकी चादर रक्त से भीग गई! उनके मुख से केवल 'हे राम, हे राम' ये ही शब्द अंतिम समय में निकलते सुनाई दिए, इसके अतिरिक्त न तो कोई चीख निकली, न चेहरे पर क्षोभ या रोष की एक रेखा तक प्रकट होते दिखाई दी! और यह सारा काण्ड इस प्रकार पलक मारते हो गया कि उपस्थित भीड़ में से बहुतों को वस्तुतः अभी पता ही न लगा कि यह क्या से क्या हो गया था! तुरन्त ही उठाकर उन्हें 'बिड़ला-भवन' ले जाया गया। किन्तु बापू ने एक बार जो अपनी वे आँखें मूँदीं तो फिर खोली ही नहीं— वह तो गोली लगने के कुछ मिनटों के भीतर ही सदा के लिए महानिद्रा में लीन हो गए थे!

इसके बाद तो राष्ट्र के हृदय में भावना का जो तूफ़ान उठा और जिस प्रकार न केवल इस महादेश ही की कोटि-कोटि जनता के रुँधे कण्ठों से प्रत्युत सारे संसार के कोने-कोने से हाहाकार का कभी भी न सुना गया ऐसा वह रोदनरव जगा, उस हृदयद्रावक कहानी से भला कौन आज परिचित न होगा? घण्टे डेढ़ घण्टे के भीतर तो दुनिया भर में बिजली की लहर की भाँति इस महान् घटना की खबर दौड़ गई और इसके चौबीस घण्टे बाद ही यमुना के पुनीत तट पर राजघाट के उस विशाल मैदान में वैदिक विधि से उनके शरीर की अंत्येष्टि की वह कारुणिक रस्म पूरी हुई, तब तक तो न केवल वहाँ प्रस्तुत दस लाख नर-नारियों की वह भीड़ ही प्रत्युत गाँव-गाँव और नगर-नगर में रोता-कलपता सारा देश आँसुओं की नदियाँ बहा रहा था! तब एक बार फिर विषाद का वह सागर ज्वार की तरह उमड़ा जब कि लगभग ४० लाख दर्शकों की उपस्थिति

में प्रयाग में गंगा-यमुना के पवित्र संगम पर उनकी उन मुट्ठी भर अस्थियों को प्रवाहित कर दिया गया और साथ ही देश की प्रत्येक पवित्र नदी में खास-खास तीर्थस्थलों पर उनकी वह भस्म भी विसर्जित कर दी गई ! और जब यह सारा तूफ़ान कुछ ठंडा पड़ा, तब कहीं पता चला कि उस मुट्ठी भर हड्डियों के ढाँचे के मिटने से कितना भारी गड्ढा इस राष्ट्र के वक्षःस्थल पर बन गया था !

किस प्रकार यह सब कुछ हो गया ? किस प्रकार कभी भी कल्पित न की जा सकनेवाली यह घटना घटित हो गई ? यद्यपि इस महाकाण्ड से कुछ दिन पहले ही, बहुसंख्यक हिन्दुओं द्वारा अल्पसंख्यक मुसलमानों पर की जा रही ज्यादतियों को रोकने के लिए उनके द्वारा उठाई जा रही सहिष्णुता की विनय की पुकार से रुष्ट होकर किसी हिन्दू द्वारा ही, उसी प्रार्थना-स्थल पर उनको लक्ष्य करके अभी-अभी एक बम भी फेंका जा चुका था—जिससे कि बाल-बाल वह बचे थे—फिर भी किसी को आशंका ही नहीं होती थी कि सचमुच ही बापू पर कभी कोई ऐसा वार कर सकता है ! और इस प्रकार वार करनेवाला कोई 'हिन्दू' होगा, यह तो कभी सपने में भी किसी को ख़याल नहीं था ! पर काल की गति का रहस्य कौन जानता है ? संभवतः उस परम पिता का यही निश्चित विधान रहा हो कि जो काम वह अपने जीवन द्वारा पूरा नहीं कर पाए, वही उनकी मृत्यु द्वारा ही परिपूर्ण कराया जाय ! और उनकी वह मृत्यु क्या थी मानों थी उनकी जीवन-व्यापी तपोसाधना की चरम सिद्धि ! वह तो मरकर भी—अपने हृदय की रक्तधारा का दान दे इस पृथ्वी पर एक ऐसी नूतन मन्दाकिनी की स्रोतस्विनी प्रवाहित कर गए कि जो आगामी हज़ारों वर्षों तक हिंसाजनित दावानल की लपटों को बुझाती रहेगी ! परन्तु जहाँ वह प्राणों की बलि चढ़ा बन गए महाप्राण, वहाँ हम उन्हें अब खोकर पहले से भी कितने अधिक कंगाल—कितने लघुप्राण—हो गए हैं ! आज एक कटु लज्जा और आत्मग्लानि का कीड़ा हमारे अंतस्तल को प्रति क्षण कुरेद रहा है और यही सोच-सोचकर हम अपना सिर धुन रहे हैं कि जाने किस संचित पुण्य के प्रभाव से नंदन-कानन के लिए भी दुर्लभ यह जो अनुपम अद्वितीय पारिजात-पुष्प हमारी राष्ट्र-वाटिका में खिला था, उसे नोंच डालने के कलंक का टीका क्या इसी धरती के एक पुत्र के सिर पर लगना बदा था ! आख़िर इस जघन्य पाप का पहाड़-का-सा बोझ हम वहन करें तो किस प्रकार ? क्योंकर इस कालिख को हम छुड़ाएँ, जिसे कि स्वयं अपने ही हाथों अपने मुँह पर हमने पोत लिया है ? अथवा क्या इस महादण्ड के विधान में भी नियति की कोई गूढ़ योजना, कोई रहस्यपूर्ण उद्देश्य, ही तो निहित नहीं है ? क्या इसका यही हेतु तो नहीं है कि इस प्रकार सदा के लिए हमारे हृदय में कभी भी न रुझनेवाला यह घाव पैदा होकर चिरकाल के लिए हमें हिंसा के आत्महननकारी पथ वह से मोड़ दे ? क्या इसीलिए तो यह पाप की गठरी हमारे कंधों पर नहीं लदी है कि युग-युग तक के लिए शान्ति के उस दूत के दिव्य संदेश का स्वर गुँजाए रखने के लिए हम एक निमित्त बन जाएँ ?

तो फिर आइए, चिरंजीवी ऋषि दधीचि की भाँति अपनी उन मुट्ठी भर हड्डियों को भी विश्व-कल्याण के हेतु उत्सर्गित कर देनेवाले इस प्रातः-स्मरणीय महापुरुष को शतशः प्रणाम कर उसके दिव्य संदेश और उक्त संदेश में निहित बोध-पाठ की किंचित् प्रसादी लेते हुए, उसकी इस लघु प्रशस्ति को समाप्त कर दें—वह महापाठ, जिसे यदि पाणिनीय सूत्रों की-सी सूक्ष्म शब्दावली में अभिव्यक्त किया जाय तो गागर में सागर का सार लिये हुए उन दो चमत्कारपूर्ण शब्दों—'सत्य' और 'अहिंसा'—द्वारा बहुत कुछ सार्थकतापूर्वक प्रकट किया जा सकता है, जो कि इस संत की जीवन-साधना की विशद धुरी के दो अटल ध्रुव-बिन्दुओं जैसे थे ! यही उसके जीवन के परम साध्य थे और यही थे उसके साधन भी ! इन्हीं दो परम सूत्रों में उसके दिव्य संदेश का सारा निचोड़ भरा पड़ा है। यह 'सत्य' और 'अहिंसा' का बोधपाठ क्या है ? यदि लाक्षणिक रूप में उसका भावार्थ हम प्रस्तुत करें तो इस प्रकार हम उसे अभिव्यक्त कर सकते हैं कि यह है केवल मनुष्य को अपने खोए हुए धर्म अर्थात् 'मनुष्यता' की भुलाई हुई पगडंडी पर फिर से ला खड़ा करने की एक पुकार—उसे आज की अपनी 'हैवान' की दशा से

ऊपर उठाकर सच्चा 'इंसान' बनाने का एक प्रयास। वह है मानव द्वारा मानव के शोषण, पशुओं को भी लज्जित करनेवाले उसके पारस्परिक द्वन्द्व, उसके स्वार्थमूलक अर्थतन्त्र, अन्यायमूलक राजतन्त्र, भेद-भावमूलक समाजतन्त्र एवं इस सारे कुटिल विष-चक्र के स्वाभाविक परिणाम के रूप में निरंतर इस पृथ्वी के आँगन में अपनी विभीषिका फैलाए रहने-वाली ग़रीबी, ग़ुलामी, हिंसा, लड़ाई, अविद्या, पशुता और दानवता के विरुद्ध बुलन्द की गई एक विद्रोह की हुङ्कार, जो कि युग-युगादिकाल से अपने महान् धर्म-शिक्षकों, कवियों, विचारकों, समाज-संस्कारकों एवं मुक्तिसाधक संतों की वाणी के रूप में स्वयं मनुष्य ही के अन्तस्तल से निरन्तर उठती और हमारे इतिहास की धारा को बार-बार विनाश के अतल गर्त्त में खो जाने से बचाती रही है! अतः वह कोई बिल्कुल नई पुकार तो है नहीं—वह तो उसी अजरामर संदेश का पुनरावर्त्तन मात्र है, जिसे भगवान् श्रीकृष्ण और महर्षि वेदव्यास, करुणा-वतार बुद्ध और तीर्थंकर महावीर, प्रेमयोगी ईसा और ज्ञानी सुकरात जैसे मनीषि अपने-अपने समय में हज़ारों वर्ष पूर्व ही निनादित कर चुके हैं! हाँ, यदि कोई विशेषता आज उसमें है तो यही कि इस नए पैग़म्बर ने आज की शब्दावली में पिरोकर तथा हमारी वर्त्तमान उलझनों को सुलझाने के कार्य में सफलतापूर्वक उसका प्रयोग कर एक ऐसे रूप में उसे हमारे सामने रख दिया कि इस भौतिकवादी युग में भी यदि हम चाहें तो उसे अपनाकर सहज ही अपने समस्त दुःख-दैन्य से छुटकारा पा पृथ्वी पर पुनः शान्ति का स्वर्ग प्रस्थापित कर सकते हैं। और कितना सरल है यह उपाय कि यदि घृणा विद्वेष, हिंसा आदि के बजाय केवल प्रेम, सचाई, और किसी को भी दुःख न पहुँचाने की अहिंसा-नीति को ही हम अपना लें तो फिर समस्त रोगों से हम छुटकारा पा लें! किन्तु साथ ही कितना कठिन भी है यह, क्योंकि उसके तो स्पष्ट अर्थ यह हैं कि हमें हिन्दू-मुसलमान, काले-गोरे, धनी-ग़रीब, कुलीन-शूद्र विषयक अपने समस्त भेदभावों को सदा के लिए भूल जाना चाहिए; अपने उस जटिल अर्थतंत्र की इमारत को स्वतः अपने ही हाथों से तोड़ देना चाहिए, जिसकी नींव ही सबल द्वारा निर्बल के शोषण की नीति पर स्थापित है; अपनी उस लिप्सा को तिलांजलि दे देना चाहिए, जिसने कि धनी और ग़रीब, ऊँच और नीच, शासक और शासित की इन असंख्य सीढ़ियों का सर्जन कर रक्खा है और साम्राज्यों के उन स्वप्नों को भी अपने मानसपटल पर से मिटा डालना चाहिए, जो कि युद्ध और परमाणु-बम जैसी विनाश-सामग्री के जनक तथा एक राष्ट्र द्वारा दूसरे को ग़ुलाम बनाने की नीति के उद्गमस्रोत हैं! और यह सब-कुछ सिद्ध करना है हमें केवल प्रेम, सत्याचरण, अहिंसा और त्याग द्वारा—लड़ाई-झगड़े द्वारा नहीं! भला, आज की यह दुनिया क्योंकर इस आदर्श को स्वीकार करने लगी, और क्या यह स्वप्न कभी पूरा होगा भी?

इस सीधे-सादे उपाय की इसी कठिनाई को देखकर ही तो प्रायः कइयों के मन में गांधीजी की 'सत्य' और 'अहिंसा' की इस पुकार की व्यावहा-रिकता के संबंध में ज़ोरों से शंका का तूफ़ान उठा करता था। किन्तु अस्सी वर्ष के उस बूढ़े संत को जब इसी एक दवा से एक के बाद एक हमने अपने असाध्य से असाध्य रोगों पर भी विजय पाते देखा तो फिर उसकी सच्चाई और ऊँचाई में विश्वास किए बिना भी कैसे हम रह सकते हैं? आख़िर इसी एक उपाय द्वारा तो उसने चुटकी बजाते इस देश को अपनी राजनीतिक ग़ुलामी की बेड़ियों से छुटकारा दिलाया, और यदि आज के अपने इस कलह की आँच से भी मुक्त होने की कोई राह हमें दिखाई पड़ती है तो सिवा इस संत के इसी प्रेम के नुस्ख़े को अपनाने के, जिसके कि हेतु उसने अपने प्राण तक दे दिए, वह और है क्या? वस्तुतः हमारे ही अपने देश की क्या, आज तो सारे विश्व की शान्ति का एकमात्र उपाय सेवाग्राम के उस तपस्वी द्वारा सूचित सत्य और अहिंसा का यह त्यागमूलक पथ ही है—उसी में मानवता के यथार्थ उद्धार की कुञ्जी है; तोपों, बमों, हवाई जहाज़ों, कल-कारख़ानों, पूँजीवादियों की पेढ़ियों और साम्राज्यों की क़िले-बन्दियों में कदापि नहीं! परन्तु इस उपाय के अप-नाने में हमें मूल्य के रूप में चढ़ाना होगा अपनी आज की इस सारी तथाकथित यांत्रिक 'सभ्यता' की बलि—हमें इसके लिए पिछले सौ-पचास साल के अपने कुपाठ को सर्वथा भूल जाना होगा, जैसा

कि इस महात्मा ने अपने निम्न चुनौतीभरे शब्दों में वर्षों पहले ही स्पष्ट रूप से निर्देश कर दिया था—'भारत की मुक्ति इसी में है कि पिछले पचास सालों में उसने जो कुछ सीखा है, उसे वह सर्वथा भूल जाय ! इन रेलों, तारों, अस्पतालों, वकीलों, डाक्टरों आदि सबको एकबारगी ही तिलाञ्जलि दे देना चाहिए और सभी तथाकथित उच्च वर्ग के लोगों को धर्मभावनापूर्वक स्वतः अपनी इच्छा से किसानों के सरल जीवन का आदर्श अंगीकार कर लेना चाहिए, यह सोचते हुए कि सच्चा सुख उसी में है !'

वस्तुतः गांधीजी का जीवन और संदेश था सारे संसार के लिए वर्त्तमान यंत्रबद्ध भौतिक सभ्यता के विरुद्ध एक चुनौती-सा—वह विपथगामी मानवता को थोथे सुख की मृगमरीचिका की ओर से हटा प्रकृति की सरल नैसर्गिक वाटिका में वापस लौटा ले चलने का एक ज्वलंत प्रयास था ! इसीलिए तो नगरों की कालिख से भरी भूलभुलैया से किनारा कसकर छोटे-छोटे गाँवों के मुक्त हरित आँगन में पलट चलने के लिए बार-बार वह आदेश देते कभी थकते नहीं थे और मिलों-कारखानों की इस ग़ुलामी को ठुकरा अपने उस सुदर्शन-चक्र-रूपी चरखे के घरेलू यंत्र ही को अपनाने का मंत्र वह लगातार इतने ज़ोरों से दुहराते रहते थे—वह चरखा, जो कि आधुनिक 'पूँजीवाद' और उसी के बड़े भाई 'साम्राज्यवाद' की मूल जड़ में कुठाराघात करनेवाला कुचले हुए वर्गों के विद्रोह का अमोघ नारायणास्त्र-सा है और है दीनों की लकुटिया-सा, अहिंसा और सत्य के प्रतीक-सा, और अनासक्त कर्मयोगमूलक एक आदर्श जीवन-प्रणाली के मानों मूर्तिमान् लाक्षणिक तत्त्व-सा !

सच तो यह है कि गांधीजी के जीवन की एक-एक लीक मानव के अभ्युत्थान की विशद पगडंडी के निर्माण का नक़शा लेकर ही सामने आई थी ! आज संसार भर में रूसी ढंग के 'साम्यवाद' का नारा बुलन्द किया जा रहा है, किन्तु मानव-मानव के बीच साम्यभाव की स्थापना का जैसा ज्वलन्त आदर्श लेकर भारत के दरिद्रनारायणों का यह प्रतिनिधि उठा था, उसकी समानता का उदाहरण उस पाश्चात्य साम्यवाद में कहाँ है ? जिसने 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के पुरातन भारतीय आदर्श को मनसा-वाचा-कर्मणा पूर्णतया अपने जीवन में चित्रित कर अपने आपको विश्व भर के पददलित वर्गों का सच्चा दीनबन्धु बना लिया था, जो विश्व के परित्राण के लिए हलाहल का पान करनेवाले नीलकंठ शंकर की तरह पुकार-पुकार कर मानों यह कहता रहता था कि 'ममेति परं दुःखं न ममेति परं सुखं', और संसार भर के दानव-रूपी रुष्ट क्रोधित मानवों के द्वारा भड़काई हुई विद्वेष की अग्नि-ज्वालाओं को स्वयं पीकर पृथ्वी पर चिरकाल के लिए शान्ति की शीतल चाँदनी का वितान छा देने को इस प्रकार आतुर था जैसे कि कवि सौन्दर्य को, दार्शनिक सत्य को और संत कल्याण को इस विश्व के सारे आँगन में बिखरा हुआ देखने को रहता है, उस महात्मा से बड़ा क्रान्तिकारी 'साम्यवादी' दूसरा इस जग में आज तक हुआ ही कौन ? वह तो केवल एक क्रान्तिकारी ही नहीं महान् क्रान्तदर्शी भी था, और था ऐसा एक महामानव जो कि ईश्वर के सबसे नज़दीक पहुँचा हुआ व्यक्ति था ! तभी तो गोखले जैसे रत्न-पारखी के मुख से वर्षों पहले ही ये शब्द निकलते सुनाई दिए थे कि 'गांधीजी से अधिक पवित्र, शूर-वीर और उन्नत व्यक्ति तो कभी इस पृथ्वी पर दूसरा अवतीर्ण हुआ ही नहीं,' और आज भी आइन्स्टाइन जैसी विश्वविभूति के मुख से जब ये अद्भुत वाक्य निकलते हम सुनते हैं कि 'आनेवाली पीढ़ियाँ शायद ही इस बात पर विश्वास कर सकेंगी कि रक्त-मांस से युक्त शरीर धारण किए हुए ऐसा एक मानव सच ही कभी इस पृथ्वी पर विचरा भी था', तो सहज ही हमारे मन में पुनः वही विद्युत् की लहर की-सी एक सनसनी-सी दौड़ जाती है और हम बार-बार विस्मयपूर्वक हक्का-बक्का-से होकर सोचने लगते हैं—वह डेढ़ पसलियों का अस्थि का ढाँचा अपने भीतर जिस गौरीशंकर की-सी ऊँचाई को लिये हुए एक दिग्गज देवोपम व्यक्तित्व बसाए हुए था, उसे केवल एक नरतनधारी साधारण प्राणी क्योंकर कहा और माना जा सकता था ? निश्चय ही बापू, तुम वामन के कलेवर में छिपे हुए विराट् थे, तुम युगावतार थे, कवि के शब्दों में तुम सच ही 'मांसहीन,' 'रक्तहीन,' 'अस्थिहीन,' 'शुद्ध बुद्ध केवल आत्मा' थे ! तुम्हें शतशः प्रणाम है !

चित्तरंजन दास

'मनुष्यों में से एक देवता आज चला गया और बंगभूमि आज मानों विधवा हो गई!'—सन् १९२५ ई० के जून मास की एक दोपहरी की याद हमारे मानस-पटल पर थिरक रही है! महानगरी कलकत्ते के राजमार्गों पर से होकर सागर की लहर की तरह उमड़ता हुआ उसके इतिहास का एक चिरस्मरणीय जुलूस गुज़र रहा था। यह कोई ख़ुशी का जुलूस न था—वह था एक अरथी की श्मशान-यात्रा का शोकप्रद जुलूस, जिसमें सम्मिलित थे आँखों में हृदय का उद्वेग बसाए कोई तीन लाख नर-नारी और जिसका नेतृत्व कर रहा था सबके साथ कंधे से कंधा मिलाए इस युग का संसार का सबसे बड़ा महापुरुष, गांधी! इस दो मील लंबी जन-लहर को सियाल्दा स्टेशन से उठकर हुगली-तट के केवड़ा-घाट की श्मशान-भूमि तक पहुँचने में पूरे छः घंटे का समय लगा! और तब घड़ी भर चिता के उस धू-धू करते अग्निकुण्ड में लपटों के भयावह ताण्डव का वह दिल दहला देने-वाला दृश्य निहारकर तथा बची हुई राख की ढेरी में से एक-एक चुटकी स्मारक के रूप में ले उस विशाल भीड़ ने जब वापस नगर की ओर अपना क़दम बढ़ाया तो एकबारगी ही अपने वक्षःस्थल में जैसे किसी असाध्य गहरे घाव के पड़ जाने से एक अनिर्वचनीय वेदना-मिश्रित शून्यता का अनुभव कर उसमें के प्रत्येक व्यक्ति का मन किस प्रकार भीतर ही भीतर मानों रो-सा पड़ा! केवल कलकत्ता ही क्या, उस दिन तो बिलख रहा था सारा का सारा बंगाल—बल्कि सारा हिन्दुस्तान ही, और जन-क्रन्दन के उस स्वर में स्वर मिलाकर अपनी पैग़म्बर की-सी वाणी में कह रहा था महापुरुष गांधी भी—'मनुष्यों में से एक देवता आज चला गया और बंगभूमि आज मानों विधवा हो गई!'

कौन था यह महामनस्वी, जिसके उठते ही गांधीजी के कथनानुसार महिमामयी बंगभूमि का यों असमय ही मानों सौभाग्य-सिंदूर पुंछ गया — जिसे गँवाकर हम मानव-प्राणियों ने देवोपम संज्ञा से युक्त एक असाधारण व्यक्तित्व सदा के लिए खो दिया? आइए, उसका परिचय पाने के लिए आज से लगभग चालीस वर्ष पूर्व के उस युग में आपको लौटा ले चलें, जबकि बिजली की कौंध की भाँति देश के जन-आँगन में उसके प्रकाण्ड व्यक्तित्व की पहली झलक संसार को देखने को मिली थी। यह वह युग था जबकि प्रथम बंग-विच्छेद के कारण उत्पन्न एक नई सरगर्मी की हवा में हमारी मातृभूमि के कुछ उमंगभरे पुजारियों ने रौद्र रूप धारण करने ही में कल्याण का अनुभव कर, फिर से हाथों में कृपाण ले आगे क़दम बढ़ाना शुरू किया था और फलतः हमारा वायुमण्डल एकबारगी ही एक नवीन बवंडर के चक्रवात से प्रकम्पित हो उठा था,

जिसे कि सत्ताधारियों द्वारा 'आतंकवाद' का नाम दिया गया था और जिसका प्रतीक था भारतीय राजनीति के आँगन में पहलेपहल अपना स्वरूप प्रकट करनेवाला क्रांतिकारियों का भयावह अस्त्र—बम! यह था खुदीराम बोस और प्रफुल्ल चाकी, वारीन्द्र घोष और मदनलाल धिंगड़ा जैसे नवोत्थित उग्र राजनीतिक खिलाड़ियों का युग! इन्हीं दिनों की बात थी कि मुज़फ़्फ़रपुर के प्रसिद्ध बम-काण्ड के सिलसिले में धरपकड़ और खोज करते समय कलकत्ते के मानिकतल्ला नामक एक उपनगर में एक गुप्त बम-फ़ैक्टरी का पता पाकर पुलिस ने कई एक बंगाली नवयुवकों को गिरफ़्तार कर उन पर षड्यंत्र के आरोप में इतिहास-प्रसिद्ध 'मानिकतल्ला षड्यंत्र-केस' चलाया था, जिसके अभियुक्तों में से एक थे हमारे सुपरिचित योगिराज अरविन्द घोष भी, जो उन दिनों कलकत्ते से 'वंदेमातरम्' नामक एक राष्ट्रीय अंग्रेज़ी पत्र निकालते थे। यह मुक़दमा निचले कोर्ट से उठकर अक्टोबर, सन् १९०८ ई०, में कलकत्ते के सेशन जज के सामने पेश हुआ और एक वर्ष से भी अधिक समय तक वह चलता रहा। इस बीच लगभग ४००० वस्तुएँ साक्षी के रूप में उसके संबंध में अदालत के आगे रक्खी गईं, जिनमें पाँच सौ तो बम, पिस्तौल तथा बम बनाने के पदार्थ आदि ही थे! साथ ही कोई २०६ व्यक्ति भी उसके सिलसिले में गवाही देने के लिए तलब किए गए होंगे! इस ज़बर्दस्त मामले में पैरवी के लिए सरकार ने ई० नार्टन नामक प्रख्यात बैरिस्टर को अपना वकील नियुक्त किया था और बचाव-पक्ष की ओर से भी, जब तक मामला निचले कोर्ट में रहा, भारी ख़र्च उठाकर एक प्रसिद्ध भारतीय बैरिस्टर को काम सौंपा गया था। किन्तु जब मामला सेशन में पहुँचा और उसका ताँता लगातार बढ़ने लगा तो बेचारे अभियुक्तों के लिए वकील-बैरिस्टर का भारी ख़र्च बर्दाश्त कर पाना ग़ैरमुमकिन-सा हो जाने के कारण एक विचित्र संकट की स्थिति पैदा हो गई और सबकी आँखों में निराशा-सी छा गई! इसी समय की बात है कि मानों ईश्वर-प्रेषित किसी देवदूत की भाँति अड़तीस वर्ष का एक नौजवान बंगाली ताल ठोंककर सामने आ खड़ा हुआ और बिना किसी प्रकार का शुल्क लिये ही मामले को पार लगाने की ज़िम्मेदारी ले इस युवा बैरिस्टर ने अपनी छिपी प्रतिभा का विद्युत्मय परिचय देकर शीघ्र ही सबकी आँखों में मानों चकाचौंध पैदा कर दिया! उसने अपनी अद्वितीय तर्कशक्ति द्वारा जज और जूरी दोनों को क़ायल करके मुक़दमे का सारा रुख़ ही बदल दिया और गवाही के तौर पर पेश की गई एक ख़ास चिट्ठी को एकदम जाली साबित करके बात की बात में एक प्रमुख अभियुक्त श्री अरविन्द को निर्दोष क़रार दे छुटकारा दिला दिया! इस चमत्कारी युवक का नाम था चित्तरंजन दास, जो अनतिदूर भविष्य ही में बननेवाला था इस युग का अपने प्रान्त का सबसे महान् राजनेता, राष्ट्रवेदी कांग्रेस का एक अन्यतम स्तंभ, और हमारे आधुनिक इतिहास के एक पूरे पृथक् अध्याय की रचना करनेवाला, हमारे मुक्ति-संग्राम का एक महान् सेनानी—हमारा प्यारा 'देशबन्धु'! और यही था वह महान् बंगाली, सत्रह वर्ष बाद असमय ही जिसके इस लोक से उठ जाने पर उस दिन सारा कलकत्ता, बल्कि सारा बंगाल ही, अभागेपन का अनुभव करते हुए ज़ार-ज़ार रो पड़ा था तथा जिसकी याद में गांधीजी जैसे युगपुरुष के मुख से भी एक आह के साथ ऊपर उल्लिखित वे भावपूर्ण वाक्य निकल पड़े थे—'मनुष्यों में से एक देवता आज चला गया और बंगभूमि आज मानों विधवा हो गई!'

सचमुच ही वह था बंगाल का सौभाग्य-सिंदूर—वह उसकी राज्यश्री का अपने युग का सबसे महान् संरक्षक था। तभी तो उसके अंतर्द्धान होते ही उस प्रान्त का राजनीतिक आँगन किस प्रकार एकबारगी ही सुनसान, पंकमय और निस्तेज-सा हो गया! यद्यपि उसके हाथों से छूटी हुई बागडोर को सँभालने के लिए यतीन्द्रमोहन सेन, सुभाषचन्द्र बोस, शरद्चन्द्र बोस, प्रभृति विविध लोकनेता एक के बाद एक क्रमशः सन्मुख आए, किन्तु कोई भी उसके जाने के बाद तितर-बितर हो जानेवाले बंगीय राजनीतिक जीवन के सभी सूत्रों को समेटकर एक ही रज्जु में बँटने में समर्थ न हो सका। वस्तुतः महिमामयी बंगभूमि की वेणी की लटें एक बार जो बिखरीं सो फिर किसी से गुम्फित ही न हो पाईं! भला

देश के लिए इससे अधिक दुर्भाग्य की बात और क्या हो सकती थी कि जिस बंगाल ने आधुनिक भारत को पहलेपहल नवयुग का प्रकाश दिखाया, जिसने राममोहनराय, रामकृष्ण, देवेन्द्रनाथ, केशवचन्द्र, विवेकानन्द, सुरेन्द्रनाथ, रवीन्द्रनाथ, जगदीशचन्द्र, अरविन्द, सरोजिनी, अवनीन्द्र, देशबन्धु और सुभाष जैसे रत्नों को उपजाने का गौरव पाया एवं जहाँ से 'यत्र विश्वं भवत्येकनीड़म्' का आर्षमंत्र इस युग में फिर से एक बार उद्घोषित हो सका, उसे देखते ही देखते अंग-भंग करके दो अनैसर्गिक टुकड़ों में बाँट दिया जाय! और यह क्या संभव हो सकता था यदि देशबन्धु आज जीवित होते? किन्तु बंगाल की राजनीति को तो मानों उसी दिन से ग्रहण लग चुका था, जिस दिन से कि चित्तरंजन का वह प्रकाण्ड व्यक्तित्व इस लोक से उठा, और तब से जो घाव बंगीय वक्षःस्थल पर पड़ा उसे मिटाने की शक्ति फिर किसमें थी?

चित्तरंजन दास का जन्म हुआ था ५ नवम्बर, सन् १८७० ई०, के दिन कलकत्ते के एक प्रख्यात ब्राह्म-परिवार में। उनके पिता श्री भुवनमोहन दास कलकत्ता-हाइकोर्ट के एक सालिसिटर थे और अपने ज़माने में ब्राह्म-समाज के प्रमुख व्यक्तियों में उनकी गणना होती थी। वह कविता भी करते थे और पत्रकला से तो उन्हें मानों जन्मजात प्रेम था। कोई आश्चर्य नहीं यदि चित्तरंजन को कविता, पत्रकला और राजनीतिक विचारों की वसीयत अपने प्रतिभाशाली पिता ही से पैतृक संस्कारों के रूप में मिली हो? इसी प्रकार उनके पिता के बड़े भ्राता अर्थात् ताऊ, श्री दुर्गामोहन दास, भी बड़े आज़ाद और विद्रोही तबीयत के प्रगतिशील सुधारवादी व्यक्ति थे, जिन्होंने समाज के रूढ़ि-बन्धनों की तनिक भी परवा न कर पिता की मृत्यु के बाद अपनी युवती विधवा विमाता तक का फिर से विवाह कर देने का असाधारण उदाहरण प्रस्तुत किया था! ऐसे स्वाधीनचेता परिवार में जन्म लेकर यदि चित्तरंजन के स्वभाव में आरंभ ही से विद्रोह, साहस और स्वातंत्र्य-प्रेम के गहरे संस्कार-बीज जम चुके हों तो आश्चर्य ही क्या था? किन्तु जहाँ अपने पिता और ताऊ से उन्हें उपरोक्त क्षत्रियोचित विशिष्टताओं की विरासत मिली, वहाँ साथ ही साथ अपनी माता से उस असामान्य भावुकता और वैष्णवोचित सहृदयता की भी गहरी संस्कार-निधि उन्होंने पाई, जोकि आगे चलकर उनके जीवन और काव्य दोनों ही में फूट-फूटकर इतने ज़ोरों से उच्छ्वसित होते हमें दिखाई दी! सन् १८८६ ई० में कलकत्ते के 'लंदन मिशनरी सोसायटी इंस्टीट्यूट' नामक शिक्षालय से एण्ट्रेन्स की परीक्षा पास कर चित्तरंजन स्थानीय 'प्रेसीडेन्सी कॉलेज' में भरती हुए और चार वर्ष बाद बी० ए० की उपाधि पाकर तत्कालीन शिक्षितों के परम लक्ष्य 'आई० सी० एस०' के लिए वह लंदन पहुँचे! किन्तु वहाँ तो उन दिनों चल रहा था राष्ट्र-पितामह दादाभाई नौरोजी के पार्लामेण्टरी चुनाव का ऐतिहासिक राजनीतिक संग्राम! तो फिर यह युवक, जो कि कलकत्ते के अपने विद्यार्थी-जीवन ही में सार्वजनिक हलचलों में विशिष्ट दिलचस्पी दिखाकर देशभक्ति की अपनी जन्मजात लगन एवं युद्धप्रवृत्ति का परिचय दे चुका था, भला ऐसे मौक़े पर हाथ पर हाथ धरे चुपचाप कैसे बैठे रह सकता था? फलतः अपने अन्य कई उत्साही साथियों की भाँति उसने भी उस वृद्ध नेता के पक्ष-समर्थन में भाषणों और लेखों आदि की एक झड़ी-सी बाँध दी और कड़े से कड़े शब्दों में अपने देश के शत्रुओं की आलोचना करना शुरू किया, जिसका कि शीघ्र ही उसे प्रतिफल भी मिल गया। कारण, अंततः जब आई० सी० एस० का परीक्षाफल प्रकट हुआ तो सूची में से उसका नाम एकदम ग़ायब था! पर इसकी तनिक भी परवा न कर चित्तरंजन ने बदले में बैरिस्टरी ही की सनद ले वापस स्वदेश का रास्ता लिया और लौटकर कलकत्ता-हाइकोर्ट में तुरन्त ही वकालत का श्रीगणेश कर दिया! किन्तु दैव की कुटिलता तो देखिए कि जो व्यक्ति आगे चलकर पचास हज़ार रुपए मासिक आमदनी की स्थिति तक उठकर अपने युग का भारत का सबसे अधिक आयवाला वकील होने को था, वह आरंभ के इन दिनों में वर्षों हाथ-पैर पटकते रहने पर भी साधारण भरण-पोषण के योग्य पैसे भी इस पेशे से न कमा सका! यहाँ तक कि अपने परिवार के तत्कालीन घोर अर्थ-संकट और नित-प्रति बढ़ते चले जा रहे ऋण के पहाड़ के दबाव से, जो कि केवल उसके पिता की अत्यधिक उदारवृत्ति का ही

नतीजा था, किसी भी प्रकार छुटकारे का चारा न देख अंततोगत्वा उसे पितासहित दिवाले की घोषणा करने तक को मजबूर हो जाना पड़ा !

पर वाह रे चित्तरंजन की हिम्मत और कठोरतम परिस्थिति में भी अडिग रहने की उनकी असाधारण शौर्यवृत्ति कि इन दिनों वकालत को ढीली-ढाली रहते देख वह जुट पड़े काग़ज़-क़लम ले पूरे जोश के साथ कविता ही करने में, जिसका कि पिता की भाँति उन्हें जन्मजात शौक़ था, और फलतः सन् १८९५ ई० में 'मालञ्च' के नाम से अपना वह पहला काव्य-संग्रह उन्होंने बँगला-साहित्य को भेंट किया, जिसमें अभिव्यक्त नूतन विचारों ने ब्राह्म-समाज के कट्टर धर्मध्वजियों को एकबारगी ही चौंका-सा दिया ! पर जहाँ कुछ अरसिक धर्मधुरीण पुरातनपंथियों ने नास्तिकता एवं उच्छृंखलता का आरोप लगाते हुए उन्हें बेतरह भला-बुरा कहा, वहाँ अनेक रस-पिपासु साहित्य-मर्मज्ञों से उन्हें खुलकर दोनों हाथों बधाइयाँ भी मिले बिना न रहीं, क्योंकि यद्यपि उनकी कृति में स्पष्टतः प्रथम कोटि की प्रतिभा का प्रकाश तो न था, न वह ऊँचाई ही थी जो उसे असाधारण स्थान दिला सकती, फिर भी उसमें एक संवेदनशील हृदय की सच्ची आन्तरिक वेदना का तलस्पर्शी स्पंदन तो था ही—वह भीतर तक भावना के रस में पगी हुई थी ! इस प्रथम रचना के प्रकाशन के लगभग नौ वर्ष बाद सन् १९०४ ई० में पुनः 'माला' के नाम से दूसरा एक संग्रह उन्होंने बंग-भारती को भेंट किया और तदुपरान्त क्रमशः सन् १९१३ ई० में 'सागर-संगीत', १९१५ ई० में 'अन्तर्यामी' एवं उसके शीघ्र ही बाद 'किशोर किशोर' नामक तीन और महत्त्वपूर्ण संग्रह भी सामने आए, जिनमें 'सागर-संगीत' तो विशेष रूप से बहुत उच्च कोटि की कृति थी। किन्तु तब तक तो इस महापुरुष के यश का सूर्य साहित्य की परिधि को लाँघकर अन्य क्षेत्रों में इतनी प्रखरता के साथ चमकने लगा था कि बहुतों को अब इस बात का भान ही न रहा कि चित्तरंजन दास नाम का केवल एक प्रख्यात बैरिस्टर और राजनेता ही नहीं, बल्कि बँगला का एक नामांकित कवि भी है ! तब तक तो इस जीवन-प्रशस्ति के आरंभ ही में उल्लिखित श्री अरविन्द के सुप्रसिद्ध मुक़दमे में विजय-माल पहनकर वह बन चुका था कलकत्ता-हाइकोर्ट का सबसे बड़ा वकील, जिसकी वार्षिक आमदनी कुछ ही वर्षों में लाखों के आँकड़े तक पहुँच चुकी थी और जो उस कर्ज़ की रक़म को, जिसे कि न चुका पाने के कारण कुछ ही वर्ष पूर्व पितासहित दिवाले की घोषणा करने तक को उसे विवश होना पड़ा था, सूदसहित एक-एक पाई अदा करके संसार के आगे सचाई और ईमानदारी का एक अपूर्व उदाहरण प्रस्तुत कर चुका था ! यही नहीं, बंग-भंग की हलचल के बाद के उस निराशापूर्ण युग में, जबकि लगभग दस वर्षों तक हमारे राजनीतिक गगन में एक प्रकार के अंधकार का घटाटोप-सा छाया रहा, तेज़ी के साथ वंगीय क्षितिज पर एक द्युतिमान् पुच्छल तारे की भाँति उदय हो अपने भावी नेतृत्व की एक पूर्वझलक दिखाता हुआ, जन-मन में एक नूतन आशा और विश्वास का भाव जमाने में भी वह सफलीभूत हो चुका था ! यह था चित्तरंजन के यथार्थ स्वरूप, उनके भीतर छिपे हुए भावी राष्ट्रनायक के दुर्द्धर्ष तेज के प्रस्फुटन का आरंभकाल—उनके राजनीतिक जीवन के अरुणोदय का पहला प्रहर ! तो फिर आइए, अब कवि चित्तरंजन से विदा ले उस लोकनेता राज-नीतिज्ञ चित्तरंजन ही का परिचय पाएँ, जोकि वस्तुतः हमारे लिए उनका सबसे अधिक महिमामय स्वरूप था तथा जिसने हमारे इतिहास के निर्माण में कहीं अधिक सबल रूप से हाथ बँटाया !

यहाँ पाठकों को यह सुनकर आश्चर्य हुए बिना नहीं रहने का कि देश के राष्ट्रीय इतिवृत्त में इतना महत्त्व का भाग लेकर भी इस जननेता का सक्रिय राजनीतिक जीवन अपने अन्य समकालीन नेताओं की तुलना में बहुत ही अल्पकालिक रहा—उसकी अवधि कुल मिलाकर केवल सात-आठ वर्ष की ही रही होगी ! यों तो मानिकतल्ला-केस में ख्याति पाने के पूर्व ही, सन् १९०६ ई० के दिसंबर मास में दादाभाई के सभापतित्व में होनेवाले कांग्रेस के कलकत्ता-अधिवेशन में एक प्रतिनिधि के रूप में सम्मिलित हो, चित्तरंजन राजनीति के क्षेत्र में अपना नाम दर्ज करा चुके थे और श्री अरविन्द द्वारा संपादित पूर्वोक्त राष्ट्रीय पत्र 'वंदेमातरम्' तथा उसी के साथ श्री ब्रह्मबान्धव उपाध्याय एवं

भूपेन्द्रनाथ दत्त के संपादकत्व में निकलनेवाले 'संध्या' और 'युगान्तर' नामक इतिहास-प्रसिद्ध उग्र पत्रों की प्रस्थापना के कार्य में भी हाथ बँटा तथा उन्हीं दिनों सरकार द्वारा उन पर चलाए गए राज-द्रोह के मुक़दमों में अपनी पूरा शक्ति के साथ पैरवी कर देशभक्ति की अपनी आन्तरिक लगन की स्पष्ट झलक वह दिखा चुके थे, फिर भी सक्रिय रूप से राजनीतिक नेतृत्व के लिए यथार्थतः वह मैदान में आए कहीं सन् १९१७ ई० में, जबकि कलकत्ता (भवानीपुर) में होनेवाले उसी वर्ष के बंगाल प्रान्तीय राजनीतिक सम्मेलन के सभापति के आसन पर बिठा उनका पहली बार मूर्धाभिषेक किया गया! और राजनीति-प्रवेश के अपने इस पहले ही मुहूर्त्त में महामति चित्तरंजन ने अपनी नेतृत्व-शक्ति तथा ओजस्विता का उदात्त परिचय अपने देश-वासियों को देकर जैसा हृदयहारी मंत्रोच्चार किया, उससे सहज ही सबकी आँखें प्रगाढ़ रूप से उनकी ओर केन्द्रित हो गईं! उन्होंने इस सम्मेलन के अध्यक्ष-पद से दिए गए अपने प्रवचन में देश की वर्त्तमान अधोगति के साथ-साथ उसके प्राचीन-कालीन स्वर्ण-युग का एक ज्वलन्त चित्र प्रस्तुत करते हुए, पाश्चात्य संस्कारों की बेड़ियाँ तोड़ त्याग की भित्ति पर प्रस्थापित अपनी जातीय संस्कृति के आदर्श को फिर से अंगीकार करने के लिए ज़ोरों से आवाज़ बुलंद की और कहा कि हमें केवल उन्हीं तत्त्वों को ग्रहण करना चाहिए जिनका कि हमारी निजी प्रतिभा एवं प्राणधारा के साथ पूर्ण सामंजस्य हो तथा उन तमाम बातों को एकदम ठुकरा देना चाहिए जो कि हमारी आत्मा के लिए विजातीय हो! उन्होंने हमें स्मरण कराया गंगा-यमुना-ब्रह्मपुत्र की उन धाराओं का, जो कि अब भी उसी कलकल निनादसहित इस महादेश के वक्षःस्थल को सींचते हुए पूर्ववत् अपना प्रवाह जारी किए हुए हैं; और उस उन्नतमस्तक हिमालय का भी, जो कि स्वर्ग की ओर शीश उठाए गर्व और गौरव के साथ ज्यों का त्यों आज भी अडिग अटल खड़ा है! और इन गौरव-स्मारकों की याद दिलाते हुए इस बात की ओर विशेष रूप से उन्होंने इंगित किया कि हमारी मातृभूमि का भौतिक कलेवर तो आज भी ज्यों का त्यों हमारे लिए अक्षुण्ण बना हुआ है, केवल आवश्य-कता है उसमें फिर से उस आत्मा को पुनर्जागृत करने की, जो कि पिछले दिनों की इस ग़ुलामी के कारण मानों जड़वत् हो गई है! इस प्रकार अपनी कवित्वपूर्ण वाणी में एक हृदयहारी जागृति-मंत्र इस देश के निवासियों के कानों में उन्होंने फूँका और सामाजिक तथा राजनीतिक पुनरुत्थान के एक नूतन प्रयास द्वारा राष्ट्र की अंतरात्मा को जगाकर 'सुजलां, सुफलां मलयज शीतलां' जैसे दिव्य स्तवनों से वंदित भारतमाता की प्रतिमा में उसे पुनर्प्रतिष्ठापित करने के लिए हृदय से सबका आह्वान किया!

और इस सम्बन्ध में लगे हाथ दस महत्त्व-पूर्ण आदेशों से युक्त एक रचनात्मक योजना का मानचित्र भी अपनी ओर से उन्होंने प्रान्त के सामने रख दिया, जिसका सारांश यह था कि हमें इतिहास की शिक्षाओं से सबक़ लेना चाहिए; योरपीय औद्योगिकता की राह को छोड़ देना चाहिए, गाँवों की आबादी की दिन पर दिन की घटती और शहरों की आबादी की बढ़ती के क्रम को रोकना चाहिए; फिर से देहातों को बसाने, उनकी श्रीवृद्धि करने, उन्हें साफ़-सुथरे और रोगमुक्त बनाने में हाथ लगाना चाहिए; किसानों को उपयोगी दस्तकारियों की शिक्षा दे प्राचीन व्यावसायिक एवं औद्योगिक उपज की छानबीन करना चाहिए; सारे देश में ऐसी वस्तुओं के उत्पादन के छोटे-छोटे केन्द्र अथवा उद्योगगृह खोलने चाहिएँ, जिनके संबंध में हमारे जनवर्ग को नैसर्गिक कौशल प्राप्त हो; अनिवार्यतः आवश्यक पदार्थों को छोड़ तमाम विदेशी वस्तुओं का मँगाना बंद कर देना चाहिए; उद्योग-धंधों के लिए सस्ते दर पर पूँजी सुलभ करने के लिए प्रत्येक ज़िले में बैंक खोलना चाहिए; अपनी शिक्षा को वास्तविकतामूलक और राष्ट्र की आत्मा के सानुकूल बनाना चाहिए और उसे प्रान्त की भाषा ही के माध्यम द्वारा देना चाहिए! कैसी राजनीतिक सूझ-बूझ और सांस्कृतिक पुनरुत्थान की भावना में पगा हुआ यह कार्यक्रम था? और कितने मार्के की यह बात थी कि ये सब बातें इस महान् नेता ने आज से लगभग तीस वर्ष पूर्व ही, जबकि गांधीजी के प्रख्यात रचनात्मक कार्यक्रम का पाठ अभी हमने पढ़ा भी न था, एक सुझाव के रूप में

देश के सामने रख दी थीं! तब क्या आश्चर्य था यदि जनता-जनार्दन ने उस प्रथम परिचय ही में इस नए कर्णधार में अपना संपूर्ण विश्वास प्रकट कर उसके माथे पर अगाध श्रद्धासहित नेतृत्व का कुंकुम-तिलक लगा दिया और सुरेन्द्रनाथ जैसों की गई-गुजरी मॉडरेट-नीति से ऊबकर उसकी ओर ही सबने अपनी आशाभरी आँखें अब केन्द्रित कर दीं!

इसके बाद तो दिन प्रति दिन शुक्ल पक्ष के चंद्रमा की भाँति न केवल अपने प्रान्त ही के राजनीतिक गगन में प्रत्युत निखिल भारतीय राष्ट्रीय आकाश में भी चित्तरंजन के व्यक्तित्व का तेज निरंतर बढ़ता चला गया और सन् १९१८ ई० के प्रस्तावित 'मांटेगू-चेम्सफ़र्ड-सुधारों' के संबंध में लोकमत-संग्रह करने के हेतु आनेवाले प्रसिद्ध 'मांटेगू-मिशन' के समक्ष गवाही देते समय जब निर्भीक वाणी में देश के राजस्व तथा नौकरशाही पर संपूर्ण अधिकार की माँग प्रस्तुत कर, उन्होंने मि० मांटेगू जैसे मँजे हुए राजनीतिक खिलाड़ी के भी छक्के छुड़ा दिए तब तो निर्विवाद रूप से देश भर में उनका लोहा मान लिया गया और लोकमान्य तिलक की भाँति वह भी उग्र राष्ट्रवादी पक्ष के एक पके हुए नेता माने जाने लगे। इन्हीं दिनों पूर्वीय बंगाल के ज़िलों का एक व्यापक दौरा कर कांग्रेस को फिसड्डी बनाए रखनेवाले मॉडरेटों पर निर्मम प्रहार करते हुए उन्होंने भारतीय राष्ट्रीयता के मंच पर समुत्थित उस नवीन राजनीतिक विचारधारा का ज़ोरों के साथ शंखनाद किया, जिसका कि सूत्र था—हर हालत में स्वराज्य की प्राप्ति, क्योंकि स्वशासनाधिकार का अभाव और दूसरों का शासन, चाहे वह कितना ही सुखदायी और न्यायपूर्ण क्यों न हो, कदापि श्लाघ्य नहीं हो सकता; वह तो अंततोगत्वा आत्महननकारी ही होता है, जिसकी कि छाया के प्रभाव से राष्ट्र की सांस्कृतिक आत्मा जड़ हो जाती और उसका व्यक्तित्व सदा के लिए मिट जाता है! निश्चय ही हमारे राजनीतिक आँगन में इस नवीन दृष्टिबिन्दु की स्थापना युगान्तरसूचक थी—वह 'स्वराज्य' की सुस्पष्ट माँग की पहली निर्भीक अभिव्यक्ति और विदेशी शासन को उखाड़ फेंकने की प्रथम हुंकारभरी खुली चुनौती थी! यह 'स्वराज्य' क्या वस्तु थी और उसका मूर्त्त रूप क्या होगा, इन बारीक़ियों की व्याख्या या परिभाषा करने के पचड़े में पड़ना उन्होंने उस समय आवश्यक ही न समझा! उस समय तो उनके लिए सबसे पहली आवश्यकता यही थी कि इसमें निहित मूल सिद्धान्त को स्वीकार कर विदेशी शासन का डेरा-तंबू यहाँ से उखाड़ फेंका जाय! और यदि किसी ने ज़ोर देकर कभी पूछा भी तो उन्होंने उत्तर में यही कहा कि 'स्वराज्य' स्वराज्य है, वह परिभाषा के बंधन में नहीं बाँधा जा सकता! वह तो एक भाव है, जिसमें निहित है स्वतः अपना शासन करने के प्रत्येक राष्ट्र के जन्मसिद्ध अधिकार की आध्यात्मिक भावना! और उस समय उनके लिए वस्तुतः इतना ही कहना पर्याप्त भी था! क्योंकि उस समय तो सबसे पहली आवश्यकता थी निरे शासन-सुधारों की लीपापोती के मकड़ी-जालों में उलझे हुए हमारे अब तक के जनमस्तिष्क को झाड़-बुहारकर सुस्पष्ट रूप से इस एक मूलभाव को ही परम ध्रुवबिन्दु के रूप में उसमें प्रतिष्ठापित करने की तथा उस काली चादर को अपने ऊपर से उतारकर फेंक देने की, जो कि अंग्रेज़ों की चालबाज़ी तथा अब तक देश की अगुवाई करनेवाले मॉडरेट नेताओं के दब्बूपन के कारण राष्ट्र की वास्तविक आकांक्षाओं को लगातार ढाँपती चली आ रही थी!

तब तक तो आ पहुँचा सन् १९१९ ई० का वह युगपरिवर्त्तनकारी तूफ़ानी ज़माना भी, जब कि हमारे निष्प्रभ जनाकाश में अपनी संपूर्ण प्रभासहित गांधीरूपी सूर्य के एकाएक दमक उठने और उसके प्रचण्ड उत्कर्ष की आँच से संतप्त हो शासन-तंत्र के दमन-शस्त्रागार के भी एक अभूतपूर्व खड़खड़ाहट के साथ झनझना उठने के साथ ही कोरे मौखिक युद्ध की स्थिति से उबरकर इस देश का राष्ट्रीय मंच बन गया एक सच्चा रण-आँगन! एवं 'रौलट-बिल' जैसे काले क़ानून तथा जलियाँवाला बाग़ और पंजाब के अन्य स्थानों में बरस पड़नेवाली सरकारी गोलियों की बौछार ने जब सदा के लिए दबाकर कुचल देने के बदले जनशक्ति के आवेग को उल्टे और भी ज़ोरों के साथ उभाड़कर सामने लाने का ही काम किया, तब तो चित्तरंजन जैसे जन्मजात योद्धा के लिए मानों लड़ाई का मनचाहा अखाड़ा खुल

गया। उन्होंने कलकत्ते के टाउनहॉल में आयोजित एक विराट् सभा में कड़े से कड़े शब्दों में रौलट-बिल की निन्दा की और कांग्रेस द्वारा पंजाब के हत्याकाण्ड की जाँच के लिए जब एक ग़ैर-सरकारी समिति नियुक्त की गई तो अपना सारा काम-धंधा छोड़ उसके एक सदस्य के रूप में लगभग चार महीने उन्होंने मौक़े पर जाँच करने, गवाहियाँ लेने तथा रिपोर्ट तैयार करने में व्यतीत किए। इसी कमेटी में वह पहले-पहल गांधीजी के संपर्क में आए। यह उल्लेख-योग्य है कि उन्होंने जाँच के लिए स्वतः अपने जिम्मे अमृतसर का वह इलाक़ा लिया था, जहाँ जलियाँवाला जैसा नरमेध घटित हुआ था, और इस काम में सहायतार्थ उनके साथ थे युवक जवाहर-लाल नेहरू भी, जिन्होंने अपनी 'आत्मकहानी' में इस महान् जननायक के अधीन उस समय प्राप्त किए गए अपने शिक्षापाठ का साभार उल्लेख किया है। उन्हीं दिनों पं० मोतीलाल नेहरू की अध्यक्षता में अमृतसर में जब कांग्रेस का वह प्रसिद्ध अधि-वेशन हुआ, जिसमें कि पहलेपहल कांग्रेस के मंच पर गांधीजी के नेतृत्व का आरंभ हुआ, तो हमारे चरितनायक का भी व्यक्तित्व प्रमुख रूप से सामने आया। यहीं पहलेपहल स्वराज्य के हेतु सरकार की राह में अड़ंगा लगाने की अपनी उस प्रख्यात नीति की उन्होंने अभिव्यक्ति की थी, जिसका कि सूत्र था—'अपने ध्येय की सिद्धि को आगे बढ़ाने के लिए जब आवश्यक हो तब शासनसत्ता के साथ सहयोग करना और जब आवश्यक हो तब उसकी राह में अड़ंगा लगाना!' इसके बाद तो यद्यपि नागपुर के महत्वपूर्ण कांग्रेस-अधिवेशन में आरंभ में अपनी पूरी शक्ति के साथ गांधीजी का विरोध करने की तैयारी उन्होंने की थी, यहाँ तक कि इसी उद्देश्य से स्वयं अपनी जेब से ३६०००) रु० ख़र्च करके पूर्वीय बंगाल तथा आसाम के लग-भग ढाई सौ प्रतिनिधियों का एक दल अपने पक्ष-समर्थन के लिए वह साथ लाए थे, किन्तु ठीक मौक़े पर एकाएक अपना रुख़ बदलकर, उस ऐतिहासिक अधिवेशन में स्वयं ही असहयोग-विषयक मुख्य प्रस्ताव को पेश करके तथा अपना पूरा ज़ोर उसके पक्ष में डालकर अंत में सबको उन्होंने चकित कर दिया! यह वस्तुतः गांधीजी ही का जादू था कि ऐन वक़्त पर चित्तरंजन के साथ एक प्रसिद्ध संधि करके जो कि बाद में 'गांधी-दास-पैक्ट' के नाम से मशहूर हुई, उन्होंने इस लड़ाकू नेता को एकाएक अपने पक्ष में कर लिया था, जिससे कि वही चित्तरंजन, जो कि आरंभ में असहयोग के प्रबल विरोधी थे, अब एकाएक उसके एक महान् पृष्ठपोषक बन गए।

फिर तो जो महान् यज्ञ उन्होंने रचा, वह किसके लिए एक अज्ञात विषय है? उन्होंने नागपुर से वापस कलकत्ता लौटते ही आन की आन में लाखों की आमदनी की अपनी वह फूलती-फलती वकालत छोड़ दी; शराब, सिगरेट आदि दुर्व्यसनों को सदा के लिए तिलांजलि दे दी; विदेशी वस्त्रों को फूँककर शुद्ध खद्दर का लिबास धारण कर लिया और हर दृष्टि से अपनी जीवन-धारा को एक राजनीतिक संन्यासी के जीवन में परिणत कर, महान् बैरिस्टर चित्तरंजन का चोग़ा उतार वह बन गए गांधीजी के बाद अपने ज़माने के हमारे सबसे प्रिय लोकनेता—हमारे पूज्य 'देशबन्धु'! इसके बाद अपने अपराजित युद्ध-कौशल, महान् नेतृत्व, तथा बंगाल भर के जनहृदय पर प्रस्था-पित अपने एकछत्र प्रभुत्व के बल पर देश के स्वातन्त्र्य-संग्राम के उस प्रथम मोर्चे को जिस प्रकार सफल बनाने में उन्होंने योग दिया, वह किस राष्ट्र-भक्त को आज ज्ञात न होगा? उनकी एक ही पुकार पर बंगाल भर के विद्यार्थियों ने सरकारी स्कूल-कॉलेज खाली कर दिए, वकील-बैरिस्टर अदालतों से बाहर आ गए, जगह-जगह राष्ट्रीय विद्यालय उठ खड़े हुए और सैकड़ों-हज़ारों की संख्या में लोग उस 'स्वयंसेवक-दल' में भरती होने लगे, जिसकी उनके हाथों प्रस्थापना होते ही बंगाल-सरकार इस तरह घबड़ा उठी थी कि फ़ौरन् ही उस संस्था को ग़ैर-कानूनी घोषित करके ही उसने दम लिया था! तब आरम्भ हुआ एक ओर सरकार द्वारा सार्वजनिक सभाओं पर लगाई गई बंदिशों और दूसरी ओर कांग्रेस द्वारा उन बंदिशों को तोड़कर जगह-जगह सभाएँ करने के प्रयास की रस्साकसी का वह नाटक, जिसके सिलसिले में कांग्रेस और ख़िलाफ़त-कमेटी दोनों ही की ओर से देशबन्धु अपने प्रान्त के सर्वोपरि सूत्रसंचालक

अथवा डिक्टेटर बना दिए गए और फलतः एक के बाद एक कई 'मैनिफ़ेस्टो' निकालकर दस लाख स्वयंसेवकों की माँग की अपनी मशहूर अपील उन्होंने निकाली। इन्हीं दिनों प्रिन्स ऑफ़ वेल्स के भारत-आगमन के अवसर पर उनके स्वागत के बहिष्कार का देशव्यापी आन्दोलन उठा, जिसमें बंगाल ने भी भरपूर हिस्सा बँटाया। फलतः दमन और गिरफ़्तारियों का ताँता बढ़ता गया, जिसके सिलसिले में दिसम्बर ६, सन् १९२१ ई०, के दिन देशबन्धु की पत्नी (श्रीमती वासन्ती देवी), बहिन (श्रीमती निर्मला देवी) और इकलौते पुत्र (चिररंजन) भी पकड़कर हिरासत में ले लिये गए। और इसके चार दिन बाद तो १० दिसम्बर, सन् १९२१ ई०, को वह स्वयं भी गिरफ़्तार होकर अन्त में छः महीने की सज़ा में जेल पहुँचा दिए गए।

अपनी इस आकस्मिक गिरफ़्तारी के कारण देशबन्धु उस वर्ष के अहमदाबाद के प्रसिद्ध कांग्रेस-अधिवेशन में उपस्थित होकर उसका सभापतित्व न कर पाए, जिसके कि लिए राष्ट्र द्वारा वह मनोनीत हुए थे, और उनकी अनुपस्थिति में दिल्ली के प्रख्यात राष्ट्रवादी नेता हकीम अजमलखाँ को उनका स्थान लेना पड़ा। फिर भी उनका भाषण, जिसे कि पहले ही वह लिख चुके थे, अधिवेशन में पढ़कर सुनाया गया। उनका वह भाषण क्या था, मानों रणभूमि में प्रस्तुत अपनी सेना के प्रति एक सेनापति की हुँकार-सा था! उसमें भारतीय राष्ट्र-धर्म का व्यापक रूप से सिंहावलोकन करते हुए ये उल्लेखनीय वाक्य उन्होंने उद्घोषित किए थे 'इसके पहले कि हमारी संस्कृति पाश्चात्य सभ्यता को आत्मसात् करने के लिए तैयार हो, उसे पहले अपने आपको पहचान लेना होगा!' साथ ही सुलह की बात को एकदम ठुकराते हुए उन्होंने कहा था कि 'इज़्ज़त को खोकर शान्ति खरीदना मैं नहीं चाहता!' यह एक उल्लेखनीय बात है कि अपने उस छः महीने के जेल-जीवन के अधिकांश दिवस देशबन्धु ने साहित्य-साधना ही में व्यतीत किए—उन्होंने इस कालावधि में बंगीय वैष्णव कवियों पर एक पांडित्यपूर्ण निबंध तैयार करने, भारतीय राष्ट्रीय उत्थान का एक इतिहास लिखने और बँगला भाषा का एक शब्दकोष तैयार करने तक की कोशिश की! यही नहीं, ऐसा था उनका उत्साह कि इन्हीं दिनों अपने जेल के तरुण साथी सुभाष-चन्द्र बोस से दर्शन और अध्यात्मवाद के नियमित पाठ लेना तक उन्होंने शुरू किया था! इसी अवधि में आन्दोलन के निरंतर बढ़ते जा रहे तूफ़ान से घबड़ाकर सरकार ने सर तेजबहादुर सप्रू, मालवीयजी आदि को बीच में डालकर जेल ही में उनके साथ संधि की बातचीत भी उठाई, पर वह सफल न हो सकी! अंत में जुलाई, १९२२ ई०, में अपनी क़ैद की अवधि पूरी कर जब वह कारागार से बाहर आए, तब तक देश का वातावरण बदलकर कुछ का कुछ हो गया था, क्योंकि चौरीचौरा की दुर्घटना के कारण गांधीजी आन्दोलन को एकाएक बंद कर चुके थे और उसके शीघ्र ही बाद छः वर्ष की सज़ा में वह जेल के मेहमान भी बनाए जा चुके थे। फलतः राष्ट्र के आँगन में एक अजीब ठंडापन या सूनापन का भाव छा रहा था। ऐसे सूने वायुमंडल में चित्त-रंजन जैसे योद्धा के लिए तो कुछ किए बिना बैठे रहना मानों साँस रुक जाने से गला घुटने जैसी बात होती! अतः जब बाहर के उस युद्ध को उन्होंने स्थगित पाया तो शासन-तंत्र के गढ़ के भीतर ही कौंसिलों में घुसकर वहाँ छेड़छाड़ करने और अड़ंगा लगाने की अपनी पुरानी योजना द्वारा एक नई लड़ाई लड़ने की हूक उनके मन में जग पड़ी। इस प्रकार आरंभ हुआ अन्त में प्रसिद्ध 'स्वराज्य-पार्टी' के निर्माण तथा अब तक बहिष्कृत धारा-सभाओं में कांग्रेस के प्रवेश का वह महत्वपूर्ण अध्याय, जिसके कि पं० मोतीलाल एवं श्री विट्ठलभाई पटेल के साथ देशबन्धु ही प्रधान नेता थे, तथा जिसे उनके जीवन का सबसे गौरवपूर्ण अध्याय कहा जा सकता है।

यहाँ इतना स्थान नहीं कि उस वैधानिक संग्राम का ब्योरेवार हाल हम दे सकें—केवल उसकी कुछ यहाँ-वहाँ की कड़ियों का ही उल्लेख किया जा सकता है। सन् १९२२ ई० के प्रसिद्ध गया-अधिवेशन में, जिसके कि सभापति का आसन स्वयं देशबन्धु ही ने ग्रहण किया था, कांग्रेस में कौंसिल-प्रवेश के प्रश्न पर गहरा मतभेद पैदा हो जाने के कारण 'परिवर्त्तनवादी' और 'अपरिवर्त्तनवादी' नामक दो अलग-अलग दल बन गए थे और उस समय

अपरिवर्त्तनवादियों ही का कांग्रेस में बहुमत होने के कारण देशबन्धु को अपने कौंसिल-प्रवेश-विषयक विचारों के कारण 'स्वराज्य-दल' की प्रस्थापना करने से पूर्व विवश हो कांग्रेस-कमिटी की अध्यक्षता से त्यागपत्र तक दे देना पड़ा था। किन्तु शीघ्र ही अपनी अद्भुत वाग्धारा और अकाट्य दलीलों द्वारा उन्होंने कांग्रेस के बहुमत को अपने पक्ष में कर लेने में सफलता पा ली और दिल्ली के विशेष अधिवेशन में आखिरकार राष्ट्र की उस सर्वोपरि संस्था से कौंसिल-प्रवेश-विषयक अपने प्रोग्राम के लिए विधिवत अनुमति प्राप्त कर ली! इसके बाद जब चुनाव लड़ा गया तो अधिक से अधिक संख्या में अपने दल के सदस्यों को केन्द्रीय और प्रान्तीय दोनों ही मोर्चों पर विजयी बनाकर उन्होंने पूर्ण रूप से धारासभाओं पर अपना आधिपत्य जमा लिया, और इस प्रकार पहली बार पार्लामेण्टरी ढाँचे में गठित एक विधिवत् पार्टी के रूप में कांग्रेस ने सरकारी चक्रव्यूह के भीतर प्रविष्ट होकर सरकार के घर के भीतर ही राष्ट्र का झंडा जा फहराया! उधर पं० मोतीलाल और विट्ठलभाई ने सँभाला केन्द्रीय धारासभा का मोर्चा तो इधर स्वयं देशबन्धु ने एक सशक्त दल के साथ अपने प्रान्त की व्यवस्थापिका सभा में अड्डा जा जमाया। स्वभावतः ही प्रान्त के गवर्नर लार्ड लिटन ने तुरन्त ही सबसे बड़ी पार्टी के नेता के रूप में देशबन्धु को हस्तान्तरित विभागों का मंत्रित्व स्वीकार करने के लिए आमंत्रित किया। किन्तु वह क्या इन टुकड़ों के लोभ-लालच में वहाँ पहुँचे थे कि इन्हें स्वीकार करने लगे? उनका तो एकमात्र लक्ष्य था अपनी बहुमत की शक्ति के बल पर लगातार सरकार की राह में रोड़े अटकाते रहकर उसकी नीति का पर्दाफ़ाश करना तथा किसी भी दशा में वैधानिक आधार पर उसे अपना शासन चलाने में सफल न होने देना! अतः इसी अड़ंगा-नीति का अनुसरण करते हुए अब उन्होंने हर मौक़े पर छोटी से छोटी बात को लेकर नौकरशाही पर टूटना शुरू किया और बार-बार सरकारी मंत्रि-मंडल पर अविश्वास का प्रस्ताव पास कर तथा मंत्रियों की तनख्वाह की रक़म नामंजूर करके बुरी तरह उनकी फजीहत करना शुरू किया! और ऐसा था इस संबंध में उसका जोश और उत्साह कि एक बार तो मार्च, १९२५ ई०, में रोगशय्या पर होने पर भी सरकार को शिकस्त देने के लिए यह महारथी स्ट्रेचर पर लेटे हुए ही कौंसिल में पहुँचा था और अंत में नौकरशाही को परास्त कर के ही पुनः उसने संतोष की साँस ली थी! यही खेल स्वराज्य-दल के दूसरे नेता भी अन्य प्रान्तों और केन्द्र की धारा-सभा में खेलने का प्रयास कर रहे थे, किन्तु चित्तरंजन के नेतृत्व में बंगाल में जो करामात की जा रही थी, वह तो एक कहानी ही अनूठी थी!

इन्हीं दिनों 'कलकत्ता-कार्पोरेशन' के रूप में एक और सरकारी क़िले पर भी अपना अधिकार कर वह उसके प्रथम मेयर चुने जा चुके थे। किन्तु यहाँ उनका उद्देश्य था अड़ंगा लगाकर ध्वंस करने के बजाय रचनात्मक कार्यक्रम द्वारा सच्ची जनसेवा करने का, जिसकी कि साक्षी उनके द्वारा ग़रीबों के हितों को ध्यान में रखकर तैयार की गई वह योजना थी, जो यद्यपि उनके स्वास्थ्य के एकाएक खराब हो जाने तथा सुभाषचन्द्र बोस जैसे उनके कई एक उत्साही सहयोगियों के बंगाल-आर्डिनेन्स के अधीन एकदम गिरफ़्तार कर लिये जाने के कारण शीघ्र ही कार्यान्वित न हो पाई, फिर भी जिसने मानों एक पूर्वचित्र का काम दे अपने बाद आनेवालों को आगे चलकर प्रचुर प्रेरणा प्रदान की। इन्हीं दिनों 'स्वराज्य-पार्टी' के मुखपत्र के रूप में 'फ़ारवर्ड' नामक एक अंग्रेज़ी दैनिक भी उन्होंने निकाला, जिसके संपादक बनाए गए श्री सुभाषचन्द्र बोस! साथ ही अखिल भारतीय ट्रेड-यूनियन-कांग्रेस का दो बार सभापतित्व ग्रहण कर, हिन्दू-मुस्लिम-ऐक्य के लिए एक ठोस महत्त्वपूर्ण क़दम उठाकर, सन् १९२४ ई० के प्रसिद्ध 'तारकेश्वर-सत्याग्रह' की अद्भुत लड़ाई रचकर, तथा बंगाल के क्रांतिकारियों की हिंसा-नीति का पृष्ठपोषण न करते हुए भी उनकी देशभक्ति की सराहना एवं उन पर बरसाई जाने-वाली सरकारी दमन की लाठी की निन्दा में एक भावपूर्ण बयान देकर, कौंसिलों से बाहर भी वह पूरी तत्परतापूर्वक अपना कार्य जारी किए हुए थे। किन्तु हाय रे दुर्दैव कि इसी समय आकाशीय बिजली के गिरने जैसा अचानक वज्रपात हुआ और अभी इस महापुरुष ने अपना अनुष्ठान आरम्भ ही किया था कि कराल काल ने सदा के लिए उसे

हमारे बीच से एकाएक उठा लिया! सन् १९२५ ई० के दिसम्बर में गांधीजी की अध्यक्षता में होनेवाले कांग्रेस के बेलगाँव-अधिवेशन से लौटने ही देशबन्धु के स्वास्थ्य में ऐसा कुछ उतार का क्रम शुरू हो गया कि यद्यपि इसके बाद भी कई महीनों तक उन्होंने अपना कार्य शिथिल न पड़ने दिया, एवं इसी बीच क्रान्तिकारी आन्दोलन की हिमायत के बारे में उन पर तथा स्वराज्य-दल पर लगाए जानेवाले झूठे आरोपों के जवाब में दो महत्त्व के वक्तव्य उन्होंने दिए, बेलूर-मठ में बंगाल गवर्नर से एक राजनीतिक मुलाक़ात भी की, फरीदपुर की प्रसिद्ध बंगाल प्रान्तीय कान्फ्रेन्स में जाकर अपना अंतिम महत्त्वपूर्ण भाषण दिया, तथा लाखों की अपनी सारी सम्पत्ति को देश के हितार्थ समर्पित कर उसकी व्यवस्था के लिए एक ट्रस्ट बनाने में भी हाथ लगाया, किन्तु इन हलचलों द्वारा अधिक काल तक अपने शरीर की उस थकान को छिपाने में वह समर्थ न हो सके, जिसने कि पिछले आठ वर्षों के तूफ़ानी श्रम के फलस्वरूप अब उन्हें स्पष्टतः आ धर दबाया था! फलतः शान्ति और विश्राम की खोज में अन्त में १९२५ ई० के मई मास में उन्हें दार्जिलिंग के एकान्त की शरण लेने को विवश हो जाना पड़ा। किन्तु हिमालय के उस एकान्त अंचल में पहुँचकर भी उन्हें न तो यथार्थ शारीरिक विश्रान्ति ही मिल पाई, न मानसिक शान्ति ही, कारण वहाँ भी पहले तो गांधीजी और तदुपरान्त श्रीमती एनी बेसेन्ट जैसे पाहुने मन्त्रणा के लिए उनके पास आ पहुँचे! वस्तुतः उनके जीवन-दीपक की बाती अब किनारे आ लगी थी और कुछ ही हफ़्ते बाद १६ जून, सन् १९२५ ई०, को तो मंद पड़ते-पड़ते आख़िरकार वह बुझ ही गई! इसके उपरान्त किस प्रकार रेल द्वारा कलकत्ते लाये जाने पर उनके शव का गांधीजी के नेतृत्व में अंतिम संस्कार किया गया, इसकी झाँकी तो आप इस प्रकरण के प्रारंभ में देख ही चुके हैं!

चित्तरंजन का जीवन क्या था मानों एक आँधी था, एक तूफ़ान था! वह भारतीय आँगन में पिछले दिनों से इकट्ठा हो जानेवाले कूड़ा-कबार को झपाटे के साथ बुहार देने के लिए देश की आत्मा के हृदय-तल से उठनेवाले उद्रेक का प्रतीक-सा था! इस महापुरुष की देन क्या थी, इसके लिए केवल रवीन्द्रनाथ द्वारा उसकी प्रशस्ति में लिखित निम्न पंक्तियों को ही उद्धृत कर देना यथेष्ट है कि 'जो सबसे बड़ी देन वह अपने देशवासियों के लिए पीछे छोड़ गए, वह कोई विशिष्ट राजनीतिक या सामाजिक कार्यक्रम की देन नहीं, प्रत्युत एक महान् साध की वह सर्जनात्मक प्रेरणाशक्ति ही है, जिसने कि उस बलिदान के रूप में एक अमर स्वरूप धारण कर लिया है, जिसका कि प्रतिनिधित्व उनका जीवन करता है!' देशबन्धु थे वस्तुतः विद्रोह के पुरोहित—वह राष्ट्र के सड़े-गले कलेवर को मिटा एक नवीन स्वस्थ शरीर में उसके सच्चे व्यक्तित्व के उदय और विकास की आकांक्षा रखनेवाले एक महान् स्वप्नद्रष्टा थे, और इसीलिए रचना से पूर्व ध्वंस का फावड़ा-कुदाल ले रुद्र-वेश में वह हमारे आँगन में अग्रसर हुए थे! किन्तु केवल ध्वंस ही तो उनका लक्ष्य न था। वह तो स्पष्ट शब्दों में कह चुके थे कि 'यदि मैं विध्वंस करना चाहता हूँ तो केवल इसीलिए कि एक ऐसा सड़ा-गला जर्जरित ढाँचा उस स्थान पर खड़ा है, जहाँ कि एक सुन्दर भवन का निर्माण किया जा सकता है! यदि हम अड़ंगा लगाना चाहते हैं तो इसीलिए कि नूतन निर्माण का अवसर हमारे हाथ लगे!' और मातृभूमि के हितार्थ उनके बलिदान के बारे में तो कहा ही क्या जाय—वह तो मानों उनके जीवन का प्रधान धर्म-सा था, वही उनकी प्राणवाही साँस थी! जो व्यक्ति लाखों की अपनी कमाई को छोड़कर देश के चरणों में अपनी सारी बची-बचाई संपत्ति एवं आयु का शेष भाग हँसते-हँसते चढ़ा गया, जिसमें ऐसी उत्कट भावना थी कि वह कह सकता था कि 'यदि मैं स्वाधीनता-प्राप्ति के इस प्रयास के बीच ही मर जाऊँ तब भी पुनः पुनः इसी देश में जन्म लेता रहूँगा, उसी के लिए जिऊँगा, उसी की आशा मन में बसाए रहूँगा, उसी के हेतु अपनी समस्त शक्ति के साथ जूझता रहूँगा, और तब तक चैन न लूँगा, जब तक कि मेरी यह आशा और स्वप्न पूरा न हो,' मातृभूमि के उस अनुपम पुजारी की राष्ट्रभक्ति की माप शब्दों के पैमाने द्वारा कैसे की जा सकती है? वह तो देश ही के लिए पैदा हुआ था, उसी के लिए जिया और उसी के लिए मरा! यह दैव की निष्ठुरता ही थी कि इतने शीघ्र वह उठ गया, अन्यथा उस महान् स्वप्नद्रष्टा और विद्रोह के जनेता से हम और क्या-क्या न पाते!

जिन्होंने अपनी महान् राजनीतिक प्रतिभा एवं साहसपूर्ण नेतृत्व-शक्ति द्वारा हमारे स्वातन्त्र्य-संग्राम के आरंभ-काल के कितने ही कठिनतम मोर्चे जीते और अपनी आयु का अधिकांश देश के पुनरुत्थान की वेदी पर समर्पित कर जीवन के अंतिम क्षण तक मातृभूमि की मुक्ति का मार्ग प्रशस्त करने ही में अपने आपको तल्लीन बनाए रक्खा—जिन्होंने बाढ़ की तरह बढ़ती हुई अपनी लाखों की कमाई, नवाबों का-सा अपना ऐश-आराम, अपना घर-बार और परिवार, यहाँ तक कि जवाहर जैसा अपना प्यारा इकलौता भी हँसते-हँसते आजीवन देश-सेवा के हेतु न्यौछावर कर दिया और चित्तौड़गढ़ के मतवाले सिसोदियों की भाँति एक नवीन कुल-शपथ की लीक प्रस्थापित करते हुए बार-बार यह उद्घोषित किया कि 'जब तक नेहरू-वंश के किसी भी बच्चे की रगों में खून बाक़ी रहेगा, भारत तब तक पराजय स्वीकार नहीं करने का'—उन राष्ट्रजनक पंडित मोतीलाल नेहरू के प्रति इस देश की लेखा-बही में अंकित अमित ऋण-राशि का आँक किस प्रकार हम लगाएँ ?
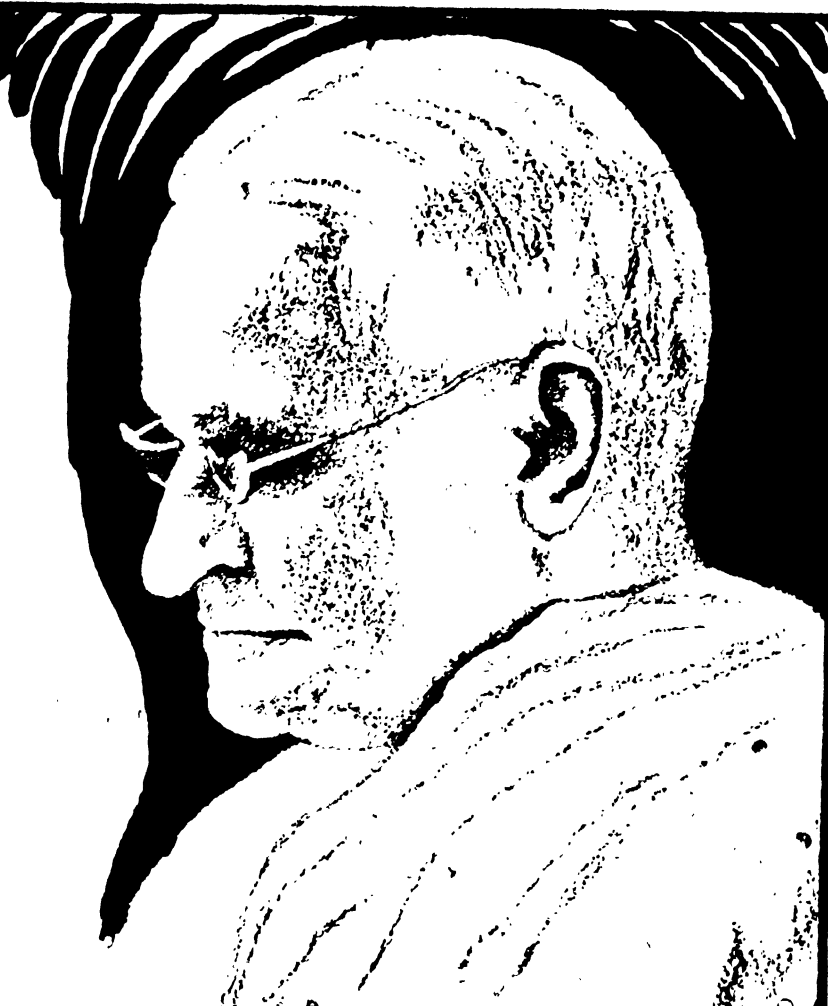
मोतीलाल नेहरू

अपने उस उन्नतललाटयुक्त श्मश्रु-रहित गौरवर्ण चेहरे की राजपुरुषों की-सी असाधारण काट, कभी भी न भुलाई जा सकनेवाली गठन, और गहराई तक प्रभाव डालनेवाली मुखमुद्रा द्वारा सहज ही योरप-अमेरिका के संग्रहालयों में सुरक्षित प्राचीन ग्रीक-रोमन राजन्यों की संगमर्मर की कलापूर्ण मूर्त्तियों की याद दिलानेवाला उनका वह अनोखा व्यक्तित्व यद्यपि बाहर और भीतर दोनों ही बाजू से नख से शिख तक असंदिग्ध रूप से अमीरी के साँचे में ढला हुआ था और जनवर्ग के सामान्य स्तरों से उसका सामंजस्य होना कदापि संभव नहीं प्रतीत होता था, फिर भी ऐसी थी उनके अंतस्तल में प्रज्वलित देशभक्ति की आग कि अवसर आते ही अपने सारे विलास-वैभव को लात मारकर इस अभागे राष्ट्र के मोक्ष के लिए सबके साथ कंधे से कंधा मिला जनसंग्राम के मैदान में उतरते वह तनिक भी हिचकिचाए नहीं! निश्चय ही मोतीलालजी केवल राजर्षियों में पाई जानेवाली एक असीम त्याग की भावना की सजीव प्रतिमा थे! तभी तो देश के जनहृदय ने एक स्वर से 'त्यागमूर्त्ति' कहकर उनकी आरती उतारी और उनके इस लोक से उठ जाने पर स्वयं गांधीजी ने उनकी चिता की ओर निर्देश करते हुए राष्ट्र को संबोधित कर कहा—'यह एक चिता नहीं, बल्कि है राष्ट्र-यज्ञ का प्रज्वलित हवन-कुण्ड!'

पं० मोतीलाल नेहरू, जोकि उम्र में मालवीयजी से भी बड़े थे, ६ मई, सन् १८६१ ई०, के दिन आगरे में पैदा हुए थे, जहाँ कि उनके पिता की मृत्यु के बाद दिल्ली से उनकी माता और बड़े भाई आ बसे थे। क्या यह एक आश्चर्य की-सी बात न थी कि ठीक उसी दिन कलकत्ते में महर्षि देवेन्द्रनाथ के घर पर कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ ने भी जन्म लिया था? मोतीलालजी के पिता पं० गंगाधरजी सन् सत्तावन के विप्लव के पहले दिल्ली में शहर-कोतवाल थे और उनके एक पुरखा पं० राज कौल, जो कि सन् १७१६ ई० के लगभग पहलेपहल काश्मीर से उठकर दिल्ली में आ बसे थे, मुग़ल बादशाह फ़र्रूख़शियर के शिक्षक रह चुके थे। पर दुर्भाग्य से पं० गंगाधर का केवल चौंतीस वर्ष की अल्पायु ही में असमय देहान्त हो गया, जबकि मोतीलाल अभी अपनी मा के गर्भ ही में थे। अतः सारे परिवार का बोझ उठाना पड़ा उनके बड़े पुत्र नंदलाल को ही, जिन्होंने अपने छोटे भाई को पिता की भाँति ही पाल-पोसकर बड़ा किया और उन्हें पढ़ाया-लिखाया। पंडित नंदलाल लगभग दस वर्ष तक राजपूताना के खेतड़ी-राज्य में दीवान रहे और तदुपरान्त क़ानून पढ़कर आगरे में उन्होंने वकालत शुरू की। जब प्रान्त का नव-संस्थापित हाइकोर्ट आगरे से इलाहाबाद आया तो नंदलाल भी वहाँ से उठकर प्रयाग आ बसे, जहाँ शीघ्र ही गिने-चुने प्रमुख वकीलों में उनकी गणना होने लगी। इस बीच मोतीलाल की पढ़ाई-लिखाई जारी थी, जो आरंभ में तो फ़ारसी-अरबी तक ही सीमित रही, कारण बारह-तेरह वर्ष की उम्र तक वह एक मक़तब ही में पढ़ते रहे; किन्तु अन्त में सन् १८७३ ई० में उन्होंने कानपुर के गवर्नमेंट-हाईस्कूल में प्रवेश किया, जहाँ से १८७९ ई० में एण्ट्रेंस-परीक्षा पास कर विशेष अध्ययन के लिए इलाहाबाद के प्रसिद्ध म्योर सेंट्रल कॉलेज में वह भरती हुए। अपनी तीक्ष्ण बुद्धि, खेल-कूद-सम्बन्धी विशिष्ट अभिरुचि तथा प्रभावशाली व्यक्तित्व के कारण विद्यार्थी-जीवन में भी वह अपने सहपाठियों में एक नेता के तुल्य माने जाते थे। परन्तु पढ़ने-लिखने में उनकी अधिक दिलचस्पी न थी। इसीलिए बी० ए० की परीक्षा में जब वह बैठे तो आरम्भ का कोई एक पर्चा सन्तोषप्रद न हो पाने पर उन्होंने बाक़ी पर्चों में इम्तहान ही न दिया और परीक्षा के दिन ताजमहल की सैर करने में ही बिताए! इस प्रकार युनिवर्सिटी तक पहुँचकर भी वह ग्रेजुएट न हो पाए!

इसके बाद कॉलेज छोड़कर उन्होंने कानपुर में हाइकोर्ट की वकालत की परीक्षा की तैयारी की और केवल तीन महीने के अध्ययन के बाद ही उक्त परीक्षा में सर्वप्रथम पद प्राप्त कर सबको अपनी छिपी प्रतिभा से चकित कर दिया। वहीं सन् १८८३ ई० में उन्होंने पहलेपहल अपनी वकालत का श्रीगणेश किया और तब तीन वर्ष बाद वहाँ से वह चले आए प्रयाग, जहाँ कि उनके बड़े भाई पहले से वकील थे ही। दुर्भाग्य से उनके इलाहाबाद आने के कुछ ही समय उपरान्त पं० नन्दलाल एकाएक इस लोक से चल बसे, जिससे सारे परिवार का बोझ आ पड़ा अब युवक मोतीलाल ही के कंधों पर! किन्तु इस समय तक वकालत के क्षेत्र में उनका काफ़ी प्रभुत्व प्रस्थापित हो चुका था और अब तो अपने बड़े भाई के भी कई अधूरे मुक़दमे उन्हें मिल गए थे। अतः थोड़े ही दिनों में उनका सितारा ऐसा चमका कि घर में लक्ष्मी बरस पड़ी! तब तो पूछना ही क्या था—शीघ्र ही मीरगंज का वह पुराना मकान छोड़ दिया गया, जिसमें कि जवाहरलाल का जन्म हुआ था, और भारद्वाज-आश्रम के समीप वह भव्य कोठी ख़रीद ली गई, जोकि 'आनन्द-भवन' के नाम से इलाहाबाद के इस नए 'नवाब' की राजा-महाराजाओं से होड़ लेनेवाली शान-शौकत तथा विलास-वैभव की मूर्त्तिमान् प्रतीक-सी बन गई। जिस प्रकार देशबंधु चित्तरंजन दास की वकालत श्री अरविन्द के प्रसिद्ध मुक़द्मे की जीत के साथ एकदम चमकी थी, उसी तरह मोतीलालजी की ख्याति पहलेपहल एक प्रयागवाल के मुक़दमे से हुई, जिस पर कि एक साथ सात जुर्म लगाए गए थे, फिर भी अपनी प्रकाण्ड क़ानूनी योग्यता और पैरवी करने की अद्वितीय शक्ति के बल पर उन्होंने उन सभी अभियोगों से बरी कराकर उसे एकदम छुटकारा दिला दिया था! तब से उनका यश का सूर्य दिन पर दिन इस प्रकार ऊँचा चढ़ता चला गया कि अल्पकाल ही में केवल इलाहाबाद ही क्या, सारे भारतवर्ष के गिने-चुने दो-चार सर्वोच्च वकीलों में उनकी गणना की जाने लगी।

स्वभावतः ही उनकी आमदनी लाखों के आँकड़े तक जा पहुँची और उसके साथ ही उनकी रहन-सहन भी ठाठ-बाट में राजा-नवाबों से टक्कर लेने लगी। वस्तुतः वह ज़माना ही कुछ और था। उन दिनों गुलछर्रे उड़ानेवाले अंग्रेज़ शासकों के उस पाश्चात्य चमक-दमक के विलासी जीवन का मोह आम तौर से हमारे नवशिक्षित वर्ग के मस्तिष्क को बुरी तरह ढाँपे हुए था। सब कोई उनके 'ड्रेस-सूटों', उनकी 'गार्डन-पार्टियों' और उनके मदिरा के प्यालों के प्रति एक अजीब ममता की दृष्टि रखते! सच तो यह था कि विलायत की उस नवागता भौतिक सभ्यता-सुन्दरी की वेशभूषा के गिलट-पालिश ने मानों सबकी आँखों में चकाचौंध-सा कर रक्खा था! तो फिर हमारे चरितनायक भी, जो अब अपनी चढ़ती हुई वकालत के दौर में दोनों हाथों से धन बटोर रहे थे, भला क्योंकर अपने युग की उस मरीचिका के प्रति आकृष्ट हुए बिना रह सकते थे? अतः जैसे-जैसे लक्ष्मी की उन पर कृपा बढ़ती गई, उनके विलास-वैभव का पारा ऊँचा चढ़ता चला गया और कुछ दिनों में तो उनकी शान-शौकत की कहानी लोगों की ज़बान पर इस तरह सब कहीं फैल गई कि उसने कहावत का-सा रूप ले लिया! कोई कहता कि उनके कपड़े इंगलैण्ड में सिलते और पेरिस में धोये जाते हैं, तो कोई उनके मदिरालय को योरप के मशहूर से मशहूर मद्य-भाण्डारों से भी ऊँचे दर्जे का बताता! यद्यपि इस तरह उड़ाई जानेवाली बातें प्रायः अतिशयोक्ति-पूर्ण थीं, फिर भी यह तो एक जगजाहिर सत्य था कि मोतीलालजी का इन दिनों का जीवन किसी अर्ल, ड्यूक या नवाब के जीवन से कम ऐश्वर्य और तड़क-भड़क का न था—उनका 'आनन्द-भवन' सचमुच ही राजा-महाराजाओं के प्रासादों की सुख-सामग्री से सुसज्जित योरपीय फैशन का एक आदर्श क्रीड़ा-भवन था! किन्तु वैभव का यह सारा साज-सामान होने पर भी यह बात न थी कि पाश्चात्य सभ्यता को गले से लगाकर वह उसके एकदम ग़ुलाम बन गए हों और अपनी निजी संस्कृति के प्रति उनके मन में प्रेम ही न रहा हो! वस्तुतः, जैसा कि एक समीक्षक ने कहा है, इस योरपीय लिबास को पहनकर भी उनका हृदय तो अब भी भारतीय ही बना हुआ था, जिसके कई प्रमाण उनके उन दिनों के जीवन ही में हमें काफ़ी मिल जाते हैं, और आगे आनेवाली घटनाओं से तो जिस तथ्य का पूर्ण समर्थन हो जाता है। इस संबंध में दीनबन्धु एंड्रूज़ द्वारा उनकी प्रशस्ति में अंकित निम्न वाक्य उद्धृत कर देना अप्रासंगिक न होगा कि 'मोतीलालजी चूँकि आरंभ ही से, विशेष रूप से अतिथि-सत्कार के संबंध में, बड़े उदारमना रहे और अपनी प्रत्येक योरप-यात्रा के बाद पश्चिम में प्रचलित रहन-सहन के खर्चीले ढंग को वह अधिकाधिक अपनाते चले गए, अतः उनकी पाश्चात्य फैशन की आदतों के बारे में कई अत्यधिक मूर्खतापूर्ण गप्पें सारे उत्तरी भारत में फैल गईं, जोकि उन लोगों की निगाह में, जो कभी भी उनके घर में उनके निकट संपर्क में आए थे, बिल्कुल हास्यास्पद थीं; कारण इस दिशा में जो कुछ भी उन्होंने किया वह, जैसा कि आगे आनेवाली घटनाओं ने साबित कर दिया, महज़ ऊपरी सतह तक ही सीमित था और एक क्षण भर में वह उसे ठुकरा सकते थे!'

और शीघ्र ही वह समय भी आया जबकि राजसी पहनावे की ओट में छिपा हुआ उनका वह असली व्यक्तित्व अपना यथार्थ रूप प्रकट कर क्रमशः देश के आँगन में निखरे बिना न रह सका—जबकि इस विलासी-से दिखाई पड़नेवाले राजपुरुष के अंतराल में बसनेवाली वह असाधारण राजनीतिक प्रतिभा-संपन्न देशभक्त आत्मा अंततः अपनी वास्तविक अभिव्यक्ति किए बिना न रह सकी! उनके जीवन के इस यथार्थतः मूल्यवान् अध्याय का आरंभ हुआ तब जब कि आनन्द-भवन के उस आमोद-प्रमोद एवं मुक़दमों की फ़ाइलों से लदी वकील की मेज़ की परिधि से बाहर क़दम बढ़ाकर वह अग्रसर हुए देश के नवोत्थित राजनीतिक मंच की ओर, जिसके कि लिए वस्तुतः वह नैसर्गिक रूप से निर्मित हुए थे! और यद्यपि देशबन्धु की भाँति उनके भी राजनीतिक जीवन के इस उभार में यथार्थतः पूर्ण ज्वार उच्छ्वसित हुआ सन् १९१४-१८ ई० के महायुद्ध की समाप्ति पर 'रौलट-बिल' तथा पंजाब की दुर्घटनाओं का हृदयद्रावक दृश्य समुपस्थित होने पर ही, फिर भी इससे पहले, सन् १८८८ ई० में, इलाहाबाद में सर जार्ज यूल की अध्यक्षता में होनेवाले कांग्रेस के चौथे अधिवेशन में पहलेपहल सम्मिलित होने के समय से महायुद्ध के दिनों में प्रसिद्ध होमरूल-आन्दोलन

के सूत्रपात की घड़ी तक देश की राष्ट्रीय हलचल में विविध प्रकार से हाथ बँटाकर सामयिक राजनीतिक क्षेत्र में एक विशिष्ट स्थान वह अपने लिए बना चुके थे। हाँ, यह बात सच थी कि चूँकि इस समय तक वह लगातार बने रहे नख से शिख तक एक 'मॉडरेट' ही, अतः स्वभावतः ही उनके राजनीतिक जीवन के पूर्वार्द्धकाल के उन तीस वर्षों में उस प्रचण्ड उद्रेक की अभिव्यक्ति होते न दिखाई दी, जिसे उत्तरार्द्ध के दिनों में इतने प्रखर तेज के साथ अंत में विस्फुटित होते हमने देखा! इसका एकमात्र कारण यही था कि इस समय तक उनके जीवन-प्रवाह में राजनीति को एक प्रकार से गौण स्थान ही प्राप्त रहा, वह प्रधानता नहीं, जोकि सन् १९१९ के बाद से उसे मिली। इसीलिए उसका स्वरूप इतना 'नरम' बना रहा, वरना यह कैसे संभव था कि इतनी प्रचण्ड आग अपने अंतराल में बसाए रहनेवाला मोतीलाल का-सा व्यक्तित्व इतने दिनों तक 'मॉडरेट' बना रहता?

सन् १८८८ ई० के पूर्वोक्त चौथे अधिवेशन के चार वर्ष बाद सन् १८९२ ई० में जब पुनः कांग्रेस का एक अधिवेशन इलाहाबाद में हुआ तो मोतीलालजी उसकी स्वागत-समिति के एक पदाधिकारी चुने गए। तब से लगभग सभी अधिवेशनों में वह बराबर सम्मिलित होते रहे। कहते हैं, सन् १९०३ ई० में जब वह बंबई-अधिवेशन में सम्मिलित हुए थे तो किशोरवयस्क जवाहरलाल भी उनके साथ थे। इसके दो वर्ष बाद अपने पुत्र को विलायत के हैरो के प्रख्यात स्कूल में भरती कराने के लिए वह सपरिवार इंगलैण्ड गए थे और वहाँ से लौटने पर सन् १९०६ ई० की प्रसिद्ध कलकत्ता-कांग्रेस में नरम-गरम दलों की आपसी रस्साकसी में मालवीयजी आदि के साथ नरम दल के पक्ष में अपना पूरा ज़ोर डालकर उसे हारने से बचाने में उन्होंने महत्त्वपूर्ण योग दिया था। दूसरे वर्ष जब इलाहाबाद में युक्त-प्रान्तीय कान्फ़रेन्स का पहला अधिवेशन हुआ तो वही उसके सभापति बनाए गए और उस साल की सूरत की तूफ़ानी कांग्रेस में गरम दलवालों के मंच पर से हट जाने से जब कांग्रेस की बागडोर आगामी लगभग दस वर्षों के लिए संपूर्णतया नरम दल के ही हाथों में आ गई तो उसके एक प्रधान स्तंभ के रूप में पं० मोतीलाल नेहरू सन् १९०९ से १९१९ ई० तक लगातार अखिल भारतीय कांग्रेस-कमेटी के एक प्रमुख सदस्य के रूप में उक्त दल की अग्रिम पंक्ति में बने रहे, यद्यपि उन दिनों की उनकी शत-प्रति-शत मॉडरेट नीति तथा ब्रिटिश न्याय के प्रति अडिग श्रद्धा के कारण जनवर्ग में उस समय उनके प्रति अधिकांश में निराशा और असंतोष ही की भावना दिखाई दी। सन् १९१३ ई० में लखनऊ में जब प्रान्तीय कान्फ़रेन्स का पुनः एक अधिवेशन हुआ तो फिर से वह उसके सभापति के आसन पर बिठाए गए। साथ ही पूरे सात वर्ष तक अपने प्रान्त की कांग्रेस-कमेटी के अध्यक्ष का भी पद उन्होंने सँभाला! इसके अतिरिक्त कई दिनों तक प्रयाग-सेवा-समिति के उपाध्यक्ष तथा स्थानीय म्युनिसिपल बोर्ड के सदस्य भी वह रहे और समाज-सुधार के विषय में काफ़ी प्रगतिशील होने के कारण अखिल भारतीय सामाजिक कान्फ़रेन्स का सभापतित्व भी उन्होंने ग्रहण किया। इसी बीच सन् १९०९ ई० में वह अपने प्रान्त की कौंसिल के सदस्य भी निर्वाचित हो चुके थे और कई मित्रों के साथ इलाहाबाद के प्रसिद्ध अंग्रेज़ी दैनिक पत्र 'लीडर' की प्रस्थापना में भी हाथ बँटा चुके थे, जिसके प्रति उनकी दिलचस्पी का कुछ अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि जब सन् १९१० ई० में भारत-सरकार समाचारपत्रों के दमन पर उतारू हुई थी तो उन्होंने कहा था कि 'जब तक मेरे घर की एक ईंट दूसरी ईंट पर खड़ी है, मैं 'लीडर' की आज़ादी की रक्षा के लिए लड़ूँगा!' सन् १९१७ ई० में रुड़की के इंजीनियरिंग कॉलेज के गोरे प्रिंसिपल द्वारा भारतीय विद्यार्थियों के अपमान के विरोध में उन्होंने कौंसिल में निन्दा का प्रस्ताव रखा था और जब विवाद का प्रत्युत्तर देने का अवसर न दिया गया तो तुरन्त ही उठकर वह कौंसिल से चले आए थे तथा सर सुंदरलाल एवं प्रान्तीय गवर्नर के काफ़ी आग्रह करने पर ही वापस उसमें जाना उन्होंने स्वीकार किया था! इसी प्रकार सन् १९१८ ई० में प्रस्तावित माण्टेगू-चेम्सफ़र्ड-सुधारों का उन्होंने कौंसिल में डटकर विरोध किया था और प्रान्त के लिए स्वयं अपनी ओर से एक मंत्रि-मंडल की प्रस्थापना का सुझाव उन्होंने रक्खा था,

जो कि उस युग को देखते हुए काफ़ी महत्त्व का क़दम था। समय बीतते उनकी 'नरमाई' में क्रमशः उष्णता का भी संचार होने लगा और सन् १९१८ ई० के लगभग जब श्रीमती एनी बेसेंट एवं लोकमान्य तिलक द्वारा पोषित प्रसिद्ध होमरूल-आन्दोलन का बोलबाला बढ़ा तो उसमें सम्मिलित हो उन्होंने स्वतः अपने प्रान्त में भी उसका झंडा फहराने में ज़ोरों के साथ योग दिया। इसी ज़माने में 'लीडर' से मतभेद हो जाने पर उन्होंने 'इण्डिपेण्डेण्ट' के नाम से एक और ज़ोरदार अंग्रेज़ी दैनिक प्रयाग से निकाला जो अल्पजीवी होकर भी हमारे इतिहास में सदा के लिए अपना नाम कर गया और आगे चलकर अपनी कड़ी आलोचनाओं के कारण सरकार के दमनचक्र का शिकार बनने पर प्रेस के ज़ब्त हो जाने की स्थिति में कई दिनों तक हाथ से लिखकर ही निकाला जाता रहा! किन्तु यह तो था उनके दीर्घकालिक राजनीतिक जीवन का पूर्वार्द्ध ही, जिसमें कि उनके उस यथार्थ स्वरूप की अभी अभिव्यक्ति ही न हो पाई थी, जिसने अंततोगत्वा एक महान् राष्ट्र-निर्माता के रूप में इस देश के इतिहास में उन्हें अजरामर बना दिया — उनका वह प्रकाण्ड व्यक्तित्व तो प्रकट हुआ वस्तुतः हमारे राजनीतिक रंगमंच पर उस युगान्तरकारी पट-परिवर्त्तन के होने पर ही, जो 'रौलट-बिल', जलियाँवाला बाग़ के हत्याकाण्ड तथा मार्शल लॉ के अधीन पंजाब के अमानुषिक दमन-ताण्डव का दृश्य प्रस्तुत होने एवं गांधीजी द्वारा हमारे मुक्ति-संग्राम को एक नवीन रूप देने की घटनाओं के साथ आरंभ हुआ! तो फिर आइए, उनके पिछले तीस वर्षों के इस मॉडरेट नीतिमूलक सार्वजनिक जीवन के तारतम्य को यहीं समाप्त कर अब उनके जीवन के उत्तरार्द्ध काल के अंतिम बारह वर्षों के तेजस्वितापूर्ण अध्याय ही में प्रवेश करें, क्योंकि इसी युग में मोतीलाल अपने सच्चे रूप में हमारे सामने आए!

यहाँ इस बात का उल्लेख कर देना आवश्यक है कि इस समय तक पंडितजी के एकमात्र पुत्र युवक जवाहरलाल नेहरू विलायत का अपना विद्याध्ययन समाप्त कर वापस घर आ चुके थे और पिता की भाँति वह भी स्वदेश की राजनीतिक हलचल में गहराई के साथ दिलचस्पी लेने लगे थे। उन्होंने होमरूल-आन्दोलन में पूरी लगन के साथ हाथ बँटाया था और अपने पूज्य पिताजी द्वारा नवसंस्थापित अंग्रेज़ी पत्र 'इण्डिपेण्डेण्ट' के संचालन में भी उत्साहपूर्वक योग दिया था। किन्तु उनके राजनीतिक विचारों में आरंभ ही से ऐसी उष्णता थी और उनका दृष्टिकोण इतना उग्र था कि मोतीलालजी की मॉडरेट नीति के साथ उसका सामंजस्य बैठना असंभव-सा था! इस पर जब गांधीजी के भारतीय राजनीतिक आँगन में प्रविष्ट होने पर अहिंसात्मक सत्याग्रह की लड़ाई के रूप में एक बिल्कुल ही नया अध्याय देश के सार्वजनिक जीवन में रचे जाने की तैयारी होने लगी तो स्वभावतः युवक जवाहर की आँखें लच्छेदार भाषणों की परिधि तक सीमित अब तक के हमारे नेताओं द्वारा संचालित कोरे वाक्-युद्ध की ओर से हटकर पहले-पहल सच्ची क्रियात्मक लड़ाई का रूप ग्रहण करनेवाले इस नए अनुष्ठान की ओर आकर्षित हो चलीं! और सत्याग्रह का विधिवत् संग्राम आरंभ होने के पूर्व ही जब जलियाँवाला बाग़ तथा अन्य स्थानों की हृदयद्रावक घटनाएँ घटीं तब तो इस जोशीले युवक की भुजाएँ एकबारगी ही रणभूमि में कूद पड़ने के लिए मानों फड़क-सी उठीं! यह बात उन दिनों एक हद तक ही जोखम उठाने के लिए तत्पर पंडित मोतीलाल के लिए एक व्यक्तिगत समस्या-सी हो गई, क्योंकि उनका राजकुमार-सा वह इकलौता, जो वैभव की दुनिया ही में छोटे से बड़ा हुआ, जेल का मेहमान बने, यह उनका राजसी हृदय लाख तर्क-वितर्क करने पर भी स्वीकार करने को राज़ी नहीं हो पाता था! किन्तु आख़िर वह यदि उसे रोकते भी तो कैसे—वह तो ऐसा स्वाधीनचेता था कि मतभेद होने पर भरी सभा में स्वयं उन्हीं को टोकते भी कभी हिचकता न था! इसके अलावा देश के आँगन में इधर जो कुछ घट रहा था, जिस प्रकार पंजाब में निःशस्त्र अहिंसक स्त्री-पुरुषों-बच्चों पर गोलियाँ बरसाकर जुल्म का नंगा नाच किया जा रहा था एवं युद्ध में सहायता के पुरस्कार के बदले 'रौलट-बिल' जैसे काले क़ानूनों के प्रवर्त्तन द्वारा भारतीय नागरिकता का खुलकर अपमान किया जा रहा था, उसे देखते हुए भला कौन सच्चा देशभक्त चुपचाप सब-कुछ सहन करते हुए निष्क्रिय

बैठा रह सकता था? वस्तुतः स्वयं उनके अपने मन में भी तो इन सब बातों को देखकर एक भयंकर रोष की ज्वाला भभकने लगी थी और इस अत्याचारी शासनसत्ता को जड़ से उखाड़ फेंकने के लिए ज़ोरों के साथ विद्रोह की लपटें भीतर ही भीतर उनके अन्तराल में धू-धू करने लगी थीं!

अतः अपने पुत्र को रोकने की बात तो दूर रही, स्वतः अपनी निजी आन्तरिक आग को भी तो दबा पाना अब उनके लिए कठिन हो रहा था! कहने की आवश्यकता नहीं कि इस अंतर्द्वन्द्व ने हमारे चरितनायक के मन, हृदय और आत्मा के गुह्यतम स्तरों को इस प्रकार झकझोर कर हिला दिया, जैसे कि किसी ज्वालामुखी की उदरस्थ अग्नि-लपटें उसके अंतराल की चट्टानों को उद्वेलित कर देती हैं, और शीघ्र ही इतने अधिक व्यग्र वह हो उठे कि जेल जाने का क्या अर्थ होता है तथा मखमली गद्दों को छोड़ कारागार की कड़ी फ़र्श पर कंबल के बिछौने पर सोने में किस प्रकार का अनुभव होता है, इसका प्रयोग करने के लिए अब चुपके से रात को पलंग से उतरकर धरती पर लेटने तक का अभ्यास करते वह देखे जाने लगे! इस पर जब लोकमान्य, मालवीयजी, गांधीजी और देशबन्धु जैसे नेताओं के आँगन में प्रस्तुत होते हुए भी देश ने इलाहाबाद के इस 'नवाब' ही के माथे पर सर्वोपरि नेतृत्व का कुंकुम-तिलक लगा उसी की अध्यक्षता में पंजाब की उन दुर्घटनाओं की जाँच के लिए एक ग़ैर-सरकारी समिति बिठाई तथा उस वर्ष के प्रसिद्ध अमृतसर-अधिवेशन के सभापति का काँटों का मुकुट भी उसे ही पहनाकर उमंग और आशा के साथ उसका आह्वान किया तब तो अब तक का अपना वह सारा मॉडरेटपन ताक पर रखकर निर्णयात्मक रूप से केवल मातृभूमि की मुक्ति-साधना ही को जीवन का प्रधान ध्येय बना मैदान में उतर पड़ने के सिवा और कोई चारा उसके लिए न रह गया! फलतः सारा काम-धंदा छोड़ देशबन्धु की भाँति यह महान् राष्ट्रनायक तुरंत ही पंजाब दौड़ा गया और अपने अगाध क़ानूनी ज्ञान तथा अद्भुत कार्य-संचालन-शक्ति द्वारा उस ऐतिहासिक जाँच को सफल बनाने में जो महत्त्वपूर्ण योग उसने दिया, वह राष्ट्रीयता के इतिहास के किस जानकार से आज छिपा है! सारांश यह कि चाहे पंजाब की उन दुर्घटनाओं की प्रतिक्रिया के नैसर्गिक परिणाम के रूप में कहिए, चाहे अपने सुपुत्र की प्रखर देश-भक्ति और उग्र राजनीति का परोक्ष अथवा अपरोक्ष प्रभाव मानिए, अन्ततः यह महामेधावी बन गया 'नरम' से एकदम एक 'गरम' राजनीतिज्ञ—मानों बर्फ़ से ढका हुआ कोई पर्वत-शिखर एकाएक प्रचण्ड ज्वालामुखी में परिणत हो गया हो! और इसके बाद तो गांधीजी द्वारा असहयोग-आन्दोलन की रणभेरी बजाए जाने पर अन्य सभी देशभक्तों की भाँति विधिवत् सत्याग्रही का बाना पहन जब वह भी मैदान में उतरा तब तो सभी ने साश्चर्य वही चमत्कारपूर्ण पटपरिवर्त्तन उसके भी जीवनक्रम में होते देखा जोकि उसके उस महान् साथी देशबन्धु के जीवन में भी उन्हीं दिनों घटित होते दिखाई दिया था—वह भी आन की आन में लाखों की अपनी उस चढ़ती हुई वकालत, राजा-महाराजाओं की-सी विलास-वैभव की ज़िन्दगी और आरामतलबी को सदा के लिए ठुकराकर बन गया राजनीति के क्षेत्र में अवतीर्ण एक संन्यासी-सा, और तभी से देश के हेतु हर तरह के बलिदान के लिए कमर कसकर तैयार रहना तथा घर और जेल के आँगन को एक कर देना मानों उसके परिवार के एक-एक व्यक्ति का धर्म-सा बन गया!

यद्यपि अमृतसर के उस कांग्रेस-अधिवेशन में, जिसका कि सभापतित्व मोतीलालजी ने ग्रहण किया था, असहयोग का ना । अभी बुलन्द नहीं हुआ था और प्रस्तावित शासन-सुधारों को 'अपूर्ण, असन्तोषजनक तथा निराशापूर्ण' बताकर 'आत्म-निर्णय के सिद्धान्त के अनुसार भारत में पूर्ण उत्तर-दायी सरकार क़ायम करने के लिए पार्लमेंट को शीघ्र कार्रवाई करनी चाहिए' यह अनुरोध करते हुए सहयोग का ही रुख़ उसमें ज़ाहिर किया गया था, फिर भी दो बातों में यह अधिवेशन युगांतर-सूचक और विशेष मार्के का था और वे ये थीं कि एक तो इसी समय से मॉडरेट लोग कांग्रेस से सदा के लिए जुदा हो चुके थे, और यह स्वीकार किया जा चुका था कि उनके लिए अब इस राष्ट्रीय संस्था में स्थान नहीं रह गया था, दूसरे इसी समय से गांधीजी के हाथों में कांग्रेस के सूत्र

केन्द्रित होने का शुभ क्रम आरम्भ हुआ था। जब तेज़ी के साथ रंग बदलते हुए राजनीतिक घटना-चक्र ने अन्ततोगत्वा कुछ महीनों के भीतर ही गांधीजी को देश के सामने गम्भीरतापूर्वक अपनी उस अहिंसात्मक लड़ाई को छेड़ने का विचार रखने को विवश कर दिया, जिसके कि लिए अमृत-सर के अधिवेशन में वह चुप साधे रहे, और पतदर्थ कलकत्ते में लाजपतराय की अध्यक्षता में कांग्रेस का वह विशेषाधिवेशन बुलाया गया, जिसमें पहले-पहल असहयोग का प्रस्ताव देश की सर्वोपरि राष्ट्रीय संस्था के सामने रक्खा गया, तब देशबन्धु की भाँति मोतीलालजी भी एकाएक उसका समर्थन करने को सोलहों आने तैयार नहीं हुए थे और उसके शीघ्र ही बाद नागपुर के प्रसिद्ध अधिवेशन में भी बंगाल के उस महान् नेता की भाँति वह भी कमर कसकर पहुँचे थे असहयोग की योजना का पटरा उलट देने के लिए ही! किन्तु वाह रे गांधीजी का चमत्कार कि, जैसा कि देशबन्धु के चरित्र-चित्रण के सिलसिले में कहा जा चुका है, ऐन मौक़े पर मानों जादू करके उन्होंने जिस तरह देशबन्धु को अपना सबसे कट्टर समर्थक बना लिया, उसी तरह पंडित मोतीलाल को भी देखते-देखते अपने पक्ष में कर लिया और फलतः जब वह भी नागपुर से लौटे तो, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, अपनी वकालत छोड़कर तथा जीवन में एक गम्भीर परिवर्त्तन लाकर सपरिवार लड़ाई के मैदान में कूद पड़े और उसे सफल बनाने में अपनी संपूर्ण शक्तियाँ उन्होंने लगा दीं! देखते-देखते लाखों के विदेशी वस्त्रों को, कूड़े-कचरे की तरह घर से बाहर फेंककर, उन्होंने आनंद-भवन के आँगन में आग में झोंक दिया और 'लंदन में सिलने तथा पेरिस में धुलनेवाला' अपना वह लिबास छोड़ अब धारण कर लिया जीवन भर के लिए हाथ से कती शुद्ध खद्दर का पहनावा ही! इस प्रकार उनका वह 'आनंद-भवन', जो कि अब तक उत्तरी भारत में फैशन और विलास का केन्द्र-सा माना जाता रहा, अब बन गया आज़ादी की लड़ाई का मानों एक प्रमुख रण-शिविर!

इसके कुछ ही दिनों बाद प्रिंस ऑफ़ वेल्स के भारत-आगमन के समय जब उसके बहिष्कार का इतिहासप्रसिद्ध देशव्यापी आन्दोलन उठा, साथ ही कांग्रेस की ओर से हर जगह उन स्वयंसेवक-दलों को खड़ा करने का अनुष्ठान भी ज़ोरों से आगे बढ़ाया जाने लगा, जिन्हें पहले बंगाल में और फिर अन्यत्र भी सरकार द्वारा ग़ैरक़ानूनी घोषित कर दिया गया था, तो मोतीलालजी ने अपने नगर में सबसे पहले आगे बढ़कर उन आन्दोलनों में योग दिया और सरकारी चुनौती के प्रत्युत्तर में स्वयं-सेवकों की टोली की सूची में सबसे ऊपर सपरिवार अपना नाम लिखाया! अंत में ६ दिसम्बर, सन् १९२१ ई०, के दिन प्रान्त के अन्य अनेक कांग्रेसी कार्यकर्त्ताओं तथा अपने सुपुत्र जवाहरलाल के साथ वह सरकारी जेलख़ाने के मेहमान बना लिये गए और न्याय का एक थोथा नाटक रचकर अलग-अलग आरोपों में पिता-पुत्र दोनों को छः-छः मास की सज़ा दे दी गई! इस प्रकार 'आनन्द-भवन' का वह राजसी व्यक्ति, जिसकी मेज़ पर कुछ ही वर्ष पहले प्रान्त के बड़े-से-बड़े अंग्रेज़ अफ़सर नितप्रति गुलछर्रे उड़ाते थे, मातृभूमि की बंधन-मुक्ति के लिए अब सहर्ष उनके उस कारागार का वासी बन गया, जिसके लौह शिकंजों से न जाने कितने निर्दोष व्यक्तियों को अपनी महान् क़ानूनी प्रतिभा द्वारा वह अब तक छुटकारा दिलाता रहा था!

अपने इस प्रथम कारावास से पंडितजी जब छूट-कर वापस आए तो जेल-जीवन की असुविधाओं के कारण उनकी तन्दुरुस्ती काफ़ी खड़खड़ा गई थी। फिर भी बाहर आते ही पुनः वह देश के सेवाकार्य में जुट गए और तुरन्त ही अखिल भारतीय कांग्रेस-कमेटी की बैठक में जाकर सम्मिलित हुए, जो उस समय लखनऊ में हो रही थी। इन दिनों देश के राजनीतिक वातावरण में चौरीचौरा-काण्ड के उपरान्त सत्याग्रह-संग्राम के स्थगित हो जाने तथा गांधीजी के जेल चले जाने के कारण एक प्रकार का ठंढापन-सा छाया हुआ था। परन्तु पंडितजी के आने पर उसमें फिर कुछ सरगर्मी पैदा हो गई और जब कांग्रेस द्वारा नियुक्त प्रसिद्ध 'सत्याग्रह-जाँच-समिति' ने, जिसके मोतीलालजी भी सदस्य थे, सारे देश का दौरा करने के उपरान्त यही रिपोर्ट दी कि इस समय देश का वायुमण्डल सत्याग्रह-आन्दोलन जारी रखने के बिल्कुल उपयुक्त नहीं है,

तो असहयोग के एक नए तरीक़े अर्थात् कौंसिलों में प्रवेश कर वहाँ अड़ंगा-नीति द्वारा सरकार को लोहे के चने चबवाने के प्रयोग को आजमाने के लिए उन्होंने देशबन्धु दास के साथ मिल अपने इतिहास-प्रसिद्ध 'स्वराज्य-दल' को जन्म दिया ! यद्यपि इस नए क़दम में राजगोपालाचार्य, राजेन्द्र बाबू, आदि कई नेता उनके साथ न थे और इसी प्रश्न पर कांग्रेस के आँगन में 'परिवर्त्तनवादी' अर्थात् कौंसिल-प्रवेश के हिमायती, और 'अपरिवर्त्तनवादी' अर्थात् कौंसिलों का बहिष्कार कर केवल गांधीजी द्वारा सूचित रचनात्मक कार्यक्रम ही पर ध्यान केन्द्रित करने के पक्षपाती ऐसे दो दल बन गए थे, फिर भी मोतीलालजी और देशबन्धु हतोत्साहित न हुए। उन्होंने दिल्ली के सन् १९२३ ई० के विशेषाधिवेशन में कांग्रेस से विधिवत् कौंसिल-प्रवेश की अनुमति प्राप्त कर चुनाव लड़ा तथा सदलबल प्रान्तीय एवं केन्द्रीय धारा-सभाओं में प्रवेश कर पहली बार एक ज़ोरदार मोर्चा सरकार के ख़िलाफ़ वहाँ खड़ा कर दिया ! यह एक उल्लेखनीय बात है कि मोतीलालजी एसेम्बली के लिए निर्विरोध चुने गए थे और वही केन्द्रीय एसेम्बली में स्वराज्य-दल के नेता तथा विरोधी पक्ष के अगुआ बने थे। स्वभावतः ही धारा-सभा के उस अखाड़े में पहुँचने पर उनकी प्रतिभा पग-पग पर अपना जौहर दिखाने लगी और अपनी उस जन्मजात वाक्युद्धकला एवं प्रतिपक्षी को पछाड़ने की नैसर्गिक क्षमता के बल पर उन्होंने जब-जब भी मौक़ा आया, तभी सरकार को ऐसी मात दी कि कौंसिलों के उस नाटक के रूप में अंग्रेज़ों द्वारा खेले जा रहे प्रजासत्ता के थोथे स्वाँग का पूरी तरह पर्दाफ़ाश हो गया। यद्यपि स्वराज्य-दल के जन्म के दो-ढाई वर्ष बाद ही एकाएक उसके महान स्तंभ देशबंधु दास के इस संसार से उठ जाने के कारण पंडितजी का मानों दाहिना हाथ टूट गया, फिर भी उन्होंने एसेम्बली में कांग्रेस का झंडा कभी नीचा न होने दिया और सन् १९२६ ई० के चुनाव में पुनः विजय प्राप्त कर अपने उस मोर्चे को उन्होंने लगातार सशक्त बनाए रक्खा।

इन्हीं दिनों, सन् १९२७ ई० में, एक मुक़दमे के सिलसिले में वह कुछ समय के लिए इंगलैंड गए थे, साथ ही सोवियत रूस का भी एक चक्कर उन्होंने इन दिनों लगाया था। इसके शीघ्र ही बाद, जब ब्रिटिश सरकार द्वारा भारत को शासनाधिकार देने के सम्बन्ध में प्रसिद्ध सायमन-कमीशन की नियुक्ति की गई और उसमें एक भी भारतीय के न रखे जाने के अपमान से रुष्ट हो सारे देश ने एक स्वर से उसके बहिष्कार का निश्चय किया तो पंडितजी ने अपनी पूरी शक्ति के साथ इस विरोध-प्रदर्शन में भाग लिया। और इसी सिलसिले में जब मद्रास के कांग्रेस-अधिवेशन में औपनिवेशिक ढंग पर एक स्वराज्य-शासन-विधान बनाने का आदेश दिया गया एवं इस सुझाव को कार्यान्वित करने के लिए कुछ ही महीने बाद पहले दिल्ली में और फिर बंबई में एक सर्वदल-सम्मेलन किया गया तो सम्प्रदायवादियों द्वारा काफ़ी अड़ंगे लगाए जाने पर भी पंडितजी ने अपनी महान् राजनीतिक योग्यता द्वारा देश के गण्यमान्य विधानाचार्यों के सहयोग से वह प्रसिद्ध मसविदा तैयार किया, जो कि इतिहास में 'नेहरू-रिपोर्ट' के नाम से मशहूर है और जिसे आगे आनेवाली पीढ़ियाँ उनके क़ानूनी पांडित्य तथा राजनीतिक सूझ-बूझ के चिरप्रमाण के रूप में सदैव याद रक्खेंगी !

तब सन् १९२८ ई० के दिसम्बर मास में कलकत्ते के चिरस्मरणीय कांग्रेस-अधिवेशन में पुनः राष्ट्रपति की गद्दी पर बिठाकर देश ने उन्हें सम्मानित किया और सुभाष बाबू के नेतृत्व में २००० स्वयंसेवकों, ५० घुड़सवारों तथा २०० साइकिल-सवारों सहित ३६ घोड़े की एक गाड़ी में जुलूस निकालकर उनका वह स्वागत किया गया, जैसा कि पहले किसी भी अधिवेशन में किसी राष्ट्रपति का नहीं हुआ था। इसी अधिवेशन में 'नेहरू-रिपोर्ट' को स्वीकार कर कांग्रेस की ओर से सरकार को यह अल्टीमेटम दिया गया था कि या तो वर्ष भर के भीतर इस रिपोर्ट में प्रस्तुत किए गए विधान को मंजूर कर वह औपनिवेशिक स्वराज्य की माँग पूरी करे अथवा देश अपना लक्ष्य 'पूर्ण स्वतंत्रता' घोषित कर देगा ! और जब शांतिपूर्ण समझौते का प्रयत्न करने पर भी सरकार अपनी टालमटोल की नीति ही पर डटी रही तो अंत में ३१ दिसम्बर, सन् १९२९, की आधी रात को लाहौर में पं० जवाहरलाल नेहरू की अध्यक्षता में कांग्रेस के मंच पर से वह ऐति-

हासिक घोषणा कर दी गई, जिसके अनुसार 'पूर्ण स्वतंत्रता' का ध्येय उद्घोषित कर देश ने अपने जन्म-सिद्ध अधिकार को मूर्त्त रूप देने के लिए पहलेपहल क़दम बढ़ाया। कहते हैं, उस रात पंडित मोतीलाल का दिल ख़ुशी से ऐसा उछला था कि जब झंडा फह-राते समय उस ऐतिहासिक अवसर पर कुछ युवक हर्षोत्फुल्ल हो नाचे थे तो भारत का यह बूढ़ा शेर भी सिर पर सरहद्दी ढंग का कुल्ला और कमर में एक लुंगी बाँधकर उनके बीच उतर पड़ा था और बच्चों की तरह नाचने लगा था—ऐसा था उसका देश-प्रेम!

लाहौर के ऐतिहासिक कांग्रेस-अधिवेशन की वह घड़ी पंडित मोतीलाल के लिए अपने जीवन की सबसे सुखद घड़ी थी, क्योंकि इसी अधिवेशन में अपने हाथों अपने लाड़ले जवाहरलाल को उन्होंने देश के नेतृत्व का वह ताज पहनाया था, जिससे बढ़कर गौरवपूर्ण सम्मान दूसरा नहीं हो सकता था। इसके बाद तो जिस प्रकार २६ जनवरी, सन् १९३० ई०, के दिन सारे देश में स्वतंत्रता की शपथ लेने के शीघ्र ही बाद अपनी दिल हिला देनेवाली दाँडी-यात्रा द्वारा साबरमती के संत गांधीजी ने पुनः अहिंसा का अपना वह दूसरा महान् रण-यज्ञ रचा और फलतः जिस प्रकार सारे देश में ग़ैरक़ानूनी तौर से नमक बना-बनाकर जनता और नेताओं ने साथ-साथ सरकारी हथकड़ी-बेड़ियों का आह्वान किया; जिस प्रकार कि कौंसिलों, स्कूलों, अदा-लतों, विदेशी वस्त्रों आदि का बॉयकाट कर हज़ारों स्त्री-पुरुष जेल गए और लाठियों तथा गोलियों की बौछार का वह अपूर्व दृश्य प्रस्तुत हुआ—उससे भारतीय राष्ट्रीयता के इतिहास का कौन जानकार आज अपरिचित होगा? इस आंदोलन में राष्ट्रपति जवाहरलाल तो शुरू ही गिरफ़्तार हो चुके थे, तदुपरांत स्वयं मोतीलालजी भी, जिन्होंने कि पुत्र की अनुपस्थिति में युद्ध की बागडोर अपने हाथों में ले ली थी, गिरफ़्तार हो छः महीने की सज़ा में पुनः नैनी-जेल पहुँचा दिए गए थे! कहते हैं, इस समय तक लगभग एक लाख व्यक्ति जेलों में बंद हो चुके थे और सरकार द्वारा गैर क़ानूनी क़रार दे दिए जाने पर भी कांग्रेस की शक्ति दिन पर दिन बढ़ती ही चली जा रही थी। तब, जैसा कि गांधी-जी की जीवन-कथा के क्रम में बताया जा चुका है, सर तेजबहादुर सप्रू और श्री जयकर की सहायता से सरकार ने सुलह की बातचीत के लिए हाथ बढ़ाया और इसी उद्देश्य से पं० मोतीलाल तथा जवाहरलाल को विशेष मंत्रणा के लिए कारावास की दशा ही में गांधीजी के पास यरवड़ा-जेल ले जाया गया। इसके शीघ्र ही बाद जेल में स्वास्थ्य के अत्यधिक बिगड़ जाने के कारण सरकार ने पंडितजी को बिना शर्त्त छोड़ देने ही में अपनी भलाई समझी और फलतः ८ सितम्बर, सन् १९३० ई०, को वह रिहा कर दिए गए। छूटते ही इलाज के लिए वह कुछ समय के लिए कलकत्ते जाकर रहे और तब विश्राम के लिए पहुँचे मंसूरी, परंतु इससे कोई लाभ न हुआ। इस बीच देश के कार्य में दिलचस्पी लेने का उनका क्रम तो बराबर जारी था ही, अतः उनके शरीर की दशा दिन पर दिन गिरती ही चली गई। तब ६ जनवरी, सन् १९३१, को प्रसिद्ध 'गांधी-इर्विन-पैक्ट' के होने पर सभी नेता जेल से छोड़ दिए गए और छूटते ही गांधीजी सहित वे सब भारत के इस महान् लोकनायक की रोग-शय्या के पास आकर जुट गए एवं उसकी इच्छानुसार वहीं कांग्रेस-कार्यकारिणी की बैठक करके वायस-राय की घोषणा से प्रस्तुत होनेवाली नवीन परि-स्थिति पर विचार-विनिमय करने लगे। यद्यपि अब तक पंडितजी का स्वास्थ्य बेतरह गिर चुका था, फिर भी उन्होंने इस विचार-विमर्ष में भाग लेना न छोड़ा और सबका दिल हिलाते हुए कहा—'भारत का भाग्य-निबटारा स्वराज्य-भवन* ही में करो, मेरे सामने करो और मातृभूमि के आख़िरी सम्मानपूर्ण फ़ैसले में मुझे भी भाग लेने दो!' और इन्हीं दिनों ये स्मरणीय शब्द उनके मुख से निकले थे—'मैं रोग से लड़ूँगा, मृत्यु से लड़ूँगा और सबसे ऊपर ग़ुलामी के दानव से लड़ूँगा!' परन्तु समय आ गया था अब इस नेता की उस महान् जीवन-लीला के पटाक्षेप का, और ६ फरवरी, सन् १९३१ ई०, के प्रातःकाल लखनऊ में, जहाँ कि एक्स-रे परीक्षा के लिए अन्त समय में उन्हें ले जाया गया था, उन्होंने सदा के लिए अपनी आँखें मूँद लीं! वहाँ से मोटर

* इन्हीं दिनों 'आनन्द-भवन' की अपनी पुरानी इमारत को पंडितजी ने देश के हितार्थ कांग्रेस को समर्पित कर दिया था। तभी से उसका नाम 'स्वराज्य-भवन' पड़ गया।

द्वारा उनका शव प्रयाग लाया गया, जहाँ कि उनके सुपुत्र जवाहरलाल के हाथों लगभग एक लाख नर-नारियों की उपस्थिति में त्रिवेणी-संगम पर उनका दाह-संस्कार किया गया। इस अवसर पर देश के सभी बड़े नेता वहाँ मौजूद थे, जिनमें थे स्वयं गांधीजी भी! इस प्रकार एक महान् जीवन का अन्त हुआ!

पंडित मोतीलाल के रूप में आधुनिक भारत ने इस युग का प्रथम कोटि का अपना एक राजनेता या पाश्चात्य शब्दावली के अनुसार एक सच्चा 'स्टेट्समैन' पाया था और इस युग के अपने राष्ट्रीय गगन-मण्डल की पृष्ठभूमि में यदि हमें दूसरा कोई और जगमगाता हुआ नक्षत्र ऐसा देखने को मिलता है, जिसके कि साथ उनके व्यक्तित्व और चरित्र की सार्थकतापूर्वक तुलना की जा सके तो वह है केवल देशबंधु चित्तरंजन दास का ही व्यक्तित्व, जो कि उनके सबसे प्रिय राजनीतिक साथी थे। ये दोनों ही जननेता निजी पुरुषार्थ द्वारा यश कमानेवाले इस युग के भारत के दो विशिष्ट पुरुष थे—दोनों ही अपने पुरुषार्थ के बल पर एक बहुत ही सामान्य स्थिति से लाखों की कमाई की भूमिका तक ऊपर उठने में समर्थ हुए थे, और अंत में जब अपनी उस सारी कमाई को देश-सेवा की वेदी पर उत्सर्गित कर खम ठोंक मातृभूमि की मुक्ति की लड़ाई के मैदान में वे दोनों सामने आए थे तो अपनी प्रकाण्ड राजनीतिक प्रतिभा और निर्भीक नेतृत्व-शक्ति द्वारा शत्रुओं का दिल दहलाने तथा जनता के हृदय के हार बनने में भी समान रूप से सफलीभूत हुए थे। दोनों ही के व्यक्तित्व में सुस्पष्ट रूप से महानता और प्रभुत्व का एक दुर्द्धर्ष तेज झलकता था। दोनों की वाणी में एक निर्द्वन्द्व सिंह-गर्जना का-सा भाव था! दोनों के राजनीतिक दृष्टिकोण में एक असाधारण यथार्थवादिता का पुट था! निश्चय ही वे मानों एक ही साँचे में ढले हुए-से प्रतीत होते थे! किन्तु एक दूसरे से इतना अधिक सादृश्य रखते हुए भी मोतीलाल और चित्तरंजन दोनों ही के व्यक्तित्व की अपनी अपनी विशिष्टताएँ भी कम न थीं। उदाहरणार्थ, देशबन्धु जहाँ उग्र भावनाओं की आँधी से निरंतर उद्वेलित उमड़ते हुए महासागर जैसे थे, वहाँ मोतीलाल थे मानों सीना तान-कर खड़े हुए एक अडिग अभेद्य पर्वतराज के समान! यदि देशबन्धु थे अपनी कविता की भाँति भावों के तूफ़ान को इस छोर से उस छोर तक अपने अन्तर में बसाए हुए और उसे निरंतर छलकाते रहनेवाले मानों साकार 'पद्य' की मूर्त्ति, तो मोतीलाल थे राजनीति के कठोर सत्यों की यथार्थता को ठंडे दिमाग़ से नग्न रूप में देखने तथा उसी रूप में उसको संसार के आगे प्रस्तुत करनेवाले जीते-जागते 'गद्य' के प्रतीक! इसीलिए एक था जहाँ जनशक्ति को हर प्रकार से उभाड़कर शत्रु के लिए दावानल की लपटें जगा देनेवाला साक्षात् विद्रोह का पुरोहित, तो दूसरा था एक-एक पैंतरे की समझ-बूझकर योजना करनेवाला विज्ञानमूलक रण-विधान का एक पका हुआ आचार्य-सा, जिसके कि मुँह से कभी भी एक भी ऐसा शब्द तक निकलना ग़ैर-मुमकिन था, जोकि शत्रु की पकड़ में आ जाता या अपने निर्धारित वार से चूक जाता, न कठिन से कठिन परिस्थिति में भी जिसका मस्तिष्क अपना संतुलन खोते कभी पाया जा सकता था! निश्चय ही ये दोनों नेता अपने युग के दो अनूठे भारत-सपूत थे! उन्होंने केवल अपने मस्तिष्क की मेधा-शक्ति ही से शत्रु की हिम्मत पस्त कर दी थी और मातृभूमि के तो अपने अपूर्व त्याग, निरंतर देश-हित-साधन एवं दिव्य राजनीतिक कौशल के गुणों के कारण वे कितने लाड़ले बन गए थे, इसका साक्षी तो आज भी हमारे मन में उनके प्रति जमा हुआ वह श्रद्धा का भाव है, जिसमें काल का प्रवाह भी कोई अंतर नहीं ला पाया है!

और फिर मोतीलालजी के प्रति तो हमारा ऋण दिन प्रति दिन मानों दुगुना-चौगुना बढ़ता ही जा रहा है, क्योंकि उन्होंने न केवल अपनी आयु ही की बलि इस देश की वेदी पर चढ़ाई, प्रत्युत अपने पीछे भी उस परंपरा को क़ायम रखते हुए जवाहरलाल जैसा अनमोल रत्न भी मातृभूमि को वह दे गए! तो फिर उनकी देन का आख़िरी आँक हम अभी लगाएँ भी तो कैसे? वस्तुतः बंगाल के प्रसिद्ध टाकुर-परिवार को छोड़ आधुनिक युग में दूसरे किस एक परिवार ने इस देश को वह युगदान दिया, जो कि उस काश्मीरी ब्राह्मण-परिवार से हमने पाया, जिसने मोती और जवाहर जैसे रत्नों की भेंट हमें दी?

विट्ठल भाई पटेल

बात है उस ज़माने की, जबकि प्रसिद्ध 'स्वराज्य-दल' के रूप में कौंसिलों में मोर्चा बाँधकर कांग्रेस ने स्वयं सरकार के घर-आँगन ही में अड़ंगा-नीति का अपना ऐतिहासिक संग्राम छेड़ रक्खा था। कहते हैं, इन्हीं दिनों नई दिल्ली में आए हुए एक अमेरिकन दंपति एक रोज़ केन्द्रीय एसेम्बली-भवन को देखने के लिए पहुँचे। दैवयोग की बात थी कि वहाँ उनकी भेंट सफ़ेद दाढ़ी-वाले एक बूढ़े खद्दरधारी व्यक्ति से हो गई, जिसने बड़ी भद्रता के साथ घुमा-फिराकर सारा कौंसिल-हाल उन्हें दिखा दिया और तब बारी-बारी से दोनों को स्वयं प्रेसीडेण्ट की कुर्सी पर बिठाकर अदब के साथ उनका अभिवादन किया। प्रसन्न होकर उन्होंने चाहा कि उस बूढ़े आदमी को कुछ बख़्शीश दें,

परन्तु वह भला क्योंकर इस बात पर राज़ी होने लगा! दूसरे दिन जब यही लोग एसेम्बली का अधिवेशन देखने की इच्छा से फिर से कौंसिल-भवन पहुँचे तो आश्चर्य के मारे एकदम हक्का-बक्का-से रह गए, क्योंकि उन्होंने देखा कि वही बुड्ढा भरी सभा में एसेम्बली के अध्यक्ष (प्रेसीडेण्ट) की कुर्सी पर विराजमान है और बड़े ठाठ के साथ उस सभा का संचालन कर रहा है! कहने की आवश्यकता नहीं कि मौक़ा पाते ही उन बेचारों ने तुरन्त जाकर पिछले दिन की अपनी बेअदबी के लिए माफ़ी माँगी! किन्तु विट्ठलभाई उत्तर में केवल खिलखिलाकर हँस दिए! ऐसी थी उनकी निरभिमान सरलवृत्ति और पग-पग पर अपना अनूठा रूप प्रकट करनेवाली उनकी जन्मजात स्वाभा-

विक विनोदशीलता ! किन्तु यही वह प्रेसीडेण्ट पटेल थे, जोकि धारा-सभा के भरे इजलास में आवश्यकता पड़ने पर, मानों हाथों में बेंत लिये पढ़ानेवाले स्कूल-मास्टर की भाँति, ब्रिटिश सिंह के प्रतिनिधि-स्वरूप गोरे कमाण्डर-इन-चीफ़ तक को किसी भी तरह की मुरौवत के बिना फटकारने से बाज़ नहीं आते थे—उसी कमाण्डर-इन-चीफ़ को, जिसका कि दर्जा अंग्रेज़ों की निगाह में लगभग वायसराय ही के समकक्ष माना जाता था ! सच तो यह था कि क्या वायसराय और क्या एक साधारण-से चपरासी, दोनों ही को एक ही निर्द्वन्द्व स्वर से संबोधित करते वह देखे जाते थे ! और इस पर भी नृसिंह के समान निर्भीक यह व्यक्ति था कौन—केवल गुजरात के एक छोटे-से गाँव के एक किसान का लड़का ! किन्तु साथ ही यह भी तो एक उल्लेखनीय विशेषता उसमें जो थी न कि वह था आगे चलकर हमारे राष्ट्रीय महादुर्ग के महाप्रहरी बननेवाले 'लौह पुरुष' सरदार वल्लभभाई का सहोदर बड़ा भ्राता ! अतः जब उसी रक्त से उसका भी निर्माण हुआ था, जिससे कि हमारे 'सरदार' का सर्जन हुआ, तो फिर भला किसकी मजाल थी कि उसकी आँखों से आँखें मिलाने का साहस करता ? किसी आलोचक ने सूत्ररूप में एक ही शब्द में कितनी सार्थकतापूर्वक उसका परिचय आनेवाली पीढ़ियों के लिए अंकित कर दिया है कि वह तो था मानों इस युग का साक्षात् दूसरा 'चाणक्य'—शतरंज के मोहरों की तरह राजनीति की चालें चलने में निपुण इस देश का अपने ज़माने का एक विकट कूटनीतिज्ञ ! तो फिर उसके संबंध में और अधिक कुछ कहने की आवश्यकता ही क्या रह जाती है ?

विट्ठलभाई का जन्म हुआ था १८ फरवरी, सन् १८७१ ई०, के दिन गुजरात के खेड़ा ज़िले के करमसद नामक गाँव के कुरमी जाति के एक किसान-परिवार में और उनकी शिक्षा पहले तो अपने गाँव में तथा बाद में नड़ियाद में हुई थी, जो कि खेड़ा ज़िले का ख़ास शहर है। आरंभ में कुछ दिनों तक बोरसद में साधारण मुख़्तारी करने के बाद सन् १९०४ ई० में वह बैरिस्टरी की सनद के लिए इंगलैण्ड गए और वहाँ से लौटकर कई वर्ष तक बड़ी सफलता के साथ उन्होंने बंबई में प्रेक्टिस की। और उनके बैरिस्टर बनने की यह कथा भी कोई कम विनोदपूर्ण नहीं है ! कहते हैं, विलायत जाने के लिए पासपोर्ट तो दरअसल मँगवाया था उनके अनुज वल्लभभाई पटेल ने, किन्तु तत्संबंधी एक पत्र कहीं पड़ गया बड़े भ्राता विट्ठलभाई के हाथों में और उन्होंने तुरन्त ही छोटे भाई को यह कहकर राज़ी कर लिया कि 'मैं बड़ा हूँ, इसलिए पहले मुझे इंगलैण्ड हो आने दो, फिर तुम जाना !' और चूँकि दोनों के नाम अंग्रेज़ी में एक जैसे ही—'वी० जे० पटेल'—लिखे जाते थे, अतः उसी पासपोर्ट का अपने लिए प्रयोग करने में उन्हें कोई कठिनाई न हुई ! किन्तु वापस लौटकर वकालत के क्षेत्र में जमने के कुछ ही वर्ष उपरान्त सन् १९०८ ई० में उनकी धर्मपत्नी का देहान्त हो जाने के कारण उनका गृह-जीवन शून्य हो गया और उन्हें अब गृहस्थी में कोई दिलचस्पी नहीं रह गई। अतः अपनी जीवन-धारा की दिशा बदलकर अब वह पूरी तरह कमर कस उतर पड़े लोकसेवा के क्षेत्र में ही, जिसकी कि हूक उनके दिल में पहले ही से अपने कर्मठ पिता के प्रबल संस्कारों के फलस्वरूप विद्यमान थी, जो कि सन् सत्तावन की ग़दर में शरीक़ होने के लिए गुजरात से ठेठ उत्तरी हिन्दुस्तान पहुँचे थे और झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई द्वारा आयोजित मुक्ति-यज्ञ में गौरवपूर्ण भाग ले अपनी देशभक्ति का प्रखर परिचय दे चुके थे ! कुछ ही दिनों में अपने प्रकाण्ड व्यक्तित्व और राजनीतिक बुद्धिबल के प्रभाव से विट्ठलभाई अपने नगर के सार्वजनिक क्षेत्र में सबसे आगे की पंक्ति में प्रतिष्ठित हो गए, और फलतः सन् १९१८ ई० में जब बंबई में श्री सैयद हसन इमाम की अध्यक्षता में कांग्रेस का एक विशेषाधिवेशन किया गया तो वही उसकी स्वागत-समिति के अध्यक्ष बनाए गए। विट्ठलभाई की राजनीति थी आरम्भ ही से 'गरम' राजनीति—वह थे लोकमान्य तिलक के सम्प्रदाय के व्यक्ति और इसीलिए प्रसिद्ध 'होमरूल-आन्दोलन' में उमङ्ग के साथ उन्होंने भाग लिया था। कांग्रेस के उपर्युक्त विशेषाधिवेशन में स्वागताध्यक्ष की हैसियत से उन्होंने जो भाषण दिया था वह था गम्भीर राजनीतिक विचार-मंथन से ओतप्रोत एक भाषण और उसमें प्रतिबिम्बित उनकी योग्यता

से प्रभावित होकर ही कांग्रेस के उस वर्ष के मंत्रित्व का भार उनके कंधों पर धर दिया गया था तथा प्रस्तावित मांटेगू चेम्सफ़र्ड-सुधारों के संबंध में बिठाई गई 'सिलेक्ट-कमेटी' के समक्ष देश का दृष्टिकोण प्रस्तुत करने के लिए जो कांग्रेसी शिष्ट-मंडल सन् १९१९ ई० में विलायत भेजा गया था, उसमें भी वह सम्मिलित कर लिये गए थे। समय बीतते देश के राजनीतिक आँगन में उनका अपना एक स्थान-विशिष्ट बन गया और इस बीच अपना सारा समय देशसेवा ही में अर्पित करने के उद्देश्य से जब अपनी ज़बर्दस्त प्रैक्टिस छोड़कर पहले तो प्रान्तीय लेजिस्लेटिव एसेम्बली और तदुपरान्त वायसराय की इंपीरियल कौंसिल के अखाड़े में वह उतरे तो उनकी अद्वितीय पार्लामेण्टरी प्रतिभा से चकित होकर सारे देश का ध्यान एकबारगी ही उनके प्रति खिंच गया।

इसके बाद छिड़ा १९२०-२१ ई० का असहयोग-आन्दोलन और कांग्रेस की कौंसिल-बहिष्कार विषयक नीति का पालन करते हुए विट्ठलभाई आगामी चुनाव से पृथक् रहकर कुछ समय के लिए धारा-सभा के अपने उस नैसर्गिक कार्यक्षेत्र से बरबस बिछुड़-से गए। किन्तु उनका यह बिछोह अधिक काल तक न रहा। कारण, चौरीचौरा की दुर्घटना के बाद गांधीजी द्वारा आन्दोलन के एकाएक स्थगित कर दिए जाने तथा प्रसिद्ध 'सत्याग्रह-जाँच-समिति' द्वारा (जिसके एक सदस्य हमारे चरितनायक भी थे) देश का तत्कालीन वायुमंडल सत्याग्रह के अनुपयुक्त घोषित कर दिए जाने की दशा में कांग्रेस पुनः कौंसिलों की ओर अभिमुख हुई और इस नई प्रवृत्ति में देशबन्धु तथा पंडित मोतीलाल के साथ विट्ठलभाई ने भी संपूर्ण शक्ति के साथ भाग लिया। इस प्रकार निर्मित हुआ इतिहास-प्रसिद्ध 'स्वराज्य-दल' का वैधानिक मोर्चा, जिसके प्रधान सेनापतियों के रूप में देशबन्धु, मोतीलाल-जी और विट्ठलभाई पटेल तीनों ने अपने-अपने ढंग से गहन उत्तरदायित्व का भार वहन किया। इसी बीच बंबई के म्युनिसिपल कार्पोरेशन में भी सदलबल प्रविष्ट होकर विट्ठलभाई 'नेशनलिस्ट म्युनिसिपल पार्टी' के रूप में वहाँ एक सशक्त राष्ट्रीय पक्ष का संगठन कर मताधिकार का दायरा बढ़ाने, म्युनिसिपल कर्मचारियों के लिए खद्दर पहनना अनिवार्य कर देने तथा वायसरायों को मानपत्र देने की दासतामूलक प्रथा का डटकर विरोध करने जैसे स्तुत्य कार्यों द्वारा कौंसिलों से बाहर भी राष्ट्रीय अनुष्ठान को आगे बढ़ाने में महत्त्वपूर्ण योग दे चुके थे तथा सन् १९२३ ई० के इतिहास-प्रसिद्ध नागपुर-झंडा-सत्याग्रह में सक्रिय भाग लेकर खुले मैदान में युद्ध लड़ने की अपनी क्षमता का भी एक सजीव प्रमाण वह प्रस्तुत कर चुके थे। किन्तु एक जन्मजात पार्लामेण्टेरियन के नाते उनके यथार्थ जौहर तो खुल पाए एसेम्बली के उस रंगमंच पर पहुँचकर ही, जो कि आगामी कई वर्षों के लिए अब उनका मुख्य कार्यक्षेत्र बननेवाला था! निश्चय ही २२ अगस्त, सन् १९२५ ई०, की वह ऐतिहासिक घड़ी, जिस दिन कि वह केन्द्रीय धारा सभा के पहले ग़ैर-सरकारी अध्यक्ष चुने गए थे, उनके जीवन के सबसे गौरवपूर्ण अध्याय का उद्घाटन करनेवाली एक संधिवेला थी। क्योंकि यही तो वह दिन था, जबकि उनके नेतृत्व में उस चिरस्मरणीय वैधानिक संघर्ष का श्रीगणेश हुआ था, जिसने ब्रिटिश न्याय और प्रजासत्तावाद के थोथे ढोंग का पर्दाफ़ाश कर हमारे स्वातंत्र्य-संग्राम को बल देने तथा जनसाधारण पर छाये हुए नौकरशाही के आतंक का भय भगाने में अपने ढंग से अनमोल योग दिया! इस मौक़े पर, कहते हैं, शुद्ध खद्दर की अपनी विशिष्ट पोशाक उपलब्ध न होने की दशा में विनोदी विट्ठलभाई काम चलाने के लिए श्रीमती सरोजिनी नायडू की एक काली खद्दर की साड़ी ही से अपना चोग़ा और 'विग' (सिर की पोशाक) बनवाकर उन्हें पहन एसेम्बली में उपस्थित हुए थे! और इसके बाद तो हाथों में न्याय का वह दण्ड धारण कर जिस दृढ़ता, निर्भीकता एवं राजनीतिक चतुराई के साथ अगले पाँच वर्षों तक लोक-सभा के उस कठिन संचालन-कार्य को उन्होंने निबाहा तथा जैसी-जैसी मातें सरकारी पक्ष को दीं, उनकी भी क्या किसी को आज याद दिलाना आवश्यक है? वे तो ऐसी घटनाएँ हैं कि जो इतिहास के पन्नों पर सदा के लिए अपनी अमिट छाप अंकित कर सर्वविदित बातों का-सा रूप ग्रहण कर चुकी हैं! आज भला किसे ज्ञात न होगी सन्

१९२८ ई० के प्रसिद्ध 'सार्वजनिक रक्षा-बिल' के विवाद के समय ठाने गए उनके अद्भुत रणकौशल-सूचक वैधानिक युद्ध एवं उसी प्रकार सन् १९२९ ई० में कांग्रेसी सदस्यों के ऐतिहासिक 'वाक-आउट' के समय अनिश्चित काल के लिए धारा-सभा को स्थगित कर देने की चाणक्य की-सी उनकी कूट राजनीतिक चाल की वह कहानी, जिससे हमारे राष्ट्रीय इतिहास का पूरा एक पृथक् अध्याय आलोकित है ? उनकी उस अद्भुत राजनीतिक प्रतिभा एवं युद्ध-कौशल ही का तो प्रभाव था कि 'स्वराज्य-दल' ने प्रतिक्रियावादी तत्त्वों से ज़बर्दस्त सामना पड़ने पर भी सरकार के उस गढ़ के भीतर कांग्रेस का राष्ट्रध्वज ऊँचा उठाए रखने में निरन्तर सफलता पाई थी ! और यही कारण था कि सन् १९२६ ई० में दूसरी बार जब चुनाव हुआ था तब भी प्रेसीडेण्ट की उस गद्दी के लिए पुनः वही अविरोध निर्वाचित हुए थे !

किन्तु अंत में वह दिन भी आया, जब कि एसेम्बली के उस नाटक से ऊबकर कांग्रेस को पुनः रणभूमि के खुले आँगन में उतर पड़ने को विवश होना पड़ा और फलतः विट्ठलभाई को अपनी वह गद्दी छोड़ बन जाना पड़ा सरकारी जेल का मेहमान ! उन्होंने ही पेशावर के प्रसिद्ध गोलीकाण्ड के संबंध में कांग्रेस के आदेश से वह रिपोर्ट तैयार की थी जिसे प्रकाशन से पहले ही सरकार ने ज़ब्त कर लिया था और जिस पर विचार करते समय दिल्ली में कांग्रेस-कार्यकारिणी के सभी सदस्य गिरफ़्तार कर लिये गए थे, जिनमें से एक थे हमारे चरित-नायक भी ! तब स्वास्थ्य की ख़राबी के कारण अवधि से पहले ही छूटकर इलाज के लिए वह गए विएना, जहाँ से राउण्ड-टेबल-कान्फ्रेन्स के दिनों में इंगलैण्ड का भी एक चक्कर उन्होंने लगाया। किन्तु लौटते ही फिर सरकार ने उन्हें अपने कारागार का वासी बना लिया। अतः जब पुनः तंदुरुस्ती बिगड़ने पर वह छोड़े गए तो स्वास्थ्य-सुधार के लिए वापस विएना आकर अच्छे होने पर भी लौटकर वह भारत नहीं आए—बल्कि इसी बीच संयुक्त राष्ट्र (अमेरिका) की एक महत्त्वपूर्ण प्रचार-यात्रा उन्होंने की, जिसके दर्मियान असंख्य भाषण अपनी मातृभूमि की आज़ादी के पक्ष में उन्होंने दिए और न्यूयॉर्क, फिलाडेल्फ़िया, बोस्टन, आदि नगरों द्वारा उन्हें काफ़ी सम्मान भी प्राप्त हुआ ! इसी ज़माने में आयर्लैण्ड के नेता डी-वेलेरा से भी वह मिले थे। किन्तु तब तक शरीर की दशा गिर जाने के कारण पुनः विएना लौटकर विश्राम करने को उन्हें विवश हो जाना पड़ा था। यहीं स्वास्थ्य-सुधार के लिए आए हुए युवक सुभाषचन्द्र बोस से उनका एकाएक सम्मिलन हो गया, जिनके साथ मिलकर एक महत्त्वपूर्ण राजनीतिक वक्तव्य उन्होंने इन्हीं दिनों निकाला, जिसमें देश को एक नया क़दम उठाने को उन्होंने प्रेरित किया था ! परन्तु अब वस्तुतः इस वृद्ध नेता का अधिक संसर्ग-लाभ हमारे भाग्य में न था; कारण २२ अक्टोबर, सन् १९३३ ई०, के दिन उस सुदूर विदेश ही में जिनेवा के समीप के एक चिकित्सालय में एकाएक परलोक सिधार कर वह सदा के लिए हमसे बिछुड़ गया ! यह एक उल्लेख योग्य बात है कि मृत्यु से पहले अपनी सारी संपत्ति यह महान् नेता मातृभूमि के संग्राम को आगे बढ़ाने के हेतु उत्सर्गित कर गया और अंतिम क्षणों में भी उसके मुख से प्रार्थना के रूप में जो शब्द निकलते सुनाई दिए वे यही थे कि 'भारत शीघ्र स्वतंत्र हो !'

विट्ठलभाई पटेल, जिन्होंने कि देशबन्धु और मोतीलालजी के साथ शासन-सत्ता के दुर्भेद्य गढ़ के भीतर प्रविष्ट हो अंगद की तरह ताल ठोंककर अपना पैर वहाँ जा जमाया और एक मनोरंजक वैधानिक संग्राम छेड़कर नौकरशाही तथा जनता के बीच की चौड़ी दरार को खोलकर संसार के आगे प्रदर्शित कर दिया—जिन्होंने कि इस देश में पार्लामेण्टरी पद्धति की लीक प्रस्थापित करने में अगुवाई कर आगे आनेवाली हमारी लोकसभाओं और जनपंचायतों का मार्ग प्रशस्त करने में चिर-स्मरणीय योग दिया—वह प्रेसीडेण्ट पटेल निश्चय ही आधुनिक भारत के एक महान् राष्ट्र-निर्माता थे ! यह देश का दुर्भाग्य था कि असमय ही वह इस लोक से उठ गए, अन्यथा चाणक्य की-सी अपनी मेधा से शतरंज के दाँव-पेंचों का-सा कोई नया खेल रचकर आज़ादी की लड़ाई के दिनों में आगे चलकर अपने अगाध अनुभव-ज्ञान का लाभ वह हमें देते, इसमें किसे सन्देह हो सकता है ?

सी बन गईं, और था यह उन वीर युवाओं का संग्राम, जो कि आन की आन में ओजस्विता, बलिदान और उच्च आदर्श के सजीव प्रतीक जैसे बन गए! यह था युवा और वृद्ध, धनी और निर्धन, पंडित और अपढ़ तथा दलित-दीन, साधु-संत, सभी का एक सामान्य संघर्ष! ......इस तरह हम, जो कि सदैव स्वप्नलोक में विचरण करनेवाले रहे—जिन्होंने कल्पना को साकार बनाने ही में अधिकतर समय बिताया, जो कि विवेक की राह के दिग्दर्शक तथा त्याग की वीथिका ही के अनुगामी रहे—वही आवश्यकता पड़ने पर मातृभूमि की मुक्ति की लड़ाई के हेतु वीर सैनिक भी

सरोजिनी नायडू

'हे संसार के स्वतंत्र राष्ट्रो, आज अपनी स्वाधीनता के इस मंगल-दिवस पर हम आप सबका अभिनन्दन करते हैं! हे दुनिया के परतंत्र राष्ट्रो, अपनी आज़ादी की इस घड़ी में हम आप सबके भावी स्वातंत्र्य के लिए मंगल-कामना करते हैं! हमारा यह मुक्ति-संग्राम एक युगान्तरकारी संग्राम रहा है, जो वर्षों जारी रहा और असंख्य प्राणों की आहुतियाँ जिसमें हमें देना पड़ीं! यह था एक नाटक जैसा रोमांचक संघर्ष—उन लाखों वीरों का, जिनके कि नाम अज्ञात ही रहेंगे! यह उन वीरबालाओं का संग्राम था, जो कि उस महाकाली की भाँति, जिसकी कि पूजा वे करती आई हैं, एकाएक शक्ति की प्रचण्ड मूर्त्तियाँ-

प्रस्तुत करने में पीछे न हटे और संसार के समस्त साहसिक कार्यों एवं भावनाओं की लय में लय मिलाने में समर्थ रहे! ......हे संसार के बन्धु-राष्ट्रो, आज मैं अपनी मा भारतभूमि के नाम पर आप सबका अभिनन्दन करती हूँ—उस भारतमाता के नाम पर, जिसके घर की छत हिम से मंडित है, जिसकी दीवारें गरजते हुए समुद्र हैं, और जिसके कि द्वार आपके लिए सदैव खुले हैं! क्या आप शान्ति या विवेक की राह की खोज में हैं? क्या आप आश्रय या सहायता के इच्छुक हैं? क्या आप सच्चे प्रेम अथवा ज्ञान की

तृषा से तृषित हैं? तो आइए, हमारे निकट आइए! पूरे विश्वास के साथ आइए! पूरी आशा के साथ आइए! इस धारणा को लेकर आइए कि आप हर ईप्सित वस्तु हमसे पा सकेंगे! आज मैं भारत के नाम पर इस देश की स्वतंत्रता का यह अभय वचन सारे संसार को देती हूँ—उस महादेश भारत के नाम पर, जोकि अतीत में भी अमर रहा और भविष्य में भी अविनश्वर रहेगा, तथा अंत में जिसके हाथों ही एक दिन संसार को पूर्ण शान्ति का मार्ग दिखाई देगा!'*—

१५ अगस्त, १९४७ ई०, की उस ऐतिहासिक मंगल-घड़ी में काव्यमय पंक्तियों में पिरोया हुआ संसार भर के बन्धु-राष्ट्रों के नाम इस महादेश की शुभभावना का यह संदेश जिस-जिसने भी भारत-कोकिला श्रीमती सरोजिनी नायडू के मुख से उस दिन रेडियो पर सुना होगा, क्या क्षण भर के लिए भी वह यह अनुभव किए बिना रह सका होगा कि आदि से अंत तक यह किसी महान् कवियित्री द्वारा उद्घोषित एक गद्यमय काव्य ही था, छः करोड़ की जनसंख्यावाले एक विशाल प्रान्त के नव-निर्वाचित गवर्नर या शासक का स्वर कदापि नहीं? और यही है वस्तुतः आधुनिक भारत की महिलाओं की सिरमौर इस महान् लोकनेत्री के विषय में सबसे अधिक उल्लेखनीय एवं उसके व्यक्तित्व की परख के लिए मानों कुञ्जी की-सी एक बात कि नख से शिख तक वह पहले एक कवियित्री है, उसके उपरान्त और कुछ—ठीक वैसे ही जैसे कि गुरुदेव रवीन्द्रनाथ पहले एक कवि और बाद में कुछ और कहे जा सकते थे! और कैसी अद्भुत है यह कवियित्री कि उसका काव्य केवल छंदों तक ही सीमित नहीं है—वह शब्दों की ही सीमा तक कदापि परिमित नहीं! उसकी तो मानों सारी जीवनी ही एक दीर्घ कविता-सी है! उसने अपनी देशभक्ति और काव्य की उमंग दोनों को एक ही साथ मिलाकर अपनी जीवनव्यापी साधना को ऐसा व्यापक बना डाला है कि उसकी कविता ने सक्रिय देशसेवा का और देशसेवा ने एक सुदीर्घ कविता का-सा रूप ग्रहण कर लिया है! तभी तो जनहृदय ने अन्य किसी सम्माननीय उपाधि से न पुकारते हुए एक स्वर से उसे केवल 'भारत-कोकिला' कह-कर सम्बोधित करने ही में संतोष पाया है, यद्यपि अपने जीवन के पिछले पूरे बत्तीस वर्ष यह सन्नारी देश के राजनीतिक प्रवाह में अपने आपको पूरी तरह छोड़कर सबसे अग्रिम पंक्ति में सक्रिय रूप से युद्ध लड़ते हुए राष्ट्रवेदी पर न्यौछावर कर चुकी है!

देवी सरोजिनी आधुनिक भारत की वह अन्यतम विभूति हैं, जिन्होंने इस बात का एक जीता-जागता उदाहरण प्रस्तुत कर दिया है कि इस महा-देश के पुरुषत्व की भाँति उसका स्त्रीत्व भी किस गगनस्पर्शी उँचाई तक उठने की क्षमता से आज भी संपन्न है—उन्होंने यह प्रमाणित कर दिया है कि आज भी इस देश में गार्गी, लोपामुद्रा, लीलावती, भारती, मीरा, अहल्याबाई और लक्ष्मीबाई की ज्वलन्त परंपरा की मशाल ऊँचा उठाए रखने के सामर्थ्य से युक्त नारीत्व के प्रतिभा-बीज लुप्त नहीं हो पाए हैं! हमारी प्राचीन अनुश्रुति में वह जो अति ही महत्त्वपूर्ण लाक्षणिक गाथा पिरोई हुई है कि किसी युग में जब असुरों (अथवा राष्ट्र-विरोधी शक्तियों) का सफलतापूर्वक सामना करने में देवताओं (अथवा राष्ट्र के पुरुष-तत्त्व) ने अपने आपको अकेले अक्षम पाया तब शक्ति-रूपी भगवती चण्डी (अथवा राष्ट्र के ज्वलन्त नारी-तत्त्व) ने वीरवेश धारण कर मैदान में उतर शत्रुओं के दमन और स्वपक्ष के संरक्षण का भार अपने ऊपर लिया था, उसके अंतर्गत निहित संकेत को मानों सार्थक बनाते हुए ही देवी सरोजिनी काव्य के स्वप्नलोक के एकान्त कक्ष को त्याग कर वीराङ्गना-वेश में आ खड़ी हुई हैं राजनीति के रणप्राङ्गण में और विगत तीस-बत्तीस वर्षों के अपने इस नेतृत्वकाल में संकट के आड़े समय में अथवा शान्ति की रचनात्मक तैयारी की घड़ी में क्या-क्या मोर्चे उन्होंने हमारे लिए न सँभाले? क्यों उन्हें ऐसा करने को विवश होना पड़ा, आइए, स्वयं उन्हीं के शब्दों में सुनिए, जो कि आज से तीस वर्ष पूर्व कांजीवरम् में नियोजित मद्रास प्रान्तीय सम्मेलन के अध्यक्ष-पद से उन्होंने उद्घोषित किए थे। उन्होंने कहा था—'बार-बार लोगों ने मुझसे प्रश्न किया है कि तुम कवियों के

*१५ अगस्त, १९४७ ई०, के दिन श्रीमती नायडू द्वारा किए गए वायु-प्रवचन का एक अंश।

स्वप्नलोक की हस्ति-दन्त-निर्मित मीनार के एकान्त शिखर को छोड़कर इस हाट-बाज़ार में क्यों उतर आई हो ? क्यों काव्य की विपंची और मुरलिका का रूप छोड़कर उन लोगों की कर्णभेदी रणभेरी बनने के लिए अग्रसर हुई हो, जो कि राष्ट्र का युद्ध के लिए आह्वान कर रहे हैं ? और मेरा उत्तर यह है कि इसलिए मैंने ऐसा किया है कि कवि का कर्त्तव्य गुलाब की पुष्प-वाटिका में स्थित अपने स्वप्न-जगत् की उस हस्ति-दन्त-निर्मित मीनार के एकान्त में दुनिया से अलग बैठे रहना नहीं है, बल्कि उसका स्थान तो जनसाधारण के बीच आम सड़कों की धूलि में है—उसका भाग्य तो बँधा हुआ है संग्राम के उतार-चढ़ाव के साथ ही ! सच तो यह है कि उसके कवि होने की सार्थकता ही इसमें है कि संकट की घड़ी में, निराशा और पराजय के क्षण में, वह भविष्य के निर्माण का स्वप्न देखनेवाले को साहस और आशा का यह संदेश दे सके कि यदि तुम एक सच्चा सपना अपने अंतस्तल में बसाए हुए हो तो समझ लो कि तुम्हारे सन्मुख प्रस्तुत ये सारी आपदाएँ, ये भ्रान्तियाँ, ये निराशाएँ केवल माया हैं और जो कुछ सत्य है वह आशा ही है !......इसीलिए संग्राम की इस घड़ी में, जबकि देश के लिए विजय-प्राप्ति तुम्हारे और केवल तुम्हारे ही हाथों में है, मैं एक स्त्री आज अपने घर-आँगन को छोड़ आ खड़ी हुई हूँ इस हाट-बाज़ार में और मैं जो कि स्वप्नों की दुनिया ही में विचरनेवाली रही, आज यहाँ खड़ी होकर पुकार रही हूँ—साथियो, आगे बढ़ो और विजय प्राप्त करो !'

कितनी चुभती हुई है यह आवाज़ और इसमें प्रतिध्वनित है हम भारत-संतानों के प्रति मानों स्वयं भारतमाता ही के मुख से निकली हुई कैसी आशाभरी दर्दभरी पुकार ! कितनी बार हमें यह अनुभव न हुआ होगा कि जब देवी सरोजिनी बोलती हैं तो स्पष्टतः ऐसा प्रतीत होने लगता है, जैसे स्वतः भारतमाता ही की वाणी सुनाई पड़ रही है ? उन्होंने स्वयं कभी जो यह कहा था कि 'महात्मा गांधी कन्हैया हैं और मैं हूँ उनकी बाँसुरी', इस कथन में जहाँ गांधीजी के प्रति उनकी प्रगाढ़ भक्ति-भावना झलकती है, वहाँ यह सत्य भी तो किसी कम अंश में नहीं छिपा है कि उन्हें ही इस युग में काव्यमय संगीतमय स्वर में इस देश की अंतरात्मा की निगूढ़तम वाणी को निनादित करने का गौरव-पूर्ण विशिष्टाधिकार मिला है ! क्योंकि जिनकी मुरलिका अपने आपको उन्होंने घोषित किया था, वह गांधीजी आख़िर इस देश की अंतरात्मा के सिवा और थे ही कौन ? सचमुच ही सरोजिनी नायडू को पाकर हम धन्य हुए हैं—उन्हें पाकर भारतमाता कृतार्थ हुई हैं ! इस सन्नारी ने, भारत क्या, सारे एशिया महाखण्ड का मस्तक गर्वोन्नत कर दिया है ! बल्कि यदि यह कहा जाय कि उसे पाकर गौरवान्वित हुआ है इस युग का सारा नारी-संसार तो भी कोई अतिशयोक्ति जैसी बात न होगी !

सरोजिनी देवी का जन्म १३ फरवरी, सन् १८७९ ई०, के दिन दक्षिण भारत के हैदराबाद नगर में हुआ था। किन्तु दक्षिण में जन्म पाने तथा उपनाम के रूप में 'नायडू' शब्द अपनाये रहने पर भी वस्तुतः वह हैं बंगाल की सुपुत्री, क्योंकि उनके पिता डॉ० अघोरनाथ चट्टोपाध्याय, जो कि निज़ाम के शिक्षा-विभाग में एक उच्च पद पाकर ही पिछले दिनों से हैदराबाद में आ बसे थे, मूलतः पूर्वीय बंगाल के ढाका ज़िले के रहनेवाले थे ! वह थे विज्ञान के प्रखर पंडित और स्वभाव ही से विद्याव्यसनी एवं प्रगतिशील सुधारवादी होने के कारण उनका घर नई रोशनी का केन्द्रस्थान-सा बना हुआ था ! ऐसे सुसंस्कृत वातावरण में जन्म लेकर बचपन ही से सरोजिनी का उच्चतम संस्कारों से अभिभूत होना स्वाभाविक ही था। कहते हैं, समृद्ध पिता ने अपनी इस प्रतिभावान पुत्री को आरंभ ही से शिक्षा-दीक्षा के लिए अंग्रेज़ और फ्रेंच अभिभाविकाओं की देखरेख में रक्खा था और इतना बढ़ा-चढ़ा था उनका शिक्षा-संबंधी उत्साह कि उस छोटी-सी उम्र ही में उसके लिए उन्होंने एक निजी लघु लायब्रेरी तक बनवा दी थी ! इसी वायुमण्डल का प्रभाव था कि सरोजिनी में बाल्यावस्था ही से साहित्य-संबंधी प्रबल अनुराग का एक भाव जग गया और फलतः बारह वर्ष की अल्पायु ही में मैट्रिक पास कर तेरह-चौदह वर्ष की उम्र होते-होते तो न केवल सभी मुख्य-मुख्य अंग्रेज़ी कवियों की रचनाओं से वह सुपरिचित हो लीं, प्रत्युत छः दिनों की अवधि में ही स्वतः भी १३०० पंक्तियों का एक

अंग्रेज़ी काव्य उन्होंने रच डाला और इसके कुछ ही दिन उपरान्त रोग-शैय्या पर पड़े-पड़े ही लिख डाला २००० पंक्तियों का एक छोटा-सा नाटक भी ! वस्तुतः कविता करने की ऐसी नैसर्गिक प्रतिभा उनमें विद्यमान थी कि एक बार बीजगणित का एक प्रश्न हल करते-करते बदले में उनके मस्तिष्क से उमड़ पड़ा था एक सर्वाङ्गसम्पूर्ण पद्य ही !

तब निज़ाम-सरकार से वार्षिक छात्रवृत्ति पा, उन्नीसवीं शताब्दी के उस अंधकारपूर्ण ज़माने में हां जबकि भारतीय महिलाएँ परदे से बाहर झाँकने में भी भय खाती थीं, यह बंगाली बाला उच्च अध्ययन के लिए सोलह वर्ष की उम्र में पहुँची विलायत, और १८९५ ई० से १८९८ ई० तक तीन वर्ष तक लंदन और कैम्ब्रिज में यूनिवर्सिटी की ऊँची शिक्षा उसने प्राप्त की। किन्तु यहाँ आकर भी उसका प्रधान व्यवसाय तो बना रहा काव्याराधन ही, जिसमें सर एडमंड गॉस तथा आर्थर सायमन्स नामक प्रसिद्ध अंग्रेज़ साहित्यालोचकों से उसे प्रचुर प्रेरणा प्राप्त हुई। कहते हैं, आरंभ में जब उसने अपनी कविताएँ गॉस को दिखाई थीं तो उस विद्वान् ने बिना मुरौवत के यही सलाह दी थी कि इन्हें रद्दी की टोकरी में फेंक दो, कारण वे ऐसी कृत्रिम और अनैसर्गिक रचनाएँ थीं कि लेखिका की अपनी निजी संस्कृति के स्वाभाविक वातावरण की उनमें झलक तक न थी—वे तो आदि से अंत तक ओतप्रोत थीं एकदम योरपीयता के विजातीय अप्राकृतिक रंग ही से ! इसी प्रताड़नायुक्त नेक सम्मति का यह सुपरिणाम था कि स्कॉटलैण्ड और इंगलैण्ड की पहाड़ियों और राबिन-स्काइलार्क पक्षियों के विजातीय वायुमंडल से किनारा कसकर अपने ही देश की गंगा-यमुना, विंध्य-हिमाचल, मथुरा-काशी, आम्र-निम्ब, मोर-चकोर, बुलबुल-कोकिल आदि की सुपरिचित पृष्ठभूमि में प्रेरणा-सूत्र खोजते हुए कवियित्री सरोजिनी अब काव्य की रसधारा प्रवाहित करने के लिए अभिमुख हुई और इस नैसर्गिक प्रवाह के सुपरिणाम के रूप में अंत में जब सन् १९०५ ई० में 'गोल्डन थ्रैशोल्ड' (सुनहली ड्योढ़ी) के नाम से उनका प्रथम काव्य-संग्रह प्रकाशित हुआ तो अपूर्व माधुर्य रस में पगी हुई उसकी संवेदनशील पंक्तियों ने सहज ही सारे अंग्रेज़ी साहित्य-रसिक-संसार का मन हर लिया ! इसके बाद तो 'बर्ड ऑफ़ टाइम' (काल-पखेरू) और 'ब्रोकन विंग' (भग्न पंख) शीर्षक इससे भी अधिक प्रौढ़ रचनाओं के कालान्तर में सामने आने पर निर्विवाद रूप से अपने युग की सर्वश्रेष्ठ कवियित्री के रूप में साहित्यिक दुनिया में वह प्रतिष्ठित हो गई और उनकी उस गंभीरतम कृति 'बर्ड ऑफ़ टाइम' (सन् १९१२ ई०) के बारे में तो गॉस तक के मुँह से ये प्रशस्तिसूचक वाक्य निकल पड़े कि 'आलोचना की ऐसी कोई कसौटी नहीं, जिस पर कि वह एकदम खरी न उतरती हो !'

इस बीच विलायत का अपना अध्ययनकाल समाप्त कर, वापस स्वदेश लौटने पर, डॉ० एम० गोविन्दराजुलु नायडू नामक एक अबंगाली और अब्राह्मण सज्जन से विवाह कर, सामाजिक रूढ़ि-बंधनों के जंजाल में बुरी तरह उलझे हुए उस युग को प्रगति की उज्ज्वल पथरेखा की दिशा दिखाते हुए वह साहित्य की परिधि से परे अब क्रमशः सामाजिक और राजनीतिक पुनरुत्थान के उस आँगन की ओर भी द्रुत गति से अग्रसर होने लगी थीं, जो कि अन्ततोगत्वा उनका प्रधान कार्यक्षेत्र बननेवाला था ! कहते हैं, इस दिशा में अग्रसर होते समय सबसे प्रबल प्रेरणा जो उन्हें मिली थी, वह थी महामना गोखले के इन चुभते हुए वाक्यों से, जो कि एक दिन शाम के समय खुले आकाश के नीचे इस कवियित्री से वार्त्तालाप करते समय भावावेश में एकाएक उस महान् राष्ट्रनायक के मुख से निकल पड़े थे—'आओ, इन नक्षत्रों और सामने फैली हुई इन पहाड़ियों को साक्षी बना अपने जीवन और अपनी प्रतिभा, अपने गीत और अपनी वाणी, अपने विचार और अपने स्वप्नों को मातृभूमि के हेतु न्यौछावर कर दो ! हे कवियित्री, इन पर्वत-शृंगों से भविष्य का दृश्य निहारकर बखेर दो नीचे घाटियों और मैदानों में बसनेवाले श्रमजीवी नर-नारियों में आशा का एक जीवनप्रद संदेश !' और ये मार्मिक शब्द भला किस भावुक हृदय को एकबारगी ही झकझोरकर कर्मक्षेत्र में कूद पड़ने को बाध्य न कर देते ? अतः देखते ही देखते साहित्य के सीमित-परिमित क्षेत्र में बद्ध सरोजिनी की वह मधुर काव्यधारा अब देशभक्ति के विशद आँगन

में एक अविरल कर्मधारा का रूप ले ज्वार की तरह उमड़ पड़ी और इसके बाद तो उनकी उस व्यापक साधना ने हमारे सुप्त प्राणों में नवचेतना की विद्युत्-धारा प्रवाहित करने में जो योग दिया, जिस प्रकार कि उन्हें उस वीरांगना-वेश में सामने आते देख वर्षों से रूढ़िवादिता, अविद्या और कायरता के घिरौंदों में बद्ध इस देश का नारी-समाज एकबारगी ही उद्बुद्ध हो, अपने उस प्राणहारी परदे का अवगुण्ठन तजकर, सूर्योदय के साथ खिल उठनेवाली पद्मिनियों की भाँति असंख्य राष्ट्र-कलिकाओं को प्रस्फुटित करता हुआ उठ खड़ा हुआ, उसकी ज्वलन्त गौरवगाथा से आज भला कौन अपरिचित होगा? वह तो ऐसी एक कहानी है, जो हमारे राष्ट्रीय इतिवृत्त के पन्नों में समाकर सदा के लिये उसके साथ एकाकार हो चुकी है!

यह उल्लेखनीय बात है कि अपने इस राजनीति-प्रवेश का श्रीगणेश देवी सरोजनी ने सन् १९१३ ई० में लखनऊ में मुस्लिम-लीग के प्लैटफ़ार्म पर से हिन्दू-मुस्लिम-एकता की उस महत्त्वपूर्ण आवाज़ को उठाते हुए ही किया था, जिसकी वेदी पर पैंतीस वर्ष बाद युगपुरुष गांधीजी को हमने अपने प्राणों तक की बलि चढ़ाते देखा! इसके बाद सन् १९१५ ई० में बंबई-अधिवेशन के समय वह पहलेपहल सामने आई राष्ट्रवेदी कांग्रेस के मंच पर, और तब से अब तक ऐसा कौन-सा अधिवेशन उस महान् जनसंस्था का हुआ होगा, जिसमें कि इस लोकनेत्री की वाणी न गूँजी हो! आज भी सन् १९१७ ई० के कलकत्ता-अधिवेशन में उद्घोषित इस सन्नारी के ये फड़कते हुए वाक्य आधुनिक भारत के नवोत्थान-यज्ञ में अपना हिस्सा बँटाने को आतुर इस महादेश के नारी-समाज की लगन की एक खुली चुनौती के रूप में हमारे कानों में लगातार गूँज रहे हैं 'मैं हूँ तो एक नारी, फिर भी आप लोगों से कहना चाहती हूँ कि जब भी संकट की वह घड़ी सामने आए और अपने आसपास के घनीभूत अंधकार में पथदिग्दर्शक मशालचियों की पग-पग पर कमी का अनुभव आप करने लगें, जब कि आत्मविश्वास के अभाव में आपको अपने पैर लड़खड़ाते दिखाई दें और अपने बीच ध्वजा-पताका उठानेवालों का आपको एकदम अभाव प्रतीत हो, तब-तब विश्वास रखिएगा कि भारत का नारी-समाज आपका राष्ट्रध्वज ऊँचा उठाए रखने और आपकी शक्ति का मेरुदण्ड दृढ़ बनाए रखने के लिए सदैव सन्नद्ध रहेगा! और इसके दूसरे ही वर्ष कांजीवरम् के मद्रास-प्रान्तीय सम्मेलन के सभानेत्री-पद से राष्ट्र के नौनिहालों को संबोधित कर जो ओजस्वी शब्द उसने उद्घोषित किए थे, उनका तो कुछ अंश पिछले पृष्ठों में हम उद्धृत कर ही चुके हैं! वस्तुतः राष्ट्रीय जागरण की उस प्रभात-वेला में, जब कि अपनी ओजभरी वाग्धारा द्वारा देश की निद्रा भंग कर उसे कर्मक्षेत्र में उतरने के लिए सन्नद्ध करना हमारे राष्ट्रनायकों के कार्यक्रम का एक प्रमुख और आवश्यक अंग बना हुआ था, देवी सरोजिनी ने अपनी अद्भुत वक्तृत्वशक्ति द्वारा जो जादू फूँका था, वह तो इतिहास की एक चिरस्मरणीय वस्तु बन चुका है-- उसके तो चिरसाक्षी हैं जवाहर और सुभाष जैसे वे महान् कर्णधार भी, जो कि इस सन्नारी के उन दिनों के राष्ट्रीयता के भावों से ओतप्रोत अद्भुत भाषणों को सुनकर ही पहलेपहल देशभक्ति की एक दुर्द्धर्ष सक्रिय भावना से अभिभूत हुए थे!

इसके बाद तो हमारे गगनमंडल में जब अपनी संपूर्ण प्रभासहित गांधीरूपी उस सूर्य का उदय हुआ, जिसने अपनी प्रचण्ड रश्मियों के प्रथम आलोक ही में हमारे ठंढे राष्ट्रीय आँगन को स्वातंत्र्य-संग्राम के एक जगमगाते कुरुक्षेत्र में परिणत कर दिया, तब जहाँ मोतीलालजी, देशबन्धु, लालाजी और मालवीयजी जैसे नेता भी शुरू-शुरू में उसके तेज को न पहचानकर उसके द्वारा आलोकित मार्ग पर बढ़ते हुए हिचकिचाए, वहाँ देश की इस सुपुत्री ने पहली झाँकी ही में उसके उस वामन स्वरूप में छिपे हुए विराट् तत्त्व का साक्षात्कार कर तथा उसकी उस अस्फुट महानता में राष्ट्र के समस्त भावी सौभाग्य-सूत्रों को गुह्य भाव से केन्द्रित देखकर, परम श्रद्धाभावपूर्वक अपने आपको उसके द्वारा निर्दिशित कंटकाकीर्ण पथ की अनुयायी बना दिया और उसके उस डेढ़ पसली के कलेवर में छिपे व्यक्तित्व ही में पहचान लिया अपने कल्पना-लोक का मूर्त्तिमान् आदर्श नेता तथा अपना सच्चा राजनीतिक गुरु! निश्चय ही

यह कोई कम गौरव की बात न थी कि सन् १९१९-२० ई० का अपना महान् जनसंग्राम आरंभ करने के पूर्व गांधीजी ने सत्याग्रह का जो प्रसिद्ध प्रतिज्ञापत्र तैयार किया था, उसकी सबसे आरंभिक शपथ लेनेवाले चुने हुए स्वातंत्र्य-सैनिकों में से एक थीं देवी सरोजिनी भी! तदुपरान्त तो क्या सन् १९२०-२१ ई० के अहिंसा-संग्राम के समय बंबई की सड़कों पर खुले आम ज़ब्त साहित्य बेचकर और क्या इन्हीं दिनों विलायत का फिर से एक चक्कर लगाते समय पंजाब-हत्याकाण्ड को लक्ष्य करके लंदन में भारत-मंत्री का आसन हिला देनेवाली वक्तृताएँ देकर; क्या कांग्रेस की ओर से दक्षिणी-पूर्वी अफ्रीका का दौरा कर प्रवासी भारतीयों के कानों में उत्साह और आशा का मन्त्र फूँककर और क्या सन् १९२५ ई० के कानपुर-अधिवेशन में राष्ट्र द्वारा कांग्रेस की सभानेत्री के उस सर्वोच्च सम्मान के पद पर अधिष्ठित हो 'स्वतंत्रता के युद्ध में कायरता सबसे अक्षम्य विश्वासघात और निराशा सबसे भयानक पाप है' इन चिरस्मरणीय शब्दों को उद्घोषित कर; क्या सन् १९२८ ई० में पुनः इंगलैण्ड, अमेरिका तथा अफ्रीका का एक लंबा दौरा कर विश्व-भर में भारतीय स्वातंत्र्य-आंदोलन की आवाज़ गुँजाकर और क्या सन् १९३०-३१ ई० के सविनय-अवज्ञा-आन्दोलन में लाठी-बंदूकों से सामना पड़ने पर भी धरासणा के नमक-गोदाम के ऐतिहासिक धावे का नेतृत्व कर तथा उसके फलस्वरूप जीवन में पहली बार सरकारी जेल की मेहमानी स्वीकार कर; क्या गांधी-इर्विन-पैक्ट की ऐतिहासिक संधि-चर्चा में भाग ले गांधीजी के साथ राउण्ड-टेबल-कान्फ्रेंस के नाटक में सम्मिलित होने के लिए पुनः इंगलैण्ड का चक्कर लगाकर और क्या क्रमशः १९३२ एवं १९४२ ई० में फिर से आन्दोलन की ज्वाला भभकने पर गिरफ़्तार हो पुनः सरकारी कारागार की हवा खाकर; क्या समय से पहले ही जेल से छूट जाने पर अन्य नेताओं की अनुपस्थिति में देश की आज़ादी की उमंग को ठंढी पड़ जाने से बचाए रखने एवं कांग्रेस का झंडा ऊँचा उठाए रखने में महत्त्व का योग देकर तथा क्या इस दीर्घ लड़ाई के फलस्वरूप १५ अगस्त, सन् १९४७ ई०, की मंगल-घड़ी में स्वातंत्र्य-सूर्य का उदय होने पर अंत में अपने वृद्ध कंधों पर इस महादेश के एक विशाल प्रान्त का शासन-भार उठाने के लिए सहर्ष तैयार होकर इस महान् लोकनायिका ने अट्ठाईस-तीस वर्षों की इस दीर्घ कालावधि में जिस प्रकार अपनी मातृभूमि के मुक्ति-यज्ञ में तरह-तरह की सेवाएँ अर्पित कीं और गौरव के साथ अपना राष्ट्र-ऋण चुकाया, उसके ब्योरेवार विस्तृत विवरण के लिए यहाँ पर्याप्त स्थान ही कहाँ है! साथ ही इस देश के महिला-समाज को अपनी कुचली दशा से ऊपर उठाने, परदा-अशिक्षा आदि कुप्रथाओं के प्राणहारी चंगुल से उसे उबारने एवं उसके समानाधिकार की आवाज़ बुलंद करने के लिए भी जो कुछ इस बीच उसने किया, उसका भी संपूर्ण लेखा प्रस्तुत करने में ये परिमित पंक्तियाँ क्योंकर समर्थ हो सकती हैं?

तो फिर आइए, इस जननायिका के व्यापक जीवन-कार्यों के इस सूत्रवत् सांकेतिक निर्देश मात्र से यहाँ संतोष कर, दिल्ली में पिछले दिनों होनेवाले अखिल एशियाई राष्ट्रों के ऐतिहासिक सम्मेलन के सभानेत्री-पद से उद्घोषित उसके निम्न वाक्यों के साथ उसकी इस लघु प्रशस्ति को समाप्त कर दें—'मैं कहती हूँ कि आप अपनी इन समाधियों को छोड़कर अब उठ खड़े हो जाइए—मैं आह्वान करती हूँ आपका एक चिरशाश्वत वसन्त के रंग में सदा के लिए अपने को घुला देने के लिए, एवं उस ऐक्य की शपथ ग्रहण करने के लिए, जिससे कि हमारी आज की यह ध्वस्त-त्रस्त दुनिया हमेशा के लिए शोक और संताप, शोषण और यंत्रणा, ग़रीबी और अविद्या, तथा सर्वनाश और मृत्यु के इस चंगुल से परित्राण पा सके!' कैसे उदात्त और प्राणदायक ओजस्वी वाक्य हैं ये कैसी संजीवनी बूटी के-से अमृतरस में पगे हुए! यह है सरोजिनी नायडू—हमारे नवजाग्रत नारीत्व की सर्वश्रेष्ठ प्रतिनिधि, हमारी अजरामर सांस्कृतिक प्राणधारा की मूर्त्तिमान् प्रतीक! तो फिर क्या आश्चर्य यदि बड़े-बड़े दिग्गजों की विद्यमानता में इस देश के गंगा-यमुना-सिंचित इस हृदय-प्रदेश संयुक्त प्रान्त के छः करोड़ नर-नारियों के शासक (गवर्नर) का ताज आज इसी सन्नारी के मस्तक पर रखने में राष्ट्र ने सार्थकता मानी है!

जवाहर लाल नेहरू

'राष्ट्र उनके हाथों में सर्वथा सुरक्षित है'—स्वतंत्र भारत के प्रथम प्रजापति और हमारे मुक्ति-संग्राम के अंतिम मोर्चे के प्रधान सेनानायक पं० जवाहरलाल के संबंध में आज से सत्रह वर्ष पूर्व ही राष्ट्र-पिता गांधीजी द्वारा उद्घोषित ये शब्द आज कितने यथार्थतापूर्वक अपनी सार्थकता सिद्ध कर रहे हैं; वे ज्यों-ज्यों समय बीतता जाता है, कितने खरे और स्वतःसिद्ध-से प्रमाणित होते जाते हैं! आज जो एक निर्द्वन्द्व भाव के साथ इतने भारी तूफ़ानों और बवंडरों के बीच भी, अपने नूतनसिद्ध चक्रांकित तिरंगे ध्वज को ऊँचा उठाए, अपनी राष्ट्र-नौका को 'जय हिन्द' के निनादसहित हम निरंतर आगे खेते चले जा रहे हैं, तो क्या इसीलिए नहीं कि चूँकि हम निश्चिन्त हैं कि उसकी मुख्य पतवार ऐसे एक कर्णधार के हाथों में है, जो हमारे राष्ट्र-जनक 'बापू' के शब्दों में 'मृत्यु को भी एक मुसकान के साथ गले लगाने की क्षमता से युक्त है'—चूँकि जैसा कि गांधीजी ने कहा था, 'वीरता में कोई भी उसे मात नहीं कर सकता और देशप्रेम में तो उससे अधिक ऊँचा उठ ही कौन सकता है!' वस्तुतः गांधीजी जैसे युग-पुरुष द्वारा उसकी प्रशस्ति में अंकित निम्न पंक्तियों के बाद कुछ कहने की आवश्यकता ही क्या रह जाती है कि 'यदि उसमें एक शूर-वीर की-सी तड़प तथा उग्रता है तो साथ ही एक पके हुए राजनीतिज्ञ का धीर-गंभीर विवेक भी तो है! जिस परिस्थिति में कि अनुशासन का पालन करना कड़वी घूँट पीने-जैसा हो, ऐसे क्षणों में भी तो अपनी अनुशासन-विषयक प्रगाढ़ वृत्ति के कारण कट्टरतापूर्वक नियमों के आगे नतमस्तक होने की क्षमता उसने प्रदर्शित की है! वह तो ऐसा एक प्रगतिशील विचारक है, जो अपने विचारों में आसपास की दुनिया से कहीं आगे बढ़ा हुआ है.........वह है स्फटिक मणि-सा निर्मल—उसकी सच्चाई संदेह से सर्वथा परे है! वह तो ऐसा एक शूरवीर है, जोकि शत-प्रति-शत निर्भीक, निर्द्वन्द्व और अनिंद्य है!' और आज तो सारा सभ्य संसार मुक्तकंठ से उसे इस युग का एक महान् राजनेता स्वीकार कर गौरवपूर्ण शब्दावली में उसका विरुद गा रहा है तथा पृथ्वी के समस्त कुचले हुए राष्ट्र उसकी ओर आशाभरी दृष्टि लगाए खड़े हैं! पंडित जवाहरलाल हैं सच्चे अर्थ में इस देश के हृदय-सम्राट्—जनता के दुलारे—जिस प्रकार कि गांधीजी थे सचमुच ही हमारे राष्ट्र-पिता 'बापू'। और आज जबकि अपने महान् राष्ट्रजनक को खोकर हम बज्र की चोट खाए हुए अभागों की तरह हो रहे हैं एकदम

अनाथ-जैसे. संकट की इस विषम घड़ी में अपने इस एकमात्र सर्वप्रिय लोकनायक के सिवा दूसरा वह कर्णधार है भी कौन, जिसकी कि बाँह पकड़ इन तूफ़ानी क्षणों में अपने डगमगाते पैरों को टिकाए रखने और निर्भयतापूर्वक आगे बढ़ने की आशा हम रख सकें? वस्तुतः वही तो उस राष्ट्र-पिता का एकमात्र सच्चा उत्तराधिकारी है, यदि सचमुच ही उसका कोई उत्तराधिकारी कभी हो सकता था! तो फिर क्यों न राष्ट्र की आँखें पहले से भी अधिक ममतापूर्वक अब अपने इस लाड़ले के प्रति केन्द्रित होती दिखाई दें— क्यों न उसी पर सब कोई अपनी उम्मीदों का बाँध अब बाँधने लगें? केवल हम ही क्या, आज तो योरप-अमेरिका के गोरे साम्राज्यवादियों और पूँजीपतियों के लौह पंजे में फँसे हुए सारे एशिया महाद्वीप अथवा शोषित पददलित समस्त मानव-संसार के लिए यदि कोई सच्चा आशा-प्रदीप है तो वह भारत का यह दुलारा ही है, जो कि युग-युग से कुचले जा रहे जनवर्गों की मुक्ति की महासाध का मानों जीता-जागता प्रतीक बन गया है! तो फिर किस प्रकार उसका अनमोल मोल हम यहाँ आँकें—किस प्रकार उसकी महत्ता को शब्दों द्वारा चित्रित करें?

पंडित जवाहरलाल हैं, स्वर्गीय गुरुदेव रवींद्रनाथ के शब्दों में, नवभारत के 'ऋतुराज'—हमारी तरुणाई और विजयोल्लास की पुनरावृत्ति के मूर्त्तिमान् प्रतीक! इसीलिए तो यद्यपि अवस्था में साठ के किनारे वह पहुँच चुके हैं और उनके बाल पककर कभी के सफ़ेद हो चुके हैं, फिर भी अभी बूढ़े होते वह हमें नहीं दिखाई पड़ते—वह तो इस देश की आँखों में समा गए हैं चिरयुवा बनकर! और केवल लोकदृष्टि ही में क्या, स्वतः अपनी निगाह में भी तो वह नख से शिख तक अब भी बने हुए हैं एकदम तरुण ही—वह झुँझला-से उठते हैं यदि कोई उन्हें यह सुझाता भी है कि वह अब 'बुज़ुर्ग' बन गए हैं! ज़रा कभी देखिए उन्हें उस समय जबकि वह संपूर्ण रूप से भावावेश में हों—उस समय के उनके उस तमतमाते हुए चेहरे, उनके उन तड़पते हुए ओठों, उन चमकती हुई आँखों, उन फड़कती हुई भुजाओं और बेचैन-से क़दमों पर ज़रा ग़ौर कीजिए और फिर नज़र डालिए क्षण भर बाद ही तुरन्त ओठों पर अठखेलियाँ करनेवाली उनकी उस जादूभरी मुसकान, उसमें से एकाएक फूट निकलनेवाले उस मुक्त हास्य, और मानव की सारी मानवता, आशा, उमंग, और निर्द्वन्द्वता का एक साथ ही संपूर्ण सार लिये हुए पीयूष-वर्षा करनेवाली उनकी उस भावदृष्टि पर भी, जो कि हज़ार-हज़ार सुनहले सपनों की प्रकाश-किरणों का जाल प्रति क्षण बुनती दिखाई देती है! यदि यह मूर्त्तिमान् यौवन नहीं, हमारी नवजाग्रत तरुणाई का सार नहीं, हमारे पौरुष के पुनरोदय का उभार नहीं, हमारे राष्ट्रोत्थान में नववसन्त के आगमन से जाग्रत जीवन की नूतन बहार नहीं, तो फिर यह और है क्या? वस्तुतः गांधीजी जिस प्रकार सार्थक रूप में थे नए भारत के सबसे महान् विधायक, जवाहरलाल उसी प्रकार इस नवोत्थित राष्ट्र की गोद को सुशोभित करनेवाले इस युग के उसके सर्वोत्तम सुपुत्र हैं—वह विश्व-नागरिकता की भावना से सराबोर इस महादेश के भावी नौनिहालों का मानों पूर्वाभास लेकर एक आदर्श के रूप में अवतीर्ण हुए हैं! दूसरे शब्दों में, जहाँ गांधीजी थे इस युग के निर्माता—उसके प्रधान शिल्पी, वहाँ जवाहरलाल हैं उसकी सर्वश्रेष्ठ उपज—उसके श्रेष्ठतम फल! तभी तो पड़ोसी चीन के उस महान् विचारक लिन युताङ ने भारत की इन दोनों विभूतियों की तुलना करते हुए एक बार लिखा था कि 'जहाँ गांधीजी हैं शाश्वत अनन्त काल की वस्तु, वहाँ भारत की आज की घड़ी के यथार्थ प्रतिनिधि तो नेहरू ही हैं!' उस उद्भट विचारक ने तो अपने देश की प्राचीन दार्शनिक धारा के मापदण्ड द्वारा आधुनिक भारत के इन युगल भाग्य-विधाताओं के व्यक्तित्व की नाप लेते हुए गूढ़ भावों से ओतप्रोत अपनी विशिष्ट शब्दावली में यहाँ तक कहा है कि 'मेरी दृष्टि में तो भारत के इस मुक्ति-संग्राम की तह में काम करनेवाली शक्तियों में (प्राचीन चीनी तत्त्ववेत्ता लाओत्ज़े की अर्थयुक्त शब्दावली में) गांधीजी यदि नित्य शाश्वत 'नारी-तत्त्व' का प्रतिनिधित्व करते हैं तो नेहरू 'नर-तत्त्व' के प्रतीक हैं! और यद्यपि लाओत्ज़े के अनुसार 'नर-तत्त्व' से 'नारी-तत्त्व' कहीं अधिक मूलभूत एवं चिरजीवी होता है, फिर भी मानवीय प्रकृति और गुण-धर्मों की ऐसी कुछ योजना है कि

उस सर्जनशील 'नारी-तत्त्व' की सार्थकता के हेतु उसके साथ 'नर-तत्त्व' का संयोग नितांत आवश्यक है ! इस तथ्य का एक प्रखर उदाहरण हमें देखने को मिल सकता है प्राचीन चीनी इतिहास में, जिसके अनुसार प्रसिद्ध 'चौ-राजवंश' की नैतिक आधारशिला की प्रस्थापना कर युग-युग के लिए उसके भाग्य की लीक निर्धारित कर देने का श्रेय तो पाया सम्राट् वेन ने, किन्तु उक्त आधारभित्ति पर उस राजघराने की सत्ता की वास्तविक इमारत खड़ी करने का गौरव प्राप्त किया उसके महान् उत्तराधिकारी सुपुत्र सम्राट् वू ने ही, जिसकी व्यावहारिक बुद्धि और रणकुशलता द्वारा ही चौ-वंश का अस्तित्व यथार्थतः मूर्त्तिमान् बना ! यही बात आधुनिक चीन की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में प्रतिबिंबित है सनयातसेन और च्याङ्काइशेक द्वारा परिपूरित अनुष्ठान में !' और चीन ही क्या, यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो संसार के सभी देशों की ऐतिहासिक रंगभूमि में इस प्रकार के युगल महापुरुषों की अद्भुत जोड़ियों द्वारा इन दो मूलभूत चिरन्तन शक्तियों को मानवीय विकास-क्रम के उज्ज्वल सोपानों के निर्माण का अपना शाश्वत कार्य सम्पन्न करते हम देख सकते हैं—उदाहरणार्थ, यदि इटली में वही शक्तियाँ मेज़िनी और गेरीबाल्डी के रूप में उद्भूत होते हमें दिखाई देती हैं तो रूस में हम देखते हैं उन्हें लेनिन और स्टालिन के रूप में सामने आते हुए ! यही बात स्वयं अपने देश की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर नज़र दौड़ाते समय भी हम पाते हैं, जब उन्हीं शक्तियों को, जिन्हें कि उपर्युक्त चीनी विचार-धारा में 'नारी' और 'नर' तत्त्वों की लाक्षणिक संज्ञा प्रदान की गई है, हम अपने यहाँ 'ब्राह्म' और 'क्षात्र' नामक उन मूलभूत शाश्वत धर्मों की युगप्रवर्त्तिनी शक्ति-धाराओं के रूप में अपना चिर-प्रयोजन सिद्ध करते देखते हैं, जिनके कि उज्ज्वल प्रतीकों के रूप में वाल्मीकि और रामचन्द्र, व्यास और श्रीकृष्ण, बुद्ध और अशोक, कौटिल्य और चंद्रगुप्त, कालिदास और विक्रम, रामदास और शिवाजी, तथा रामकृष्ण और विवेकानन्द आदि-आदि महापुरुषों की अमर जोड़ियों के आविर्भाव की अद्भुत झाँकी पिछले प्रकरणों में हम निहार चुके हैं ! उसी युग-युग-व्यापी नैसर्गिक परंपरा की लड़ी में इस युग में सामने आते देखते हैं हम गांधी और नेहरू की इस अद्भुत जोड़ी को भी—गांधी को तो चिरन्तन 'ब्राह्म धर्म' के मूर्त्तिमान् अवतार के रूप में उन शाश्वत तत्त्वों की पुनर्प्रतिष्ठा करने के लिए, जिन्हें अपनाकर ही हम अंधकार से प्रकाश, असत्य से सत्य और मृत्यु से अमृत-स्थिति की ओर अग्रसर हो सकेंगे, और नेहरू को उसी के पूरक 'क्षात्र धर्म' के सर्वश्रेष्ठ युगप्रतिनिधि के रूप में, उन नित्य तत्त्वों की लीक पर निर्मित प्रगति के विशद राजपथ पर कोटि-कोटि नरनारियों को अपने नेतृत्व में बढ़ा ले चलने के लिए ! दूसरे शब्दों में, गांधी ने जिस महान् लोकयज्ञ की योजना की, उसकी संपूर्त्ति करने के लिए ही अब नेहरू सामने आए हैं—इसी राष्ट्र-पुत्र के कंधों पर रक्खा गया है उस राष्ट्र-पिता के स्वप्नलोक के आदर्श भारत को मूर्त्तिमान् बनाने का गहन-गंभीर भार ! इस प्रकार जहाँ एक ओर हम जवाहर को इस युग की सर्वश्रेष्ठ उपज की संज्ञा प्रदान करते हैं तथा इस नवोत्थित राष्ट्र की गोद को सुशोभित करनेवाले इस युग के सर्वोत्तम भारतपुत्र के नाम से उन्हें अभिहित करते हैं, वहाँ साथ ही साथ सहज ही अपने एक महान् भाग्य-विधायक, एक महामहिम राष्ट्रनिर्माता, के रूप में भी तो उन्हें देखते हैं—क्योंकि आज का 'पुत्र' ही तो है कल का 'पिता' भी; जो वर्त्तमान की सर्वश्रेष्ठ उपज कहलाने का अधिकारी है, वही तो है आनेवाले भविष्य का यथार्थ जनेता और हमारे भाग्य की भावी लीक का प्रणेता !

किन्तु इसके पूर्व कि इस लोकनेता के व्यक्तित्व और उसकी देन, उसके दायित्व और उसकी गौरव-गरिमा की प्रशस्ति में अब और कुछ कहा जाय, आइए, पहले उसके जीवन-सूत्रों की दीर्घ तालिका के उस तिथिपत्र पर भी एक सरसरी निगाह दौड़ा लें, जिसका ब्योरेवार विवरण प्रस्तुत करना तो यहाँ संभव नहीं, फिर भी जिसकी मुख्य-मुख्य कड़ियों का उल्लेख अत्यावश्यक है, यदि हमें उसके चारित्रिक विकास के नैसर्गिक क्रम की यथार्थ जानकारी पाना अभीष्ट है :—

१८८९ ई०—इलाहाबाद के मीरगंज मोहल्ले में स्वनामधन्य पं० मोतीलाल नेहरू के इकलौते सुपुत्र के

रूप में, १४ नवंबर के दिन, राजसी ठाठबाट और वैभव के एक असामान्य वातावरण में जन्म हुआ !

१८८९-१८९९ ई०—आरंभ ही से पाश्चात्य फ़ैशन और सुधारवादी प्रवृत्ति की नई रोशनी में, अपने आसपास की सामान्य दुनिया से एकदम पृथक् रहते हुए, योरपीयन अभिभाविकाओं की देखरेख में लालन-पालन और प्राथमिक शिक्षण का क्रम आरम्भ हुआ !

१८९९-१९०५ ई०—मीरगंज के उस पुराने मकान से हटकर अब विलास-साधनों की आधुनिकतम सामग्री से सज्जित प्रसिद्ध 'आनन्द-भवन' के नवीन आवासगृह में अपने परिवार के आ बसने पर वातावरण में कुछ फेरबदली तो हुई, किन्तु सांस्कारिक पृष्ठभूमि ज्यों-की-त्यों पाश्चात्य रंग में रँगी हुई और देश के सामान्य जनवर्ग से एकदम कटी हुई-सी ही बनी रही ! तब ग्यारह वर्ष की आयु में श्री० एफ़० टी० ब्रुक्स नामक एक योरपीयन थियॉसोफ़िस्ट शिक्षक के तत्त्वावधान में घर ही पर विधिवत् अंग्रेज़ी साहित्य, इतिहास, विज्ञान आदि विषयों के अध्ययन का क्रम आरंभ हुआ और इस धर्म-प्रेमी व्यक्ति के संपर्क से ही पहले-पहल मन में जागरूक हुई अध्यात्म, धर्म आदि उच्च विषयों के प्रति वह प्रगाढ़ अभिरुचि, जिसकी पराकाष्ठा अंत में थियासॉफ़ी की आचार्या श्रीमती एनी बेसेन्ट के इन्हीं दिनों प्रयाग में दिए गए कतिपय व्याख्यानों से प्रभावित होकर तेरह वर्ष की उस अल्पायु ही में स्वतः उस लोकनेत्री के हाथों 'थियासॉफ़िकल सोसायटी' की विधिवत् दीक्षा-प्राप्ति के रूप में हुई ! किन्तु ब्रुक्स का संपर्क छूटते ही थियासाफ़ी के प्रति वह दिलचस्पी ठंढी हो गई ! इन्हीं दिनों प्रसिद्ध रूस-जापान-युद्ध में जापान की विजय-गाथा के अद्भुत समाचार अख़बारों में पढ़ते रहने के कारण पहलेपहल राष्ट्रीयता का धुँधला भाव मन में जगा और योरप के पंजे से एशिया और भारत को मुक्त करने की एक धूमिल उमंग हृदय को स्फुरित करने लगी। तब पंद्रह वर्ष की आयु में माता-पिता के साथ पहलेपहल इंगलैंड के लिए प्रयाण किया और हैरो के प्रसिद्ध स्कूल में प्रविष्ट हो आरंभ किया विशुद्ध पाश्चात्य ढंग की अपनी उच्च शिक्षा का वह क्रम, जिसकी भूलभुलैया में आगामी कुछ वर्षों के लिए अध्यात्म और धर्म, राष्ट्रीयता और देशभक्ति की वे आरंभिक संस्कार-धाराएँ मानों खोकर अंतर्द्धान-सी हो गईं !

१९०५-१९१२ ई०—आरंभ में उस विजातीय वातावरण में एकदम एकाकीपन का अनुभव करने तथा खेलकूद आदि के बजाय अधिकतर ग्रंथानुशीलन ही में लीन रहने के उपरान्त समय बीतते अंग्रेज़ी जीवन-धारा के साथ अपने आपको सानुकूल बना लिया और इस प्रकार लगभग ढाई वर्ष हैरो के उस पब्लिक स्कूल में बिताए, जिसे इंगलैंड के ख्यातनामा राज्यशासकों और अमीर वर्ग के उच्चतम प्रतिभावान् व्यक्तियों को शिक्षित करने का गौरव प्राप्त है ! तब और भी ऊँची शिक्षा ग्रहण करने के हेतु प्राकृतिक विज्ञान का 'ट्राइपॉस' कोर्स लेकर कैम्ब्रिज के प्रसिद्ध ट्रिनिटी कॉलेज में भरती हुए और सन् १९१० ई० में एम० ए० (ऑनर्स) की उपाधि प्राप्त कर आगामी दो वर्ष बैरिस्टरी की तैयारी में लंदन में बिताए। इस बीच स्कूल-कॉलेज के निश्चित पाठ्यक्रम के अलावा इतिहास, राजनीति, अर्थशास्त्र, आदि विषयों का भी लगातार मनन करते रहने तथा संसार की सामयिक राजनीतिक गतिविधि, विशेषकर आयलैंड के प्रसिद्ध 'सिन-फ़िन-आन्दोलन', इंगलैंड की 'फ़ेबियन' समाजवादी हलचल तथा स्वतः अपने देश की राष्ट्रीय जागृति में भी गहराई के साथ दिलचस्पी लेते रहने के कारण मानसिक क्षितिज काफ़ी विशद बन चुका था और धीरे-धीरे वह पृष्ठभूमि निर्मित होती चली जा रही थी, जिसके कि प्रभाव से निकट भविष्य ही में जीवन का धारा-प्रवाह एक विशिष्ट दिशा की ओर मुड़ जानेवाला था ! ये वे दिन थे जबकि विलायत में पढ़नेवाले प्रत्येक भारतीय विद्यार्थी के मस्तिष्क पर आम तौर से 'लाल-बाल-पाल' की 'गरम' राजनीति का जादू छाया हुआ था, कारण फूँक-फूँककर क़दम बढ़ाने के आदी 'मॉडरेट' नेताओं की धीमी चाल के मुक़ाबले में नई पीढ़ी के नौजवानों को वही एकमात्र आश्वासन की वस्तु प्रतीत होती थी ! अतः जो राजनीतिक भावनाएँ इन दिनों मन में अंकुरित हुईं, वे नरमाई के बजाय शुरू ही से उग्र क्रान्ति-स्फुलिङ्गों को अंतराल में बसाकर उच्छ्-

वसित हुई! तो फिर क्या आश्चर्य था यदि बैरिस्टरी की सनद लेकर वापस स्वदेश लौटने पर मातृभूमि की बंधन-मुक्ति के अनुष्ठान में सक्रिय रूप से भाग लेने और कोरे वाक्युद्ध तक सीमित तत्कालीन राष्ट्रीय हलचल को आज़ादी की एक सच्ची क्रियात्मक लड़ाई में परिणत होते देखने की उत्कंठाएँ ज़ोरों के साथ मन में तरंगित होने लगीं और शुरू ही से झुकाव देश के आँगन में समुत्थित उस 'गरम' पक्ष के प्रति हो गया, जिससे कि स्वयं पं० मोतीलाल तक उन दिनों अपने 'मॉडरेटपन' के कारण किनारा कसे हुए थे!

१९१२-१९२३ ई०—यह कोई कम महत्त्व की बात न थी कि जैसे ही विलायत से वापस स्वदेश आए, वैसे ही कुछ ही दिनों बाद गोखले की अध्यक्षता में होनेवाले बाँकीपुर-अधिवेशन में एक 'डैलीगेट' के रूप में सम्मिलित हो उस गौरवशाली संस्था कांग्रेस के सदस्य बन गए, जिसकी कि वेदी पर से आगे चलकर अपना महान् अनुष्ठान पूरा करनेवाले थे—यद्यपि उन दिनों की वह कांग्रेस ही क्या थी; वह तो, जैसा कि 'मेरी कहानी' के निम्न शब्दों से प्रकट है, 'बहुत हद तक अंग्रेज़ी जाननेवाले उच्च श्रेणी के लोगों का मजमा था, जिसमें सुबह पहनने के कोट और सुंदर इस्तरी किए हुए पतलून बहुत दिखाई देते थे!' तब आरंभ हुआ श्रीमती एनी बेसेन्ट तथा लोकमान्य तिलक द्वारा आयोजित इतिहास-प्रसिद्ध 'होमरूल-आन्दोलन', और 'गरम' पक्ष के प्रति अपने स्वाभाविक आकर्षण तथा सक्रिय रूप से देश के मुक्तियज्ञ में हाथ बँटाने की उत्कट उमंग के आवेग में तुरन्त ही आप उसके प्रवाह में कूद पड़े! साथ ही जब फ़िज़ी के प्रवासी भारतीय मज़दूरों की शर्तबन्दी-प्रथा तथा दक्षिणी अफ़्रीका के भारतीय बन्धुओं के सत्याग्रह-संग्राम के संबंध में भी देश के जनक्षेत्र में हलचलें उठीं तो उनमें भी आपने उत्साह के साथ भाग लिया और अफ़्रीका के सत्याग्रहियों की मदद के लिए नियोजित स्थानीय 'सहायता-समिति' के मंत्रित्व का भार ग्रहण कर अपने नगर से पचास हज़ार रुपया चंदा इकट्ठा कर लिया, जो उस ज़माने को देखते हुए कोई साधारण काम न था! इस बीच प्रैक्टिस करने के लिए आप उतर चुके थे प्रान्त के हाईकोर्ट के उस अखाड़े में भी, जहाँ आपके पूज्य पिता पं० मोतीलाल नेहरू एक महान् वकील के रूप में पहले ही से अपना प्रभुत्व स्थापित किए हुए थे ही! परन्तु अपनी असाधारण योग्यता और बुद्धि-प्रतिभा के बावजूद इस क्षेत्र में आप यथोचित सफलता प्राप्त न कर सके, जिसका एकमात्र कारण यही था कि आरंभ ही से मातृभूमि के स्वातंत्र्यानुष्ठान के बृहत् कार्य में तल्लीन हो जाने के फलस्वरूप इस ओर पूरे मनोयोगपूर्वक आपने अपने आपको कभी लगाया ही नहीं! बल्कि जैसा कि 'मेरी कहानी' के आरंभिक प्रकरणों से ज्ञात होता है, इन दिनों आपके मन में एक ओर तो अंतस्तल की गहराई में से उमड़ती हुई देशभक्ति की उमंग और दूसरी ओर उसकी राह में रोड़ा अटकानेवाले वकालत के इस व्यवसाय की परस्पर-विरोधी धाराओं के बीच लगातार एक संघर्ष-सा चलता रहा, जिस प्रकार कि अपने पूज्य पिताजी के तत्कालीन मॉडरेटपन के साथ अपने 'गरम' विचारों की कशमकश के कारण भी काफ़ी अर्से तक एक खींचातानी की स्थिति का सामना आपको उन दिनों करना पड़ा था! जो कुछ भी हो, आपके आरंभिक जीवन की इस मानसिक तनातनी का परिणाम अंततः शुभ ही हुआ, क्योंकि उसी का यह सुफल था कि क्रान्ति की जो चिनगारियाँ आपके मन में शुरू के उस ज़माने में प्रज्वलित हो चुकी थीं, वे आगे चलकर लाख दबाव पड़ने पर भी किसी के बुझाए बुझ न पाईं और समय आने पर उस प्रचण्ड देशभक्ति की लपट में परिणत हो गईं, जिसने कि अंततोगत्वा इस महादेश की गौरव-गाथा के एक सुनहले अध्याय की रचना करनेवाला आपका आज का कर्मयोगी व्यक्तित्व राष्ट्रीय आँगन में विकसित कर दिया!

इस अवधि में, सन् १९१६ ई० के फरवरी मास में, दिल्ली के एक प्रतिष्ठित काश्मीरी परिवार की सुपुत्री सौ० कमला जी के साथ आपका शुभ विवाह हो गया, जिसके कि बाद के कुछ महीने काश्मीर की सुरम्य हरित घाटियों और हिमाच्छादित पर्वत-मालाओं के सैर-सपाटे में बीते। साथ ही उसी वर्ष लखनऊ के ऐतिहासिक कांग्रेस-अधिवेशन

के सुअवसर पर, युग-पुरुष गांधीजी के प्रथम परिचय का भी सौभाग्य आपने पा लिया, जिनकी कि उँगली पकड़कर अनतिदूर भविष्य ही में जीवन-साधना का एक उज्ज्वल शिक्षा-पाठ आपको ग्रहण करना था ! और तब तक तो आ पहुँचा तूफ़ान की तरह हहराता हुआ सन् १९१९-२० ई० का वह महान् पटपरिवर्त्तनकारी युगान्तरकाल भी, जिसने कि रौलट-बिल, पंजाब-हत्याकाण्ड, मार्शल-लॉ, आदि का हृदय हिला देनेवाला दृश्य समुपस्थित कर तथा निराशा के उस गहन घटाटोप में गांधी रूपी सूर्य की जीवनप्रदायिनी तेजोराशि आलोकित कर उस महासंक्रान्ति का प्रवर्त्तन कर दिया, जिसने एक नूतन संवत्सर का आरंभ कर हमारे भाग्य-चक्र की धुरी को पुनः मानों दक्षिणायन से उत्तरायन की ओर मोड़ दिया ! इस अद्भुत युगसंधिवेला में भला हमारे चरितनायक की जीवनधारा में भी क्रान्ति का एक उबाल आए बिना क्योंकर रह सकता था—विशेषकर जबकि उसके जादूभरे प्रभाव से कालांतर में पं० मोतीलाल जैसे मॉडरेटों के सरदार तक बचने नहीं पाए और देखते ही देखते इस प्रकार नख से शिख तक विद्रोह की भावनाओं से अभिभूत हो गए कि कहाँ तो अपने उग्र पुत्र की राजनीतिक प्रवृत्तियों से चिंतित हो, उसके जेल जाने की आशंका से, ममतावश रात्रि को पलंग से नीचे उतर कड़ी फ़र्श पर लेटने की आज़माइश करते वह पाए जाते थे और कहाँ अब स्वतः अपने ही हाथों अपने घर-आँगन में लाखों के विदेशी वस्त्र आग में झोंककर सपरिवार सरकारी कारागार का आह्वान करते देखे जाने लगे ! अतः जैसे ही पंजाब की वे दुर्घटनाएँ घटीं, वैसे ही अपने महान् पिता की भाँति आप भी मातृभूमि की पुकार पर तत्काल सारा काम-धंधा छोड़ अत्याचार की आग में धाँय-धाँय जलते हुए उस पीड़ित प्रदेश की ओर दौड़ पड़े, और इसके बाद तो देश के मुक्ति-संग्राम के कुरुक्षेत्र में पूरी सजधज के साथ उतरकर जिस प्रकार आपने अपना सारा जीवन ही राष्ट्रवेदी पर न्यौछावर कर दिया, उससे आज कौन अपरिचित है ?

इन्हीं दिनों की बात है कि 'लीडर' की नरम नीति से उकताकर पं० मोतीलाल ने इलाहाबाद से 'इण्डिपेण्डेण्ट' नामक अपना वह प्रसिद्ध राष्ट्रीय दैनिक निकाला था, जो कि अल्पजीवी होकर भी हमारे मुक्ति संग्राम में वीरगति प्राप्त कर युग-युग के लिए इतिहास के पन्नों पर अपना नाम अंकित कर गया ! अतः उसके संचालन और नीति-निर्माण के कार्य में स्वभावतः ही हमारे चरितनायक ने प्रमुख रूप से भाग लिया। और तभी विदेशी हुकूमत के साथ आपकी वह पहली झड़प भी हुई, जबकि सन् १९२० ई० की गरमियों में सपरिवार मंसूरी जाने पर इस आशंका से कि कहीं उसी समय वहाँ टिके हुए कतिपय अफ़ग़ान राज्यप्रतिनिधियों से मिलकर कोई गुप्त षड्यंत्र आप न रच डालें, आप पर चौबीस घंटों के भीतर उस स्थान से चले जाने का एक तानाशाही नोटिस तामील किया गया, जिसे पाकर पहले तो आप वापस इलाहाबाद लौट आए, किन्तु शीघ्र ही उसकी परवा न कर पुनः मंसूरी के लिए चल पड़े, जिससे कि घबड़ाकर नौकरशाही को अंत में अपना वह बेहूदा हुक्म तुरंत वापस ले लेना पड़ा ! इस छोटी-सी घटना से जहाँ एक ओर शासनसत्ता को आपकी तेजस्विता का प्रखर परिचय मिल गया, वहाँ दूसरी ओर साथ ही साथ उससे एक बड़ा लाभ यह हुआ कि अपने निर्वासन की उस अल्पावधि ही में संयोगवश उस किसान-आन्दोलन के संपर्क में आप आ गए, जोकि अभी-अभी अवध के कुछ ज़िलों में बड़े ज़ोर-शोर के साथ उठ खड़ा हुआ था ! अतः इसके बाद के कई दिन आपने शहर की आरामतलबी की चहारदीवारी लाँघकर गाँवों की ओर अग्रसर हो उस देहाती दुनिया के निदर्शन में बिताए, जहाँ कि राष्ट्र का सच्चा स्वरूप देखने को मिलता है ! और इस भ्रमण-पर्यटन के दौरान में, जून की भयंकर तपती में सिर पर महज़ एक तौलिया लपेटे झाड़-झंखाड़ से भरी पगडंडियों पर दिन भर मीलों पैदल भटकने के उपरान्त, रात को किसी ग़रीब किसान की मिट्टी-घास की झोपड़ी में पुआल के बिछौने पर विश्राम कर तथा उसी की रूखी-सूखी किन्तु प्रेमरस में पगी हुई रोटी-भाजी को चाव के साथ ग्रहण कर, जिस नवीन तत्त्व का साक्षात्कार आपने जीवन में पहली बार किया, उसने आपके मर्मस्थल को तले से छूकर मस्तिष्क में एक तूफ़ान खड़ा कर दिया, जिसकी

कि साक्षी 'मेरी कहानी' की निम्न उल्लेखनीय पंक्तियाँ हैं—'उनकी मुसीबतों और उनकी अपार कृतज्ञता को देखकर मैं दुःख और शर्म के मारे गड़ गया ! दुःख तो हिन्दुस्तान की ज़बर्दस्त ग़रीबी और ज़िल्लत पर और शर्म मेरी अपनी आराम की ज़िन्दगी पर, और शहर को न-कुछ राजनीति पर, जिसमें हिन्दुस्तान के इन अधनंगे करोड़ों पुत्र-पुत्रियों के लिए कोई जगह न थी !'

तब १ अगस्त, सन् १९२० ई०, के दिन बंबई पहुँचकर उस ऐतिहासिक जनप्रदर्शन में आपने भाग लिया, जोकि मूलतः तो आयोजित किया गया था एक बृहत् विरोधसूचक हड़ताल के रूप में, किन्तु दुर्भाग्य से उसी दिन देश के हृदयसम्राट् लोकमान्य तिलक के इस लोक से एकाएक उठ जाने के कारण जिसने सहसा एक विराट् राष्ट्रीय शोक-प्रदर्शन का स्वरूप धारण कर लिया था ! साथ ही, डेढ़ महीने बाद, कलकत्ते के प्रसिद्ध कांग्रेस-विशेषाधिवेशन के मौक़े पर गांधीजी के साथ शान्ति-निकेतन जाकर गुरुदेव रवीन्द्रनाथ के दर्शन का भी लाभ इस बीच आपने उठाया ! और तब तक तो असहयोग की दुंदुभि बज उठने के कारण आपका कार्य-क्षेत्र इतना व्यापक हो गया कि पहले ही से आप पर कुदृष्टि लगाए बैठी सरकार आपको अपने कारागार का अतिथि बनाने के लिए एकबारगी ही व्यग्र हो उठी ! फलतः जैसे ही प्रिन्स-ऑफ़-वेल्स के स्वागत-बहिष्कार तथा स्वयंसेवकों की ग़ैरक़ानूनी भर्ती का वह दौरदौरा शुरू हुआ, जिसके कि सिलसिले में पं० मोतीलाल ने चुनौती के रूप में अपने नगर के स्वयंसेवकों की सूची में सबसे ऊपर स्वयं अपना और अपने परिवार के प्रत्येक सदस्य का नाम दर्ज कराया था, वैसे ही ६ दिसंबर, सन् १९२१ ई०, के दिन अपने पूज्य पिताजी के साथ-साथ आप भी तुरंत ही गिरफ़्तार कर लिये गए और छः महीने की क़ैद की सज़ा पाकर जीवन में पहली बार उस जेल के वासी बन गए, जोकि इसके बाद वर्षों के लिए आपका दूसरा घर-जैसा हो गया !

इस प्रथम कारावास के समय, तीन महीने बाद अवधि से पहले ही एक दिन आपको बीच में अचानक रिहा कर दिया गया था, जिसका कारण यह बताया गया था कि जिस जुर्म में आप पकड़े गए थे, वह बाद को जाँच करने पर ग़लत साबित हुआ था ! परन्तु यह तो कोरा एक बहाना या दिखाने का स्वाँग मात्र था, क्योंकि कुछ ही हफ़्ते बाद एक नया आरोप लगाकर पुनः आप गिरफ़्तार कर लिये गए और इस बार आपके दण्ड की मात्रा पहले से भी कहीं अधिक बढ़ाकर कर दी गई लगभग पौने दो साल ! कहने की आवश्यकता नहीं कि इस लंबी क़ैद को भुगतकर जब तक आप पुनः वापस बाहर आए, तब तक प्रसिद्ध चौरीचौरा-काण्ड के फलस्वरूप आन्दोलन के एकाएक स्थगित हो जाने और उसके शीघ्र ही बाद स्वयं गांधीजी के भी जेल चले जाने के कारण देश का राजनीतिक वायुमंडल काफ़ी रंग बदल चुका था और चारों ओर घोर निराशा का भाव छा गया था ! फिर भी लौटते ही आप उत्साहपूर्वक पुनः मातृभूमि के सेवा-कार्य में लग गए और आते ही न केवल प्रान्तीय कांग्रेस-कमेटी के मंत्रित्व ही की बागडोर आपने अपने हाथों में में ले ली, प्रत्युत कुछ ही दिन बाद अखिल भारतीय कांग्रेस-कमेटी के महामंत्री के पद पर प्रतिष्ठित हो जाने पर उस गहन-गंभीर उत्तरदायित्व का भार भी सहर्ष ग्रहण कर लिया ! साथ ही इसी समय स्थानीय म्युनिसिपल बोर्ड के चेयरमैन की कुर्सी पर भी बिठा दिए जाने पर अपने नगर के स्वायत्त-शासन की ज़िम्मेदारियाँ उठाने के लिए भी आप तत्पर हो गए, जिन्हें लगभग ढाई वर्ष तक ऐसी ख़ूबी के साथ आपने निभाया कि शत्रु नौकरशाही तक के मुँह से आपके प्रति प्रशंसा के उद्गार निकल पड़े ! इन्हीं दिनों की बात है कि नाभा-राज्य के जैतो नामक स्थान में अकाली सिक्खों द्वारा प्रारंभ किए गए एक छोटे-से सत्याग्रह के सिलसिले में अपने ऊपर लगाई गई बंदिश को तोड़ने पर उक्त रियासत के हाथों गिरफ़्तार हो आप पुनः ढाई साल की सज़ा पा कारागृह के द्वार के क़रीब जा पहुँचे थे। किन्तु सौभाग्य से बाद को वही सज़ा बदल दी गई थी केवल उस राज्य से निर्वासन के दण्ड के रूप में, अतः शीघ्र ही वापस जेल जाने की यंत्रणा से उस समय आप बाल-बाल बच गए थे !

१९२३-१९३० ई०—तब असहयोग और सत्याग्रह का युग कुछ समय के लिए स्थगित हो गया और

उसके बदले आरंभ हुआ 'स्वराज्य-दल' के रूप में कांग्रेस के कौंसिल-प्रवेश का इतिहासप्रसिद्ध दौर-दौरा ! अतः जहाँ आपके पूज्य पिताजी ने इन दिनों ताल ठोंककर एसेम्बली के उस अखाड़े में अपना पैर जा जमाया, जो इसके बाद कई वर्षों के लिए उनका प्रधान कार्यक्षेत्र हो गया, वहाँ स्वयं आप शुरू ही से कौंसिल-एसेंब्लियों के बहिष्कार के प्रबल पक्षपाती होने के कारण इस बीच बाहर रहकर कांग्रेस के रचनात्मक कार्यक्रम को आगे बढ़ाने और 'हिन्दुस्तानी-सेवादल' के नाम से सुसंगठित उसकी वालंटियर-सेना का विस्तार करने में ही विशेष रूप से लगे रहे ! तदुपरान्त पत्नी का स्वास्थ्य एकाएक गिर जाने के कारण सारा काम-धंदा छोड़ मार्च, सन् १९२६ ई०, में आप उन्हें साथ लेकर दो वर्ष के लिए अपनी उस प्रसिद्ध द्वितीय योरप-यात्रा पर गए, जिसके दर्मियान स्विट्ज़रलैण्ड में टिककर उनका उपचार कराने के अलावा इंगलैण्ड, जर्मनी, आदि देशों का एक महत्त्वपूर्ण लंबा दौरा आपने किया; सन् १९२७ ई० की पददलित राष्ट्रों की प्रख्यात ब्रुसेल्स-परिषद् और उसी के साथ नियोजित 'साम्राज्य-विरोधी संघ' की कार्रवाइयों में प्रमुख रूप से भाग लिया; रोम्या रोलाँ, अर्नेस्ट टॉलर आदि कई प्रख्यात पाश्चात्य विचारकों और कार्यकर्त्ताओं का घनिष्ठ संपर्क प्राप्त किया; समाजवाद, फ़ैसिज़्म आदि उठती हुई युगप्रवृत्तियों तथा अंतर्राष्ट्रीय राजनीतिक परिस्थितियों का गहरा अध्ययन किया; योरप के भिन्न-भिन्न देशों में बिखरे हुए कई पुराने निर्वासित भारतीय देशभक्तों से भेंट-मुलाकातें कीं; और अंत में सन् १९२७ ई० के ख़त्म होते-होते अपने पूज्य पिताजी के साथ—जोकि इन दिनों योरप में आपसे आ मिले थे—रूस की राजधानी मॉस्को की एक छोटी-सी किन्तु अत्यन्त महत्त्व की यात्रा भी की। इस प्रवास के फलस्वरूप आपके मन में अंकुरित समाजवादी विचार और भी दृढ़ हो गए, और फलतः जब आप पुनः स्वदेश वापस आए तो पग-पग पर आपकी वाणी और विचारधारा से सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक क्रान्ति की सूचना लिये हुए एक ऐसा नवीन स्वर प्रतिध्वनित होने लगा कि दक़ियानूसों के कान खड़े हो गए और उठती हुई नई पीढ़ी के मन में एक नूतन आशा का संचार हो गया ! आपने आते ही मद्रास के उस वर्ष के कांग्रेस-अधिवेशन में अन्य कई एक युगान्तरकारी प्रस्तावों के साथ-साथ पूर्ण स्वतंत्रता के ध्येय का प्रसिद्ध प्रस्ताव रखकर पुराने ढंग के सभी लोगों को चौंका-सा दिया ! और इसके बाद तो क्या विविध प्रान्तों के राजनीतिक सम्मेलनों, छात्र-परिषदों, युवक-कान्फ्रेन्सों तथा अखिल भारतीय ट्रेड-यूनियन कांग्रेस के अध्यक्ष-पद से अपने प्रगतिशील विचारों की ज़ोरों के साथ अभिव्यक्ति करके और क्या राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक एवं धार्मिक स्वतंत्रता के सार्वदेशिक ध्येय को सामने रखकर 'भारतीय स्वाधीनता-संघ' जैसी क्रांतिकारी संस्था की संस्थापना करके; क्या 'सर्वदल-सम्मेलन' और 'नेहरू-कमेटी' के निर्णयानुसार अपने पूज्य पिताजी की अध्यक्षता में कलकत्ते के कांग्रेस-अधिवेशन में औपनिवेशिक स्वराज्य की माँग प्रस्तुत होने पर उसका ज़ोरदार विरोध कर कांग्रेस के मंच पर से पूर्ण स्वतंत्रता का नारा बुलंद करने का असाधारण साहस प्रदर्शित करके, और क्या 'सायमन-कमीशन' के बहिष्कार का तूफ़ानी आन्दोलन शुरू होने पर लालाजी की तरह स्वयं भी लखनऊ में पुलिस की लाठियों की बौछार का व्यक्तिगत अनुभव करके, देखते ही देखते एक ऐसा क्रांतिकारी उग्रवादी राष्ट्रीय मोर्चा देश के आँगन में आपने खड़ा कर दिया कि 'कौंसिल-एसेम्बली' के पिछले चार-पाँच वर्षों के थोथे नाटक से उकताया हुआ राष्ट्र का हृदय पुनः रणपथ पर उतर कर सक्रिय रूप से आज़ादी की सिद्धि के हेतु कुछ करने-धरने के लिए एकबारगी ही आकुल हो उठा !

तो फिर क्या आश्चर्य था यदि देश के समस्त प्रगतिवादियों और विशेषकर क्रान्ति के भूखे युवक-समाज की आँखें अब आशा और उल्लास के एक अपूर्व भाव के साथ आपके तेजस्वी व्यक्तित्व के प्रति मुड़ गईं, और कलकत्ता-कांग्रेस के मंच पर से उद्घोषित औपनिवेशिक स्वराज्य की माँग के वर्ष भर के 'अल्टीमेटम' की मियाद ख़त्म हो जाने पर, टालमटोल की अपनी पुरानी नीति से टस से मस न होनेवाली ब्रिटिश साम्राज्यशाही के साथ समझौते की आशा छोड़कर राष्ट्र ने जब पुनः युद्ध का शंखनाद करने के लिए क़दम उठाया तो बड़े-बड़े

महारथियों की उपस्थिति में इसी चालीस वर्षीय काश्मीरी ब्राह्मण युवक ही के ललाट पर राष्ट्रनायक का गौरवपूर्ण कुंकुम तिलक लगाने का निर्णय जन-हृदय द्वारा किया गया ! इसके बाद तो जिस प्रकार लाहौर के उस ऐतिहासिक अधिवेशन में ३१ दिसम्बर, सन् १९२९ ई०, की आधीरात की चिरस्मरणीय वेला में आपके नेतृत्व में पूर्ण स्वतंत्रता की घोषणा कर देश ने अपनी राजनीतिक प्रगति के इतिहास का एक सर्ग समाप्त कर दूसरे का नया पृष्ठ खोला; जिस प्रकार कि २६ जनवरी, सन् १९३० ई०, के दिन देश भर में स्वाधीनता के उस ऐतिहासिक प्रतिज्ञा-पत्र के पढ़े जाने (जिसकी की रचना, कहते हैं, स्वयं आपके ही करकमलों द्वारा हुई थी) एवं उसके शीघ्र ही बाद युगावतार गांधीजी द्वारा अपनी प्रसिद्ध दाँड़ी-यात्रा के रूप में हमारे स्वातंत्र्य-युद्ध के द्वितीय मोर्चे के उद्घाटन की रस्म पूरी होने के साथ ही, एक ओर नमक-क़ानून की अवज्ञा और दूसरी ओर नित नए आर्डिनेंसों के प्रवर्त्तन द्वारा दमन के विषम प्रयोग का वही पारस्परिक रस्साकशी का पुराना नाटक शुरू हुआ, जिसके कि अनुसार हज़ारों स्त्री-पुरुष, वृद्ध-युवा, अमीर-ग़रीब हँसते-हँसते पुलिस की लाठियों, संगीनों और गोलियों का सामना कर देश पर न्यौछावर हो गए और अपना घरबार छोड़ सरकारी जेलों के मेहमान बन गए—उसकी गौरव-पूर्ण कहानी को भी क्या फिर से याद दिलाने की यहाँ आवश्यकता है ? वह तो बन चुकी है हमारे इतिहास की एक ऐसी सुनहली लीक कि युग-युग तक उसकी प्रकाश-रेखा हमारे स्मृति-पटल पर थिरकती रहेगी !

१९३०–१९४२ ई०—कहने की आवश्यकता नहीं कि इस आन्दोलन का श्रीगणेश होते ही, कांग्रेस के अध्यक्ष के नाते, हमारे चरितनायक पुनः १४ अप्रैल, सन् १९३० ई०, के दिन गिरफ़्तार हो न्याय के एक थोथे अभिनय के उपरान्त छः महीने की क़ैद के पुरस्कार सहित शीघ्र ही वापस जेल भेजे जा चुके थे और उसी कारावास की दशा में प्रसिद्ध सप्रू-जयकर-संधिवार्त्ता के छिड़ने पर गांधीजी से मिलने के लिए अपने पूज्य पिताजी के साथ एक बार इलाहाबाद के नैनी-जेल से पूना के प्रसिद्ध यरवड़ा-जेल भी ले जाए जा चुके थे ! तब ११ अक्तूबर, सन् १९३० ई०, के दिन क़ैद की मियाद ख़त्म होने पर आप पुनः वापस बाहर आए, परन्तु संयोगवश इस बार केवल एक सप्ताह भर ही आप मुक्त रह पाए, क्योंकि संयुक्त प्रांत के इतिहासप्रसिद्ध करबन्दी के आन्दोलन के सिलसिले में गिरफ़्तार हो पुनः दो वर्ष की कड़ी क़ैद की सज़ा में शीघ्र ही आप वापस जेल भेज दिए गए। इस कठोर कारावास से आपको वर्षभर बाद तब कहीं जाकर छुटकारा मिला, जब कि आपके पूज्य पिताजी की हालत इतनी ज्यादा बिगड़ गई कि सरकार को अन्त में आपको रिहा करने के लिए मजबूर हो जाना पड़ा ! तदुपरान्त राजर्षि मोतीलालजी के निधन के रूप में न केवल आप पर और आपके परिवार ही पर, बल्कि सारे देश पर एकाएक मानों एक वज्र-सा टूट पड़ा, जिससे कि आपकी पारिवारिक और राष्ट्रीय दोनों ही प्रकार की ज़िम्मेदारियाँ एकदम दुगुनी-चौगुनी बढ़ गईं ! फिर भी आप अपने लक्ष्य से डगमगाए नहीं और इन्हीं दिनों आरंभ होनेवाली प्रसिद्ध गांधी-इर्विन-संधि-चर्चा के समय सलाह-मशवरे के काम में पूरे मनोयोगपूर्वक आपने हाथ बँटाया, यद्यपि इस प्रकार युद्ध के एकाएक स्थगित कर दिए जाने पर आपके योद्धा मस्तिष्क को स्वभावतः ही काफ़ी ठेस पहुँची. जिसकी की सुस्पष्ट झलक 'मेरी कहानी' के पृष्ठों में हमें देखने को मिलती है !

इसके बाद तुरंत ही फिर से जारी हो गया जेल-यात्राओं का वही पुराना ताँता, जब कि कराँची-कांग्रेस के कुछ ही महीने बाद उधर गांधीजी तो गए द्वितीय गोलमेज परिषद् में भाग लेने के लिए सन् १९३२ ई० की अपनी ऐतिहासिक विलायत-यात्रा पर और इधर हमारे चरितनायक—जो कि इस बीच लंका की एक छोटी-सी सफ़र से लौटकर पुनः किसानों के अपने पुराने काम में ज़ोरों के साथ जुट पड़े थे—गांधीजी के वापस इस भूमि पर क़दम रखने से पूर्व ही, गिरफ़्तार करके भेज दिए गए पुनः दो वर्ष के लिए जेल के अपने सुपरिचित आवासगृह में, जिससे कि अगस्त, सन् १९३३ ई०, में पूज्या माता के सख़्त बीमार पड़ जाने पर मियाद पूरी होने से बारह दिन पहले आख़िर आपको छुटकारा मिला ! इस लम्बी क़ैद को भुगतकर ज्योंही आप बाहर आए, त्योंही कुछ ही महीने बाद

देश पर बिहार के प्रलयंकर भूकंप के रूप में विपदा का एक नया पहाड़ टूट पड़ा, अतः हाथों में फाउड़ा-कुदाली ले तुरन्त ही आप जुट गए पीड़ितों को सहायता पहुँचाने के भगीरथ कार्य में। परन्तु नौकरशाही को भला इस प्रकार अधिक दिनों तक आपका बाहर रहना क्योंकर बर्दाश्त होने लगा! फलतः सन् १९३४ ई० के फरवरी मास में, कलकत्ते में दिए गए कतिपय भाषणों की आड़ लेकर उसने दो वर्ष की सज़ा में पुनः आपको अपने बंदीगृह का मेहमान बना लिया और इस बीच आपकी पत्नी का स्वास्थ्य एकाएक बहुत अधिक बिगड़ जाने पर भी उसने आपको रिहा नहीं किया! हाँ, यदि कुछ किया तो केवल यही कि बीच में आरज़ी तौर पर ग्यारह दिनों की नाममात्र की छुट्टी देने के उपरांत कलकत्ते के अलीपुर-जेल से स्थानान्तरित कर अलमोड़ा के ज़िला-जेल में आपको पहुँचा दिया गया, जहाँ से आप यदा-कदा भुवाली के उस सेनिटोरियम को ले जाए जाते रहे, जहाँ कि उन दिनों इलाज के वास्ते वह टिकी हुई थीं! अन्त में जब हालत इतनी ख़राब हो गई कि विशेष उपचार के लिए वह योरप ले जाई गईं और वहाँ से दिन पर दिन उनकी गिरती दशा के चिन्ता-जनक समाचार आने लगे तब कहीं जाकर निष्ठुर सरकार ने—जनता की ओर से काफ़ी होहल्ला मचाए जाने पर—आपको रिहा करना स्वीकार किया! कहने की आवश्यकता नहीं कि छूटते ही आप आँधी की तरह लपककर फ़ौरन् हवाई जहाज़ द्वारा जर्मनी पहुँचे, जहाँ कि उन दिनों बेडनवीलर नामक स्थान के एक सेनिटोरियम में श्रीमती कमला अपनी बीमारी के कठिन दिन गिन-गिनकर काट रही थीं! परन्तु उनका-आपका यह मिलन-संयोग वस्तुतः केवल नाम-मात्र ही का रहा, क्योंकि जैसे ही वहाँ से हटाकर कुछ महीने बाद स्विटज़रलैण्ड के लॉसेन नामक अन्य एक विश्रान्तिस्थल को वह ले जाई गईं, वैसे ही क्रूर विधाता ने कुछ सप्ताहों के भीतर ही उन्हें इस लोक से उठाकर आपके उस अल्पकालिक सम्मिलन को चिर-विरह में परिणत कर दिया!

इस असामयिक तुषारपात ने स्वभावतः ही आपके हृदय की पंखुड़ियों को बेदर्दी के साथ तोड़ दिया और आपका पारिवारिक जीवन एकबारगी ही मानों ख़त्म-सा हो गया! फिर भी अपने महान् लोकानुष्ठान के पथ पर से आप तिल भर भी विचलित नहीं हुए और तुरन्त ही स्वदेश वापस आकर तथा अप्रैल, सन् १९३६ ई०, में लखनऊ में पुनः कांग्रेस की पतवार ग्रहण कर आपने जन-सेवा का अपना कार्य जारी कर दिया! तदनन्तर फ़ैज़पुर के अगले अधिवेशन में भी राष्ट्रपति के आसन पर तीसरी बार आपका मूर्धाभिषेक कर जनहृदय ने आपके प्रति अपनी अगाध श्रद्धा एवं विश्वास की भावना का जीता-जागता प्रमाण प्रस्तुत किया! और इसके बाद तो कांग्रेस का चुनाव-आन्दोलन आरम्भ होने पर एक अपूर्व तेजस्विता के साथ क्या रेल और हवाई जहाज़ और क्या इक्का, साइकल तथा बैलगाड़ी पर देश का एक तूफ़ानी दौरा कर एक-एक दिन में दर्जनों व्याख्यान दे राष्ट्रीयता का झंडा ऊँचा उठाने में आपने जो चिरस्मरणीय योग दिया—जिस प्रकार 'नागरिक स्वाधीनता संघ' नामक एक नई संस्था की नींव डालकर जनता के मूलभूत अधिकारों की रक्षा की आड़ में विदेशी सत्ता की निरंकुशता का गढ़ जड़ से हिला देने का सामान तैयार किया, और मुस्लिम-लीग की प्रतिक्रियावादी हरकतों का पर्दाफ़ाश कर, सन् १९३७ ई० के प्रसिद्ध 'राष्ट्रीय सम्मेलन' के अध्यक्ष-पद से पहलेपहल 'विधान-परिषद्' की माँग सामने लाकर देखते ही देखते राष्ट्र की भुजाओं में एक नवीन शक्ति की लहर का संचार कर दिया—उसकी गौरव-गाथा से भला कौन देशभक्त आज अनभिज्ञ होगा? इन्हीं दिनों की बात थी कि राष्ट्र के प्रतिनिधि की हैसियत से पुनः योरप की एक महत्त्वपूर्ण प्रचार-यात्रा कर इंगलैंड, फ्रांस, स्पेन, जेकोस्लोवाकिया, आदि देशों में भारत के पक्ष में सद्भावनाएँ जगाने एवं नाज़ी-फ़ासिस्ट साम्राज्यवादी शक्तियों के गुट्ट के ख़िलाफ़ संसार भर के आक्रान्त और पददलित राष्ट्रों के विरोध की स्वर-लहरी में इस महादेश की आवाज़ मिलाने का भी सद्प्रयत्न आपने किया! साथ ही पड़ौसी चीन की भी एक छोटी-सी शुभ-भावना सूचक यात्रा इन्हीं दिनों आपने की; लखनऊ से 'नेशनल हेरल्ड' नामक राष्ट्रीय दैनिक निकाला; कारावास के दिनों में लिखित अपनी प्रसिद्ध अंग्रेज़ी आत्मकथा तथा उसका हिन्दी अनुवाद

प्रकाशित कराया; राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों पर अनेक विचारोत्तेजक लेखों की झड़ी-सी बाँध दी; युद्ध के संबंध में कांग्रेस की असहयोग-नीति की स्पष्ट अभिव्यक्ति कर सन् १९४० ई० के प्रसिद्ध 'व्यक्तिगत सत्याग्रह' के दिनों में पुनः चार वर्ष की क़ैद की सज़ा में सरकार का आतिथ्य स्वीकार किया, और वर्ष भर बाद अन्य राजनीतिक क़ैदियों के साथ मुक्ति पाकर प्रख्यात 'क्रिप्स-मिशन' के भारत-आगमन के अवसर पर राष्ट्रीय पक्ष की ओर से समझौते की बातचीत के दीर्घसूत्री नाटक में प्रमुख रूप से भाग लिया! और तब तक तो आ पहुँची पुनः वह महान् युगान्तरवेला भी, जबकि राष्ट्र ने संधि-चर्चा का रास्ता छोड़कर सन् १९१९-२० ई० अथवा १९३०-३१ ई० के आन्दोलनों की भाँति फिर से रणपथ पर उतर गांधीजी के नेतृत्व में 'भारत छोड़ो' का वह जादूभरा नारा बुलंद किया, जिसने कि देखते ही देखते एकबारगी ही सारे वातावरण का रंग बदल दिया! फलतः ९ अगस्त, सन् १९४२ ई०, की इतिहासप्रसिद्ध घड़ी में अन्य नेताओं की तरह आप भी गिरफ़्तार होकर आगामी तीन वर्षों के लिए अहमदनगर के क़िले में नज़रबंद कर दिए गए, जहाँ कि इस बार कारावास की दशा ही में 'डिस्कवरी ऑफ़ इंडिया' नामक अन्य एक महान् ग्रंथ आपने लिखा, जिसने आपकी विश्वविश्रुत आत्मकथा की भाँति साहित्य और विचार के क्षेत्र में प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त कर युग-युग के लिए आपका नाम अमर बना दिया!

१९४२-१९४८ ई०—इसके बाद की आपकी जीवन-घटनाएँ तो हमारे आज के अपने युग के एकदम इतनी नज़दीक आ जाती हैं तथा समसामयिक इतिहास की बृहत् धारा में घुलमिलकर इस प्रकार वे उसके साथ एकप्राण हो चुकी हैं कि उन्हें विस्तार के साथ यहाँ फिर से चित्रित करने की आवश्यकता ही नहीं रह गई है और न ऐसा करने के लिए पर्याप्त स्थान ही यहाँ है। भला कौन नहीं जानता कि सन् १९४२ के उस महान् स्वातंत्र्य-संग्राम के बाद सन् १९४५ ई० की सुप्रसिद्ध 'शिमला-कान्फ्रेन्स' से लेकर 'ब्रिटिश कैबिनेट मिशन' की सन् १९४६ ई० की महत्त्वपूर्ण राजनीतिक चर्चाओं तक, एक ओर चाणक्य की तरह मँजे हुए कूटनीतिज्ञ ब्रिटिश राजनेताओं और दूसरी ओर संप्रदायवादी मुस्लिम लीग तथा सामन्तशाही राजा-नवाबों के गुट्ट के सम्मिलित प्रतिक्रियावादी मोर्चे का योग्यतापूर्वक मुक़ाबला कर राष्ट्रप्रतिनिधि कांग्रेस ने जो पैंतरे की लड़ाई लड़ी और जिसके सुपरिणाम के रूप में अंत में ब्रिटिश साम्राज्यशाही का डेरा-तंबू सदा के लिए इस देश से उखड़ा एवं १५ अगस्त, सन् १९४७ ई०, के दिन स्वतंत्रता का तिरंगा ध्वज राष्ट्र के वक्षःस्थल पर फहराया गया, उसके यथार्थ सूत्रसंचालक थे यद्यपि महान् राष्ट्रपिता गांधीजी, फिर भी हमारे चरितनायक ने भी उसमें कोई कम महत्त्व और गौरव का भाग नहीं लिया था! इसलिए अंत में जब स्वतंत्रता का उदय हुआ तो सिवा आपके दूसरा वह व्यक्ति हो भी कौन सकता था, जिसके कि मस्तक पर देश के प्रथम प्रजापति का मांगलिक कुंकुम-तिलक लगाया जाता? अतः क्या सन् १९४६ ई० के सितंबर मास में अंतरिम सरकार के निर्माण के समय और क्या १५ अगस्त, सन् १९४७ ई०, के दिन पूर्ण स्वाधीनता का सूर्योदय होने पर, आप ही के हाथों में राष्ट्र-नौका की पतवार अंततोगत्वा रखी गई! और इसके बाद तो पिछले दो-ढाई वर्षों की इस तूफ़ानी अवधि में क्या देश के विभाजन के फलस्वरूप प्रस्तुत होनेवाले जन-विग्रह और लाखों नरनारियों के स्थानान्तरीकरण के विराट् संकट का साक्षात्कार होने पर और क्या राष्ट्रपिता गांधीजी के निधन के रूप में देश पर टूट पड़नेवाली वज्रतुल्य विपत्ति की अग्नि-परीक्षा का सामना पड़ने पर—क्या काश्मीर और हैदराबाद रूपी व्यतीपातों के भारी बवण्डरों के उठ खड़े होने पर और क्या देशव्यापी अन्नसंकट के रूप में अकाल की विभीषिका की भयावह संभावना प्रस्तुत होने पर—जिस अद्भुत कार्यक्षमता, सतर्कता, साहस, धैर्य और राजनीतिक बुद्धि-कौशल के साथ आपने राष्ट्र की नैया को डगमगाने से बचाए रक्खा, तथा इस तुमुल कोलाहल के बीच भी 'विधान-परिषद्' की प्राणप्रतिष्ठा, 'अखिल एशियाई सांस्कृतिक सम्मेलन' के आयोजन, इंडोनेशिया के प्रश्न पर समस्त पूर्वीय देशों के एकमत के अद्भुत संघटन, भीमकाय बाँधों और कल-कारखानों के शिलारोपण तथा संसार के राष्ट्रों के साथ पहले-पहल कूटनीतिज्ञ संबंध की

स्थापना जैसे रचनात्मक कार्यों का सुनहला चित्रपट आपने प्रस्तुत किया, उसे देखते कौन सत्रह वर्ष पूर्व राष्ट्रपिता गांधीजी द्वारा उद्घोषित उस पूर्वोल्लिखित भविष्यद्वाणी की सार्थकता में शंका करने का दुस्साहस करेगा कि 'राष्ट्र उनके हाथों में सर्वथा सुरक्षित है' ?

तो फिर, आइए, इस शुभ कामना के साथ कि परमात्मा आपको चिरजीवी बनाकर अभी बहुत दिनों तक हमें आपके पितृतुल्य नेतृत्व का लाभ देते रहें, आपकी बृहत् जीवनकथा के इस सूत्रवत् तिथिपत्र को यहीं समाप्त कर, श्रद्धा के कुछ अंतिम पुष्प चढ़ा, इस प्रकरण से विदा हो लें—यह जानते हुए कि इन परिमित पंक्तियों में आपकी बहुमुखी प्रतिभा के सभी पहलुओं पर पूर्ण प्रकाश डालना असंभव है। वस्तुतः पंडित जवाहरलाल हैं न केवल इस देश के एक महामहिम लोकनायक, राष्ट्रविधायक और उद्भट राजनेता मात्र, बल्कि वह हैं विचार के क्षेत्र के इस युग के एक महान् चिन्तक और प्रणेता, साहित्य के क्षेत्र के एक अग्रणी कलाकार और इतिहाससमीक्षक, समाज के आँगन के एक अग्रगामी नवनिर्माता और क्रान्तिस्रष्टा, एवं योगी-कवि-दार्शनिक-कलाकार-वैज्ञानिक के अद्भुत समन्वय की जीवित प्रतिमा भी ! वह हैं इस देश के सांस्कृतिक पैमाने के अनुसार 'ब्राह्म' और 'क्षात्र' धर्मों के सुंदर सम्मिश्रण जैसे, जिसकी कि साक्षी है उनकी वह असामान्य यौवनधर्मिता और शूरवीरों की-सी तड़प, स्वातंत्र्य-प्रेम और संकट के अग्निकुंड में कूद पड़ने की सहज वृत्ति, वह शरणागतवत्सलता और दुखियों की मदद के लिए तत्काल दौड़ पड़ने की स्वाभाविक तत्परता, जो कि उनके क्षत्रियत्व के जीते-जागते लक्षण हैं: साथ ही उनके गहन गंभीर विचारों में निहित वह गूढ़ दार्शनिकता, उनके स्वप्नों में निमीलित वह उच्च आदर्शवादिता, एवं वह निस्पृह मानव-प्रेम, विश्व-प्रेम, प्रकृति-प्रेम और एक सुंदर, सात्विक, विश्व-परिवार के सर्जन की वह नैसर्गिक आकांक्षा, जो कि प्रतीक हैं उनके उस अप्रतिहत 'ब्राह्मणत्व' की, जिसकी कि सच्ची वसीयत इस युग में उन्होंने पाई है ! और उनके इस बहुमुखी व्यक्तित्व की भाँति भला उनकी बहुरूपी देन का भी अन्दाज़ क्योंकर इन परिमित शब्दों में लगाया जा सकता है ? कौन नहीं जानता कि राष्ट्रीय आँगन में पूर्ण स्वतंत्रता की मूल्यवान् धारणा को इस युग में पहलेपहल सामने लानेवाले हमारे आदि पथदिग्दर्शक आप ही हैं और आपके ही हाथों राजनीति के क्षेत्र में पहलेपहल अंतर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण अपनाने का शिक्षा-पाठ हमने ग्रहण किया है ? सूत्र रूप में यदि यह कहा जाय तो अत्युक्तिपूर्ण न होगा कि गांधीजी के बाद इस देश के उद्धार का सबसे अधिक श्रेय इस युग में यदि किसी को प्राप्त है तो वह आप ही को है ! तो फिर क्यों न पं० मोतीलाल को धन्य कहा जाय, जिन्होंने कि ऐसा कुलदीपक उपजाने का सौभाग्य पाया और क्यों न धन्य कही जाए यह भारत-वसुन्धरा भी, जिसे कि ऐसा नर-रत्न संसार को भेंट करने का गौरव प्राप्त हो सका !

अंत में विलायत के एक प्रमुख पत्र 'इकानामिस्ट' द्वारा भारत के इस महान् नेता के परिचय में लिखित निम्न उल्लेखनीय वाक्यों को दोहराकर इस लघु प्रशस्ति को हम समाप्त कर देना चाहते हैं, जो कि इस बात के द्योतक हैं कि आज संसार किन आँखों से इस महापुरुष को देख रहा है:—

'कैसे हैं पंडित नेहरू ? वह हैं वस्तुतः अपनी तथाकथित अनमनीयता के बावजूद एक अत्यन्त संवेदनशील, मृदुहृदय दयावान् व्यक्ति—इतने दयावान् कि किसी का जी न दुखने पाए इस भय से 'न' कहते तक वह हिचकिचाते हैं ! उनकी गहरी ईमानदारी के बारे में तो कहना ही क्या है, जिसके कि कारण कभी-कभी—विशेषकर भावावेश में—ऐसी बातें वह कह जाते हैं जो कि शायद न कही जातीं तो ही ठीक होता ! पंडितजी हैं, व्यक्तित्व की दृष्टि से, अनुपम सौन्दर्य के धनी; किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि वह मिथ्या दर्प के भाव से अभिभूत हों। आज तो उनकी सुन्दरता में आध्यात्मिक तेज का ही सर्वोपरि आभास है।··· वह अपने जीवनव्यापी संग्राम और त्याग द्वारा लोकतंत्र, स्वतंत्रता और मातृभूमि विषयक अपनी भावनाओं का तो यथेष्ट प्रमाण प्रस्तुत कर ही चुके हैं और आज जब कि उनके हाथों में राजशक्ति आई है, वह अब अपने आदर्शों को तथ्यों में परिणत कर उन्हें मूर्त्तिमान् बनाने जा रहे हैं !'

सुभाषचन्द्र बोस

आधुनिक भारत के राजनीतिक पुनरुत्थान के बृहत् इतिवृत्त में नेताजी सुभाषचन्द्र बोस का महान् चरित्र एक सर्वाङ्ग-सम्पूर्ण पृथक् वीरकाव्य-जैसा है! यदि हम आज के भारत के मुक्ति-संग्राम की विशद गाथा की उपमा अपने प्राचीन-कालीन विश्व-विश्रुत महाकाव्य 'महाभारत' से दें तो सुभाष बाबू का अनोखा साहसिक चरित्र हमें सहसा उक्त महाग्रन्थ में वर्णित अर्जुनतनय वीरवर अभिमन्यु के असाधारण चरित्र की याद दिलाने लगता है! जिस प्रकार उस वीर पांडव-पुत्र ने, पाँच हज़ार वर्ष पूर्व के उस प्रसिद्ध ऐतिहासिक संग्राम में शत्रुओं द्वारा रचे गए दुर्भेद्य चक्र-व्यूह में अकेले हाथ ही प्रविष्ट होकर तथा उसको भेदने के प्रयत्न में अपने प्राणों की आहुति चढ़ाकर, अंत में अपने पक्ष के लिए विजय का मार्ग निष्कंटक बना दिया था, हमारे आज के इस दूसरे अभिमन्यु ने भी उसी प्रकार देश की स्वाधीनता के शत्रुओं के क़िले को भेदकर एवं बिना किसी की सहायता के एकाकी ही एक नवीन मोर्चा तैयार कर उसी प्रयत्न में अंत में अपने जीवन तक की बलि चढ़ा हमारी बंधन-मुक्ति के जटिल कार्य को इतना सरल बना दिया कि जिस अनुष्ठान की पूर्त्ति में अभी संभवतः हमें वर्षों लगते वह कुछ ही महीनों में परिपूर्ण हो गया! भला कौन इस बात को अस्वीकार कर सकता है कि पिछली १५ अगस्त, सन् १९४७ ई०, को हमारा जो स्वातंत्र्य-स्वप्न अंशतः पूरा हुआ, उसकी सिद्धि का अधिकांश श्रेय जहाँ गांधीजी के नेतृत्व में १९१९ से १९४२ तक के आन्दोलनों में इस देश की लोकशक्ति के प्रचंड-उद्रेक को है, वहाँ नेताजी सुभाषचन्द्र और उनकी 'आज़ाद हिन्द फ़ौज़' को भी उसकी संप्राप्ति में योग देने का कम महत्त्वपूर्ण गौरव प्राप्त नहीं है? सुभाष बाबू का इस देश के जन-हृदय में जो स्थान बन चुका है, उसके लिए प्रमाण की अब आवश्यकता ही क्या रह गई है—वह तो मातृभूमि की बंधन-मुक्ति के यज्ञ में अपने जीवन और प्राणों की आहुति देकर अपनी साधना की अमिट देन के बल पर बन चुके हैं देश के ऐसे लाड़ले कि आज ऐसा कोई भी जयनिनाद नहीं होता, जिसमें भारतमाता, गांधीजी और जवाहरलाल की जयजयकार के साथ उनकी भी जय के नारे न लगाए जाते हों! सुभाष के रूप में आधुनिक भारत ने पाया राजनीति के आँगन का मानों अपना दूसरा 'विवेकानन्द'! यह उन्नतललाटयुक्त गौरवर्णीय तेजस्वी युवा बंगाली, जो अपने अंतस्तल की नैसर्गिक आध्यात्मिक पिपासा के उद्रेक से विक्षुब्ध होकर अपने विद्यार्थी-जीवन ही में घर-द्वार, स्वजन-बन्धु, आदि

का मोह त्याग राजकुमार सिद्धार्थ की भाँति जीवन के शाश्वत सत्य की टोह में एक दिन चुपके-से घर से भाग निकला था और चौदह वर्ष की उस अल्पावस्था ही में जो शान्ति की खोज में हिमालय के एकान्त अंचल में तपस्या के अंगारमय पथ पर क़दम बढ़ाने का प्रयास करते पाया गया था—जिसने कि आगे चलकर आई० सी० एस० के लुभावने प्रवेशद्वार तक पहुँचकर भी, अमरत्व की अपनी उस जन्मजात साध के कारण, ऐहलौकिक सुख की मखमली राह से मुँह मोड़ सेवा और बलिदान के कंटकाकीर्ण मार्ग पर उतर पड़ने का ही रास्ता अपनाया और अपनी उस नैसर्गिक आध्यात्मिक प्यास से निरन्तर उद्वेलित होकर आजीवन अविवाहित रहने तथा मातृभूमि के चरणों में अपने आपको पूर्णतया न्यौछावर कर देने ही में परम आत्मतुष्टि का अनुभव किया—यथार्थतः ही यह महामनस्वी पैदा हुआ था अध्यात्म-क्षेत्र के एक अनूठे अन्वेषक की सम्पूर्ण प्रतिभा लेकर मानों इस युग का दूसरा रामतीर्थ या विवेकानन्द बनने के लिए ही! और, जैसा कि पिछली पंक्तियों में कहा जा चुका है, अपनी सम्पूर्ण प्रभासहित जब हमारे राष्ट्रीय गगन में उसका उदय हुआ तो सचमुच यही प्रतीत हुआ मानों दक्षिणेश्वर के संत का वह महान् उत्तराधिकारी ही साक्षात् फिर से हमारे आँगन में आ खड़ा हुआ था! हाँ, अन्तर था तो केवल यही कि इस बार अध्यात्म के प्रांगण के बदले वह अवतीर्ण हुआ था शुद्ध राजनीति के आँगन में! पर इस नए वेश में आकर भी क्या-क्या चमत्कार उसने न कर दिखाए! जहाँ पिछली बार संन्यासी के उस गेरुए वेश में प्रकट होकर उसने सिंह की-सी अपनी हुँकार द्वारा 'उठो, जागो' का वह मंत्र निनादित किया था, जिसने कि पहले-पहल हमारी निद्रा दूर की, वहाँ इस बार मुक्ति-संग्राम के एक महान् सेनानी के वीरवेश में सामने आ उसने गुँजाई कोटि-कोटि हृदयों को हिला देनेवाली 'जय हिन्द' की अपनी वह प्रचण्ड पुकार, जिसने कि डेढ़ सौ वर्षों से इस देश को जकड़े रखनेवाली राजनीतिक दासता की ज़ंजीरें अंततः तोड़ दीं! जहाँ पिछली बार अकेले ही हाथ योरप-अमेरिका के उस सुदूर देशान्तर में इस महादेश की आध्यात्मिकता की विजय-पताका फहराकर उसने फिर से हमारे खिन्न मन में आत्मविश्वास का कभी भी न मिटनेवाला एक भाव जागरूक कर दिया था, वहाँ इस बार भी स्वदेश की सीमाओं से बाहर मुक्ति-संग्राम का एक अभूतपूर्व जीता-जागता मोर्चा खड़ा कर एवं शत्रुओं के चक्रव्यूह के भीतर ही एक अद्भुत रणशिविर का आयोजन कर उसने जगा दिया हमारी भुजाओं में वह स्फुरण, जिसने कि अल्पकाल ही में दिल्ली के लाल क़िले पर तिरंगा राष्ट्र-ध्वज फहराने के उसके स्वप्न को सार्थक कर दिखाया! निश्चय ही यह देश का दुर्भाग्य था कि आचार्य शंकर के बाद इस भूमि पर अवतीर्ण होनेवाले वेदान्त धर्म के सबसे महान् उद्गाता उस महामेधावी संन्यासी विवेकानन्द की भाँति अपनी जन्मभूमि का मुख उजागर कर देनेवाला बंगाल का यह दूसरा महान् पुत्र भी अपनी युवावस्था ही में हमसे असमय बिछुड़ गया, अन्यथा अपनी दिन पर दिन बढ़ती चली जा रही गुत्थियों को सुलझाने में उसके नेतृत्व द्वारा आज कितनी अधिक सहायता हमें न मिलती—क्या-क्या वरदान हम उससे न पाते?

सुभाष बाबू का जन्म हुआ था २३ जनवरी, सन् १८९७ ई०, के दिन बंगाल के चौबीस परगना ज़िले के कोडोलिया नामक गाँव में, जो कि उनके परिवार का मूल निवास-स्थान था, यद्यपि उनके पिता श्री जानकीनाथ बोस उन दिनों रहते थे उड़ीसा की वर्त्तमान राजधानी कटक में, जहाँ कि वह सरकारी वकील थे। क्या यह एक आश्चर्य की बात न थी कि सुभाष का जन्म हुआ ठीक उसी सप्ताह में, जिस सप्ताह में कि स्वामी विवेकानन्द योरप-अमेरिका की अपनी ऐतिहासिक विजय-यात्रा से वापस लौटे थे और 'मेरे भारत उठ, तेरी वह प्राणशक्ति कहाँ है' की अपनी इतिहास-प्रसिद्ध हुँकार उन्होंने भरी थी? ये वे दिन थे जब कि कांग्रेस को प्रस्थापित हुए अभी केवल बारह वर्ष हुए थे और गांधीजी अभी दक्षिणी अफ़्रीका की अपनी अहिंसात्मक लड़ाई की आरंभिक भूमिका करने ही में संलग्न थे। सौभाग्य से हमारे चरितनायक का जन्म एक ऐसे सुसंस्कृत और विद्याव्यसनी परिवार में हुआ था कि उनकी भी शिक्षा-दीक्षा उसी प्रकार से उच

कोटि की और नए ढंग के अनुसार हुई, जैसी कि देश के अन्य प्रमुख समसामयिक नेताओं की अपने-अपने समय में हुई थी। वह कटक के मिशनरी स्कूल से मैट्रिक की परीक्षा पास कर, सन् १९१३ ई० में, कलकत्ता के प्रसिद्ध 'प्रेसीडेन्सी कॉलेज' में भरती हुए, जहाँ से प्रथम श्रेणी में एफ० ए० करने के बाद, सन् १९१९ ई० में, स्थानीय 'स्कॉटिश चर्च कॉलेज' से युनिवर्सिटी भर में दर्शनशास्त्र में सर्वोच्च पद पाने के अन्यतम गौरव सहित बी० ए० की उपाधि उन्होंने प्राप्त की। तदुपरान्त पिता के आदेशानुसार 'आई० सी० एस०' के लिए वह पहुँचे विलायत, जहाँ न केवल उक्त परीक्षा ही में ससम्मान उत्तीर्ण हो तथा सफल व्यक्तियों की श्रेणी में चतुर्थ स्थान पाकर अपनी प्रतिभा का ज्वलंत परिचय उन्होंने दिया, बल्कि मनोविज्ञान एवं नीतिशास्त्र का 'ट्राइपॉस' कोर्स लेकर इसी बीच कैम्ब्रिज का ग्रैजुएट बन जाने का भी चमत्कार कर दिखाया!

किन्तु यह तो थी उनके उपरले अथवा बाह्य जीवन ही की लौकिक भूमिका, जबकि उनके चरित्र के भीतरी पटल पर तो वस्तुतः कुछ और ही प्रवृत्तियाँ क्रमशः पनप रही थीं, जिनकी कि एक झलक इसी अवधि में प्रकाश में आनेवाली उनके प्रारंभिक जीवन की दो उल्लेखनीय घटनाओं द्वारा हमें देखने को मिलती है। इनमें से एक तो थी उस अल्पावस्था ही में अपनी जन्मजात आध्यात्मिक साध से प्रेरित होकर एक दिन माता-पिता, स्वजन-बन्धु, आदि का मोहपाश तोड़ चुपके से एकाएक घर से भाग निकलने और लगभग छः महीने तक काशी, वृन्दावन, हरद्वार, आदि तीर्थों के मंदिर-मठों एवं संन्यासी-केन्द्रों तथा हिमालय की गिरि-कंदराओं के एकांत में अंतरात्मा की प्यास बुझा सकनेवाले किसी सच्चे गुरु की खोज करते हुए यहाँ से वहाँ भटकते फिरने की वह रोमांचक घटना, जिसका कि उल्लेख इस प्रकरण के आरंभ ही में किया जा चुका है! और दूसरी थी 'प्रेसीडेन्सी कॉलेज' के अपने विद्यार्थी-जीवन के दिनों में मि० ओटन नामक एक दुष्ट गोरे प्रोफ़ेसर को, भारतीयों के प्रति उसके घोर अपमानजनक दुर्व्यवहार के दण्ड के रूप में, दिन-दहाड़े पीटने और इसी सिलसिले में कॉलेज के विद्यार्थियों की एक ज़बर्दस्त हड़ताल आयोजित करने की वह स्मरणीय घटना, जिसके कि परिणाम-स्वरूप युनिवर्सिटी से निर्वासित होकर अंत में सन् १९१५-१७ ई० के अपने शिक्षाकाल के दो अनमोल वर्षों से उन्हें हाथ धो लेना पड़ा था! ये युगल घटनाएँ थीं हमारे चरितनायक के जीवन की आरंभिक पृष्ठभूमि में सशक्त भाव से व्याप्त दो विशिष्ट संस्कार-धाराओं की प्रखर प्रतीक-सी—एक तो उस प्रगाढ़ आध्यात्मिक प्रवृत्ति की, जिसकी कि देन उन्हें मिली थी अपनी धर्मपरायणा माता द्वारा बोए गए अमोघ संस्कार-बीजों एवं बंगीय पुनरुज्जीवन के प्रभातकाल के प्रधान सूत्रधार श्री रामकृष्ण परमहंस और स्वामी विवेकानंद के दिव्य चरित्रों से; तथा दूसरी उस क्रान्तिमूलक राष्ट्रीयता की भावना की, जिसने कि बंगभंग की ऐतिहासिक हलचल के समय से प्रत्येक देशाभिमानी बंगाली युवक की रगों में पैठकर उठती हुई तरुण पीढ़ी के मन में विदेशी सत्ता के प्रति विद्रोह की सशक्त लहरें जगा दी थीं! कहने की आवश्यकता नहीं कि पिता की आज्ञा से विवश होकर युवक सुभाष यद्यपि इच्छा न रहते हुए भी 'आई० सी० एस०' के उस गुलामी के टकसाली मार्ग पर उतर पड़े थे, फिर भी उनके अंतस्तल में उपर्युक्त संस्कारों ही का प्रभुत्व लगातार बना हुआ था। बल्कि सच तो यह था कि समय बीतते उनके हृदय को आंदोलित करनेवाली आध्यात्मिकता और देशभक्ति की उपर्युक्त धाराएँ एक ही विशाल नद में परिणत होकर इस प्रकार उनके अंतर्पटल पर छा गई थीं कि मातृभूमि की मुक्ति की साध ही अब उनके जीवन की परम आध्यात्मिक साध बन गई थी! तो फिर क्या आश्चर्य की बात थी यदि 'आई० सी० एस०' का परीक्षाफल प्रकट होने पर जहाँ उनके माता-पिता और स्वजन-बन्धु हर्ष से फूले न समाए, वहाँ स्वयं उन्हें अपनी वह सफलता एक 'दुर्भाग्य' ही-सी प्रतीत हुई! और कुछ ही महीने बीत पाए होंगे कि अपनी इस आंतरिक भावना का मूर्त्त प्रमाण भी उन्होंने प्रस्तुत कर दिया, जब कि वापस स्वदेश लौटने से पूर्व ही भारत-मंत्री के हाथों में गुलामी की उस नौकरी का त्यागपत्र रख एक ही झटके में उस मायाजाल से अपने आपको उन्होंने छुड़ा लिया, जिसकी कि मृग-तृष्णा में उन दिनों प्रायः प्रत्येक महत्त्वाकांक्षी शिक्षित भारतीय युवक उलझा हुआ था!

ये थे हमारे आधुनिक इतिहास के वे चिरस्मरणीय युगांतरकारी दिन, जबकि रौलट-बिल, पंजाब-हत्याकाण्ड, मार्शल-लॉ, आदि के रूप में दमन की एक अप्रत्याशित आतंकजनक विभीषिका का दृश्य समुपस्थित होते ही सारा देश जागृति और आत्मचेतना की एक अपूर्व लहर में सराबोर हो विदेशी सत्ता के ख़िलाफ़ सीना तानकर उठ खड़ा हुआ था और गांधीजी के नेतृत्व में असहयोग की रणदुंदुभि बजा आज़ादी की प्राप्ति के हेतु सक्रिय रूप से कुछ करने के लिए पहली बार ताल ठोंककर लड़ाई के मैदान में उतर पड़ा था! अतः 'आई० सी० एस०' के उस मृगजाल से छुटकारा पा आजीवन मातृभूमि की सेवा का भीष्म-संकल्प करनेवाले युवक सुभाष को स्वदेश वापस लौटते ही अपने लिए एक मनचाहा कार्यक्षेत्र मानों अगवानी करता हुआ पहले ही से तैयार मिल गया! तो फिर क्या पूछना था—एक क्षण का भी विलम्ब किए बिना तुरन्त ही कमर कसकर वह उसमें उतर पड़े और जैसे ही बम्बई में जहाज़ से इस धरती पर पुनः उन्होंने अपना क़दम रक्खा, वैसे ही पहले तो असहयोग के महान् विधायक गांधीजी से एक महत्त्व की मुलाक़ात उन्होंने की, तथा अहिंसा के उस पैग़म्बर की आदर्शवादिता से जब उन्हें यथार्थ संतोष न मिल सका तो वहाँ से सीधे कलकत्ते पहुँच देश के उस दूसरे दिग्गज नेता चित्तरंजन दास से जाकर वह मिले, जो कि उन्हें अपने विचारों के कहीं अधिक निकटस्थ एवं एक पक्का व्यावहारिक राजनीतिज्ञ दिखाई दिया! और इस प्रथम मिलन ही में उस उद्भट नेता के साथ ऐसे प्रगाढ़ बंधन में वह बँध गए कि शीघ्र ही दोनों के बीच गुरु-शिष्य का-सा नाता स्थापित हो गया! क्योंकि जहाँ युवक सुभाष ने देशबन्धु के उस सतेज व्यक्तित्व में पा लिया राजनीतिक क्षेत्र का अपना मनोनीत पथप्रदर्शक, वहाँ स्वयं चित्तरंजन को भी इस होनहार युवक की तेजस्विता में मिल गया अपना यथार्थ उत्तराधिकारी एवं देश का एक महान् भावी कर्णधार! इस प्रकार उस दिग्गज नेता के हाथों राजनीति की अग्नि-दीक्षा पा हमारे चरितनायक ने जनक्षेत्र के अंगारमय पथ पर अपना पहला क़दम रक्खा, और सबसे पहले वह लोक के सामने आए अपने नगर के उस 'राष्ट्रीय विद्यापीठ' के प्रधान आचार्य (प्रिंसिपल) के रूप में, जिसने कि देश के अन्य नवसंस्थापित राष्ट्रीय विद्यालयों की भाँति हमारे मुक्ति-संग्राम के लिए सैनिकों की एक मँजी हुई टोली तैयार करने तथा उगते हुए नौनिहालों के दिलों में आज़ादी का मंत्रबीज फूँकने में अपने प्रान्त के प्रधान शिक्षण-शिविर का काम किया!

कहना अनावश्यक है कि अपने इस पहले ही मोर्चे में महातेजस्वी सुभाष ने अपने अन्तराल में छिपी हुई क्रांति की चिनगारियों को ऐसी प्रखरता के साथ चमकाना शुरू किया कि सहज ही सरकार की राह में वह काँटा बन गए! अतः जैसे ही 'प्रिन्स ऑफ़-वेल्स' के स्वागत-बहिष्कार का वह देशव्यापी आन्दोलन उठा, जिसने जलते हुए हवनकुण्ड में मानों घी की आहुति छोड़ दी; साथ ही कांग्रेस के तत्त्वावधान में राष्ट्रीय स्वयंसेवकों की ग़ैरक़ानूनी भरती का वह दौरदौरा शुरू हुआ, जिससे कि हड़बड़ाकर सरकार को अपने दमनचक्र की गति को और भी तीव्र कर देना पड़ा, वैसे ही प्रान्तीय स्वयंसेवक दल के प्रधान सेनानी के नाते शीघ्र ही उन पर नौकरशाही की शनि दृष्टि आ लगी और दिसंबर, १९२१ ई०, में छः मास की क़ैद की सज़ा में पहली बार उस कारागार का द्वार आख़िर उन्हें देखना पड़ा, जो कि इसके बाद से मानों उनका दूसरा घर-सा बन गया! कहते हैं, इस दण्ड के सुनाए जाने पर विद्रोहमूर्त्ति सुभाष ने तीक्ष्ण व्यंग्ययुक्त शब्दों में मैजिस्ट्रेट को संबोधित करते हुए कहा था—'केवल छः मास! तो फिर क्या मैंने महज़ एक मुर्गी चुराने का जुर्म किया है?' ऐसा था हमारे चरितनायक के जीवन-नाटक का पहला अंक—उनके हाथों रचे जानेवाले वीरकाव्य का प्रथम सर्ग, जिसके कि उद्घाटन के साथ ही देश के राजनीतिक क्षितिज पर प्रकट होनेवाले एक नूतन नक्षत्र के रूप में भविष्य का एक सुनहला सपना बन इस प्रकार अपने देशवासियों की आशादृष्टि में वह पैठ गए कि अल्पकाल ही में अपने समवयस्क जवाहरलालजी की भाँति वह भी नई पीढ़ी के हृदय-सम्राट् और शासन-सत्ता की आँखों की किरकिरी बन गए!

इस प्रथम जेल-यात्रा से वापस बाहर आने पर हमारे चरितनायक को अपने प्रान्त बंगाल पर बाढ़

की भयंकर आपत्ति के रूप में लोकसंकट की एक भीषण विभीषिका मुँह बाए सामने प्रस्तुत मिली। अतः आते ही तुरन्त पीड़ितों की सहायता के कठिन कार्य में वह संलग्न हो गए। तदुपरान्त सन् १९२०-२१ ई० के स्वातंत्र्य-संग्राम के प्रथम दौर की समाप्ति पर, मोतीलालजी और देशबन्धु के नेतृत्व में 'स्वराज्य-दल' के निर्माण तथा कौंसिल-एसेम्बली एवं म्युनिसिपल-डिस्ट्रिक्ट बोर्डों में राष्ट्रवादियों के प्रवेश के रूप में जब हमारे जनान्दोलन का एक नवीन सर्ग आरम्भ हुआ तो दास बाबू के परम विश्वसनीय लैफ्टिनैण्ट की हैसियत से, एक ओर 'फ़ारवर्ड' नामक नवसंस्थापित स्वराज्य-दलीय अंग्रेज़ी मुखपत्र के प्रधान संपादक और दूसरी ओर कलकत्ता-कार्पोरेशन के प्रथम लोकप्रिय प्रधान व्यवस्थापक (चीफ़ एक्ज़ीक्यूटिव ऑफ़िसर) के रूप में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भाग उक्त अनुष्ठान में उन्होंने लिया। कहते हैं, इन दिनों एक बाज़ू जहाँ 'फ़ारवर्ड' के कॉलमों में प्रांतीय सरकार के आर्डिनेन्स-राज्य की वीभत्सता का पर्दाफ़ाश कर अपनी संहार-शक्ति का प्रखर परिचय उन्होंने दिया, वहाँ साथ ही साथ कार्पोरेशन के आँगन में दरिद्रनारायण के हित की अनेक क्रान्तिकारी सुधार-योजनाओं का आयोजन कर दूसरी बाज़ू इस बात का भी एक जीता-जागता सुबूत दुनिया के सामने प्रस्तुत कर दिया कि राष्ट्र-निर्माण के रचनात्मक अंग की पूर्ति करने की भी कैसी अगाध क्षमता उन्हें प्राप्त थी! तो फिर अधिक दिनों तक शासन-सत्ता के लौह चंगुल से भला क्योंकर बचे हुए वह रह सकते थे? अतः अभी पूरा एक वर्ष भी इस कार्य को हाथों में लिये उन्हें न हुआ होगा कि गोपीनाथ साह नामक एक तरुण क्रान्तिकारी बंगाली के हाथों मि० डे नामक एक अंग्रेज़ की हत्या की आड़ में सरकार ने २५ अक्टूबर, १९२४ ई०, के दिन अस्सी अन्य नवयुवकों सहित पकड़कर, 'बंगाल-आर्डिनेन्स' के अधीन बिना मुक़दमा चलाए ही अनिश्चित काल के लिए पुनः उन्हें अपने कारागार का मेहमान बना लिया! इस अन्याय के प्रति स्वभावतया सारा देश रोष और विक्षोभ की एक ज़बर्दस्त लहर से उद्विग्न हो उठा और स्वयं देशबन्धु के मुख से भी निम्न ओजस्वी वाक्य निकलते सुनाई दिए—'यदि मातृभूमि का प्रेम एक गुनाह है तब तो मैं भी गुनहगार हूँ! अगर सुभाष बोस एक अपराधी क़रार दिया जाता है तब तो मैं भी उतना ही अपराधी ठहरता हूँ! तब तो न सिर्फ़ कार्पोरेशन का 'चीफ़ एक्ज़ीक्यूटिव ऑफ़िसर' ही प्रत्युत उसका 'मेयर' भी उतना ही दोषी माना जाना चाहिए!' परन्तु इस प्रतिक्रिया का कोई असर सरकार पर न हुआ, और कुछ दिनों तक अलीपुर सेण्ट्रल जेल में रखने के बाद उसने देश के इस लाड़ले को आख़िर बर्मा की पुरानी राजधानी माण्डले के उस कारागार में ले जाकर नज़रबंद कर दिया, जहाँ कि इससे पहले राष्ट्र के अन्य दो महान् नेता—लोकमान्य और लाजपतराय—भी अपनी सज़ा काट चुके थे!

इस कठोर कारावास का बड़ा चिन्ताजनक कुप्रभाव हमारे चरितनायक के स्वास्थ्य पर पड़ा और कुछ ही दिनों में उनका वज़न लगभग ४० पौण्ड कम हो गया! इस बीच जेल में दुर्गा-पूजा का त्यौहार मनाने के प्रश्न पर अपने कुछ साथियों सहित एक लंबा अनशन भी उन्होंने किया, जिससे उनके शरीर की हालत और भी अधिक नाज़ुक हो गई! आख़िर जब तपेदिक के-से लक्षण प्रकट होने लगे और सारा देश उनके स्वास्थ्य की चिन्ता से क्षुब्ध हो उठा, तब कहीं जाकर सरकार उन्हें इलाज के लिए स्विट्ज़रलैण्ड जाने की अनुमति देने को तैयार हुई—परन्तु वह भी इस शर्त्त पर कि बर्मा से जहाज़ पर सवार हो वह सीधे योरप चले जाएँ; राह में भारत के किसी बंदरगाह पर न उतरें! भला ऐसी अपमानजनक शर्त्त नर-केसरी सुभाष कैसे मंज़ूर करते—क्योंकि इससे तो जेल में घुल-घुलकर मर जाना ही उनकी निगाह में श्रेयस्कर था! आख़िर नौकरशाही ही को अपने घुटने टेकने को विवश होना पड़ा और फलतः मई, सन् १९२६, में बिना शर्त्त के वह मुक्त कर दिए गए! और आश्चर्य की बात थी कि मात्र हड्डियों का कंकाल लेकर वापस आने पर भी उनका स्वास्थ्य अल्पकाल ही में फिर से अपनी पूर्वस्थिति पर आ गया—मानों कारागार की दीवारें ही उसकी एकमात्र रुकावट रही हों!

तब अपने प्रान्त की कांग्रेस-कमेटी की अध्यक्षता की बागडोर हाथों में ले, सन् १९२७ ई० का कौंसिल-चुनाव उन्होंने लड़ा तथा प्रान्तीय धारा-सभा में प्रविष्ट होने के अतिरिक्त प्रसिद्ध 'इण्डिपेण्डेन्स ऑफ़

इण्डिया लीग' के संगठन एवं 'सायमन-कमीशन' के बहिष्कार के आयोजन में भी हाथ बँटाया। साथ ही मद्रास-अधिवेशन में कांग्रेस के संयुक्त प्रधान मंत्रित्व का गहन-गंभीर भार भी उन्होंने ग्रहण कर लिया एवं देश के विधान की तजवीज़ करने के लिए आयोजित प्रख्यात 'नेहरू-कमेटी' के एक सदस्य के रूप में भी अपना मूल्यवान् सहयोग राष्ट्र को प्रदान किया, यद्यपि जवाहरलालजी की तरह वह भी थे 'औपनिवेशिक स्वराज्य' के कट्टर विरोधी तथा 'पूर्ण स्वतंत्रता' ही के प्रबल पक्षपाती! और तब तक तो आ पहुँचा सन् १९२८ ई० का कलकत्ता का वह ऐतिहासिक कांग्रेसाधिवेशन भी, जिसमें कि हमने देखा उन्हें सैनिक लिबास में घोड़े पर सवार हो विधिवत् राष्ट्रीय स्वयंसेवक सेना के प्रधान सेनानी के रूप में राष्ट्रपति के भव्य जुलूस की शान के साथ अगवानी करते एवं राष्ट्र-मंच से वामपक्ष की ओर से पूर्ण स्वतंत्रता का वह नारा बुलंद करते हुए भी, जिसकी कि संपूर्ण स्वीकृति के लिए देश को लाहौर के आगामी अधिवेशन तक अभी वर्ष भर का इंतज़ार और करना था! तदुपरान्त उसी कलकत्ते में वह सामने आए विदेशी वस्त्रों की एक होली जलाने के सिलसिले में गांधीजी पर किए गए जुर्माने के विरोध में ज़ोरों के साथ बॉयकाट का एक प्रबल आन्दोलन उठाते हुए भी, एवं इसके थोड़े दिन बाद ही दिखाई दिए लाहौर में कार्यकारिणी समिति के चुनाव के तरीक़े पर गंभीर मतभेद हो जाने के कारण कांग्रेस-महासमिति की बैठक से एक मशहूर 'वॉक-आउट' का प्रदर्शन करते तथा 'कांग्रेस डिमाक्रेटिक पार्टी' के नाम से एक नए दल की प्रस्थापना करते हुए भी! तात्पर्य यह कि पिछली क़ैद से छूटने की घड़ी से अब तक अपने अवकाश का एक-एक क्षण मातृभूमि की आज़ादी के कार्य को आगे बढ़ाने में ही उन्होंने लगाया, जिसके कि बाद राजद्रोह के एक मामले की आड़ में वर्ष भर के लिए पुनः कारागार के मेहमान वह बना लिये गए!

यह थी उनकी चौथी जेल-यात्रा, जिसको कि इस दृष्टि से एक विशेष महत्त्व इस बार प्राप्त हुआ कि इसी कारावास की स्थिति में, नौकरशाही के नाम लोकशक्ति की खुली चुनौती के रूप में, अपने नगर के बन्धु-जनों द्वारा कलकत्ता-कार्पोरेशन के 'मेयर' (नगरपति) के सम्मानपूर्ण पद के लिए वह चुने गए, जो कि जनहृदय पर उनके प्रभुत्व का एक जीता-जागता प्रमाण था! पर सरकार तो मानों तुली बैठी थी हर प्रकार से उन्हें कुचलने के लिए ही! अतः इस अवसर पर विशेष उदारता दिखाने की बात तो दूर रही, उल्टे उसने पिछली क़ैद की मियाद पूरी करके उनके वापस बाहर आने के अल्प समय बाद ही, २६ जनवरी, सन् १९३१ ई०, के स्वातंत्र्य-दिवस के उपलक्ष्य में उनकी अध्यक्षता में आयोजित एक बृहत् जुलूस पर घुड़सवार पुलिस द्वारा लाठी-आक्रमण कराकर न केवल उन्हें बुरी तरह आहत ही किया, बल्कि दूसरे ही रोज़ एक मुक़द्दमा क़ायम कर छः मास की सज़ा में ज्यों-का-त्यों वापस जेल में ठूँस दिया! किन्तु नौकरशाही की इस साज़िश के बावजूद 'गांधी-इर्विन-समझौते' के परिणामस्वरूप इस बार वह मियाद से पहले ही छूट आए और फलतः करांची के कांग्रेसाधिवेशन के अवसर पर, अ० भा० नौजवान सभा के मंच पर से अध्यक्ष के रूप में 'सविनय अवज्ञा आन्दोलन' को स्थगित करने की नीति के विरोध में ज़ोरों के साथ अपनी आवाज़ उठाते हम उन्हें देख सके! साथ ही देखा हमने उन्हें इन्हीं दिनों हिजली के नज़रबन्दियों एवं चटगाँव, ढाका, आदि के नागरिकों पर की गई पुलिस की ज्यादतियों की जाँच के लिए उन स्थानों का एक महत्त्वपूर्ण दौरा करते और अस्थाई तौर पर इसी संबंध में पुनः गिरफ़्तार होते तथा अपने प्रान्त में वीर जवाहर के 'नागरिक स्वाधीनता संघ' की पताका फहराने के अतिरिक्त सिंध, पंजाब, युक्त-प्रान्त, महाराष्ट्र, आदि के विविध राजनीतिक सम्मेलनों, युवक-परिषदों, आदि एवं 'अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस' जैसी महत्त्वशाली मज़दूर संस्था की अध्यक्षता करते हुए भी—जिसके कि बाद विशेष रूप से निमंत्रित होने पर कांग्रेस कार्यकारिणी की एक बैठक में सम्मिलित होने के लिए बंबई जाने के उपरान्त लौटते में कल्याण स्टेशन पर रेगूलेशन ३ के अधीन फिर से गिरफ़्तार हो कारागार की दीवारों की ओट में हमारी दृष्टि से वह ओझल हो गए! ज़रा सोचिए तो कि मातृभूमि की मुक्ति के हेतु आत्मोत्सर्ग की कैसी अटूट श्रृंखला में पिरोया हुआ था उनका यह चलचित्र-सा घटनामय जीवन!

कहने की आवश्यकता नहीं कि पहले की तरह इस बार भी कारावास की उन असह्य विषमताओं के आगे उनकी तंदुरुस्ती लड़खड़ा गई और फिर से उनका पुराना रोग ज़ोरों के साथ उभड़ आया! अतः सिवनी से जबलपुर और वहाँ से नागपुर, मद्रास, भुवाली, लखनऊ, आदि विविध स्थानों में फेरबदली करने एवं बड़े-बड़े डॉक्टरों द्वारा जाँच कराने के उपरान्त आख़िर सरकार को अपनी लाज रखने के लिए उन्हें इलाज के वास्ते योरप जाने की इजाज़त देना पड़ी! इस प्रकार आगामी कई वर्षों के लिए स्वदेश से निर्वासित-से होकर मार्च, सन् १९३३ ई० में, वह विएना (ऑस्ट्रिया) पहुँचे और उपचारार्थ वहाँ के एक सेनीटोरियम में भरती हुए, जहाँ कि इन्हीं दिनों देश का एक और महान् नेता—विट्ठलभाई पटेल—भी जेल-जीवन के कुपरिणामस्वरूप बिखर पड़नेवाली अपनी तंदुरुस्ती के तार फिर से बटोरने का प्रयास कर रहा था! और यह कोई कम उल्लेखनीय बात न थी कि उम्र के लिहाज़ से परस्पर काफ़ी अंतर रखते हुए भी बुजुर्ग पटेल तथा युवक सुभाष की राजनीतिक विचारधारा में, उस अल्पकाल के सहवास ही में, एक अद्‌भुत साम्यभाव स्थापित हो गया, जिसका कि प्रखर प्रमाण उन्होंने प्रस्तुत किया इन्हीं दिनों विएना से अपने उस मशहूर वक्तव्य को प्रकाशित करके, जिसमें गाँधीजी की नीति की आलोचना करते हुए नई नींव पर कांग्रेस को पुनर्संगठित करने एवं आज़ादी की सिद्धि के लिए एक नया क़दम उठाने को उन्होंने देश का आह्वान किया था! तब तंदुरुस्ती में सुधार होने पर हमारे चरितनायक ने प्राग, बुडापेस्ट, बेलग्रेड, सोफ़िया, बुखारेस्ट, मिलान, आदि नगरों की एक महत्त्वपूर्ण प्रचार-यात्रा की और 'इंडियन स्ट्रगल' नामक अपनी वह मशहूर पुस्तक भी इसी बीच प्रकाशित कराई, जिसे कि वर्षों तक अधिकारियों ने इस देश में न आने दिया! साथ ही, सन १९३५ ई० के आख़िर में पिता की बीमारी की सूचना पा इसी अर्से में हवाई जहाज़ द्वारा दौड़े-दौड़े वह एक बार स्वदेश भी आए, यद्यपि उनके घर पहुँचने से पहले ही पिता के चल बसने एवं पुलिस द्वारा उनकी हलचलों पर अनेक अपमानजनक पाबंदियाँ लगा दी जाने के कारण वह ज़्यादा दिन यहाँ नहीं ठहर पाए और अपने स्वास्थ्य के तकाज़े से मजबूर होकर उल्टे पाँव ही उन्हें वापस योरप लौट जाना पड़ा! तदुपरांत अपने पेट के एक आपरेशन से निबटकर पेरिस, बर्लिन और डब्लिन की एक महत्त्वपूर्ण यात्रा उन्होंने की, जिसके दर्मियान आइरिश राष्ट्रनायक डि वैलेरा से वह मिले, और अंत में मातृभूमि से अनिश्चित काल के लिए निर्वासन के उस दण्ड को भुगतते रहने की अपेक्षा उसकी पवित्र धरती पर कारावास की स्थिति में रहना कहीं श्रेयस्कर समझकर ८ अप्रैल, सन् १९३६ ई०, के दिन बिना अनुमति प्राप्त किए ही, एक इटैलियन जहाज़ पर सवार हो, वह वापस स्वदेश आ धमके एवं फ़ौरन गिरफ़्तार करके जेल भेज दिए गए! इस अन्याय से स्वभावतः फिर से सारा देश तिलमिला उठा और कोने-कोने से उनकी रिहाई की माँग की जाने लगी! आख़िर जब उनके स्वास्थ्य में पुनः पहले की-सी गंभीर बिगाड़ की स्थिति पैदा होने लगी, तब कहीं जाकर निष्ठुर नौकरशाही का दिल पसीजा और अंततः मार्च, सन् १९३७ ई०, में बिना शर्त्त के उसने उन्हें कारावास से मुक्ति दे दी!

इस प्रकार पूरे साढ़े पाँच वर्ष बाद, रोकटोक और पाबंदियों की उस अनवरत शृंखला से छुटकारा पाकर, फिर से राष्ट्रीय आँगन में हमारे बीच वह आए! तो फिर क्यों न राष्ट्र का हृदय उनके हाथों में देश की पतवार सिपुर्द करने के अपने अरमानों की पूर्त्ति करने के लिए उतावला हो उठता? अतः डलहौज़ी नामक पहाड़ी स्थान में कुछ समय विश्राम करने के उपरान्त स्वास्थ्य-सुधार के हेतु पुनः योरप के एक अल्पकालिक प्रवास पर वह अभी निकले ही थे—जिसके कि दर्मियान लंदन में कई एक ओजस्वी वक्तृताएँ उन्होंने दी थीं—कि कांग्रेस के आगामी हरिपुरा-अधिवेशन के लिए उन्हें राष्ट्रपति-पद के लिए मनोनीत कर जनता ने उन पर अपना सारा स्नेह-रस उँडेल दिया! इसके बाद तो जिस प्रकार ताप्ती के तट पर इक्यावन तोरणद्वारों से सज्जित 'विट्ठलनगर' में इक्यावन बैलों द्वारा खींचे गए रथ में उनका जुलूस निकाला गया तथा उतने ही राष्ट्रगीतों के स्तवगान द्वारा देश के 'बेताज बादशाह' के रूप में उनका अभिषेक किया गया, और जिस प्रकार स्वयं उन्होंने भी अपने ऊपर न्यौछावर किए गए उस श्रद्धा-भाव के प्रत्युत्तर में पुनः

पूर्ण स्वतंत्रता की शपथ दोहराकर राष्ट्र को आज़ादी की ध्रुव-दिशा में बढ़ा ले चलने का अपना भीष्म-संकल्प प्रकट किया—जिस प्रकार कि स्वास्थ्य की उस नाज़ुक स्थिति में भी अपने महान् दायित्त्व की पूर्त्ति करते हुए वर्ष भर तक यहाँ से वहाँ इसके बाद वह लगातार दौड़े और क्या मुस्लिम लीग के तानाशाह जिन्ना के साथ दो-दो पेंच लड़ाते समय और क्या डा० खरे के विद्रोह के अवसर पर दृढ़ता-पूर्वक परिस्थिति का मुक़ाबला करते समय, जिस योग्यता के साथ हमारी राष्ट्रीय नैया की पतवार उन्होंने सँभाली—ये तो बन चुकी हैं हमारे इतिहास की सर्वविदित बातें! किन्तु दुर्भाग्यवश उनके महान् जीवन की इन मधुर स्मृतियों के साथ ही जुड़ा हुआ है एक कटु यादगार से भरा परिशिष्ट भी—हमारे इतिवृत्त का एक अत्यन्त अप्रिय अध्याय भी! और वह है वर्ष भर बाद ही पुनः त्रिपुरी के अगले अधिवेशन के लिए राष्ट्रपति चुने जाने पर, कांग्रेस के एक दल विशेष के साथ उनकी गहरी तनातनी तथा उसकी पराकाष्ठा के रूप में आख़िर उस राष्ट्रवेदी के साथ उनके दुःखद विछोह एवं 'फ़ारवर्ड ब्लॉक' के नाम से उनके हाथों इन्हीं दिनों एक नवीन राजनीतिक दल की स्थापना का वह प्रकरण, जिसका कि कटु विवरण यहाँ न दोहराना ही श्रेयस्कर होगा! निश्चय ही यह था देश के दुर्भाग्य का एक अत्यन्त शोकजनक प्रकरण—हमारे राजनीतिक आँगन की दलबन्दियों का एक अभागा चित्र—जिसकी कि छाया में हमने अपने कलेजे पर पत्थर रखकर देखा उसी जननायक को कांग्रेस की साधारण सदस्यता तक से वंचित किए जाते हुए, जो कि अभी-अभी दो बार उसके सर्वोच्च आसन पर बहुमत से अभिषिक्त हो चुका था—जिसने कि १०४ डिग्री बुख़ार की दशा में भी, त्रिपुरी के उस कोलाहलपूर्ण अधिवेशन में, राष्ट्रमंच से अपना कर्त्तव्य पूरा करने में हिचक न दिखाई थी! अतः, जैसा कि हम पहले ही कह चुके हैं, उसका हाल यहाँ न दोहराना ही बेहतर होगा! हाँ, यह बता देना नितान्त आवश्यक है कि इस प्रकार ईसा की तरह 'क्रूस' पर चढ़ा दिए जाने पर भी इस तरुण राष्ट्रपुजारी की मातृभक्ति में किसी भी अंश में अंतर नहीं लाया जा सका! तभी तो इसके शीघ्र ही बाद जब संसार के आँगन में द्वितीय महायुद्ध की ज्वालाएँ भभकीं तो लोकमान्य की अमरवाणी को फिर से याद दिलाकर उस उत्तप्तावस्था में अपनी हथकड़ी-बेड़ियों को सीधे घन की चोट से काटकर अपनी मुक्ति का चिरवांछित स्वप्न सिद्ध करने की आवाज़ उठाते हुए वही सबसे पहले सामने आया—यहाँ तक कि बदनाम 'हालवेल-स्मारक' (कलकत्ते की कपोल-कल्पित काल-कोठरी के झूठे स्मारक) को उखाड़ फेंकने के लिए एक ज़ोरदार आन्दोलन खड़ा कर इसी बीच अंग्रेज़ी सत्ता के साथ उसने विधिवत् छेड़छाड़ भी शुरू कर दी, जिसके कि परिणामस्वरूप आख़िर सन् १९४० ई० के जुलाई मास में नवनिर्मित 'भारत-रक्षा-कानून' के शिकंजे में पुनः सरकारी कारागार का मेहमान उसे बन जाना पड़ा!

यह थी हमारे चरितनायक के जीवन-नाटक के महिमामय पूर्वार्द्ध तथा आगे आनेवाले युग-प्रवर्त्तक उत्तरार्द्ध की वह घटनापूर्ण संधिवेला, जबकि अपनी उस अन्यायमूलक क़ैद के विरोध में आमरण अनशन के पथ पर उतर पड़ने के फलस्वरूप अंत में जेल से हटाकर कलकत्ते के अपने मकान की चहारदीवारी ही में पुलिस के कड़े पहरे में एक प्रकार से नज़रबन्द-से वह कर दिए गए थे और जिसकी रहस्यपूर्ण छाया में कई दिनों तक नितान्त एकान्त जीवन व्यतीत कर, अंततः २६ जनवरी, सन् १९४१ ई०, के दिन पुलिस की आँखों में धूल झोंककर उसी एल्गिन-रोडवाले मकान से अपने रहस्यमय पलायन का वह ऐतिहासिक नाटक उन्होंने रचा था, जिसने कि हमारे राजनीतिक घटनाचक्र को तेज़ी से घुमाकर इस देश के आँगन में एक महान् पटपरिवर्त्तनकारी भूचाल-सा ला दिया! और जिस प्रकार जासूसी कहानियों को भी मात कर देनेवाली वह रोमांचकारी साहस-कथा उन्होंने रची—जिस प्रकार कि अपनी उस नज़रबन्दी का चक्रव्यूह तोड़कर एक दढ़ियल मौलाना के रूप में उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रान्त की राजधानी पेशावर वह पहुँचे और वहाँ से कुछ मित्रों की सहायता से एक गूँगे पठान के छद्मवेश में अफ़ग़ानिस्तान की सरहद में दाख़िल हुए; जिस प्रकार कि अंग्रेज़ गुप्तचरों की आँख बचाकर काबुल के जर्मन-दूतावास की मदद से आख़िर वह बर्लिन पहुँचे और

अकेले ही हाथ हिटलर जैसे कूटनीतिज्ञ से पत्र लड़ाकर 'भारत के फ़्यूरर' (सर्वोच्च नेता) के रूप में प्रतिष्ठित होने एवं अपने देश की मुक्ति के हेतु एक 'आज़ाद सेना' तैयार करने में वह सफलीभूत हुए—वह गौरव-गाथा तो अब तक बन चुकी है इतिहास की एक ऐसी स्वर्ण-लीक कि भला किसके लिए आज वह एक अज्ञात कथा होगी; यद्यपि शुरू में काफ़ी अर्से तक ऐसे रहस्य के लिबास में वह लिपटी रही कि कोई भी यह खोज न लगा सका कि आख़िर अंग्रेज़ों की उस फ़ौलादी रक्षापंक्ति को भेदकर वह गए तो कहाँ गए ! यहाँ तक कि उनके सहसा अंतर्धान हो जाने पर पिछले दिनों की उनकी एकान्तवासी प्रवृत्ति को देखते हुए उनके निकटतम स्वजनों तक ने केवल यही अन्दाज़ लगाया कि हो-न-हो अपनी किशोरावस्था की आध्यात्मिक हूक से पुनर्प्रभावित हो राजनीति से एकबारगी ही संन्यास ग्रहण कर वह पुनः हिमालय की ओर चल दिए हों !

इसके बाद तो ज्योंही सिंगापुर, बर्मा, आदि के पतन के उपरान्त अपने देश के सन्निकट धुरी-राष्ट्रों का एक सशक्त केन्द्र प्रस्थापित हुआ, त्योंही भारत को अंग्रेज़ों के पंजे से आज़ाद करने का स्वर्ण-सुयोग सामने आया देखकर हमारे चरितनायक पुनः अदृष्ट के महासागर में कूदकर पनडुब्बी द्वारा समुद्र-मार्ग से जर्मनी से जापान पहुँचे और वहाँ सरकारी अधिकारियों तथा देश के पुराने निर्वासित क्रान्तिकारी श्री रासबिहारी बोस से मिलकर तुरन्त ही उस चिरस्मरणीय 'इंडियन इंडिपेंडेंस लीग' की बागडोर अपने हाथों में उन्होंने ले ली, जिसे कि सुदूर पूर्व में बसनेवाले राष्ट्रभक्त प्रवासी बन्धुओं ने युद्ध के इन्हीं दिनों में जापान सरकार की मदद से स्थापित किया था एवं जिसने उस 'आज़ाद हिंद सरकार' एवं 'आज़ाद हिंद सेना' के निर्माण के लिए नींव का काम दिया था, जिसकी कि सुनहली इमारत खड़ी करके 'नेताजी' (अब सुभाष बाबू इसी नाम से संबोधित किए जाने लगे थे) शीघ्र ही अपना अंतिम महान् अनुष्ठान परिपूर्ण करनेवाले थे ! इस प्रकार अक्टोबर, १९४३ ई०, में उस गौरवशाली स्वतंत्र भारतीय सरकार का सुखद स्वप्न पहलेपहल साकार बनकर सामने आया, जिसने कि ब्रिटेन के खिलाफ़ विधिवत युद्ध-घोषणा करके एवं निकट भविष्य ही में बर्मा की ओर से भारत के पूर्वीय सीमान्त पर धावा बोलकर सारे संसार को चकित कर दिया ! और यह न तो था कोई बच्चों का-सा खिलवाड़, न था वह जापानियों के हाथों का कोई कठपुतली आयोजन ही ! वह तो था दरअसल देश की आज़ादी के लिए मर मिटने को तत्पर मातृभूमि के कुछ पुजारियों का अपने परम शत्रु अंग्रेज़ों के लौह-पंजे से इस धरती को मुक्त करने के हेतु उस देशान्तर में खड़ा किया गया एक ज़बर्दस्त मोर्चा, जिसके कि प्रधान प्रेरक एवं विधायक थे हमारे चरितनायक ! और कैसा व्यापक था उसका स्वरूप कि इस 'आज़ाद हिन्द सरकार' का न सिर्फ़ अपना स्वशासित स्वतंत्र इलाक़ा ही था (जिसमें ज़ियावाड़ी के ५० वर्गमील में विस्तृत प्रारंभिक प्रदेश के अतिरिक्त मणिपुर-विशनपुर का लगभग १५०० वर्गमील लंबा-चौड़ा बृहत् क्षेत्र तथा अंडमान-निकोबार द्वीप-समूह का विशद भूभाग भी क्रमशः सम्मिलित हो गया था), बल्कि बीस करोड़ से भी अधिक रुपयों का उसका अपना स्वतंत्र खज़ाना भी था; अदालतें-थाने-अस्पताल-स्कूल-छापाखाना-अख़बार भी थे; सुसंगठित शासन-विभाग, मंत्रि-मंडल एवं भिन्न-भिन्न कामों के लिए आवश्यक पदाधिकारी थे; अपने ही सिक्के और स्टाम्प आदि चलते थे; तथा इन सबसे कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण तो था उसका अपना वह स्वतंत्र सैनिक संगठन, जिसमें मँजे हुए भारतीय अफ़सरों के मातहत (जोकि हारी हुई ब्रिटिश सेना में से छूटकर आ मिले थे) लगभग ५० हज़ार सशस्त्र सैनिकों की कई एक सुसंगठित पल्टनें थीं—यहाँ तक कि महिलाओं तक की एक सैनिक टुकड़ी तथा छोटे-छोटे बच्चों तक का एक 'जाँबाज़' दल उसमें था, जिसके कि किशोर सैनिक पीठ पर सुरंगें बाँधकर दुश्मन के टैंकों की राह में लेटते हुए भी हिचकते न थे !

तब आ पहुँचा आख़िर वह दिन भी, जबकि 'दिल्ली चलो' की युगान्तरकारी पुकार तथा 'जय हिन्द' के गगनभेदी निनाद के साथ, १९४४ ई० के आरंभ में बर्मा, की ओर से भारत के पूर्वीय सीमान्त पर विधिवत् लड़ाई की मशालें भभक उठीं और इम्फ़ाल, कोहिमा, तामू, टिड्डिम, आदि की चिरस्मरणीय विजय-गाथाओं द्वारा 'नेताजी' की इस भीष्म-प्रतिज्ञा को

सार्थक बनाने का साकार यत्न रचा जाने लगा कि 'तुम मुझे अपना रक्त दो और मैं तुम्हें दूँगा स्वतंत्रता का उपहार !' ये वे दिन थे जबकि महायुद्ध की थपेड़ों से लड़खड़ाकर ब्रिटिश साम्राज्य की मीनारें ताश के घर की तरह बिखरकर एक के बाद एक धराशायी होने लगी थीं और स्वयं भारत में भी उसके शक्ति-दुर्ग की दीवारें सन् ४२ के भीषण आन्दोलन के प्रहार से जड़ से हिल उठी थीं ! अतः जब 'क़दम-क़दम बढ़ाए जा' के राष्ट्र-गान के साथ नेताजी के वे मतवाले योद्धा अपना तिरंगा ध्वज लहराते हुए मातृभूमि के बंधन काटने को क्रमशः आगे बढ़ने लगे तो जहाँ देशभक्तों का हृदय एक नई आशा के भाव से लहलहा उठा, वहाँ देश के शत्रुओं का कलेजा स्वभावतः ही तह से काँप उठा ! निश्चय ही यह थी विदेशी सत्ता के अस्त और हमारे अपने स्वातंत्र्य-प्रभात के पुनरोदय की महान् वेला ! किन्तु तभी आकाश से टूट पड़नेवाली बिजली की तरह दो वज्रसम घटनाएँ घटीं और उस पुण्यानुष्ठान का तार बीच ही में अचानक टूट गया, जिससे कि हमारा वह स्वातंत्र्य-प्रभात पुनः अल्पकाल के लिए टल गया ! ये दुर्घटनाएँ थीं एक तो संसार के विशद रणप्राङ्गण में इन्हीं दिनों धुरी-राष्ट्रों की आकस्मिक पराजय के कारण अंग्रेज़ों के उखड़े हुए कलेवर में पुनः शक्ति का संचार, और दूसरे इस संकट की घड़ी ही में सिंगापुर से हवाई जहाज़ द्वारा जापान जाते समय राह में दुर्घटनावश अगस्त, सन् १९४५ ई०, में हमारे चरितनायक का वह दुर्भाग्यप्रद असामयिक अवसान, जिससे कि आग की फाग का उनका वह साहसिक अनुष्ठान जहाँ का तहाँ अधूरा ही रह गया !

परन्तु उनका वह विशिष्ट मोर्चा उनके अपने जीवनकाल में सफलता की पराकाष्ठा तक न पहुँच पाया तो क्या, उनके उस अमूल्य प्राणदान ने तो दधीचि की अस्थियों की भाँति हमारे विशद मुक्ति-संग्राम को अतुल बल प्रदान कर वह चमत्कार कर दिखाया कि अल्पकाल ही में दिल्ली के लाल क़िले पर तिरंगा झंडा लहराने का उनका सुनहला स्वप्न साकार बन गया और उनके द्वारा प्रवर्त्तित 'जय हिन्द' का वह जादूभरा नारा बन गया हमारा परम पवित्र राष्ट्र-मंत्र ! उन्होंने मिटकर भी हमारे दिलों में राष्ट्रीयता की वह प्रचण्ड लहर जगा दी कि साम्राज्यशाही का कलेजा थरथरा उठा और यद्यपि अपने संध्या-काल की उस अंतिम वेला में भी उनकी 'उस आज़ाद हिन्द सेना' के बाँके सेनानियों पर फौज़ी मुक़दमे का एक हास्यास्पद नाटक रचकर चलते-चलते एक लात मारने की-सी कोशिश उसने की, फिर भी आख़िर शीघ्र ही अपना बोरिया-बँधना यहीं छोड़कर उसे यहाँ से विदा हो जाना पड़ा ! इस प्रकार उस महान् राष्ट्रनायक का रक्तदान अंततः सार्थक हो गया—उस युवा बंगाली का, जिसकी कि आयु का एक-एक क्षण आत्मोत्सर्ग के शाश्वत संदेश का सार अपने अंतस्तल में बसाए हुए था ! यह था सुभाषचन्द्र बोस—हमारे मुक्ति-महाभारत का आधुनिक अभिमन्यु ! हमारी नवजाग्रत तरुणाई का प्रतीक ! हमारे पौरुष के पुनरोदय का अमर साक्षी !

नेताजी सुभाषचन्द्र बोस के रूप में पुण्यशीला भारतभूमि ने पाया इस युग का अपना सबसे ज्वलन्त क्षात्रधर्मी वीर पुत्र ! उनका नाम इतिहास के चित्रपट पर शिवाजी, प्रताप, छत्रसाल, गोविन्दसिंह, विक्रम जैसे राष्ट्रवीरों की नाईं एक महान् योद्धा, संगठनकर्त्ता राष्ट्रनायक के रूप में युग-युग तक जगमगाता रहेगा ! उनका चरित्र आगामी अनेक पीढ़ियों तक इस देश के नौनिहालों को आत्मबल, वीरता, साहस, त्याग, देशप्रेम, अनुशासन, और उच्च आदर्शवादिता का सुनहला पाठ पढ़ाता रहेगा और उनके द्वारा प्रवर्त्तित 'जय हिन्द' का वह अमर नारा भावी पीढ़ियों को निरन्तर याद दिलाता रहेगा उन शपथों की, जिनकी कि प्रतिष्ठा के लिए वह जिए और मरे ! निश्चय ही वह थे इस देश के एक महान् राष्ट्र-निर्माता, जिनके प्रति लोकहृदय की अगाध श्रद्धा का इससे बड़ा प्रमाण और क्या हो सकता है कि उनकी मृत्यु के संबंध में किसी प्रकार की शंका की गुंजाइश न रह जाने पर भी जनसाधारण के मन में अब भी यही दृढ़ भावना बनी हुई है कि वह बात झूठी है तथा निश्चय ही वह पुनः वापस स्वदेश लौटेंगे ! तभी तो वर्ष पर वर्ष बीतते चले जा रहे हैं, फिर भी उनकी वापसी की बाट जोहते हुए इस देश की असंख्य उत्कंठित आँखें मानों पलक-पाँवड़े बिछाए भविष्य की ओर एकटक निहार रही हैं—उसी प्रकार जिस प्रकार कि विगत दो हज़ार वर्षों से ईसा के अनेक श्रद्धालु भक्त उनके लौटने की प्रतीक्षा कर रहे हैं !

ऐसा होने में आश्चर्य भी क्या है, क्योंकि आख़िर हैं तो वह उसी महामहिम बिहार (मगध) की अजरामर सांस्कृतिक परंपरा ही के युग-प्रतिनिधि, जिसने विश्व को जनक, महावीर, बुद्ध और अशोक जैसी विभूतियों का उपहार दिया तथा नालन्द जैसा संस्कृति-केन्द्र जहाँ कभी उद्भूत हो कर फला-फूला ?

राजेन्द्र बाबू की जो सबसे बड़ी विशिष्टता है वह है उनकी सौम्यता और सरल धीरवृत्ति। उन्हें हमने कभी जवाहरलालजी की तरह रुद्र-रूप धारण करते नहीं देखा, देशबन्धु अथवा मोतीलालजी की भाँति प्रलय की आग बरसाते भी नहीं पाया। इसीलिए तो गंभीरतम उत्तरदायित्व का शिव-धनुष उठाने का जब-जब भी हमारे सार्वजनिक आँगन में प्रश्न समुपस्थित होता है, तब-तब हर बार सब कोई इसी किसान जैसे सीधे-सादे किन्तु सर्वतोमुखी प्रतिभा-सम्पन्न क्षमतावान् बिहारी ही की ओर अनुरोधपूर्ण दृष्टि से देखने लगते हैं। बिहार और क्वेटा के भयंकर भूकम्पों का संकट प्रस्तुत हुआ तो क्या, और दामोदर, कोसी आदि भयावह नदियों की प्रलयकर बाढ़ के कारण जन-त्रास तथा दुर्भिक्ष की तांडवलीला का दृश्य सामने आया तो क्या; विधान-निर्मात्री सभा के अध्यक्ष-पद का हिमालय का-सा बोझ उठाने का सवाल सामने उपस्थित हुआ तो क्या, और अन्न के दुष्काल के युग में कोटि-कोटि नर-नारियों की भूख की ज्वाला बुझाने का बीड़ा उठाने की अग्नि-परीक्षा का सामना हुआ तो क्या—हर दशा में यह धीर-गंभीर नेता संकट-मोचन की भाँति भँवर में पड़ी हुई हमारी राष्ट्र-नौका को आगे बढ़ाने के लिए पतवार सँभालने को सदैव मानों बाँहें चढ़ाकर तैयार रहा है! और कैसी अद्भुत प्रतिभा है उसकी कि जिस किसी काम का भी बीड़ा

राजेन्द्रप्रसाद

अपने अमल-धवल चरित्र की स्वयंसिद्ध ऊँचाई के बल पर 'बिहार के गांधी' कहलाने का गौरव पानेवाले देशरत्न डा० राजेन्द्रप्रसाद आधुनिक भारत के ऐसे एक जननेता हैं, जो संतों की-सी अपनी सादगी, सत्यवृत्ति, नीतिनिष्ठा और विरले ही राजनीतिज्ञों में पाई जानेवाली निष्कलंक निस्पृहता द्वारा सहज ही हमें याद दिलाने लगते हैं युधिष्ठिर जैसे अपने धर्म-धुरीण सत्यसंध पूर्वकालिक महान् राजर्षियों की। उनके सम्बन्ध में तो, संक्षेप में, यही भर कह देना पर्याप्त होगा कि वह राजनीति के क्षेत्र में उतरे हुए एक संत हैं, अथवा ऐसे एक राजनीतिज्ञ हैं जिन्हें बिना हिचक के संतों की श्रेणी में बिठाया जा सकता है। और

उसने उठाया, इस योग्यता और आसानी के साथ उसे पूरा कर दिखाया मानों स्वयं उसके ही लिए प्रकृति द्वारा उसका निर्माण हुआ था।

राजेन्द्र बाबू के रूप में गांधीजी द्वारा निर्धारित लोकसेवा की लीक के एक सच्चे पथानुयायी का नमूना हमने पाया है—वह हैं आजीवन दरिद्रनारायण की सेवा और लोकोत्थान का व्रत लेकर मैदान में उतर पड़नेवाले एक आदर्श समाज-सेवक की जीवित प्रतिमा। उन्हें अहंकार की भावना कहीं छूते भी नहीं दिखाई देती और बदले में पुरस्कार पाने की तो कभी उनके मन में इच्छा ही क्या लेश-मात्र कल्पना भी नहीं जग सकती। वह तो नख से शिख तक गीता में दिए गए भगवान् श्रीकृष्ण के उस महोपदेश के अनुसार कर्म करनेवाले एक लोकसेवक हैं कि कर्म करते रहो, फल की कामना न करो! अपने महान् गुरु गांधीजी की भाँति उनका भी एक-मात्र लक्ष्य रहा है सत्य, और अहिंसा का मार्ग ही रहा है उस लक्ष्य-प्राप्ति का एकमात्र साधन! और इतनी बढ़ी-चढ़ी है उनकी अहिंसावृत्ति कि कटु से कटु विवाद में भी कभी किसी का दिल दुखाते वह नहीं पाए गए! उन्हें देखकर बहुत-कुछ हमें स्वर्गीय गोखले की याद आने लगती है—वही निष्कपट सरल वृत्ति, वही दृढ़ सैद्धान्तिकता, वही कटुता-रहित खरापन, वही शालीनता, आजीवन लोकसेवा-व्रत की वही उच्च भावना, उत्तरदायित्व को निभाने में प्रयुक्त वही ईमानदारी, वही कठोर अध्यवसाय-वृत्ति एवं राजनीतिक सूझबूझ से जगमगाती हुई वही बुद्धि-प्रतिभा! वस्तुतः वर्त्तमान राष्ट्रनेताओं में गोखले और गांधीजी की राजनीतिक परम्परा का यदि सबसे अधिक सार्थक भाव से प्रतिनिधित्व करते कोई दिखाई दिया है तो वह हैं राजेन्द्र बाबू ही! तो फिर क्या आश्चर्य, यदि आज से वर्षों पूर्व ही इस देश का जनहृदय उन्हें 'बिहार के गांधी' की गौरवपूर्ण उपाधि से सम्मानित कर चुका है—न केवल इस अर्थ में कि अपने प्रान्त के लोकहृदय के वह माने हुए सम्राट् हैं, बल्कि इसलिए भी कि सच-मुच ही प्रखर रूप से गांधीजी के आदर्श उनमें प्रतिबिंबित हुए हैं।

यह हमारे लिए बड़े सौभाग्य की बात है कि पूज्य 'बापू' और जवाहरलालजी की तरह आधुनिक भारत के इस महामहिम राष्ट्रनेता ने भी स्वतः अपनी 'आत्मकथा' लिखकर अपने उज्ज्वल चरित्र और व्यक्तित्व के अध्ययन के लिए मानों एक सुलभ और प्रामाणिक कुंजी-सी तैयार कर दी है, और सबसे बड़ी बात तो यह है कि यह ग्रंथ मूल रूप में राष्ट्र-वाणी हिन्दी ही में लिखा गया है, जिससे इस देश के उन सामान्य जनों के लिए भी, जो कि अंग्रेज़ी नहीं जानते, इस महा-पुरुष की जीवन-कहानी का विस्तृत परिचय पाने का मानों द्वार-सा खुल गया है! यह महत्त्वपूर्ण पुस्तक अपने रचयिता के गौरवशाली जीवन का तो एक सजीव और चित्ताकर्षक आलेख है ही, किन्तु साथ ही साथ जवाहरलालजी की प्रख्यात आत्मकहानी की भाँति उसकी भी एक अनमोल विशेषता यह है कि एक के बाद एक क्रमबद्ध घट-नाओं के तारतम्य में पिरोया हुआ, सन् १९१८ ई० के बाद का, हमारे आधुनिक राष्ट्रीय जागरण का लगभग सारा का सारा इतिहास संक्षेप में उसमें आ गया है! और स्वयं हमारे चरितनायक के अपने चरित्र एवं व्यक्तित्व की तो भला उससे अधिक अच्छी झाँकी अन्यत्र हमें मिल ही कहाँ सकती है—उसके तो विषय में सरदार पटेल के इन उल्लेखनीय शब्दों को ही यहाँ उद्धृत कर देना पर्याप्त होगा, जो कि उन्होंने इस ग्रंथ के प्राक्कथन में लिखे हैं, कि 'राजेन्द्र बाबू को देखते ही उनकी सरलता और नम्रता की जो छाप हमारे दिल पर पड़ती है, उसका प्रतिबिंब इस आत्मकथा के पन्ने-पन्ने में पाया जाता है!' ऐसी अद्भुत कृति के हिन्दी-जगत् में विद्यमान होते हुए इस जननायक की जीवन-कथा को—और सो भी इन परिमित पृष्ठों में—प्रस्तुत करने की, सच पूछिए तो, आवश्यकता ही क्या है; फिर भी इस लेखमाला की सुसंगति और क्रमबद्धता की दृष्टि से उसके मुख्य-मुख्य सूत्रों को हम यहाँ दोहरा दे रहे हैं, इस आशा के साथ कि विस्तृत विवरण के लिए पाठक उपर्युक्त आत्मकथा को, यदि अब तक न पढ़ चुके हों, तो अवश्य ही एक बार पढ़ लेंगे!

बिहार का सारन ज़िला। उसी का एक छोटा-सा गाँव है—'जीरादेई'! यहीं ३ दिसंबर, सन् १८८४ ई०, के दिन एक ज़मींदार कायस्थ परिवार में हमारे

चरितनायक का जन्म हुआ। आपकी शिक्षा का आरंभ एक मौलवी के हाथों हुआ, जिसने आपको उर्दू-फ़ारसी की तालीम दी। तदुपरांत छपरा के 'ज़िला-स्कूल', पटने की 'टी० के० घोष एकेडेमी', और 'हथुआ-स्कूल' प्रभृति शिक्षालयों में अंग्रेज़ी पढ़ाई की शुरुआत कर, सन् १९०२ ई० में, एण्ट्रेन्स पास करने के बाद आप पहुँचे कलकत्ता, जहाँ प्रसिद्ध 'प्रेसीडेन्सी कॉलेज' में प्रविष्ट हो सन् १९०६-७ ई० में क्रमशः बी० ए० तथा एम० ए० की उपाधियाँ आपने प्राप्त कीं। और यह कोई कम गौरवपूर्ण बात न थी कि क्या एण्ट्रेन्स और क्या एफ० ए०, बी० ए० और एम० ए०, सभी परीक्षाओं में विश्वविद्यालय भर में लगातार सर्वप्रथम रहने का अन्यतम सम्मान इस बीच आपको मिला! ये वे दिन थे जब कि बंगभंग तथा स्वदेशी की हलचल के फलस्वरूप कलकत्ता राष्ट्रीय जागृति का प्रधान केन्द्र-सा बन रहा था! अतः वहाँ रहते हुए स्वभावतः नख से शिख तक राष्ट्रीयता के संस्कारों के रंग में आप रँग गए, जिसका प्रखर परिचय आपने दिया इन्हीं दिनों 'बिहारी क्लब', 'डॉन सोसायटी' आदि विविध जागृतिमूलक स्थानीय संस्थाओं की कार्रवाइयों में उत्साहपूर्वक हाथ बँटाने के अतिरिक्त, सन् १९०६ ई० के प्रसिद्ध कलकत्ता-अधिवेशन में, पहलेपहल एक स्वयंसेवक के रूप में उस महान् राष्ट्रवेदी कांग्रेस के सेवा-प्राङ्गण में उतरकर, जो कि अनतिदूर भविष्य ही में आपका प्रधान कार्यक्षेत्र बन जानेवाला था; साथ ही उसी वर्ष पटने में अपने प्रान्त के विद्यार्थियों का एक महत्त्वपूर्ण सम्मेलन भी आयोजित करके! तब पिता की मृत्यु के कारण विद्यार्थी-जीवन से अवकाश ग्रहण कर, पहले 'मुज़फ़्फ़रपुर-कॉलेज' में अंग्रेज़ी के शिक्षक के रूप में तथा बाद में कलकत्ते के 'सिटी-कॉलेज' में अर्थशास्त्र के प्रोफ़ेसर के रूप में, कुछ समय तक आपने अध्यापन-कार्य किया, जिसके कि उपरान्त क़ानून की 'बी० एल०' परीक्षा पास कर कलकत्ते ही में आप उतर पड़े हाईकोर्ट की वकालत के क्षेत्र में! साथ ही इसी अर्से में स्थानीय 'ला-कॉलेज' में क़ानून के प्रोफ़ेसर की हैसियत से कुछ समय तक आपने पुनः पढ़ाया भी। इसी ज़माने की बात है कि संयोगवश महामान्य गोखले की निगाह आप पर पड़ी और आपकी असाधारण बुद्धि-प्रतिभा, निस्पृह सेवा-भावना तथा देशभक्ति की उत्कट लगन से प्रभावित होकर उन्होंने सानुरोध अपनी 'भारत-सेवक-समिति' का सदस्य बन जाने के लिए आपको आमंत्रित किया। और इस न्योते को स्वीकार करने के लिए तुरंत ही आप राज़ी भी हो गए, यद्यपि उसका स्पष्ट अर्थ था वकालत के क्षेत्र के अपने भावी उत्कर्ष तथा आराम की ज़िन्दगी को ठुकरा देशसेवा के हेतु आजीवन ग़रीबी का बाना पहन लेना! परन्तु विधाता ने तो दरअसल इससे भी अधिक गौरवपूर्ण कार्य आपके लिए निर्धारित कर रक्खा था! अतः अपने पूज्य भ्राता तथा विधवा माता की अनुमति न पा सकने के कारण आपको आख़िर अपना वह इरादा बदलने को मजबूर हो जाना पड़ा, जो कि न केवल आपके ही हित में प्रत्युत सारे देश के हित की दृष्टि से भी एक प्रकार से अच्छा ही हुआ; क्योंकि यदि सचमुच ही गोखले की उस नरम-नीतिधर्मी मंडली के सदस्य आप बन गए होते तो शास्त्री या कुञ्जरू की तरह मॉडरेट राजनीति के दलदल में फँसकर आपका जीवन आज क्या से क्या न हो गया होता! कहते हैं, अपनी इस अग्नि-परीक्षा की घड़ी में बड़े भाई के नाम लिखे गए एक महत्वपूर्ण पत्र में आज से चालीस वर्ष पूर्व ये उच्च आदर्शयुक्त शब्द आपने उद्घोषित किए थे—'यदि मेरे जीवन की कोई महत्वाकांक्षा है तो वह यही है कि अपनी मातृभूमि की कुछ सेवा कर सकूँ!' ये शब्द आपके आगे आनेवाले महान् जीवन के एक-एक स्तर में व्याप्त हो कितने सार्थक रूप में अपनी यथार्थता का जीता-जागता प्रमाण आज प्रस्तुत कर रहे हैं!

इस समय तक आपने क़ानून की 'एम० एल०' डिग्री भी प्राप्त कर ली थी और इस बार भी सारे विश्वविद्यालय में आपका पद सबसे ऊँचा रहा था! साथ ही, सन् १९१६ ई० में, अपने प्रान्त बिहार का अलग से स्वतंत्र हाईकोर्ट बन जाने पर कलकत्ते से उठकर आप पटने ही में प्रैक्टिस भी करने लग गए थे, जहाँ कि अल्पकाल ही में आपकी वकालत ऐसी चमकी थी कि वार्षिक आमदनी तीस-चालीस हज़ार से भी ऊपर जा पहुँची थी! तब पटना-विश्वविद्यालय के सम्बन्ध में केन्द्रीय इंपीरियल लेजिस्लेटिव कौंसिल में एक बिल पेश किए जाने पर, उसकी

कमियों के विरुद्ध एक ज़ोरदार आन्दोलन उठाने में आपने हाथ लगाया और इसी सिलसिले में 'बिहार प्रान्तीय कान्फ्रेन्स' के नाम से एक राजनीतिक सम्मेलन का आयोजन किया, जिसका सुपरिणाम यह हुआ कि एक ओर जहाँ उक्त बिल में काफ़ी संशोधन हो गया, वहाँ दूसरी ओर न केवल अपने प्रान्त ही में प्रत्युत सारे देश में आपका नाम प्रख्यात हो गया! इन्हीं दिनों लखनऊ के ऐतिहासिक कांग्रेसाधिवेशन में युगपुरुष गांधीजी का प्रथम दर्शन पाने का सौभाग्य आपको मिला! और तब तक तो आ पहुँची सन् १९१७ ई० के मशहूर चंपारन-सत्याग्रह की वह युगान्तरकारी घड़ी भी, जिसमें कि 'बापू' के घनिष्ठ संपर्क में आने तथा उनके साथ पहलेपहल जनक्षेत्र में काम करने का अपूर्व लाभ प्राप्त कर आपका सारा जीवन ही एक नवीन ध्रुव-दिशा की ओर मुड़ गया, एवं सत्य और अहिंसा के उस महान् पैग़ंबर के परम अनुयाइयों की श्रेणी में प्रतिष्ठित हो आप बन गए हमारी राष्ट्रनौका के एक चुने हुए कर्णधार! इसके बाद तो एक ओर रौलट-बिल, पंजाब-हत्याकाण्ड, आदि के आतंकजनक दमन-ताण्डव के प्रवर्त्तन और दूसरी ओर गांधीजी के नेतृत्व में असहयोग की लड़ाई के श्रीगणेश के रूप में हमारे इतिहास का एक नवीन युग आरंभ होते ही, देश के अन्य जननायकों की भाँति, आपने भी अपनी फलती-फूलती वकालत को ठोकर मार अपने प्रान्त में आज़ादी के मोर्चे को सुसंगठित करने का भार ग्रहण कर जो गौरवपूर्ण कहानी रची, वह तो हमारे राष्ट्रीय इतिहास की बृहत् धारा में घुल-मिलकर इस प्रकार उसके साथ एकाकार हो चुकी है कि उसका ब्योरेवार चित्रण करने का अर्थ होगा उक्त इतिहास की विशद गाथा ही को मानों दोहराना, जिसके लिए न तो यहाँ पर्याप्त स्थान ही है, न उसकी आवश्यकता ही अब रह गई है; क्योंकि पिछले प्रकरणों में उसकी बहुत-कुछ स्फुट झाँकियाँ हम पा चुके हैं! अतः यहाँ केवल उसके मुख्य-मुख्य सूत्रों का ही उल्लेख कर देना काफ़ी होगा। यहाँ पाठक स्वयं कल्पना कर सकते हैं कि जो व्यक्ति चंपारन के आरंभिक मोर्चे ही में मानों दाहिने हाथ की तरह गांधीजी को सहयोग दे चुका था, वह सन् १९२० ई० के महान् संग्राम की रणभेरी बजने पर भला किस हद तक उनका पदानुसरण करते न दिखाई दिया होगा! अतः ज्योंही 'बापू' द्वारा रौलट-बिल के ख़िलाफ़ आवाज़ उठाई गई, त्योंही हमारे चरितनायक ने पटने में एक ज़बर्दस्त हड़ताल का आयोजन कर एवं तमाम काले क़ानूनों का उल्लंघन करने की शपथ ले अपने प्रान्त में उक्त आन्दोलन के हवनकुण्ड में अग्नि-संचार कर दिया, और उसके बाद तो असहयोग तथा ख़िलाफ़त का दोहरा मोर्चा शुरू होते ही कांग्रेस के मंच पर से अदालतों के बॉयकाट की विधिवत् घोषणा होने से पूर्व ही हज़ारों की आमदनी की अपनी फलती-फूलती वकालत का तुरंत त्याग कर दिया; साथ ही पटना-युनिवर्सिटी के सिनेट और सिंडिकेट की अपनी सदस्यता से भी तत्काल इस्तीफ़ा दे दिया!

इन्हीं दिनों की बात है कि राष्ट्रीय शिक्षा की देशव्यापी लहर के वेग में अन्य प्रान्तों की भाँति बिहार में भी एक बृहत् राष्ट्रीय विद्यालय की नींव पड़ी, जो कि कालान्तर में प्रख्यात 'बिहार-विद्यापीठ' के रूप में विकसित हो देश का एक प्रमुख शिक्षाकेन्द्र बन गया। इस विद्यापीठ की संस्थापना में प्रमुख हाथ बँटाया था हमारे चरितनायक के साथ-साथ उनके परम सहयोगी मज़रुलहक़ साहब ने, जिनके द्वारा आयोजित प्रख्यात 'सदाकत-आश्रम' आगे चलकर बिहार की राजनीतिक हलचल का पीठस्थान-सा बन गया! इसके अलावा देश के अन्य भूभागों की तरह अपने प्रान्त में भी क्या चरखे और खादी के काम को बढ़ावा देने और क्या गाँव-गाँव में कांग्रेस के संगठन का मानों जाल-सा फैला देने; क्या 'तिलक-स्वराज्य-फंड' के लिए धनराशि एकत्रित करने और क्या हिन्दू-मुस्लिम-एकता, अछूतोद्धार, राष्ट्रभाषा-प्रचार, मादक-वस्तु-निषेध, आदि रचनात्मक कार्यों को ज़ोरों के साथ कार्यान्वित करने; क्या 'प्रिन्स ऑफ़ वेल्स' के स्वागत-बहिष्कार एवं राष्ट्रीय स्वयंसेवक दल की भर्ती के अनुष्ठान को सफल बनाने तथा क्या इन्हीं दिनों छपरे की बाढ़ की आपत्ति के समय पुलिस की संगीनों तक का मुक़ाबला कर जनसेवा का उज्ज्वलतम उदाहरण प्रस्तुत करने जैसे चिरस्मरणीय कार्यों द्वारा अपनी अद्भुत संगठन-शक्ति, चरित्रबल, सिद्धान्तवादिता, सत्यनिष्ठा और राजनीतिक बुद्धि-प्रतिभा का जो ज्वलन्त परिचय आपने दिया, उससे सहज ही

देश के प्रथम कोटि के जननेताओं में आपका स्थान सुनिश्चित हो गया और अपने प्रान्त बिहार के तो निर्विवाद रूप से आप बन गए बिना ताज के बादशाह !

तदुपरान्त जब हमारी आज़ादी की लड़ाई का एक दौर—अर्थात् असहयोग और सत्याग्रह-संग्राम का युग—समाप्त हुआ और उसके बदले आरंभ हुआ कौंसिल-प्रवेश अर्थात् सरकार के गढ़ के भीतर ही प्रविष्ट हो वैधानिक ढंग से लड़ाई लड़ने का वह लंबा दौर, जोकि न्यूनाधिक रूप में लाहौर-कांग्रेस का युग आने तक चलता रहा, तो पक्के गांधीभक्त और 'अपरिवर्त्तनवादी' होने के नाते हमारे चरितनायक, सन् १९२३ से १९३० ई० तक की इस लंबी कालावधि भर, एकान्त भाव से गांधी-जी द्वारा निर्धारित रचनात्मक कार्यक्रम को पूरा करने, कांग्रेस के संगठन को सुदृढ़ बनाने एवं अपने प्रांत में चरखे तथा खादी की उन्नति करने में ही लगे रहे। इस बीच १९२३ ई० में आपने कांग्रेस के महामंत्रित्व का भार भी उठाया और सरकारी दमन की जाँच के सिलसिले में आसाम, संथाल-प्रदेश, गुरु का बाग़ (अमृतसर), मुलतान, आदि स्थानों का एक महत्त्वपूर्ण दौरा भी किया। साथ ही कौंसिल-प्रवेश के विरोधी होने पर भी, जिस प्रकार पं० जवाहरलाल ने प्रयाग में और सरदार वल्लभ-भाई ने अहमदाबाद में म्युनिसिपल बोर्ड की चैयर-मैन की कुर्सी स्वीकार कर इन्हीं दिनों अपने-अपने नगर के स्वायत्त शासन एवं विकास के कार्य में गहरी दिलचस्पी ली थी, उसी प्रकार आपने भी अपने नगर—पटना—की म्युनिसिपैलिटी का अध्यक्षपद ग्रहण कर महत्त्वपूर्ण सेवा-कार्य इन्हीं दिनों किया, जिसके बाद पुनः वकालत आरंभ करने पर प्रिवी कौंसिल के एक मुक़दमे के सिलसिले में जीवन में पहली बार आपने विलायत की एक यात्रा भी की ! इस यात्रा के दर्मियान ऑस्ट्रिया में एक युद्ध-विरोधी सम्मेलन में जाकर भाग लेने पर कुछ हुल्लड़बाज़ों द्वारा आप पर एक दुष्टतापूर्ण आक्रमण किया गया, जिससे कि आपको काफ़ी चोट आई ! तब स्वदेश वापस लौटने पर 'सायमन-कमीशन' के बहिष्कार तथा 'कलकत्ता-कांग्रेस' एवं 'सर्वदल-सम्मेलन' की कार्रवाइयों में भाग लेने के बाद पड़ौसी ब्रह्मदेश की भी एक महत्वपूर्ण यात्रा आपने की, जिस प्रकार इससे पहले सन् १९२८ ई० में अपने दूसरे पड़ौसी देश लंका की भी एक दर्शनयात्रा आप कर चुके थे। और तब तक तो आ पहुँचा हमारे स्वातंत्र्य-संग्राम के द्वितीय महासर्ग का वह युग भी, जब कि ३१ दिसम्बर, सन् १९२९ ई०, की आधी रात को पूर्ण स्वतंत्रता के ध्येय की घोषणा कर देश पुनः ताल ठोंककर युद्ध-पथ पर उतर पड़ा ! अतः कहने की आवश्यकता ही नहीं कि इस नए दौर की शुरूआत होते ही क्या नमक-सत्याग्रह और विदेशी वस्त्र-बहिष्कार, तथा क्या करबंदी और मद्यनिषेध, आदि सभी मोर्चों पर अपने प्रान्त में आन्दोलन का चक्र विघूर्णित करने में आपने अपनी सारी शक्तियाँ लगा दीं, जिसके कि उपहारस्वरूप सन् १९३० से १९३३ ई० की अवधि में तीन बार आपको जेल का मुँह देखना पड़ा और कई बार पुलिस की लाठियों के निष्ठुर प्रहार तक सहन करना पड़े !

इसी अरसे में, सन् १९३२ ई० में, उड़ीसा में होनेवाले कांग्रेस के आगामी अधिवेशन के अध्यक्ष-पद के लिए आपका नाम प्रस्तुत हुआ, किंतु पुनः आन्दोलन छिड़ जाने के कारण वह अधिवेशन हो ही न पाया। आख़िर, सन् १९३४ ई० में, बम्बई में जब अड़तालीसवाँ कांग्रेसाधिवेशन हुआ तब विधिवत् राष्ट्रपति की गद्दी पर बिठा आपको अपना सर्वोच्च सम्मान प्रदान करने की अपनी मनोकामना की पूर्त्ति जनहृदय ने की ! इसी वर्ष की बात थी कि प्रलयंकर बिहार-भूकंप के रूप में देश पर एकाएक वह दैवी विपत्ति आकर टूटी, जिसकी कि समता की आपदा इस भूभाग पर कई सदियों से नहीं आई थी ! और भला कौन नहीं जानता कि इस राष्ट्रीय संकट की घड़ी में, अपने स्वास्थ्य की अत्यन्त नाज़ुक स्थिति में भी, जेल से छुट्टी पाते ही असाधारण आत्मशक्ति और संगठन-योग्यता के चिरप्रमाण के रूप में कैसा भगीरथ अनुष्ठान आपने अपने लाखों पीड़ित देशबन्धुओं को राहत पहुँचाने के लिए उस समय रचा ? वस्तुतः अपने उस एकमात्र सेवाकार्य ही के बल पर युग-युग तक इतिहास के पृष्ठों पर आपका नाम अमिट अक्षरों में अंकित बना रहेगा, ऐसा अद्भुत असाधारण कार्य था वह ! इसी प्रकार, डेढ़ वर्ष बाद, जब क्वेटा के भयंकर

भूकंप के रूप में फिर से वैसी ही एक और आपदा सामने आई. तब भी बाँहें चढ़ाकर पुनः तुरंत अपनी सेवाएँ अर्पित करने के लिए आपको मैदान में उतरते हमने देखा! परन्तु दुष्ट नौकरशाही ने इस बार आपको उस पीड़ित क्षेत्र तक पहुँचने ही न दिया, जिससे कि देश भर में एक ज़बर्दस्त रोष और असंतोष की लहर दौड़ गई!

इसके बाद तो आपने राष्ट्रनेतृत्वकाल में तथा उसके उपरान्त भी, निरंतर तंग परिस्थितियों से सामना पड़ते रहने पर भी, जिस प्रकार असीम धैर्य, व्यवहार-चातुर्य एवं कार्य-कुशलता द्वारा कांग्रेस की बागडोर आपने सँभाली और अपने गिरते हुए स्वास्थ्य की तनिक भी परवा न करते हुए चुनाव के दिनों में हज़ारों मील की दौड़ लगा सारे देश का दौरा किया—जिस प्रकार प्रस्तावित शासन-सुधारों की गंभीर समीक्षा द्वारा राष्ट्र को सच्चा रास्ता दिखाने में योग दिया और प्रख्यात कांग्रेस-पार्लामेण्टरी बोर्ड की सदस्यता स्वीकार कर पहलेपहल राष्ट्रीय मंत्रि-मंडलों की प्रस्थापना का चमत्कार कर दिखाया; जिस प्रकार मियाँ जिन्ना से समझौते की एक विफल किन्तु महत्त्वपूर्ण कोशिश करने के अलावा, देशी राज्यों की समस्या में भी गहरी दिलचस्पी लेकर तथा किसानों और ज़मीन्दारों में सुलह कराने का अनुष्ठान सफल बनाकर, एवं नागपुर के अ० भा० हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के सभापति-पद से राष्ट्रभाषा की उन्नति-विषयक अपने जीवनव्यापी प्रयासों में मानों चार चाँद लगाकर, तरह-तरह की राष्ट्रहितकारी प्रवृत्तियों में इन्हीं दिनों हिस्सा बँटाया; जिस प्रकार कि त्रिपुरी के अधिवेशन के समय उठ खड़े होनेवाले सुभाष बाबू संबंधी दुःखद विवाद की संकटापन्न स्थिति में उनके त्यागपत्र दे देने पर कांग्रेस की डगमगाती नैया की पतवार पुनः सँभाली और द्वितीय महायुद्ध के श्रीगणेश के साथ ही देश में पुनः आज़ादी के नए दौर की शुरुआत होने पर, सन् १९४० ई० के प्रसिद्ध 'व्यक्तिगत सत्याग्रह' का अपने प्रांत में योग्यतापूर्वक सूत्र-संचालन किया; जिस प्रकार 'क्रिप्स-बातचीत' की विफलता के बाद गांधी-जी द्वारा 'भारत छोड़ो' की युगांतरकारी ललकार का युग सामने आने पर ९ अगस्त, सन् १९४२ ई०, की स्मरणीय वेला में अन्य नेताओं की भाँति गिरफ्तार हो बीमारी की दशा ही में तीन वर्ष तक पुनः सरकारी कारागार की मेहमानी स्वीकार की और अंत में रिहा होने पर, सन् १९४५ ई० की 'शिमला-कान्फ्रेंस से लेकर सन् १९४६ ई० की प्रसिद्ध 'केबिनेट-मिशन' की चर्चाओं में भाग लेने के उपरान्त, एक ओर नवनिर्मित 'विधान-निर्मात्री-सभा' के अध्यक्ष का गहन-गम्भीर भार ग्रहण कर एवं दूसरी ओर सन् १९४६ ई० की अस्थाई अंतरिम सरकार में और तदुपरान्त १५ अगस्त, सन् १९४७ ई०, के दिन स्वतंत्रता के उदय के बाद देश के प्रथम नवनिर्मित मंत्रिमंडल में खाद्य-विभाग का मंत्रिपद स्वीकार कर लगभग दो वर्ष तक राष्ट्र की नैया को आगे बढ़ाने में योग दिया—ये सब बातें तो हमारे आज के अपने युग के इतनी नज़दीक की घटनाएँ हैं कि शायद ही कोई उनसे आज अनजान हो! और यद्यपि ये हैं इस महापुरुष की कर्मण्य आत्म-कहानी की केवल कुछ चुनी हुई कड़ियाँ ही—क्योंकि उसके घटनापूर्ण जीवन की बहुतेरी सुनहली स्मृतियों का तो उल्लेख ही हम यहाँ नहीं कर पाए हैं—फिर भी कैसे उदात्त राष्ट्रनिर्माणकारी आदर्श से युक्त एक असामान्य जीवन का चित्रपट वे अपने उस शृंखला-बद्ध क्रम में पिरोयी हुई हैं! यह हैं राजेन्द्रप्रसाद—सचमुच ही हमारे 'देशरत्न'! हमारे पुनर्जागरण के एक प्रधान पुरोहित! महिमामय बिहार के जीते-जागते 'गांधी'!

तो फिर, आइए, राष्ट्रनायक जवाहरलालजी के निम्न उल्लेखनीय शब्दों को अंत में दोहराकर इस महा-महिम नेता के इस संक्षिप्त परिचय-चित्र को समाप्त कर दें कि '...... देखने में एक किसान के समान बिहार प्रान्त के सच्चे सुपुत्र राजेन्द्र बाबू का व्यक्तित्व, जब तक कि कोई उनकी तेज़ और निष्कपट आँखों और गंभीर मुखमुद्रा पर ग़ौर न करे, शुरू-शुरू में देखने में कुछ प्रभावशाली नहीं मालूम पड़ता! पर वह मुद्रा और वे आँखें भुलाई नहीं जा सकतीं, क्योंकि उनमें होकर सचाई आपकी ओर झाँकती है और आप उन पर संदेह नहीं कर सकते!......... जैसी सर्वमान्य स्थिति राजेन्द्र बाबू को बिहार में प्राप्त है, वैसी भारत के किसी भी प्रान्त में किसी भी व्यक्ति को प्राप्त नहीं। उनके सिवा, गांधीजी के वास्तविक संदेश को इतनी पूर्णता से अपनानेवाले कोई हों भी तो विरले ही होंगे।'

वल्लभभाई पटेल

'आओ महा-पुरुष ! कहाँ से पधारे ? संस्कृत छोड़कर गुजराती तो ले रहे हो, पर बिना संस्कृत गुजराती ठीक से आती ही नहीं, यह भी पता है ?' संस्कृत की कक्षा छोड़ गुजराती क्लास में भरती होने के लिए आए हुए उस किशोर विद्यार्थी से शिक्षक ने व्यंगपूर्वक कहा। शिक्षक थे बड़ौदा के सुप्रसिद्ध मास्टर छोटालाल, जो गुजराती के अध्यापक होते हुए भी संस्कृत के अनन्य भक्त थे।

'परंतु साहब, यदि हम सभी संस्कृत ही पढ़ने लगें तो फिर आप किसे पढ़ाएँगे ?'—धीमे किंतु सुदृढ़ स्वर में उस नटखट बालक ने तपाक से उत्तर दिया !

ऐसा गुस्ताख़ी से भरा उत्तर ! तुरन्त ही दिन भर क्लास की पिछली बैंच पर खड़े रहने की सज़ा मास्टर साहब ने बोल दी ! यही नहीं, दूसरे ही दिन यह हुक्म भी जारी किया गया कि 'महा-पुरुष ! जाओ, एक से दस तक के पाड़े (पहाड़े) लिख लाना !' किन्तु महापुरुष इस हुक्म पर कान देते तब न ! मास्टर साहब दिन-पर-दिन खीझते चले जाते, साथ ही सज़ा की मात्रा भी बढ़ाते चले जाते—पहले दिन एक बार, दूसरे दिन दो बार, तदुपरांत चार बार, तब आठ बार, इस प्रकार दो सौ पाड़े (पहाड़े) लिखने के दण्ड तक बाज़ी जा पहुँची ! पर महापुरुष तो मानों कानों में तेल डाले सुनते रहे ! तब तंग आकर अन्त में मास्टर ने आख़िरी चेतावनी देते हुए कहा—'क्यों, लिखकर लाना है कि नहीं ? या कोई और सज़ा मुझे सोचनी पड़ेगी ?'

इस पर तुरन्त ही शिष्य ने जवाब दिया—'साहब, मैं तो दो सौ ही पाड़े * लाया था, पर क्या करूँ, उनमें से दो निकल आए सींग मारनेवाले, इसलिए स्कूल के फाटक पर आते ही वे भड़ककर भाग निकले ! अतः अब उनमें से कोई भी बचा नहीं !'

परन्तु दूसरे रोज़ मास्टर ने फिर ज़ोरों के साथ वही तकाज़ा किया। इस पर नटखट शिष्य ने तुरन्त ही एक कागज़ का टुकड़ा सामने पेश कर दिया, जिस पर अंकों में नहीं बल्कि अक्षरों में लिखा हुआ था—'दो सौ पाड़े !'

अब तो मास्टर साहब के क्रोध का पूछना ही क्या था ! पर ठेठ देहाती से इस अक्खड़ लड़के पर हाथ उठाकर कौन मुक़ाबला मोल लेता ! अतः उन्होंने केवल यही किया कि इस शिकायत के साथ उसे हेडमास्टर के पास भेज दिया कि 'ऐसा नटखट लड़का तो मैंने दूसरा कभी देखा ही नहीं !'

---

* गुजराती में 'पाड़ा' भैंसा को भी कहते हैं और अंकों के पहाड़ा के लिए भी इसी शब्द का प्रयोग करते हैं।

पर हेडमास्टर के पास से भी यह दलील देकर 'महापुरुष' साफ़ छूट आए कि 'यह भी कोई सज़ा है साहब ! अगर मुझे अभ्यास-सम्बन्धी कोई काम दें तो कुछ लाभ भी हो ! इस पहली पोथी के एक से दस तक के पहाड़ों को लिखने से मुझे क्या फ़ायदा ? बल्कि इन पहाड़ों को अब लिखते देखकर तो कोई मुझे मूर्ख ही कहेगा !' *

और हेडमास्टर को भी यही कहना पड़ा कि ऐसा 'नटखट लड़का मैंने दूसरा नहीं देखा !'

प्रारब्धवश मास्टर छोटालाल तो अपने इस उद्धत विद्यार्थी को सचमुच ही 'महापुरुष' में परिणत होते देखने के लिए जीवित न रह सके। परन्तु कहते हैं, हेडमास्टर सौभाग्य से उस ज़माने तक बने रहे, जबकि गुजरात का गगनमंडल एक दिन इसी नटखट 'महापुरुष' के इस जयजयकार के निनाद से गूँज उठा—'सरदार वल्लभभाई की जय ! हमारे सरदार बहुत-बहुत जियें !' और कहते हैं कि वृद्ध हेडमास्टर को लोगों ने तब भी यही वाक्य दोहराते सुना कि 'ऐसा नटखट लड़का मैंने अपनी उम्र में दूसरा नहीं देखा !' भला उन्हें क्या मालूम था कि उनके इस विद्यार्थी में इस 'नटखटपन' की मात्रा किसी भी अंश में कम होती तो इस देश को अपनी आज़ादी का सौदा पटाने और उस अनमोल आज़ादी को पा लेने पर आज उसकी ठीक से रखवाली करने में कितना गहरा मूल्य चुकाना पड़ता !

सरदार वल्लभभाई पटेल—जिन्होंने कि स्वतंत्र भारत के नवविजित शक्ति-दुर्ग की रक्षा-प्राचीरों को सुदृढ़ बनाने तथा आज़ादी के महाप्रहरी के रूप में देश के भीतरी और बाहरी शत्रुओं से उसे बचाए रखने का हिमालय का-सा गहन-गम्भीर भार आज के दिन अपने वृद्ध किन्तु फ़ौलाद की तरह दृढ़ कंधों पर ले रखा है—सचमुच ही राष्ट्रवेदी कांग्रेस के 'लौह पुरुष' हैं, जिनसे कि देश के दुश्मन सदा भयभीत रहते हैं ! उनके बज्रसम चेहरे ही से उनके पूर्वोल्लिखित 'नटखटपन' का बहुत-कुछ आभास देखनेवाले को मिल जाता है—वह हमें एक साथ ही याद दिलाने लगता है बिस्मार्क, तिलक और लेनिन की ! दुर्भाग्य से आज के दिन हमारे पास महामति विष्णुगुप्त चाणक्य की यथार्थ मुखाकृति का कोई प्रामाणिक चित्र उपलब्ध नहीं है, परन्तु हमारी दृढ़ धारणा है कि नंदराज्य का विध्वंस कर यवनों (ग्रीक आक्रमणकारियों) को लोहे के चने चबवा देनेवाला भारतीय कूटनीतिशास्त्र का वह आदिगुरु भी बहुत-कुछ ऐसा ही दिखाई देता रहा होगा ! किन्तु इससे कोई यह न समझे कि चट्टान की तरह अडिग अचल उनकी इस कठोर बाह्याकृति के पीछे एक बज्रहृदय निर्मम शासक और कठोर सेनानी मात्र ही छिपा हुआ है और मानवीय भाव-तरंगों से आन्दोलित-उद्वेलित एक धड़कता हृदय नहीं ! वस्तुतः जिस प्रकार कि किसी पर्वतराज के लौहकाय शिलापृष्ठ की ओट में प्रायः निर्मल जल का एक सोता विद्यमान रहता है, जो यथावसर थकित-तृषित बटोहियों की प्यास बुझाने को कल-कल निनादसहित एक निर्झर के रूप में फूट निकलता है, उसी प्रकार वल्लभभाई के इस बाह्य बज्रसम व्यक्तित्व की ओट में भी एक जीती-जागती भावतरंगिणी प्रति क्षण छलछलाती रहती है और वह है उनकी देशभक्ति तथा राष्ट्रहितचिन्ता की कभी भी मंद न पड़नेवाली भावधारा, जो राष्ट्र के संकट की घड़ियों में एक दुर्द्धर्ष शक्तिधारा का रूप लेकर समय-समय पर उमड़ते हमें दिखाई देती रहती है ! तभी तो भारत-कोकिला श्रीमती सरोजिनी नायडू ने अपनी काव्यमय वाणी में उन्हें अंजलि अर्पित करते हुए कहा है कि 'अपनी उस बज्रतुल्य गंभीर बाह्य मुखमुद्रा की ओट में वस्तुतः एक लौह मंजूषा की भाँति अद्वितीय कर्मनिष्ठा, मृदुता और मनमोहक आकर्षण-रूपी दुर्लभ रत्नों का गुप्त भंडार वह छिपाए हुए हैं !' और उसी स्वर में सूक्ष्मदर्शी 'राजाजी' (श्री चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य) को भी निम्न प्रशस्ति-वाक्य उद्घोषित करते हमने सुना है कि 'अपनी उस अभावुक-सी प्रतीत होनेवाली ठंढी बाह्याकृति की आड़ में एक अत्यन्त संवेदनशील भावनामय व्यक्तित्व तथा कर्म के आँगन में कभी भी शिथिल न पड़नेवाली प्राणधारा वह बसाए हुए हैं !, माना कि वह नख से शिख तक प्रभुता की भावना से ओतप्रोत हैं; किन्तु उनकी वह प्रभुता एक माता की प्रभुता है—निरंकुश अत्याचारी की नहीं !' यही नहीं, युगावतार गांधीजी तक के श्रीमुख से, सन्

* स्व० महादेव देसाई कृत 'वीर वल्लभभाई' नामक गुजराती पुस्तिका में वर्णित एक प्रसंग के आधार पर।

१९३२ ई० के अपने यरवड़ा-जेल के उनके साथ बिताए गए सवा साल के जीवन की सुखद स्मृति में, निम्न उल्लेखनीय शब्द निकलते हम सुन चुके हैं कि 'इन दिनों जिस अगाध प्यार की रसधारा में उन्होंने मुझे मानों नहला-सा दिया, उससे मुझे अपनी स्नेहमयी माता की याद हो आई ! मैं कभी भी यह नहीं जानता था कि वह इस प्रकार मातृत्व के विशिष्ट गुणों से भी युक्त हैं !' किन्तु इसके पूर्व कि इस राष्ट्रनायक की प्रशस्ति में और कुछ कहा जाय, आइए, पहले पाणिनीय सूत्रों की-सी संक्षिप्त पदावली में उसकी जीवन-तालिका के बृहत् तिथि-पत्र की मुख्य-मुख्य कड़ियों का एक क्रमबद्ध लेखा यहाँ प्रत्याङ्कित कर दें, ताकि हम यह जान सकें कि विकासक्रम की किन सीढ़ियों को लाँघकर आज की अपनी इस ऊँचाई तक वह पहुँच पाया और देश के मुक्ति-यज्ञ में इस बीच क्या-क्या अमूल्य देनें उसके हाथों हमें प्राप्त हुईः—

३१ अक्टूबर, सन् १८७५ ई०, के दिन स्वनाम-धन्य विट्ठलभाई पटेल के अनुज के रूप में गुजरात के खेड़ा ज़िले के करमसद नामक गाँव के एक कृषक कुरमी परिवार में जन्म ! करमसद, बड़ौदा, नड़ियाद, आदि स्थानों में आरंभिक शिक्षा । ज़िले की वकालत की परीक्षा पास कर गोधरा में प्रैक्टिस की शुरुआत । सन् १९०८ ई० में पत्नी का देहान्त और गार्हस्थ्य-जीवन की सरसता का अंत ! बैरिस्टरी की सनद के हेतु विलायत के लिए प्रयाण और परीक्षा में सर्वोच्च स्थान पाने के अन्यतम गौरव की उपलब्धि के उपरान्त, वापस स्वदेश लौटकर, सन् १९१३ ई० के आरंभ में अहमदाबाद में वकालत का श्रीगणेश ! अपनी प्रकाण्ड बुद्धि-प्रतिभा एवं विवादशक्ति की बदौलत शीघ्र ही नगर के एक प्रमुख बैरिस्टर के रूप में ख्याति-प्राप्ति तथा आय-वृद्धि, और इन्हीं दिनों स्थानीय 'गुजरात-सभा' एवं 'अहमदाबाद-म्युनिसिपैलिटी' के आँगन में पहलेपहल सार्वजनिक क्षेत्र में प्रवेश ! तभी सन् १९१६ ई० के प्रसिद्ध लखनऊ-अधिवेशन में एक प्रतिनिधि के रूप में सम्मिलित हो अपने भावी कर्मक्षेत्र कांग्रेस के प्राङ्गण में पहलेपहल पदार्पण और पूर्वोल्लिखित 'गुजरात-सभा' तथा गोधरा में आयोजित एक राजनीतिक सम्मेलन के सिलसिले में युगपुरुष गांधीजी से प्रथम भेंट, जिनके कि जादूभरे संपर्क से शीघ्र ही जीवन में एक महान् युगान्तर का आविर्भाव ! इस गहन पटपरिवर्त्तन के साथ ही, सन् १९१८ ई० के इतिहासप्रसिद्ध 'खेड़ा-सत्याग्रह' और उसी वर्ष उठ खड़े होनेवाले अहमदाबाद के मज़दूर-मिलमालिकों के झगड़े एवं तत्संबंधी हड़ताल के चिरस्मरणीय अनुष्ठान में महत्त्व का भाग ले तथा उसके बाद युद्ध के लिए रँगरूट-भरती विषयक गांधीजी द्वारा उठाए गए आन्दोलन में भी पूर्ण सहयोग देकर, एक पक्के अहिंसावादी सैनिक के रूप में अपने प्रान्त में उनके प्रधान राजनीतिक लैफ्टिनैण्ट अथवा दाहिने हाथ की-सी गौरवपूर्ण स्थिति की संप्राप्ति ! और तदुपरान्त रौलट-बिल-विरोधी आन्दोलन का सूत्रपात्र होने पर सत्याग्रह की इतिहासप्रसिद्ध प्रतिज्ञा पर हस्ताक्षर एवं देश के भावी संग्राम के लिए जीवन अर्पित करने की गंभीर शपथ-ग्रहण ! तदनंतर असहयोग-आन्दोलन की रणभेरी बजते ही हज़ारों की आमदनीवाली अपनी फलती-फूलती वकालत का परित्याग ; अहमदाबाद-कांग्रेसाधिवेशन के समय स्वागताध्यक्ष के रूप में रातों-रात खद्दर का एक विशाल नगर खड़ा कर देने के जादूभरे चमत्कार का प्रदर्शन ; खेड़ा की भाँति पुनः सन् १९२२ ई० में बोरसद के 'ताज़ीरी कर-विरोधी सत्याग्रह' के अवसर पर और सन् १९२३ ई० में नागपुर के इतिहासप्रसिद्ध 'झंडा-सत्याग्रह' के मौक़े पर अपनी अद्भुत नेतृत्वशक्ति और रणकुशलता का जाज्वल्यमान दिग्दर्शन ; और इसी कालावधि में राष्ट्रीय शिक्षा को मूर्त्त रूप देने के हेतु देश के अन्य भूभागों की तरह अपने प्रान्त में भी सुप्रसिद्ध 'गुजरात-विद्यापीठ' के संस्थापन और विकास के अतिरिक्त, नवनिर्मित प्रांतीय कांग्रेस-कमेटी के प्रथम अध्यक्ष तथा अहमदाबाद-म्युनिसिपैलिटी के पहले राष्ट्रीय चेयरमैन के रूप में अनेक राष्ट्रनिर्माणकारी योजनाओं को सफलीभूत बनाने में अमूल्य योगदान ! इसके बाद गुजरात की सन् १९२७ ई० की प्रलयंकर बाढ़ के समय चिरस्मरणीय सेवा-कार्य और दूसरे ही वर्ष विश्वविख्यात 'बारदोली-सत्याग्रह' के अपूर्व जनसंग्राम की सुवर्णाक्षरों में लिखे जाने योग्य अमर गाथा के निर्माण द्वारा हमारे राष्ट्रीय इतिहास के एक समूचे पृथक्

अध्याय के सर्जन की गौरव-प्राप्ति ! तदनंतर इस बृहत् साधना के नैसर्गिक उपहार के रूप में प्रथम सविनय अवज्ञा आंदोलन के दिनों में मार्च, सन् १९३० ई०, में पहली बार रास नामक गाँव में गिरफ़्तार हो ग्यारह महीने की अवधि में क्रमशः तीन बार सरकारी कारागार के आतिथ्य की उपलब्धि ! और अंत में इस स्वातंत्र्य-संग्राम में कुछ समय के लिए स्थानापन्न राष्ट्रपति के पद पर प्रतिष्ठित हो दृढ़तापूर्वक युद्ध-संचालन करने के उपरान्त मार्च, सन् १९३१ ई०, में कराँची के कांग्रेसाधिवेशन में देश की कोटि-कोटि जनता के हाथों राष्ट्रनायक के पद पर विधिवत् मूर्धाभिषेक, जिसके कि बाद दमन-चक्र का पुनरावर्त्तन होते ही जनवरी, सन् १९३२ ई०, में सन् १८१८ के रेगूलेशन ३ के अंतर्गत पुनः गिरफ़्तारी और लगभग दो वर्ष तक कारागार की दीवारों की आड़ में तपस्यापूर्ण जीवन-यापन !

तदनंतर कांग्रेस द्वारा कौंसिल-प्रवेश का निर्णय किए जाने पर, सन् १९३५ से १९४० ई० तक, प्रसिद्ध 'कांग्रेस पार्लामेंटरी बोर्ड' के अध्यक्ष के रूप में धारासभाओं के चुनाव और कांग्रेसी मंत्रिमंडलों की प्रस्थापना एवं नवनिर्मित राष्ट्रीय सरकारों के नियंत्रण में योगदान । और तब सन् १९४० के 'व्यक्तिगत सत्याग्रह' का दौर शुरू होने पर पुनः गिरफ़्तारी, जिससे कि स्वास्थ्य की खराबी के कारण अंततः सन् १९४१ में छुटकारा ! इसके बाद 'क्रिप्स-वार्त्ता' के भंग होने तथा गांधीजी द्वारा 'भारत छोड़ो' का युगान्तरकारी नारा बुलंद किए जाने पर ९ अगस्त, सन् १९४२ ई०, के दिन कांग्रेस-कार्य-समिति के अन्य सदस्यों सहित अंतिम बार गिरफ़्तारी, और १५ जून, सन् १९४५ ई०, तक लगभग तीन वर्ष तक उन सबके साथ अहमदनगर-दुर्ग में नज़रबंदी, जिसके उपरांत छूटते ही 'भारत छोड़ो' से भी अधिक व्यापक 'एशिया छोड़ो' के नारे की ललकार ! आख़िर सन् १९४५ ई० की प्रसिद्ध 'शिमला-कान्फ्रेंस' से लेकर सन् १९४६ ई० के ऐतिहासिक 'केबिनट-मिशन' तक की महत्त्वपूर्ण संधि-चर्चाओं में भरपूर भाग लेने के बाद सितम्बर, १९४६ ई०, में पहले अस्थाई अंतरिम सरकार में एवं १५ अगस्त, १९४७ ई०, के दिन स्वतंत्रता का उदय होने पर आज़ाद हिन्द के प्रथम राष्ट्रीय मंत्रि-मंडल में गृह, सूचना और रियासती विभागों के सचिव एवं उप-प्रधान मंत्री के रूप में जीवन में प्रथम बार शासन-पद-ग्रहण ! तदुपरान्त अंग्रेज़ों द्वारा छोड़ी गई लगभग छः सौ छोटी-बड़ी रियासतों के भारतीय संघ में विलीनीकरण, अर्थात् उड़ीसा-मद्रास-बम्बई-मध्यप्रांत की अगणित छोटी-बड़ी रियासतों के उन्हीं प्रान्तों में निलय; सौराष्ट्र, मत्स्य, राजस्थान, मध्यभारत, विन्ध्य-प्रदेश, पूर्वीय पंजाब-पटियाला और हिमाचल प्रदेश के राज्य-संघों के निर्माण; और उन सबसे कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण एवं आश्चर्यप्रद हैदराबाद राज्य को भी चुटकी बजाते राष्ट्रध्वज के नीचे ले आने के महत्कार्य की बिना रक्तपात की क्रांति की-सी वह अनुपम सिद्धि, जिसे कि केवल एक जादूगर का चमत्कार कहकर ही संबोधित किया जा सकता है ! – यह है हमारे इस महान् राष्ट्रनायक के कर्मण्य जीवन का सिलसिलेवार यद्यपि मुख्य-मुख्य कड़ियों के सूत्रवत् नामोल्लेख मात्र की डोर में पिरोया हुआ एक स्वल्प आलेख ! और इस प्रकार वामन रूप में यहाँ प्रस्तुत होते हुए भी अपने प्रखर संकेतों द्वारा राष्ट्र-निर्माण की कैसी जगमगाती गाथा वह हमारी आँखों के आगे झलका देता है ? क्योंकि इस वामनाकार झाँकी में भी तो स्पष्ट रूप से हमें दिखाई दे जाती है इस दिग्गज लोकनेता के उन दो प्रधान ऐतिहासिक रूपों की एक झलक—एक तो उसके उस 'योद्धा'-रूप की, जिसकी कि ज्वलन्त अभिव्यक्ति उसने की 'खेड़ा', 'बोरसद', 'नागपुर' और 'बारदोली' के अहिंसात्मक संग्रामों की अपूर्व विजयगाथाओं की स्मृति इतिहास-पटल पर अंकित करके एवं सन् १९१९ से १९४२ तक की हमारी आज़ादी की लड़ाई के हर दौर में किसी न किसी रूप में निरन्तर देश की अगुवाई करके ! और दूसरे उसके उस 'राजनेता'-रूप की, जिसका कि जीता-जागता प्रमाण अगस्त, सन् १९४७, के मंगल प्रभात के बाद, उसके हाथों संपन्न देश के अस्तव्यस्त कलेवर के पुनर्गठन एवं हमारे राजनीतिक सूत्रों के समन्वय का वह अद्‌भुत अनुष्ठान है, जिसे कि एक स्वर से इस युग की एक महान् 'रक्तपात-हीन क्रान्ति' की संज्ञा समीक्षकों द्वारा प्रदान की गई है ! इन दो विशिष्ट झाँकियों ही में हमें इस पुरुष-

सिंह के व्यक्तित्व और उसकी देन, उसकी शूरवीरता और देशभक्ति की उत्कट लगन एवं उसकी 'सरदार' उपाधि को सार्थक बनानेवाले उसके अजेय रणकौशल तथा विचक्षण राजनीतिक बुद्धिचातुर्य, सभी का एक साथ ही ज्वलंत परिचय मिल जाता है! और हम आश्चर्य करने लगते हैं कि दूकानदारी के मकड़ी-जाल में उलझे हुए समसामयिक गुजराती समाज में, अपनी वीरता द्वारा चित्तौड़ के मध्यकालीन राजपूत वीरों की आन एवं अपनी पैनी राजनीतिक बुद्धि द्वारा आचार्य विष्णुगुप्त कौटिल्य के अचूक मंत्र-प्रयोग की स्मृति फिर से हमारे मन में ताज़ी कर देनेवाला यह अनूठा योद्धा आखिर पैदा हुआ तो कैसे! साथ ही इस अक्खड़ व्यक्तित्व के साँचे में ढला होने पर भी क्योंकर वह अहिंसा के अवतार गांधीजी का परम अनुयायी एवं उनके वात्सल्य का स्नेहभाजन हो सका?

किन्तु यहीं तो इस महापुरुष की यथार्थ महानता का परिचय हमें मिलता है कि जहाँ वह जवाँमर्दी में मध्यकाल के क्षत्रियों का समकक्ष है, वहाँ साथ ही साथ राजनीतिक दाँवपेंच के क्षेत्र में भी ऐसी प्रतिभा उसे प्राप्त है कि कुटिलतम कूटनीतिज्ञ भी उसे छका नहीं सकता! तभी तो जहाँ 'बारदोली,' 'खेड़ा,' 'बोरसद' और 'नागपुर' के मोर्चों पर चुटकी बजाते उसने विजयमाल प्राप्त की, वहाँ रियासतों की गोरख-धंदे जैसी पहेली—विशेषकर जूनागढ़ और हैदराबाद की उलझी हुई समस्याओं—को भी बात की बात में ऐसी निपुणतापूर्वक उसने हल कर लिया कि बड़े-बड़े कूटनीतिशास्त्री तक दाँतों तले उँगली दबाकर रह गए! वस्तुतः सरदार वल्लभभाई हैं राजनीति के क्षेत्र में गांधीजी से कहीं अधिक लोकमान्य की परंपरा के एक राजनेता, जो कि आदर्श के रूप में 'बापू' की रागद्वेषहीन अहिंसा-नीति के हृदय से उपासक होते हुए भी व्यावहारिक क्षेत्र में अधिकतर तिलक अथवा कौटिल्य की 'शठे प्रति शाठ्यं' वाली नीति को ही बरतने के अभ्यस्त रहे हैं और इसी प्रकार समय-समय पर उचित मंत्रों का प्रयोग कर अपने ढंग से मातृभूमि की आज़ादी की सिद्धि तथा उसके संरक्षण के महत्कार्य में उन्होंने योग दिया है! वह हैं एक साथ ही अक्खड़पन और विनयशीलता, फ़ौलादी दृढ़ता और असामान्य संवेदनशीलता, सभी के एक अद्भुत सम्मिश्रण! उदाहरणार्थ, ज़रा देखिए आपके अनूठे अक्खड़पन का एक नमूना कि जिन 'बापू' के आगे चलकर (स्वयं अपने ही कथनानुसार) 'अंध भक्त' आप बन गए, उन्हीं से खेड़ा-सत्याग्रह से पूर्व के युग में इतने अधिक कटे-कटे-से आप रहे कि अहमदाबाद में उन्हें आए दो वर्ष हो जाने पर भी कभी उनके पास तक आप न फटके और एक बार तो स्थानीय 'गुजरात-क्लब' में उनका भाषण होने पर पास के कमरे में एक मित्र के साथ ताश का खेल खेलते रहे, किन्तु उठकर उस भाषण को सुनने न गए! उन दिनों तो गांधीजी की नीति की आलोचना में प्रायः ऐसे ही वाक्य आपके मुँह से निकलते सुनाई देते कि 'गांधी क्यों लोगों के सामने व्यर्थ ही ब्रह्मचर्य की बात करता है? यह तो भैंस के आगे भागवत पढ़ने जैसा है!' इसी प्रकार आपकी उदार प्रवृत्ति का भी एक नमूना लीजिए कि जब बैरिस्टरी के लिए विलायत जाने का पासपोर्ट आपने मँगाया तो बड़े भाई विठ्ठलभाई के एकाएक बीच में कूद पड़ने पर आप फ़ौरन ही पीछे हट गए और उस पासपोर्ट पर उन्हें ही पहले इंगलैण्ड हो आने दिया! और आपकी दृढ़ता के संबंध में तो प्रमाण प्रस्तुत करने की आवश्यकता ही क्या है—उसकी तो आप मानों साकार मूर्त्ति ही हैं, जिसके कि सूत्रवत् परिचय के लिए अपनी सहधर्मिणी के चिर-वियोग के समय की आपके जीवन की उस मशहूर घटना का ही उल्लेख पर्याप्त है, जब कि अदालत में पैरवी करते-करते ही एकाएक वह हृदयद्रावक समाचार तार द्वारा आपको मिला था और उसे पढ़कर आपने जेब में रख लिया था तथा पहले चट्टान की नाईं अविचलित होकर सारा काम पूरा किया था, तब कहीं जाकर यह जाहिर होने दिया था कि अपने ऊपर क्या कुछ गुज़र चुकी थी! किन्तु यही फ़ौलादी व्यक्ति अपने अंतस्तल में वीणा के तार की तरह सूक्ष्म संवेदना की भी कैसी रागिनी बसाए हुए है, इसका प्रमाण यदि आपको चाहिए तो इस बात को याद कीजिए कि कहाँ तो सन् १९१६ ई० में गांधीजी के नाम ही से वह भड़कता था और कहाँ प्रथम परिचय ही में उनकी महानता तथा अगाध आत्मशक्ति को यथार्थतः पहचानकर एकबारगी ही इस प्रकार उसने अपने आपको उनके हाथों में सिपुर्द कर दिया कि फिर आजीवन

उनसे जुदा न हो सका ! साथ ही याद कीजिए उस दिन की उसकी उस रुँधी हुई भर्राई हुई शोकसंतप्त आवाज़ को, जोकि 'बापू' के निधन की उस बज्रसम घटना के कुछ ही घंटे बाद रेडियो पर हमें सुनाई दी थी—जो साफ़-साफ़ जाहिर कर रही थी कि उसका वह इस्पात-सा मज़बूत दिल भी उस दिन किस प्रकार फट-सा गया था, जिसका कि स्पष्ट प्रमाण आख़िर इसके शीघ्र ही बाद उसकी उस दीर्घकालिक अस्वस्थता के रूप में हमें मिला, जिसकी वजह से फिर महीनों वह चारपाई से नहीं उठ पाया ! क्या उस दिन की उसकी उस वाणी की विगलित करुणा के साक्षात्कार के उपरान्त कोई भी यह कह सकता था कि इस व्यक्ति के उस बज्रतुल्य बाह्यावरण की ओट में एक सच्चे मानव-हृदय की धड़कन का स्वर विद्यमान नहीं है ?

निश्चय ही भारत का यह महान् आधुनिक राजनेता अपने ढंग के एक अद्वितीय अनूठे व्यक्तित्व का धनी है—उसमें मनोविज्ञान और चरित्रशास्त्र के विद्यार्थी दुर्लभ अध्ययन-सामग्री पा सकते हैं और राजनीति के विद्यार्थी तो वर्षों डुबकियाँ लगाकर भी वस्तुतः उसकी थाह नहीं पा सकते ! वह है सचमुच ही हमारा 'सरदार'—एक सफल जननेता ! और हमारी दृष्टि में उसकी सबसे बड़ी खूबी और चारित्रिक ऊँचाई का यदि सबसे प्रखर लक्षण कोई है तो वह है उसकी स्पष्टवादिता, जोकि उसकी सत्यनिष्ठा और निर्भीक वृत्ति की प्रतीक-सी है ! वह भी गांधीजी की तरह सत्य का ऐसा उपासक है कि उसकी अंतरात्मा अथवा विवेक की आवाज़ के रूप में जो कुछ उसे सही प्रतीत होता है, उसे प्रकट करते तनिक भी वह हिचकिचाता नहीं ! वह हथौड़े की चोट की तरह एकदम सीधी-खरी बात कहने का ही अभ्यस्त है—'न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्' (अर्थात् अप्रिय सत्य मत कहो) वाली नीति में उसका तनिक भी विश्वास नहीं ! उदाहरण के लिए, कुछ ही दिन हुए जब कि एक ओर जवाहरलालजी को हमने विलायत में राष्ट्र-संघ के अभिप्रायों की सचाई में अपना अगाध विश्वास प्रकट करते सुना, ठीक उसी क्षण में उस दलबन्दी के अखाड़े की भेदभावमूलक कूटनीति और थोथे शान्ति-पाठ के आडंबर का भंडाफोड़ करते हुए सरदार के मुख से उसकी 'सुरक्षा-कौंसिल' के लिए 'अरक्षा-कौंसिल' का नामकरण किए जाते भी हमने देखा ! उसका यही अनूठा खरापन, चिकनी-चुपड़ी बातों से सदैव कतराकर एकदम सीधी-सच्ची सुनाने की उसकी यही स्वाभाविक वृत्ति—साथ ही शत्रु के साथ कभी भी रियायत न करने, अनुशासन भंग करनेवालों अथवा समराङ्गण में पीठ दिखानेवालों को कभी भी क्षमा न करने और 'शठे प्रति शाठ्यं' की नीति का यथासमय प्रयोग करने का उसका यह सहज स्वभाव ही—प्रायः विवश कर देता है कुछ लोगों को उसे केवल कठोरता, निरंकुशता एवं एक प्रकार की उद्दण्डता ही की प्रतिमूर्त्ति के रूप में चित्रित करने के लिए ! किन्तु सत्य तो यह है कि चाहे इस अक्खड़ और रौद्र रूप ही में सही, फिर भी वह बना हुआ है इस देश का हृदय-वल्लभ और कभी-कभी तो यह निर्णय करना कठिन हो जाता है कि राष्ट्रपिता गांधीजी के बाद आज इस महादेश के कोटि-कोटि नर-नारियों के दिलों पर किसका अधिक शासन है—जवाहरलालजी का कि वल्लभभाई का ? कारण कभी-कभी जहाँ पंडितजी तक के नरम पड़ जाने की आशंका हमें भयभीत कर देती है वहाँ सरदार की अडिग दृढ़ता ही हमें एकमात्र आश्वासन या सहारा दे पाती है ! उस क्षण बारदोली के इस वीर की वह चट्टान की-सी मजबूती और सिंह की-सी निर्भीक साहसवृत्ति ही संकटावस्था की हमारी परमौषधि का काम देती है, जिससे कि हमारी रगों में फिर से आशा का संचार होता तथा हमारे शत्रुओं का कलेजा तह से काँप उठता है ।

तो फिर क्यों न राष्ट्र के प्रमुख शक्ति-स्तंभ के रूप में युग की अंतरात्मा द्वारा उनकी नीराजना की जाय ? क्यों न मनु, कौटिल्य, विक्रम, शिवाजी और लोकमान्य जैसे पूर्ववर्त्ती कर्मठ राष्ट्रविधायकों की परंपरा के आधुनिकतम प्रतिनिधि के रूप में जनहृदय द्वारा उनकी अर्चना में पलक-पाँवड़े बिछाए जायँ ? वस्तुतः वल्लभभाई पटेल हैं केवल नाम ही के 'सरदार' नहीं—वह हैं हमारे दिलों के सरदार भी ! वह हैं आधुनिक भारत के शक्ति-पुरुष और उस लौहदंड के प्रतीक, जिसे कि मनु ने 'शासक' की संज्ञा प्रदान की है ! और भला कौन नहीं जानता कि शक्ति ही होती है स्वतंत्रता-रूपी कुण्डलिनी को ऊर्ध्वगामी बनाए रखनेवाली राष्ट्र की यथार्थ रीढ़—उसकी राज्यश्री ?

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

पूर्व-पश्चिम की एक-दूसरे से अपरिचित संस्कृतियों के प्रधान संगमस्थल के रूप में हमारी नवजागृति का पीठस्थान-सा बना हुआ महानगर कलकत्ता ! उसी का सबसे प्रबुद्ध और सुसंस्कृत एक असाधारण परिवार— प्रिन्स द्वारकानाथ और महर्षि देवेन्द्रनाथ जैसे नवीन बंगाल के अग्रगण्य जननायकों की भेंट देनेवाला प्रख्यात 'ठाकुर-परिवार' ! इसके अतिरिक्त राममोहनराय, रामकृष्ण, देवेन्द्र-केशव, बंकिमचन्द्र, प्रभृति के विद्युत्प्रभाव से ऊर्जित एवं धार्मिक-सामाजिक-राष्ट्रीय-साहित्यिक उत्थान-विषयक नवचेतना की आभा से आलोकित बंग-भूमि के पुनरोदय का अद्भुत उषःकालीन वातावरण ! और इन सबसे कहीं अधिक विशिष्टता-सूचक हमारे नवनिर्माण के भावी महत् अनुष्ठान में भाग लेनेवाले विवेकानंद, गांधी, मोतीलाल, गोखले, मालवीय, लाजपतराय, चित्तरंजनदास, आदि कितने ही असामान्य राष्ट्रविधायकों को लगभग एक साथ ही जन्म देनेवाला उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्धकाल के छठे दशाब्द का वह चिरस्मरणीय पुण्य-प्रहर, जिस समय कि भाग्यशालिनी भारतमाता की कोख एकबारगी ही इस प्रकार अप्रतिम ओज से भरपूर हो उठी थी जैसी कि शताब्दियों से नहीं होने पाई थी !—

यह थी वह असामान्य पृष्ठभूमि, जिसकी कि छाया में रवीन्द्रनाथ इस धरती पर अवतीर्ण हुए थे ! वह ७ मई, सन् १८६१ ई०, के दिन महर्षि देवेन्द्रनाथ के कनिष्ठ पुत्र के रूप में जोड़ासाँकूवाले अपने परिवार के विशाल राजप्रासाद में जनमे थे—उसी मंगल-प्रहर में, जबकि आठ सौ मील दूर आगरे में इस युग के हमारे एक और महान् विधायक पं० मोतीलाल नेहरू का भी जन्म हुआ था ! और भला क्या पूछना था उस असाधारण वातावरण के बारे में, जो कि जन्म ही से उन्हें अपने परिवार की उस अनूठी दुनिया में मिला था ! क्योंकि यों तो कहावत के अनुसार प्रायः प्रत्येक राजसी परिवार में ज न म ने वा ला व्यक्ति मानों चाँदी का चम्मच मुँह में लिये इस संसार में आता है ; किन्तु रवीन्द्र ने जिस कुटुम्ब में शरीर धारण किया था, उसकी तो विशेषता ही कुछ और थी ! वहाँ तो श्री और सरस्वती दोनों ही की समान रूप से प्रभुता छाई हुई थी, और एक ओर जहाँ राजा-नवाबों का-सा ऐश्वर्य वहाँ छलकता था, वहाँ दूसरी ओर अध्यात्म-चिन्तन, साहित्य-साधना, कला-उपासना, राष्ट्रोद्धार, समाज-सुधार, आदि की भी ऐसी पुनीत मंदाकिनी प्रवाहित होती थी कि देखनेवालों के मन में जनक जैसे प्राचीन राजर्षियों की जीवन-स्मृति फिर से जग पड़ती थी ! ऐसी अद्भुत पृष्ठभूमि में पनपकर तो एक मामूली-सा बालक भी सहज ही उच्च संस्कारों से अभिभूत हो

उठता ! तो फिर हमारे चरितनायक के संबंध में भला कहना ही क्या था, जो कि जन्म ही से अलौकिक प्रतिभा-बीज अंतस्तल में बसाकर लोक में अवतीर्ण हुए थे ! अतः निपट शैशवावस्था ही में, उनके अंतराल की ओट में छिपा हुआ जन्मसिद्ध 'कवि', अपने आस-पास की वस्तुओं ही में मनोराज्य की सौंदर्यमयी सृष्टि की प्राणप्रतिष्ठा कर, कल्पना के पंखों पर लंबी उड़ानें भरते हुए, अदृष्ट के रहस्यमय परदे की उस बाजू में विद्यमान शाश्वत सत्य और सौन्दर्य की झाँकी देखने का प्रयास करने लगा ! और इस प्रकार क्या घर की बड़ी-बूढ़ी स्त्रियों से परीलोक की रोमांचक कथाएँ सुनते समय और क्या अपने महल के बरामदे में पड़ी हुई दादी की पुरानी पालकी को कल्पना-जगत् के सोलह कहारों के कंधों पर उठवा उसमें न जाने कहाँ-कहाँ की सैर करते समय—क्या उसी बरामदे की रेलिङ्ग की काष्ठ-स्तंभिकाओं को प्रखर अथवा मंद बुद्धि के छात्रों की संज्ञा प्रदान कर अपने मनोराज्य की जीती-जागती पाठशाला का दृश्य रचते समय और क्या अंतःपुर के वातायनों से प्रकृति की नित नई बदलती झाँकियाँ निहार, तितली के-से विविध रंगों में उन्हें अपने मानसपटल पर चित्रित करते समय—बाल-रवि की भाँति चारों ओर फैले हुए अज्ञात लोक के कुहरे को भेदने का ऐसा अनूठा अनुष्ठान वह रचने लगा कि उसका शिशु-मस्तिष्क (अक्षरों द्वारा नहीं, बल्कि चलते-फिरते थिरकते चित्रों द्वारा निर्मित) एक मूर्त्तिमान् गीति-काव्य-सा बन गया ! यह था हमारे चरितनायक के कवि-कलाकार-रूप के प्रस्फुटन और ऋषियों की-सी उनकी अंतर्दृष्टि के विकास का मानों ब्राह्मप्रहर—उनकी आत्म-ज्योति के उदय और उनकी रस-पिपासा के उन्मेष की प्रथम अभिव्यक्ति ! तो फिर क्या आश्चर्य था कि निकट भविष्य ही में वह बन गए हमारे भावलोक के युग-सम्राट्, हमारे साहित्य-मंदिर के स्वर्ण-कलश और हमारे पुनरोदय के उज्ज्वलतम प्रकाश-स्रोत ?

यहाँ पर यह भी बता देना अप्रासंगिक न होगा कि उनके इस कवि कलाकार-रूप के विकास का सारा श्रेय केवल उनके जन्मगत संस्कारों और कौटुम्बिक अनुकूलताओं ही को नहीं था, प्रत्युत उन विविध बंधनमूलक प्रतिकूलताओं का भी उसे वेग प्रदान करने में प्रचुर हाथ था, जिनसे कि एक अमीर घराने में पैदा होने के कारण स्वभावतः उन्हें बचपन में गहरा पाला पड़ा था ! उदाहरणार्थ, रात-दिन नौकरों की देखरेख तथा उस विशद प्रासाद की चहारदीवारी में क़ैद-सी स्थिति में रहने के कारण उन दिनों उनके शिशु-हृदय के लिए बाहरी दुनिया एक नितान्त अपरिचित-सी दुर्लभ वस्तु बनी रहती और फलतः अपनी उत्कंठा की तृप्ति के लिए उस समय उनके पास एकमात्र साधन रहता कल्पना का वह चित्रपट ही, जिस पर तरह-तरह की झाँकियाँ खड़ी करके ज्यों-त्योंकर जी बहलाने का यत्न वह किया करते ! कहते हैं, कभी-कभी तो नौकरों का आतंक इस सीमा तक जा पहुँचता कि किसी एक जगह उन्हें बिठाकर वे चारों ओर खड़िया की एक रेखा-परिधि खींच देते, जिसके कि भीतर बालक रवीन्द्र डर के मारे घंटों वहीं-के-वहीं बैठे रह जाते ! इन नौकर-चाकरों की ज्यादतियों के अलावा घर पर पढ़ाने आनेवाले शिक्षकों का भी व्यवहार कुछ कम अखरने-जैसा न होता, और चूँकि माता अधिकतर बीमार रहतीं एवं पिता अपने मनन-चिन्तन अथवा सार्वजनिक कार्यों ही में व्यस्त रहते, अतः घर में प्यार का वह प्याला भी उन्हें सुलभ न होता, जिसके कि लिए प्रत्येक बालक लालायित रहता है ! इन सब बातों के कारण स्वभावतः आरंभ ही से रवीन्द्र अन्तर्मुखी प्रवृत्ति के हो गए, जिससे कि उनके कवि-संस्कारों के विकास के लिए तेज़ी से उपयुक्त भूमि तैयार हो चली ! इन बचपन के दिनों का बड़ा ही रोचक विवरण कवि ने 'जीवन-स्मृति' शीर्षक अपने संस्मरणों में दिया है, जिनमें उन्होंने बताया है कि किस प्रकार घर के पासवाले तालाब पर स्नान करने-वालों की प्रातःकालीन हलचल के उपरान्त सूनी दोपहरी में, उसकी निश्चल जलराशि पर एक अजरामर सत्ता के प्रतीक के रूप में अपने जटाजूट की छाया अंकित किए तटस्थ खड़े घाट के बरगद का दृश्य निहार, अनिर्वचनीय रहस्यों के विचार-सागर में वह डूबने-उतराने लगते, और किस प्रकार बड़े तड़के अपने घर की उस छोटी-सी प्यारी बगिया में—जिसमें कि नारियल, बेर, मीठे नींबू और आमड़े के कुछ पेड़ थे—उषःकालीन अरुणिमा के

स्वागतार्थ पहुँचकर पत्तियों के बीच से छनछनकर आते हुए प्रकाश में मोती-से थिरकते ओसकणों की झिलमिल ज्योति को आत्मसात करने को उनका हृदय एकबारगी ही विह्वल-सा हो उठता ! इसी प्रकार अपराह्न के सुनसान में बाहर के राजपथ पर गुज़रते हुए किसी फेरीवाले की 'लो खिलौने' वाली आवाज़ जब एकाएक कानों में गूँज उठती, तब भी एक अजीब पुलक का-सा अनुभव करते हुए उनका मन बात की बात में न जाने किस अनजान अप्सरा-लोक में जा पहुँचता था ! भला सोचिए तो कि जो व्यक्ति दस-बारह वर्ष की अल्पायु ही में ऐसा रस-पिपासु संवेदनशील हृदय लिये रहा हो, वह घर के घिरौंदे से निकलकर पाठशाला की चहारदीवारी में पहुँचने पर क्योंकर राहत पा सकता था ? अतः जब नौकर-चाकरों के आतंक से मुक्ति पा स्थानीय 'नार्मल स्कूल' में जाने का मौक़ा बालक रवीन्द्र के जीवन में आया तो वहाँ भी जी उचटा-उचटा-सा ही रहने लगा और प्रायः ऐसा होता कि उधर मास्टर पढ़ाना शुरू करते और इधर हमारे चरित-नायक पुनः अपनी कल्पना के घोड़े दौड़ाने लगते ! तब, सन् १८७३ ई० में, उपनयन-संस्कार के बाद जीवन में पहली बार उन्हें अवसर मिला कलकत्ते की सीमा-परिधि लाँघकर बाहर की खुली दुनिया में प्रकृति के मुक्त वितान के नीचे उस उल्लास-भाव की यथार्थ अभिव्यक्ति करने का, जिसके कि लिए पिंजड़े में क़ैद पक्षी की तरह उनका मन अब तक तरस रहा था—और इस सुअवसर की प्राप्ति के साथ ही उनके जीवन का अवरुद्ध द्वार मानों खुल गया ! यह स्वर्ण-सुयोग उस समय आया, जबकि पिता उन्हें साथ लिवा ले गए पहले तो बोलपुर के अपने एकान्त विश्रामस्थल 'शान्तिनिकेतन' को, और तदुपरान्त 'डलहौज़ी' नामक रमणीय पर्वतीय स्थान की अपनी उस यात्रा पर, जिसके कि दर्मियान न केवल नगाधिराज हिमाचल के अंचल में निसर्ग की विराट् झाँकी देखने का ही अनुपम सौभाग्य कुमार रवीन्द्र को मिल सका, प्रत्युत पिता की संस्कारजन्य छाया में संयम-अनुशासन-आत्मसाधना आदि का वह अमोघ मंत्र सीखने का भी अपूर्व सुयोग प्राप्त हो गया, जिसने उन्हें कालान्तर में महर्षि का यथार्थ आध्यात्मिक उत्तराधिकारी बना दिया ! तो फिर क्यों न उनका कवि-हृदय कमल की नाई एकबारगी ही खिलकर अपना प्रतिभापराग बखेरने को अब उतावला हो उठता ? अतः पहले तो शान्ति-निकेतन के मुक्त वातावरण में, एक मृगशावक की भाँति दिन भर क्रीड़ा-कल्लोल करते हुए आसपास की खाइयों से रंगबिरंगे चकमक पत्थर बटोरने में सुबह-शाम एक करके एवं विशालकाय साल वृक्षों की छाँह में अपने आरम्भिक पद्यरचना-विषयक प्रयोगों में घंटों तल्लीन रहकर, अबाध रूप से अपनी आन्तरिक उमंगों की पूर्त्ति उन्होंने की; और तदुपरान्त डलहौज़ी के देवदारु-चिनार-वृक्षों से आच्छादित गंधर्वलोक के से हिममंडित वातावरण में पहुँच निकट भविष्य ही में अपने जीवन-दुकूल पर बाढ़ की तरह छा जानेवाली 'सत्यं-शिवं-सुन्दरम्' की उस महाभावना की पहलेपहल यथार्थ आत्मानुभूति उन्होंने की, जिसके कि जादूभरे प्रभाव ने वापस घर लौटते ही, रोटी कमाने की स्कूली शिक्षा की राह से हटाकर, सरस्वती-उपासना के अपने महान् भावी कर्मपथ पर उन्हें ला खड़ा कर दिया ! इस प्रकार भाग्यशालिनी बँगला के साहित्य-क्षितिज पर एक अद्भुत अलौकिक नूतन नक्षत्र के रूप में अपने स्वप्नों और विचारों को पंक्तिबद्ध काव्य-किरणों की जग-मगाती आभा के रूप में मूर्त्तिमान् बनाता हुआ उनका कवि-स्वरूप पहलेपहल लोक के समक्ष निखरा और देखते-देखते तो ऐसे अद्वितीय तेज से वह दीप्तिमान् हो उठा कि अल्पकाल ही में वह बन गया हमारे वाङ्मय के रंध्र-रंध्र में नवचेतन का ज्वार जगा देनेवाला साहित्य-सूर्य !

यह था न केवल सौभाग्यशालिनी बँगला के साहित्यदिवाकर कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ ही का उदय, प्रत्युत हमारे भाग्यरवि का भी सुनिश्चित सर्वोदय, क्योंकि उनके इस ज्वलन्त उत्कर्ष के समानान्तर ही तो आरम्भ हुआ इस महादेश के आधुनिक पुनरुत्थान का वह जगमगाता मांगलिक क्रम भी, जिसकी कि बहुत-कुछ झलक पिछले प्रकरणों में हम पा चुके हैं ! तभी तो सामने आईं राममोहन, दयानन्द, राम-कृष्ण, देवेन्द्र-केशव, हरिश्चन्द्र-बंकिम, प्रभृति अग्र-दूतों द्वारा जगाए गए नवप्रभात के चरमोत्कर्ष की वह घड़ी, जबकि धर्म और समाज के आँगन में सांप्रदायिकता की घटाओं से विमुक्त एक सच्चा मान-

वीय उदार दृष्टिकोण फिर से हमारे यहाँ मुखरित हुआ; राजनीति के क्षेत्र में गुलामी की बेड़ियाँ तोड़ फेंकने की उमंगें क्रियात्मक रूप से अपना आशाभरा रूप पहलेपहल प्रकट करने लगीं; और साहित्य, कला आदि के प्रांगण में नायक-नायिकाओं के रीतिकालीन नख-शिख-सिंगार की साजसज्जा के बदले मुक्तकेशिनी जर्जरवसना भारत-वसुन्धरा के पूर्वकालिक गौरव को लौटा ले आने का वह बृहत् अनुष्ठान रचा जाने लगा, जिसके कि अनुरूप पुनः साहित्य-वेदी पर उच्च सांस्कृतिक आदर्शों की प्रतिष्ठा की जाने लगी और एक नूतन स्वर में भगवती वीणापाणि का फिर से आवाहन किया जाने लगा! और इस अनुष्ठान की सिद्धि में जो योग साहित्य-गगन के इस युग-दिवाकर द्वारा हमें मिला, उसकी भी क्या किसी को याद दिलाने की आवश्यकता आज रह गई है? उसके तो संबंध में इतना ही कह देना पर्याप्त होगा कि कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ और विश्ववंद्य गांधी इन दो युगात्माओं की साधनाओं की इयत्ता में हमारे पुनरोदय का सारा इतिहास मानों समाप्त हो जाता है—उसमें खप जाती हैं हमारे आज के उत्कर्ष की स्वर्ण-शृंखला की सभी जगमगाती कड़ियाँ!

यहाँ पाठकों को यह जानकर कम आश्चर्य न होगा कि काव्य-रचना के क्षेत्र में रवि बाबू के प्रयोगों का श्रीगणेश हो चुका था उनके उस धुँधले शैशवकाल ही में, जब कि वह निरे ग्यारह-बारह वर्ष के स्कूली विद्यार्थी ही थे! उस समय 'शकुन्तला', 'मैकबेथ', 'कुमार-सम्भव', 'विद्यापति की पदावली' जैसी पुरातन रचनाओं का परिचय पा कुछ तुकबन्दियाँ रचने के प्रयास में पहलेपहल उन्होंने अपनी लेखनी को आजमाना शुरू किया था, जिसके कि शीघ्र ही बाद कुछ तो ज्योतिरिन्द्रनाथ, द्विजेन्द्रनाथ, स्वर्णकुमारी, आदि अपने भाई-बहनों की काव्य-संगीत-साहित्य विषयक चर्चाओं से प्रोत्साहित होकर और कुछ समसामयिक बंगाल के नवोदित कवि बिहारी-लाल के गीतों की स्वरलहरी से प्रेरित हो, 'गीति-काव्य' (या 'लिरिक' ढंग की कविता) लिखने का आकर्षण उनके मन में जग पड़ा था! और तब तो चार-पाँच वर्ष की अल्पावधि ही में बारी-बारी से साहित्य के सभी अंगों को टटोल कर, क्या गीत और नाटक, और क्या कहानी, उपन्यास एवं निबंध-आलोचना, सभी के आँगन में एक साथ ही इतनी प्रयोगात्मक कृतियों की भरमार उन्होंने कर दी थी कि अप्रयास ही सारे बँगला-साहित्य-संसार की निगाह उनके प्रति खिंच गई थी! यह था उनके जीवनव्यापी साहित्यानुष्ठान का वह सुप्रभात, जिसमें कि 'ज्ञानांकुर' मासिक में भुवनमोहिनी नामक उपन्यास विषयक अपना प्रथम आलोचनात्मक लेख एवं 'वनफूल' नामक एक प्रारंभिक कविता पहलेपहल छपवाकर, क्रमशः 'भानुसिंहेर पदावली' (१८७७ ई०), 'कविकाहिनी, 'बो ठाकुरानीर हाट' (१८८१ ई०), 'पृथ्वीराज-पराजय', 'रुद्रचंड', 'भग्न-हृदय', 'कालमृगया', 'वाल्मीकि-प्रतिभा', 'शैशव-संगीत', 'संध्या-संगीत' (१८८१ ई०), और 'प्रभात-संगीत' (१८८२ ई०), आदि-आदि, कई आरंभिक रचनाएँ उन्होंने बँगला-वाङ्मय को भेंट दी थीं, जो उनके बचपन के बंधन-मूलक जीवन की स्वाभाविक निराशभावना की छाप लिये रहने एवं अपनी आयु के अनु-रूप बहुत-कुछ अपरिपक्व प्रयोगात्मक कृतियाँ होने पर भी उनके विकासक्रम की दृष्टि से काफ़ी महत्त्व की रचनाएँ थीं! कारण, 'कालमृगया' और 'वाल्मीकि-प्रतिभा' जैसे गीति-नाट्यों और 'संध्या-संगीत' तथा 'प्रभात-संगीत' जैसे गीत-संग्रहों में ही वे बीजांकुर छिपे थे, जो कि निकट भविष्य ही में 'छवि ओ गान' (१८८४ ई०) और 'कड़ि ओ कोमल' (१८८६ ई०) जैसी कृतियों के मँजे हुए गीतों एवं 'प्रकृतिर प्रतिशोध' (१८८४ ई०) जैसी प्रौढ़ लाक्षणिक काव्य-नाटिका के रूप में पुष्पित-पल्लवित होनेवाले थे! इनमें से कई रचनाएँ ज्योतिरिन्द्रनाथ की 'भारती' पत्रिका में धारावाहिक रूप से पहलेपहल निकली थीं; उदाहरणार्थ, 'बो ठाकुरानीर हाट' नामक उपन्यास, 'कविकाहिनी' नामक काव्यकृति और 'भानुसिंह' के छद्मनाम से रचित मध्यकालीन मैथिल वैष्णव कवियों के अनु-करण में प्रस्तुत किया गया भावव्यंजनायुक्त ललित पदों का वह संग्रह, जिसके कि सामने आते ही कई लोगों को यह भ्रम हो गया था कि सचमुच ही इस नाम का कोई प्राचीन कवि रहा होगा!

इस श्रीन्त कवि के जीवन की लौकिक पृष्ठभूमि में भी ऐसी कई उल्लेख-योग्य फेरबदलियाँ हो चुकी थीं, जिनका कि उनकी साहित्य-साधना की धारा पर गहरा प्रभाव पड़ा था, एवं अपने भावी अनुष्ठान की तैयारी में जिनसे उन्हें कोई कम सहायता न मिली थी ! इनमें सबसे महत्वपूर्ण घटना थी सन् १८७८-७९ ई० की उनकी सर्वप्रथम विलायत-यात्रा, जिसके कि दर्मियान पहले ब्राइटन के एक पब्लिक स्कूल में और तदुपरान्त लंदन-विश्वविद्यालय में विधिवत् शिक्षा ग्रहण कर शैक्सपीयर, मिल्टन, बायरन, शेली, टेनीसन, ब्राउनिंग, प्रभृति अंग्रेज़ी के प्रमुख कवियों और गेटे, दाँते, ह्यूगो, आदि योरपीय साहित्य-महारथियों का गहराई के साथ अध्ययन-अनुशीलन उन्होंने किया था, यद्यपि इस शिक्षा द्वारा कोई डिग्री या डिप्लोमा पाने की कोशिश उन्होंने न की थी ! इसी प्रकार अपने बड़े भाई ज्योतिरिन्द्रनाथ के साथ चन्द्रनगर नामक फ्रेञ्च बस्ती में और सत्येन्द्रनाथ के साथ क्रमशः अहमदाबाद और खारवार नामक समुद्रतटवर्त्ती स्थान में इन्हीं दिनों बिताए गए उस संस्कारजन्य जीवन का भी कोई कम प्रभाव उनकी साधना पर न पड़ा था, जिसकी कि गहरी छाप की साक्षी के रूप में इन्हीं दिनों 'संध्या-संगीत', 'छवि ओ गान', तथा 'प्रकृतिर प्रतिशोध' जैसी उत्कृष्ट कृतियाँ उन्होंने प्रस्तुत की थीं ! इसके अलावा मृणालिनीदेवी के साथ विवाह-बन्धन में बँधने एवं अल्पकाल के लिए पुनः विलायत की एक छोटी-सी यात्रा करने के बाद, पिता के आदेशानुसार अपनी ज़मींदारी का कार्य सँभालने को, पद्मा नदी के तट पर शिलाइदा नामक गाँव की ठेठ देहात की दुनिया में शस्य-श्यामला वंगभूमि के हृदयस्थल में आगामी दस वर्ष बिताकर जो अपूर्व अनुभव उन्होंने प्राप्त किया था, उसकी महत्ता के बारे में तो कहना ही क्या था ? कारण, उसकी तो जीती-जागती साक्षी थीं एक से एक बढ़ी-चढ़ी वे अनूठी कृतियाँ ही, जो कि इसी अवधि में उन्होंने बँगला की साहित्य-वेदी पर क्रमशः अर्पित की थीं—यथा, 'मायार खेला' (१८८८ ई०), 'राजा ओ रानी' (१८८९ ई०), 'विसर्जन' (१८९० ई०), 'चित्राङ्गदा' (१८९१ ई०), 'विदाय अभिशाप' (१८९४ ई०) जैसे काव्यनाटक; 'मानसी', 'सोनारतरी', 'चित्रा' (१८९६ ई०), 'चैताली' (१८९६ ई०), 'कल्पना' (१९०० ई०), और 'नैवेद्य' (१९०१ ई०) जैसे गीतसंग्रह; 'गांधारीर आवेदन' (१८९७ ई०), 'कर्ण-कुन्ती-संवाद', 'नरक-वास', 'सती', 'मालिनी', 'कथा', 'काहिनी' और 'चिरकुमार सभा' जैसे छोटे-छोटे गीति-आख्यान, काव्य-कथा और प्रहसन; 'आलोचना', 'समालोचना', 'विविध प्रसंग', 'चिट्ठी-पत्री', 'छिन्नपत्र', जैसे फुटकर गद्यलेख और निबंध; 'घाटेर कथा', 'पोस्टमास्टर', 'दुराशा', 'नामंजूर गल्प', 'प्रगति-संहार' जैसी अगणित गल्प-कहानियाँ एवं 'चोखेर बाली' जैसा उपन्यास; तथा 'क्षणिका', 'कणिका' की-सी वे प्रकीर्ण रचनाएँ, जो सब 'सत्यं-शिवं-सुन्दरम्' की विराट् साधना की दिशा में अपने महान् स्रष्टा के दिन-प्रति-दिन अग्रसर होने की स्पष्ट सूचनाओं के साथ-साथ हमारे वाङ्मय के क्षेत्र में उनके हाथों प्रादुर्भूत एक असाधारण युगान्तर का मानचित्र लेकर क्रमशः सामने आई थीं ! निश्चय ही उनके अंतस्तल का कवि अब अपनी शैशवकालीन सीमित दृष्टि-परिधि से कहीं ऊपर उठकर उस विश्व-द्रष्टा की आँखों से संसृति के काल-क्रम की झाँकी लेने में अब पूर्ण समर्थ हो चुका था, जो कि आगे चलकर विकसित होनेवाला उसका यथार्थ स्वरूप था ! तभी तो अनन्तानुभूति के महासागर में डुबकी लगाकर एक से एक बढ़ी-चढ़ी मुक्ता-मणियों को हमारे आगे वह प्रस्तुत करने लगा था और उपनिषद्काल की अमर वाणी को आज की स्वर-लिपि में पुनः प्रस्तुत करते हुए वह उद्घोषित कर सकता था कि 'हे विश्वजनो, हे अमृतपुत्रो, हे दिव्यधामवासी देवगण, सुनो ! मैं उस महान्त पुरुष को जानता हूँ, जोकि अंधकार से सर्वथा परे परम ज्योतिर्मय है ! उसे जानो; उसे जानकर ही मृत्यु के पार हम हो सकते हैं । इसके अतिरिक्त दूसरी राह नहीं है ! हे मृत भारत ! तेरे लिए भी यही एकमात्र पथ है, अन्य नहीं !'

तब उन्नीसवीं सदी के अंत एवं बीसवीं के युगारंभ की संक्रान्तिमूलक संधिवेला में, अपने हृदय-मंदिर में सतत हिलोरें लेनेवाली नवसर्जना की लहरों को कर्म के आँगन में मूर्त्तिमान् बनाने के हेतु, हाथ बढ़ाया उन्होंने उस नवीन अनुष्ठान का आरंभ करने के लिए, जिसका कि उद्देश्य था वैदिक आट-

वियों के अंचल में संस्थापित प्राचीन भारतीय विद्या-केन्द्रों की गौरव-गरिमा को पुनर्जाग्रत करनेवाले, पाश्चात्य शिक्षा-प्रणाली के विकारों से मुक्त, एक आदर्श गुरुकुल अथवा सांस्कृतिक आश्रम की नींव डालकर अपनी विरासत के प्रति अश्रद्धालु बने हुए मोहविमूढ़ भारतीय समाज को नवोत्थान का सही-सही मार्ग दिखाना! और इस पुण्य-प्रयोग के लिए भला 'शान्तिनिकेतन' की उस तपोभूमि से अधिक उपयुक्त दूसरा स्थल उन्हें कहाँ मिल सकता था, जिसे कि उनके ऋषितुल्य पिता ने अपनी जीवनव्यापी साधना के तप-कमंडलु-जल से अभिसिंचित कर पहले ही से मानों उनके लिए तैयार कर रक्खा था! इस प्रकार, सन् १९०१ ई० के दिसंबर मास में, आखिर 'बोलपुर-ब्रह्मचर्याश्रम' के नाम से उस महिमामय विद्याकेन्द्र का जन्म हुआ, जोकि अनतिदूर भविष्य ही में 'विश्व-भारती' जैसी अन्तर्राष्ट्रीय तीर्थ-संस्था में सुविकसित हो न केवल अपने महान् जनक ही का एक उज्ज्वल स्मारक बन गया, प्रत्युत उसी के समकक्ष की इस युग की एक और रचना—'बापू' के पुण्यसदन 'सेवाग्राम'—की भाँति बन गया इस देश की अंतरात्मा का भी एक अजरामर कीर्त्तिमंदिर! इस पुनीत अनुष्ठान में कवि और उनकी धर्मपत्नी दोनों, शिलाइदा से उठकर स्थायी रूप से यहीं डेरा-तंबू गाड़ने के बाद, इस प्रकार लवलीन हो गए कि उसके अर्थाभाव की पूर्त्ति करने के लिए उन्होंने पुरीवाला अपना एक मकान, कई बहुमूल्य पुस्तकें और सभी सुवर्ण आभूषण बेच डाले! इस प्रकार छात्रों और अध्यापकों के साथ घुलमिलकर उन्हीं के साथ खेलते-कूदते, खाते-पीते, कवितापाठ करते और कथा-वार्त्ता सुनाते हुए एक अनूठे ढंग से शिक्षा-संस्कार-विषयक अपने विचारों को वैज्ञानिकों की भाँति प्रयोग की कसौटी पर कसने का प्रयास करने में वह जुट गए! परन्तु तभी पारिवारिक आघातों की एक अप्रत्याशित बौछार उनके ऊपर एकाएक बरस पड़ी, जिससे कि उनका जीवनक्रम एकबारगी ही खड़खड़ा-सा गया! कारण, अभी बोलपुर में आए पूरा एक वर्ष भी न बीता था कि पहले तो उनकी प्रिय सहधर्मिणी वियोग के सागर में उन्हें डुबोकर इस लोक से एकाएक चल बसीं, और तदुपरान्त एक के बाद एक रेणुका और शमीन्द्रनाथ नामक दो प्यारे बच्चे, शतीशचन्द्र राय नामक एक अभिन्न मित्र, एवं पूज्य पिता महर्षि देवेन्द्रनाथ भी सदा के लिए इस संसार से उठकर उनसे बिछुड़ गए! इन शोक-प्रसंगों ने कवि के हृदय को तले से झकझोर दिया, जिसका प्रचुर आभास 'स्मरण' नामक उस प्रसिद्ध गीतसंग्रह में हमें देखने को मिलता है, जिसे कि पत्नी-विरह से संतप्त हो इन्हीं दिनों उन्होंने रचा था! किन्तु एक ओर जहाँ इन दुर्घटनाओं ने अपूर्व रूप से उनके हृदय को मानों मथ-सा डाला, वहाँ दूसरी ओर साथ ही साथ उनकी ठेस पाकर उनकी प्रतिभा के अनेक रुँधे हुए रंध्र मानों खुल भी पड़े, जिससे कि उनकी अंतरात्मा का कवि मृत्यु के अवगुंठन के परे छिपे हुए परम शाश्वत अमृततत्त्व की झाँकी देखने-दिखाने में पहले से भी अधिक समर्थ बन गया! फलतः उनकी आध्यात्मिक और कलात्मक प्रवृत्तियाँ अब सामने आईं एक नया ही बाना पहनकर, जिसका कि प्रखर प्रमाण प्रस्तुत हुआ इसके शीघ्र ही बाद उनके हाथों 'खेया' (१९०५-६ ई०), 'प्रायश्चित्त' (१९०९ ई०), 'राजा' (१९१० ई०) 'गोरा' (१९१० ई०), 'गीताञ्जलि' (१९१० ई०), 'जीवनस्मृति', 'अचलायतन', और 'डाकघर' (१९१२ ई०) जैसी उन उत्कृष्टतम कलाकृतियों की सृष्टि द्वारा, जिन्होंने कि निर्विवाद रूप से उन्हें हमारे साहित्य-गगन के खस्वस्तिक की ऊँचाई पर प्रतिष्ठापित कर दिया! यह थी रवीन्द्रनाथ के उत्कर्ष की प्रखरतम मध्याह्नवेला—उनकी प्रतिभा और ख्याति के चरम उन्मेष का चिरस्मरणीय मंगल-प्रहर! कारण, इसके तत्काल बाद ही तो सन् १९१२-१३ ई० की अपनी प्रख्यात विलायत-यात्रा के दर्मियान, महान् आइरिश कवि यीट्स द्वारा प्रशंसित हो, उनकी अन्यतम रचना 'गीतांजलि' के प्रति अचानक पाश्चात्य साहित्यिक जगत् का ध्यान खिंचकर वह विश्व-विश्रुत 'नोबेल-पुरस्कार' उन्हें मिला, जिसकी कि घोषणा होते ही उनका नाम संसार भर के लिए घर-घर की वस्तु बन गया!

यहाँ यह बता देना अनुपयुक्त न होगा कि 'गीतांजलि' के जिस अंग्रेज़ी संस्करण पर कवि को 'नोबेल-पुरस्कार' की प्राप्ति हुई थी, उसमें तथा मूल बँगला 'गीतांजलि' के गीतों में पर्याप्त अंतर था, कारण उसमें के कई एक गीत 'खेया', 'नैवेद्य' एवं 'गीति-

माल्य' जैसे अन्य उत्कृष्ट संग्रहों में से भी चुनकर लिये गए थे! अतः उनकी रचनाओं में सबसे अधिक ख्याति प्राप्त करने एवं संसार की विविध भाषाओं में अनूदित हो लाखों की संख्या में बिकने के बावजूद, जहाँ तक बँगला-साहित्य का सम्बन्ध है, काव्यमर्मज्ञों की समीक्षा-दृष्टि में कवि की सर्वश्रेष्ठ काव्यकृति के पद की अधिकारिणी 'गीतांजलि' नहीं, प्रत्युत 'खेया' नामक उनकी वह पूर्वोल्लिखित अन्यतम रचना है, जिसमें रहस्यवाद की गगनचिचुंबित ऊँचाई तक उठकर 'महाराज' के नाम से संबोधित अपने उस 'जीवन-देवता' की अर्चना में पलक-पाँवड़े बिछाने का अनूठा साज रवीन्द्रनाथ ने सजाया है, जिसे कि 'नैवेद्य', 'सोनारतरी', 'चित्रा', 'चैताली', 'विदाय अभिशाप', 'गीतांजलि', 'गीतिमाल्य' सभी संग्रहों में उनकी कविताओं की विशद पृष्ठभूमि में अलख रूप से हम निरन्तर विद्यमान पाते हैं! इस अनूठे संग्रह के गीत रवीन्द्रनाथ ने उन दिनों लिखे थे, जब कि बंगभंग के फलस्वरूप उमड़ पड़नेवाले राष्ट्रीय आन्दोलन के एक प्रमुख नेता के रूप में अल्पकाल के लिए वह बाँह चढ़ाकर सक्रिय राजनीति के भँवर में उतर पड़े थे और 'स्वदेशी-समाज', 'राष्ट्रीय कोष', 'राखी-बंधन', जैसी योजनाओं को तैयार करने में प्रमुख भाग लेने के अतिरिक्त अपने लेखों और भाषणों की भरमार द्वारा बंगभूमि के उस अपूर्व पुनर्जागरण-यज्ञ को सफल बनाने का अन्यतम श्रेय उन्होंने प्राप्त किया था! अतः यह सोचकर आश्चर्य होता है कि राजनीतिक जीवन की उस कोलाहलभरी घड़ियों में आखिर वह ऐसी रहस्यवादी काव्य-साधना करने का समुचित अवकाश पा सके तो कैसे! किन्तु यहीं तो उनके कवि-रूप का सच्चा परिचय हमें मिलता है कि इन समस्त ऊपरी हलचलों के बावजूद उनकी अन्तरात्मा तो एकाग्र भाव से रत थी 'शान्तं-शिवं-अद्वैतम्' के अपने मंगल-मंत्र को सिद्ध करने ही में! इसीलिए अन्ततः वह क्षण भी आया जब कि अपनी वृत्ति के लिए प्रतिकूल साबित होनेवाले राजनीति के विजातीय वातावरण से सर्वथा हटकर पुनः सर्वतोभावेन सरस्वती-आराधना की अपनी नैसर्गिक राह द्वारा राष्ट्रोन्नति की लीक प्रस्थापित करने में वह दत्त-चित्त हो गए, एवं इसके शीघ्र ही बाद दिखाई दिए 'शारदोत्सव' नामक एक मधुर ऋतु-नाटिका, 'नौका-डुबि' और 'गोरा' नामक दो प्रसिद्ध उपन्यास, एवं 'प्रायश्चित्त' नामक उस अनूठे नाटक की सृष्टि करते हुए, जिसमें कि गांधीजी के हाथों इस देश के आँगन में अहिंसात्मक सत्याग्रह का महायज्ञ रचे जाने से वर्षों पूर्व ही, 'धनंजय वैरागी' नामक अपने एक प्रख्यात पात्र के रूप में उनके आदर्श सत्याग्रही का प्रखर रूप कल्पित कर, अपनी ऋषि-दृष्टि का जीता-जागता प्रमाण उन्होंने प्रस्तुत कर दिया था!

इसके बाद की उनकी जीवन-कहानी तो हमारे आज के अपने युग के इतने समीप आ पहुँचती है, साथ ही इतनी जानी-बूझी हो चुकी है वह कि विस्तारपूर्वक उसके तारतम्य को यहाँ चित्रित करने की आवश्यकता ही नहीं रह जाती! भला कौन नहीं जानता कि नोबेल-पुरस्कार का असामान्य सम्मान उन्हें प्राप्त होने पर जहाँ उनके देशवासियों का हृदय एक स्वाभाविक गर्व और गौरव की भावना से उछल-सा पड़ा था, वहाँ साथ ही साथ विदेशी सरकार ने भी उन्हीं दिनों गद्गद होकर 'सर' की उपाधि प्रदान कर उन्हें समुचित श्रद्धांजलि अर्पित की थी; यद्यपि सन् १९१९ ई० के जलियाँवाला बाग के नरमेध के घटित होते ही विरोधस्वरूप कवि ने तुरंत ही वह उपाधि वापस लौटा दी थी! इसी बीच शान्तिनिकेतन से तीन मील दूर सुरुल नामक गाँव में कुछ ज़मीन खरीदकर अपने मनोराज्य की उस द्वितीय महत्त्वपूर्ण योजना—'श्रीनिकेतन' के आदर्श ग्राम-सुधार-केन्द्र की प्रस्थापना—के संबंध में भी अपना पहला क़दम वह उठा चुके थे और इन्हीं दिनों की बात है कि पहलेपहल शान्तिनिकेतन पधारने पर युगावतार गांधीजी के उस अनूठे स्नेह-बंधन की भी गाँठ वह लगा चुके थे, जोकि आगे चलकर असहयोग की नीति के बारे में परस्पर काफ़ी गहरा राजनीतिक मतभेद उठ खड़ा होने पर भी आजीवन कभी ढीली होते नहीं पाई गई और जिसका चरम स्वरूप निखरते हमने देखा उस समय, जबकि सन् १९३२ ई० के इतिहास-प्रसिद्ध आमरण अनशन को प्रारंभ करते समय 'बापू' ने उन्हें लिखा था—'प्रिय गुरुदेव, मंगलवार के सुबह के तीन बजे का यह समय है और दोपहर को मैं उस अग्नि-द्वार में प्रवेश करने जा रहा हूँ! यदि आप-

का आशीर्वाद मैं पा सकूँ—वह मुझे चाहिए……।' और यह पत्र अभी डाक में छोड़ा जाय उसके पूर्व ही कवीन्द्र का यह तार आ पहुँचा था—'भारत की एकता और सामाजिक पूर्णता के लिए यदि बहुमूल्य जीवन की आहुति देना ही पड़े तो वह सर्वथा उचित ही होगा !……हम अपने शोकसंतप्त हृदयों द्वारा आपकी इस महती तपस्या का सादर सस्नेह अनुसरण करेंगे !' इसके अतिरिक्त एक अटूट अविरल शृंखला के रूप में भिन्न-भिन्न देशों की प्रति वर्ष की अपनी उन महान् संस्कार-यात्राओं का वह लम्बा ताँता भी तो, जिन्हें कि उनकी जीवनव्यापी साहित्य-साधना से किसी भी अंश में कम महत्त्व प्राप्त नहीं है, इन्हीं दिनों शुरू हुआ था तथा जिनके द्वारा पूर्व और पश्चिम के बीच की खाई को उन्होंने अपनी सद्भावना के सेतु से सदा के लिए पाट दिया था ! इन यात्राओं में कवि ने ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस, जर्मनी, हालैण्ड, बेल्जियम, डेनमार्क, स्वीडन, नार्वे, ऑस्ट्रिया, हंगरी, ज़ेकोस्लोवाकिया, बाल्कन प्रदेश, यूनान, इटली, स्वीट्ज़रलैण्ड, रूस, कनाडा, संयुक्त राष्ट्र (अमेरिका) और दक्षिणी अमेरिका जैसे पाश्चात्य भूभागों, और जापान, चीन, जावा, मलाया, बर्मा, मिस्र, ईरान, इराक, लंका, प्रभृति पूर्वीय देशों का सुविस्तृत भ्रमण-पर्यटन कर जगह-जगह अपने कवितापाठ और संभाषणों द्वारा साम्राज्यवादी अर्थलिप्सा एवं संकुचित राष्ट्रीयताजनित घृणा-जिगीषावृत्ति की घोर निंदा करते हुए सशक्त वाणी में 'वसुधैव कुटुम्बकम्' तथा 'आत्मानं विद्धि' का महान् भारतीय आदर्श मंत्र संघोषित किया था और प्रत्युत्तर में देश-देश की जनता और शासन-सत्ता तथा विद्वन्मंडलियों एवं सांस्कृतिक संस्थाओं द्वारा वह असाधारण सम्मान प्राप्त किया था, जो कि बड़े-बड़े संसार-विजेताओं और सम्राटों को भी कदाचित् ही कभी मिला होगा ! इन यात्राओं में दी गई उनकी महान् वक्तृताएँ 'साधना', 'नेशनलिज्म', 'पर्सनालिटी', 'क्रिएटिव यूनिटी', शीर्षक संग्रहों में सूत्रबद्ध हो हमारे वाङ्मय की स्थायी निधि बन चुकी हैं, साथ ही समय-समय पर 'जापानेर जात्री', 'रशियार चिठि', जैसे तत्संबंधी जो मधुर संस्मरण उन्होंने प्रकाशित किए, वे भी हमारे साहित्य की स्थायी संपत्ति बन गए हैं !

इस बीच उनके अंतस्तल का चिरजाग्रत कलाकार भी भला क्योंकर अकर्मा बनकर रह सकता था ? अतः जीवन के इस अपराह्न एवं संध्याकाल की घड़ियों में भी जो कृतियाँ उनके हाथों हमने पाईं, उनसे भी मानों हम निहाल हो गए—यथा 'गीतालि', 'गीतिमाल्य' (१९१४ ई०), 'वलाका' (१९१६ ई०), 'पलातक' (१९१८ ई०), 'पूरबी' (१९२५ ई०), 'महुया', 'परिशेष' (१९३२ ई०), 'विचित्रा' (१९३३ ई०), 'नवजातक', 'शनैः', 'रोगशय्या', और 'आरोग्य' जैसे गीतसंग्रह ; 'फाल्गुनी' (१९१५ ई०), 'मुक्तधारा' (१९२२ ई०), 'वर्षामंगल', 'शेषवर्षण' (१९२५ ई०), 'नवीन', 'नटराज', 'सुन्दर' (१९२७ ई०), 'रक्तकरवी' (१९२६ ई०), 'शोधबोध', 'नटीरपूजा' (१९२५ ई०), 'कालेर यात्रा' (१९३२ ई०), 'बाँसुरी', 'चाण्डालिका', 'मालंचा', और 'ताशेर देश' (१९३३ ई०) नामक नाटक ; 'चतुरंग', 'घरे बाहिरे', 'योगायोग' (१९२७ ई०), 'शेषेर कविता' (१९२८ ई०) और 'चार अध्याय' नामक उपन्यास ; 'लिपिका' (१९१९ ई०) और 'पुनश्च' (१९३२ ई०) नामक शब्द-चित्र एवं गद्यकाव्य ; तथा 'छेले-बेला', 'विश्व-परिचय' और 'बँगला-भाषा-परिचय' जैसी प्रकीर्ण रचनाएँ ! इनके अतिरिक्त समय-समय पर जो असंख्य कहानियाँ और गल्पें, निबंध और गद्यलेख, आदि इस अवधि भर पत्र-पत्रिकाओं में उन्होंने लिखे, तथा संगीत एवं चित्रकला के क्षेत्र में भी नववीथिकाओं का निर्माण कर जो कलाकृतियाँ उन्होंने रचीं, उनकी तालिका प्रस्तुत करने के लिए यहाँ पर्याप्त स्थान ही कहाँ है ?

अंत में आ पहुँचा वह विदा का क्षण भी, जबकि लगभग पौन शती की दीर्घ कालावधि तक हमारे सांस्कृतिक और साहित्यिक गगनमंडल में अपनी दिव्य आभा चमकाकर इस कविकुलदिवाकर ने अपनी उस वृद्ध काया को काल के प्रवाह में लीन कर अंतिम महानिर्वाणपद प्राप्त कर लिया ! यह महागति रवीन्द्रनाथ ने ७ अगस्त, सन् १९४१ ई०, के दिन ८१ वर्ष की अवस्था में उसी महानगर कलकत्ता में प्राप्त की, जहाँ कि उनका जन्म हुआ था, और यह कोई कम उल्लेखनीय बात न थी कि मृत्यु के पूर्व के उस संध्याकालीन प्रहर में भी उनकी जीवनव्यापी साधना एवं मानवीय एकता और समन्वय-विषयक विश्व-भावना की धारा में तनिक भी शिथिलता

नहीं आने पाई थी, जिसका सजीव प्रमाण इन तथ्यों द्वारा हमें मिल जाता है कि इन आखिरी घड़ियों में अपनी रोगशैय्या पर पड़े-पड़े न केवल कई एक रचनाएँ ही उन्होंने रचीं और अपनी ८१ वीं वर्ष-गाँठ के अवसर पर जनता द्वारा अर्पित सम्मान के प्रत्युत्तर में 'सभ्यतार संकट' शीर्षक एक ओजस्वी संदेश निखिल मानवता के नाम प्रकाशित किया, बल्कि जवाहरलालजी के जेल में बंद होने की दशा में उन्हीं दिनों मिस रैथबोन नामक ब्रिटिश पार्लामेण्ट की एक मुँहजली सदस्या द्वारा उन पर किए गए एक आक्षेपपूर्ण आक्रमण के प्रत्युत्तर में, भीष्म पितामह की भाँति मृत्यु की सेज पर लेटे-लेटे ही, एक मुँह-तोड़ वक्तव्य निकाल मातृभूमि की गौरवरक्षा-संबंधी अपनी ज्वलन्त आन्तरिक भावनाओं का भी मूर्त्त उदाहरण प्रस्तुत किया! इस बीच अपने महान् स्मारक 'शान्तिनिकेतन' और 'श्रीनिकेतन' दोनों को आज की उनकी ऊँचाई तक पहुँचाकर एवं 'विश्व-भारती' जैसी अंतर्राष्ट्रीय शांति-प्रसारक संस्था-रूपी प्रकाश-स्तंभ वहाँ खड़ा करके अपने सामने ही वह रूप वह दे चुके थे कि देश-विदेश के संस्कृति-उपासकों के लिए वे मानों तीर्थ के समान बन गए थे, जहाँ इन अंतिम दिनों में प्रायः इस धवलकेशपाशयुक्त राष्ट्र-पितामह के दर्शनों का पुण्य-लाभ लेने के लिए हज़ारों कोसों से लोग पहुँचते और 'उत्तरायण' नामक उस पुण्यशीला कवि-कुटीर में उसकी साधनरत झाँकी पाकर अपने आपको कृतकृत्य मानते! इस संध्या-काल की अस्तंगत घड़ियों में भी कवि पर देश-विदेश से निरन्तर श्रद्धा-पुष्पों की वर्षा होती रही, जिनमें सबसे उल्लेखनीय थी प्रसिद्ध आक्सफ़ोर्ड-युनिवर्सिटी के हाथों सन् १९४० के अगस्त मास में उन्हें प्रदत्त 'डी० लिट्' की सम्माननीय उपाधि! इसके अतिरिक्त सन् १९३१ ई० में उनकी ७० वीं वर्षगाँठ के अवसर पर सारे देश में विधिवत् एक 'टैगोर-सप्ताह' भी उनके सम्मान में मनाया जा चुका था और प्रसिद्ध 'गोल्डन बुक ऑफ़ टैगोर' नामक अभिनंदन-ग्रंथ के रूप में संसार भर के विद्वान् उस अवसर पर अपनी श्रद्धांजलियाँ उन्हें अर्पित कर चुके थे!

यह थे कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ—इस युग के हमारे वेदव्यास! हमारी संस्कृति, कला, वाणी, शिक्षा, विचारधारा और राष्ट्रोन्नति की अमर दीपशिखा के एक प्रधान ज्योतिर्धर! हमारे 'गुरुदेव',—जिनके कि द्वारा बोए गए शिक्षा-बीजों के अमृतफल आगामी अनेक सहस्राब्दियों तक यह देश पाता रहेगा! यहाँ हमें याद हो आती है एक छोटी-सी किंतु अत्यंत भावपूर्ण लाक्षणिक कहानी, जो एक बार अपने एक मित्र से हमें सुनने को मिली थी। कहते हैं, इस भौतिकवादी युग का आरंभ होने पर जब देवताओं ने देखा कि पृथ्वीतल पर मनुष्यों में दिन-प्रति दिन केवल पशुता और अनाचार ही का दौरदौरा बढ़ रहा है तो घबड़ाकर इस अनर्थ को रोकने के लिए उन्होंने परमपिता परमात्मा से प्रार्थना की! इस पर उस जगन्नियन्ता ने सदैव की भाँति इस बार भी पुनः 'कवि' को बुलाकर मृत्युलोक के अविद्याग्रस्त विपथ-गामी मानवों को सत्पथ का संदेश जा सुनाने का आदेश दिया! किन्तु आश्चर्य की बात थी कि इस बार 'कवि' ने पुनः पृथ्वी पर जाने से साफ़ इंकार कर दिया! उसने कहा—'मैं जब-जब भी इन मनुष्यों के बीच गया, तब-तब मेरे अपने जीवनकाल में तो उन्होंने शायद ही कभी मेरी बातों पर ध्यान दिया हो! उन्होंने प्रायः मेरी अवहेलना ही की, फिर चाहे मेरे चले आने पर मेरी प्रशंसा में कितने ही मीठे-मीठे गीत वे क्यों न गाते रहे हों! और तो और, मेरे लिए वहाँ जीना भी दूभर हो जाता है! तब क्या करूँ मैं बार-बार वहाँ जाकर?' बात यथार्थ ही थी, अतः कोई उस पर मीन-मेख करता भी तो कैसे! किन्तु परमात्मा ने उसे आश्वासन देते हुए कहा—'तुम घबड़ाओ नहीं! इस बार तुम्हारा जन्म एक राजसी साथ ही अत्यंत सुसंस्कृत परिवार में होगा और आजीवन अपने भरण-पोषण के लिए कभी किसी का मुँह ताकने की तुम्हें आवश्यकता न पड़ेगी। तुम्हारी आयुष्य दीर्घ होगी और जैसा कि तुम चाहते हो, अपने जीवनकाल में वह यश इस बार तुम्हें मिलेगा, जैसा पहले कभी भी न मिला था।' तो फिर 'कवि' को फिर से मर्त्यलोक में आने में भला क्या आपत्ति हो सकती थी? अतः शीघ्र ही वह पुनः स्वर्ग से पृथ्वीतल पर उतरा और इस बार लोक में उसका नाम प्रख्यात हुआ—'रवीन्द्रनाथ!' यह छोटी-सी गाथा यद्यपि है तो स्पष्टतः एक कल्पनाप्रसूत लाक्षणिक आख्यायिका, किन्तु कितनी यथार्थता के साथ उसमें हमें रवीन्द्रनाथ के वास्तविक रूप

को सूत्रवत् मीमांसा-सी मिल जाती है! 'कवि' क्यों बार-बार इस लोक में आता है और विभिन्न युगों में भिन्न-भिन्न देशों एवं विविध नाम-रूपों को अपनाकर भी किस प्रकार एक ही चिरशाश्वत संदेश की पुनरावृत्ति करते वह देखा जाता है, इसकी बहुत ही मार्मिक व्याख्या हम इस भाव-कथा में पा सकते हैं! रवीन्द्रनाथ का वह लौकिक नाम-रूप तो उनके लिए वस्तुतः एक बाहरी परिधान मात्र था—चूँकि वह बंगाल में पैदा हुए थे इसीलिए बंगला में उन्होंने अपना महान् साहित्यानुष्ठान रचा और उस शस्य-श्यामल भूमि को केन्द्र बनाकर वहीं से अपना काव्यगान किया। किन्तु वस्तुतः वह किसी एक ही प्रान्त, देश, जाति या भाषा की परिधि में समा सकनेवाले व्यक्ति कदापि न थे। वह तो थे एक सच्चे विश्व-नागरिक, विश्व-धर्म्मी, विश्व-संस्कृति ही के पुरोहित, विश्व-कवि! तभी तो 'शान्तिनिकेतन' के अपने उस तपोवन में 'विश्व-भारती' जैसी अंतर्राष्ट्रीय संस्था का उद्घाटन कर, 'यत्र विश्वं भवत्येकनीड़म्' इस आर्ष मंत्र को फिर से सार्थक बनाने का प्रयास आयु-भर उन्होंने किया और भौगोलिक सीमान्तों का अतिक्रमण कर तथा संकुचित राष्ट्रीयता एवं सांप्रदायिकता के घिरौंदे से सदैव अपने आपको मुक्त बनाए रखकर, निखिल मानवता के योग-क्षेम की साधना में ही वह आजीवन रत रहे! वस्तुतः विश्ववंद्य 'बापू' की तरह वह भी हमारे बीच अवतीर्ण हुए थे आज की इस 'हैवानियत' की कुदशा से उबारकर पुनः 'इंसानियत' के अपने स्वाभाविक धर्म की भूमिका पर हमें प्रतिष्ठित करने के लिए—हमारे मस्तिष्क पर छाये हुए कुसंस्कारजन्य मकड़ी-जालों को झाड़-बुहारकर हमें अपना सच्चा स्वरूप पहचानने तथा जगन्नियंता द्वारा निर्दिष्ट अपने वास्तविक ध्येय की सिद्धि करने के योग्य हमें बनाने के लिए! यदि कोई अन्तर था तो यही कि 'बापू' जहाँ उतरे थे सत्य के एक मूर्त्तिमान् प्रतीक के रूप में विशुद्ध 'कर्म' के आँगन में और उस धधकते कुरुक्षेत्र के अंगारमय पथ पर अपने अमिट पदचिह्न अंकित करके ही युग-युग के लिए अमरत्व की राह वह हमें दिखा गए, वहाँ 'गुरुदेव' आए थे हमारे भाव-लोक के युग-सम्राट् बनकर, हमारी भावनाओं और विचारों के उस मेरुदण्ड का नवनिर्माण करने के लिए, जिसके कि गर्भ में भावी युगों के यथार्थ बीज संचित रहते हैं तथा जिसमें निगूढ़ रूप से छिपी रहती है मानवीय आयु की शक्ति की सच्ची डोर—हमारी आत्म-शक्ति की कुण्डलिनी! यदि एक था मानों साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण का अवतार तो दूसरा था मानों महर्षि वेदव्यास ही का आधुनिक प्रतिरूप! एक ने जीवन भर 'सत्यं, शिवं, सुन्दरम्' की झाँकी देखने-दिखाने में ही रत रहकर भुजा उठा-उठाकर उसका स्तवगान किया तो दूसरे ने अपनी महान् तपस्या द्वारा जीवन में उसी 'सत्य, शिव और सुन्दर' की सिद्धि कर प्रयोग-शाला में परख करनेवाले वैज्ञानिकों की भाँति उसकी 'सत्यता', 'शिवत्व', और 'सुन्दरता' को मानों कसौटी पर कसकर यथार्थतः प्रमाणित कर दिया! हमें तो यही सोचकर अपना भाग्य सराहना चाहिए कि इस संकट की घड़ी में एक साथ ही ऐसी दो अन्यतम विश्व-विभूतियों को पाने का सौभाग्य हमें मिला, जिनकी कि कोटि की ऋषितुल्य महान् आत्माएँ कई सदियों में भी शायद ही कभी किसी देश में पैदा हो पाती हैं! महात्मा मोहनदास कर्मचन्द गांधी और गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर—क्या पिछले हज़ार वर्षों में भी किसी एक देश में एक ही साथ ऐसी अद्भुत जोड़ी कभी पैदा होते दिखाई दी अथवा भविष्य में पैदा होने की उम्मीद हम कर सकते हैं? ये युगल महापुरुष अपनी आयुव्यापी साधना और तपस्या का अमोघ फल अर्पित कर दिन-पर-दिन खाली पड़ती जा रही हमारी पुण्य की गठरी को फिर से कई युगों के लिए भर गए! वे बाह्य रूप में विभिन्न-सी प्रतीत होनेवाली किन्तु मूलतः एक ही ध्रुवबिन्दु की ओर अभिमुख एक-दूसरे की पूरक जैसी अपनी साधनाओं की इयत्ता में रच गए हमारे पुनरुत्थान के संपूर्ण इतिवृत्त का गौरवपूर्ण ढाँचा! तो फिर क्यों न सराहें हम अपनी भाग्य-रेखाओं को, जिनके कि पुण्य-प्रताप से ऐसी अनुपम विभूतियों का प्रसाद हम पा सके? और क्यों न धन्य कही जाय वह रत्न-प्रसूता भारत-जननी भी, जिसने कि आज की इस विषम संकट की घड़ी में ऐसे युग्म पथप्रदर्शकों का उपहार संसार को दिया?

अवनीन्द्रनाथ ठाकुर

'जब मैं सोचता हूँ कि बंगाल में आज के दिन सबसे अधिक सम्मान का पात्र कौन है तो सबसे पहला नाम जो मुझे सूझता है वह है अवनीन्द्रनाथ ही का नाम! उन्होंने देश को आत्मधिक्कार के पाप से बचा लिया है और अपमानमूलक हीनावस्था के गर्त्त में से उबारकर फिर से अपने अधिकारपूर्ण गौरव के पद पर उसे प्रतिष्ठापित करने में अनमोल योग दिया है!··· आज भारत में कला-चेतना के पुनरुज्जीवन के फलस्वरूप नव युग का जो सुप्रभात उदित हुआ है, उसका प्रमुख श्रेय अवनीन्द्र ही को है, जिनसे कि सारे देश ने नए सिरे से फिर से तत्संबंधी शिक्षापाठ ग्रहण किया है! इस प्रकार उनकी सिद्धियों द्वारा युग-युग के लिए बंगभूमि को गर्व और गौरव का पद मिल गया है!'—गुरुदेव रवीन्द्रनाथ के श्रीमुख से उद्घोषित इन प्रशस्ति-वाक्यों के उपरान्त, आधुनिक भारतीय कला-जागृति के महाप्रहरी आचार्य अवनीन्द्रनाथ की महत्ता की साक्षी में अन्य प्रमाण प्रस्तुत करने की आवश्यकता ही क्या रह जाती है? भला कौन नहीं जानता कि उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दियों की उस महत्त्वपूर्ण युगसंधिवेला में, जबकि साहित्य के क्षेत्र में स्वतः कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ, राजनीति के आँगन में राष्ट्रगुरु सुरेन्द्रनाथ, और विज्ञान के प्राङ्गण में आचार्य जगदीशचन्द्र जैसे बंगाल के महान् सपूत आगे बढ़कर नवीन भारत के पुनरोत्कर्ष की नववीथिकाओं की लीक प्रस्थापित करने में मूल्यवान् सहयोग देते हुए अपने प्रान्त और देश का मस्तक ऊँचा कर रहे थे, हमारे संस्कृति-मंदिर के एक

बिल्कुल ही विस्मृत-से शून्य कोने में हाथ बढ़ा अपनी युग - प्राचीन कलापरंपरा की लुप्तप्राय डोर का अंतिम छोर टटोल-टटोलकर खोज निकालने और नवसर्जन द्वारा उसके तारतम्य को फिर से जारी करने का गहन-गंभीर भार जिस महान् अग्रदूत ने अपने ऊपर लेने का साहस किया था, वह भी था उसी महिमामयी बंगभूमि ही का एक अनूठा नौनिहाल—और वह देशरत्न दूसरा कौन हो सकता था सिवा हमारे आज के इन्हीं सुपरिचित कलागुरु आचार्य अवनीन्द्रनाथ के? निश्चय ही यह इसी महामहिम व्यक्ति का प्रताप था कि पश्चिम की भौंडी नक़ल द्वारा एक वर्णसंकर शैली में अभिव्यक्ति के हास्यास्पद प्रयास की दुर्गति से बचकर इस देश की उगती हुई कला-साधक पीढ़ी अजन्ता, बाघ-विहार, आदि

प्राचीन कला-मंडपों तथा मुग़ल-राजपूत युग के चित्रों की कमनीयता का मूल्य परख, अपनी महान् परंपरा का मर्म समझने और उसकी प्राणधारा के साथ पुनः अपनी अन्तरात्मा का संसर्ग स्थापित करने में समर्थ हो पाई! अन्यथा 'अल्फ्रेड' और 'सूरविजय' नाटक-मंडलियों के परदों की उस बाज़ारू रंगसाज़ी के विजन में अपने आपको गँवाकर अब तक तो हम अपनी तूलिका और वर्णपट सहित भटकते-भटकते न जाने कहाँ से कहाँ जा पहुँचे होते!

अवनीन्द्रनाथ ठाकुर—जैसा कि उनके नाम ही से प्रकट है—देश को उसी गौरवशाली 'ठाकुर-परिवार' की एक अनमोल भेंट है, जिसने कि एक शताब्दि से भी अधिक समय तक हमारे पुनरुज्जीवन के एक प्रमुख पीठस्थान के रूप में मातृभूमि का मुख उजागर करने में योग दे इतिहास के पन्नों पर अमिट अक्षरों में अपना नाम अंकित करा लिया है! वह हैं स्व० रवीन्द्रनाथ ठाकुर के भतीजे, अर्थात् महर्षि देवेन्द्रनाथ के अनुज श्री गिरिन्द्रनाथ के पौत्र! इस प्रकार वंशतालिका की दृष्टि से ठाकुर-परिवार का यशोविस्तार करनेवाले वह हैं उसकी चतुर्थ पीढ़ी के सबसे प्रकाशमान् कुलदीपक, जिस प्रकार कि दूसरी पीढ़ी के रहे देवेन्द्रनाथ और तीसरी के रवीन्द्रनाथ! अवनीन्द्रनाथ का जन्म हुआ था ७ अगस्त, सन् १८७१ ई०, के दिन (जो कि भारतीय तिथिपत्रानुसार जन्माष्टमी का शुभ पर्वदिवस था) कलकत्ते के जोड़ासाँको मोहल्ले के अपने परिवार के उस प्राचीन आवासगृह में, जहाँ कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ भी जनमे थे, और उनकी शिक्षा पहले स्थानीय 'नार्मल स्कूल' में तथा बाद में प्रसिद्ध 'संस्कृत-कॉलेज' एवं 'सेंट कज़ेवियर कॉलेज' में हुई, जहाँ संस्कृत और अंग्रेज़ी का गहरा अध्ययन उन्होंने किया। इस बीच अपने आप ही घर पर उन्होंने साधारण रेखाङ्कन (ड्रॉइंग) एवं ग्रामीण दृश्यों के चित्रण का अभ्यास करना आरंभ किया, जिसकी कि जन्मजात प्रवृत्ति उन्हें अपने पैतृक संस्कारों द्वारा मिली थी; क्योंकि जिस प्रकार ठाकुर-परिवार की एक शाखा, जिसने देवेन्द्र और रवीन्द्रनाथ जैसे रत्न उपजाए, विशिष्ट रूप से साहित्य, दर्शन, अध्यात्म, काव्य, आदि की आराधना-उपासना के प्रति झुकी हुई थी, उसी प्रकार उसकी यह दूसरी शाखा, जिसमें अवनीन्द्र का प्रादुर्भाव हुआ था, अपनी सहज वृत्ति से कला की ओर विशेष रूप से आकृष्ट थी, जिसका कि प्रखर प्रमाण इस बात से मिलता है कि अवनीन्द्र के पिता और पितामह दोनों को अपने जीवन में कला के प्रति गहरी अभिरुचि रही! उनके पितामह श्री गिरिन्द्रनाथ ठाकुर ने—जिन्होंने पाश्चात्य ढंग के चित्राङ्कन में प्रचुर पटुता प्राप्त कर ली थी—'बेलगाछिया गार्डन हाउस गैलरी' के अनेक तैल-चित्रों की सफल प्रतिकृतियाँ तैयार की थीं, और इसी प्रकार उनके पिता श्री गुणेन्द्रनाथ भी—जिन्होंने बहूबाज़ार के 'आर्ट-स्कूल' में दो-तीन वर्ष तक विधिवत् कला-संबंधी शिक्षा पाई थी—अवकाश के समय चित्रकारी करने का खास शौक रखते थे! इसके अतिरिक्त उनके बड़े भ्राता श्री गगनेन्द्रनाथ भी—जिन्होंने कि आगे चलकर देश के प्रथम कोटि के कलाकार के रूप में काफ़ी ख्याति प्राप्त की—गहराई के साथ कला-साधना की इस पारिवारिक परंपरा के रंग में रँगे हुए थे! ऐसे अनुकूल वातावरण में पनपकर भला हमारे चरितनायक की जन्मजात प्रतिभा यदि बचपन ही से अपना विशिष्ट चमत्कार दिखाने लगी हो तो इसमें आश्चर्य ही क्या था! कहते हैं कि अपने पिता की तूलिका और रंगों का प्रयोग करके नौ वर्ष की छोटी उम्र ही में ताड़ वृक्षों तथा फ़ूस की कुटियाओं के देहाती दृश्यों के काफ़ी आकर्षक चित्र बालक अवनीन्द्रनाथ खींचने लग गए थे और इन्हीं दिनों गुणेन्द्रनाथ ने जोड़ासाँको से उठकर बाल-बच्चों सहित जब कुछ समय के लिए शहर से दूर गंगातट पर एक बँगले में अपना डेरा जा जमाया था तब तो प्रकृति के उस खुले आँगन में पहुँच बाल-कलाकार अवनीन्द्र की प्रतिभा चाँदनी रात में खिल उठनेवाली कुमुदिनी की भाँति सहज ही प्रस्फुटित हो उठी थी! यहाँ गंगा के विशद अंचल पर निरन्तर अठखेलियाँ करनेवाली श्वेतपटधारी नौकाओं, नारियल-कदली आदि वृक्षों की पंक्तियों के बीच से होकर नदी के घाट की ओर से आती-जाती जलकलशधारी ग्राम्य ललनाओं, और आसपास के उद्यान में सुबह से शाम तक क्रीड़ा-कल्लोल करते हुए मोर, कबूतर, चातक, आदि पक्षियों की मनोहारिणी झाँकी दिन-रात अपने सन्मुख खिंची पाकर हमारे चरितनायक की कला-

पिपासा और भी बलवती होउठी और उस झाँकी को चित्रपट पर प्रत्याङ्कित करने के प्रयास में स्वभावतः ही अपनी तूलिका के नित नए चमत्कार वह प्रकट करने लगे! तब स्कूली शिक्षा समाप्त कर कॉलेज में पहुँचने पर, उन्होंने खानगी तौर पर पहले तो अनुकूल चटर्जी नामक अपने एक सहपाठी से तथा बाद में गिल्हार्डी नामक एक इटैलियन चित्रकार से—जोकि उन दिनों कलकत्ता के सरकारी आर्ट-स्कूल के प्रिन्सिपल थे—विधिवत् कला-विषयक शिक्षापाठ ग्रहण करना शुरू किया, और इसके उपरान्त पामर नामक एक और योरपीयन के भी तत्त्वावधान में तीन-चार वर्ष तक चित्रकारी का गहरा अभ्यास किया, जिससे कि कालान्तर में पाश्चात्य शैली के तैल-चित्र बनाने में वह इतने निपुण हो गए कि डेढ़-दो घंटे ही में किसी भी व्यक्ति की बड़ी-सी सुंदर रंगीन तस्वीर बना लेने का मुहावरा उन्हें हो गया! इस आरंभकाल की—अर्थात् सन् १८९२ ई० से १८९४ ई० तक की—उनकी कुछ कृतियाँ 'साधना' नामक मासिक, रवि बाबू की 'चित्राङ्गदा' नामक काव्य-नाटिका तथा 'खिरेर पुतुल', 'शकुन्तला', आदि कुछ स्वरचित पुस्तकों में प्रकाशित भी हुईं।

तब सन् १९०० ई० में, अपनी कला-पिपासा के उद्रेकवश, कलकत्ते से कुछ समय के लिए बाहर निकलकर वह पहुँचे मुंगेर और यहाँ आते ही उनकी प्रवृत्तियों में एक गहरे पटपरिवर्त्तन का क्रम आरंभ हो गया! क्योंकि तैल-चित्रों का अवलंब छोड़ अब पहलेपहल उन्होंने अपना हाथ बढ़ाया जल में घुलनेवाले रंगों की कमनीय चित्रकारी के प्रति, जोकि उनकी अपनी नैसर्गिक वृत्ति के कहीं अधिक अनुकूल राह थी! इस नए मार्ग को अपनाने के बाद उस गंगातटवर्त्ती ऐतिहासिक नगर के 'कष्टहारिणी' एवं 'विश्रामघाट' नामक सौन्दर्यस्थलों पर दिन-दिन भर व्यतीत कर अत्यन्त मनमोहक शैली में वहाँ की टूटी-फूटी मुग़ल-कालीन इमारतों तथा आसपास के प्राकृतिक दृश्यों के अनेक ललित चित्र क्रमशः उन्होंने बनाए! किन्तु उनकी इस महती साधना के क्रम में यथार्थ युगान्तर तो प्रस्तुत हुआ उस समय जबकि आज से लगभग पैंतालिस वर्ष पूर्व एक दिन जोड़ासाँको के अपने महल के पुराने घरेलू पुस्तकालय की पोथियाँ उलटते-पलटते समय सहसा उनकी निगाह जा अटकी एक प्राचीन फ़ारसी पुस्तक की सचित्र पाण्डुलिपि पर, जिसमें कि विशुद्ध पूर्वीय शैली में अनेक ललित चित्र बने हुए थे, साथ ही आलंकारिक सुलेखनकला के भी कई एक सुंदरतम नमूने भरे पड़े थे! इस अद्भुत चित्रकारी को देखकर युवक अवनीन्द्र का मन अपने देश की छिपी हुई कला-निधि के प्रति विस्मय, श्रद्धा और गर्व के भाव के साथ एकबारगी ही फड़क उठा! फलतः पाश्चात्य कला का आश्रय छोड़ एवं अपने ही बूते पर मौलिक ढंग से आत्माभिव्यक्ति करने का दृढ़ निश्चय कर हमारे चरितनायक ने अब अपनी मातृभूमि की भुलाई हुई कला-परंपरा के पुनरुज्जीवन का बीड़ा उठाया, और इस प्रकार विशुद्ध भारतीय शैली में 'राधा-कृष्ण की प्रणयलीला' विषयक उनकी वह प्रसिद्ध चित्रमाला पहलेपहल सामने आई, जिसने कि हमारे कला-इतिहास के एक नूतन अध्याय का उद्घाटन कर दिया! कहने की आवश्यकता नहीं कि पाश्चात्य अंधानुकरण की घातक राह से हटकर अपनी बुद्धि-प्रतिभा के अधिक अनुकूल एवं देश की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि से अधिक मेल-जोल रखनेवाली इस नूतन कला-दिशा की ओर अग्रसर होने पर युवक अवनीन्द्रनाथ की तूलिका दिन-प्रति-दिन नए-नए चमत्कार दिखाने लगी और इसके कुछ ही समय बाद जब सौभाग्य से उनका संपर्क हो गया उस महान् कला-समीक्षक ई० बी० हैवेल के साथ, जोकि इन दिनों कलकत्ते के सरकारी आर्ट-स्कूल का प्रिंसिपल था तथा जिसके अनुरोध से कालान्तर में हमारे चरितनायक ने उक्त विद्यालय के वाइस-प्रिंसिपल का पद स्वीकार कर लिया था, तब तो एकबारगी ही उनका उत्साह दूना-चौगुना बढ़ गया! तभी मुग़ल-काल के कुछ उत्कृष्ट नमूने देखने का सुअवसर पा अवनीन्द्र के मन में उसी शैली में एक नए ढंग की चित्रकारी करने की वह उमंग जगी, जिसके कि सुफल के रूप में ताजमहल को निहारते हुए शाहजहाँ का उनका प्रख्यात चित्र सामने आया! इसके बाद तो भारतीय परंपरा की आधारशिला पर स्थापित एक से एक बढ़कर ऐसी चमत्कारपूर्ण

कलाकृतियाँ विभिन्न शैलियों में उनकी तूलिका के प्रसाद के रूप में सामने आती गईं कि न केवल इस देश के आँगन में ही प्रत्युत विदेशों तक में उनका यशोसौरभ फैल गया और उनका अपना एक पृथक् विशिष्ट कला-संप्रदाय-सा बन गया, जिसे बहुतेरे लोग 'बंगाल-स्कूल' के नाम से पुकारने लगे! स्थानाभाववश, इस दीर्घ कालावधि में इस महान् कलागुरु द्वारा प्रस्तुत की गई सभी कलाकृतियों का वर्णन करने में हम यहाँ असमर्थ हैं। अतः कुछ चुने हुए उत्कृष्ट चित्रों का ही उल्लेख कर हमें संतोष कर लेना होगा— यथा, 'अभिसारिका' (१८९२ ई०), 'शाहजहाँ का अवसान' (१९०० ई०), 'बुद्ध और सुजाता' (१९०१ ई०), 'राधा-कृष्ण-लीला चित्र-माला' (१९०१–३ ई०), 'निर्वासित यक्ष' (१९०४ ई०), 'ग्रीष्म' (१९०५ ई०), 'चाँदनी की महफिल' (१९०६ ई०), 'दीपमालिका' (१९०७ ई०), 'कच-देवयानी' (१९०८ ई०), 'ताजमहल का स्वप्न देखते हुए शाहजहाँ' (१९०९ ई०), 'उमरखय्याम-चित्र-माला' (१९०९ ई०), 'वंशी की पुकार' (१९१० ई०), 'अशोक-पत्नी तिष्यरक्षिता' (१९१० ई०), 'वीणा-वादक' (१९११ ई०), 'औरंगज़ेब और दारा का सिर' (१९११ ई०), 'मंदिर-नर्तकी' (१९१२ ई०), 'श्रीराधा यमुनातट पर' (१९१३ ई०), 'श्रीकृष्ण का चित्र निहारती हुई राधा' (१९१३ ई०), 'अश्रु-बिन्दु ' (१९१२-१३ ई०), 'यात्रा का अंत (१९१२-१३ ई०), 'श्वेत मयूर' (१९१५-१६ ई०), 'मंसूरी में चंद्रोदय' (१९१६ ई०), 'फाल्गुनी में कवि (रवीन्द्रनाथ) का नृत्य' (१९१६ ई०), 'उमा' (१९२१ ई०), 'मोर' (१९२२–२३ ई०), 'आलम-गीर' (१९२२ ई०), 'शिष्यमंडली-सहित श्री चैतन्यदेव' (१९२५ ई०), 'बाबा गणेश' (१९३० ई०), 'क्रीड़ा-कल्लोल का अंत' (१९३९ ई०)।

इस प्रकार वर्षों की दीर्घकालीन निष्क्रियता-रूपी अंधकार-रात्रि की काली घटाओं से आच्छादित हमारे कला-क्षितिज पर पुनरोदय की अरुण रश्मियों की ललाई लिये हुए नवजागरण का एक महत्त्वशाली आन्दोलन उठ खड़ा हुआ, जो विजातीय परम्पराओं के अनुसरण की राह छोड़ अपनी ही सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में कलाभिव्यक्ति के प्रेरक स्रोतों को खोजते हुए उस महान् विरासत की वेदी पर राष्ट्र की अंतरात्मा की पुनर्प्रतिष्ठा करने के लिए उठा था, जिसका कि तारतम्य अजन्ता, एलोरा, बाघ-विहार, आदि के स्वर्ण-युग से क्रमशः राजपूत-मुग़ल-काल तक आने के बाद बीच में एकाएक विलुप्त-सा हो गया था! और इस आन्दोलन को आगे बढ़ाने के लिए इस महान् शिक्षागुरु ने जहाँ भिन्न-भिन्न पद्धति से चित्रकला-विषयक हज़ारों प्रयोग करके अमूल्य योग दिया, वहाँ साथ ही साथ 'षड़ङ्ग' नामक अपने एक निबन्ध द्वारा प्राचीन भारतीय कला-सिद्धान्तों का पहलेपहल सुंदर ढंग से निरूपण करके एवं कलकत्ते की प्रसिद्ध 'इंडियन सोसाइटी ऑफ़ ओरियण्टल आर्ट' की प्रस्थापना में भी प्रमुख रूप से हाथ बँटाकर अन्य प्रकार से भी प्रचुर बल उसे प्रदान किया! इसके अलावा चित्रकला तथा शिल्प के क्षेत्र से बाहर भी पैर बढ़ाकर, बंगला के एक उत्कृष्ट लेखक और कहानीकार के रूप में, हमारे सर्वतोमुखी उत्थान-यज्ञ में जो अतिरिक्त योग उन्होंने इस बीच दिया, उसकी चर्चा के लिए न तो यहाँ पर्याप्त स्थान ही है और न हमारे प्रस्तुत प्रसंग का विषय ही वह है! यहाँ तो हमें यही भर सूचित करना था कि किस प्रकार इस महापुरुष ने अपनी कलाक्षेत्र की अमूल्य पैतृक निधि के भुलाए हुए कोष की कुंजी प्रदान कर हमें कंगाल से पुनः धनीमानी बना दिया— किस प्रकार संसार के कला-आँगन में अकिंचन की भाँति दूसरों का मुँह ताकने की दयनीय स्थिति से उबारकर हमारे जीवन-स्रोत का एक महत्त्वपूर्ण रुँधा हुआ द्वार फिर से उसने खोल दिया और सामान्यता के धरातल से कई स्तर ऊपर उठा पुनः उस भावलोक में हमें ला खड़ा कर दिया, जिसकी कि भूमिका पर स्थित होकर हमारे महान् पूर्वज अपनी अनुपम कलासिद्धियों का चमत्कार प्रस्तुत करने में समर्थ हो सके थे! निश्चय ही उसने हमारी राष्ट्रीय प्रतिभा की दीपशिखा को पुनर्जाग्रत करने में इस युग के अपने क्षेत्र के सबसे महान् नवविधायक का काम किया! तो फिर क्यों न कलाक्षेत्र के सर्वश्रेष्ठ युगप्रतिनिधि के रूप में श्रद्धा के तांदुल अर्पित कर उसके नाम और व्यक्तित्व की ओट में उन सभी ज्ञात-अज्ञात साधकों की नीराजना की जाय, जिन्होंने अपनी तपस्या द्वारा नवभारत की कलावेदी को उन्नत बनाया है?

जो देश आज से सदियों पहले ही चरक और सुश्रुत, पतंजलि और नागार्जुन, आर्यभट और वराहमिहिर तथा ब्रह्मगुप्त और भास्कर जैसे उद्भट विज्ञानाचार्यों की भेंट संसार को दे चुका है, वह भला अपने पुनरोदय के इस वर्त्तमान युग में भी—जबकि धर्म और समाज के क्षेत्र में राममोहनराय, दयानन्द, रामकृष्ण और विवेकानन्द जैसे महान् शिक्षक और सुधारक, राजनीति के आँगन में दादाभाई, तिलक, गांधी और सुभाष-जवाहर जैसे अद्वितीय लोकनायक, तथा साहित्य और कला के प्राङ्गण में रवीन्द्रनाथ एवं अवनीन्द्र जैसे नवविधायक उसने उपजाए—विज्ञान के महत्त्वपूर्ण क्षेत्र में क्योंकर अनुर्वर और सूना रह सकता था ? अतः नवयुग के इस वसन्तागम के साथ ही धर्म, समाज, राजनीति, कला और साहित्य की क्यारियों में जहाँ उसकी वाटिका में उपर्युक्त अद्भुत कुसुम खिल उठे, वहाँ विज्ञान की डाली पर भी ऐसे कई एक असाधारण पुष्प इस युग में उसने उत्पन्न किए, जिनकी कि सुरभि से सारे संसार में उसके यश के परागकण फैल गए ! इनमें से कुछ चुने हुए नामों को ही यहाँ गिना देना पर्याप्त होगा—

जगदीशचन्द्र वसु

यथा जगदीशचन्द्र वसु, प्रफुल्लचन्द्र राय, श्रीनिवास रामानुजन् और चंद्रशेखर व्यंकट रामन् के नाम—जो कि युग-युग तक के लिए विज्ञान-जगत् में इस देश का मस्तक उन्नत बनाए रखने के लिए यथेष्ट होंगे ! किन्तु इनमें भी जो नाम वस्तुतः सबसे अधिक प्रकाशमान और उल्लेखनीय है, वह तो है महान् विज्ञानाचार्य डॉ० श्री जगदीशचन्द्र वसु ही का नाम, जो कि वैज्ञानिकों की इस जाज्वल्यमान नक्षत्र-मंडली में परम तेजस्वी सूर्य के समान प्रतिष्ठित है ! वह है न केवल इस युग के भारत का बल्कि सारे संसार के विज्ञान के इतिहास का अपने क्षेत्र का सबसे महान् और अद्वितीय एक अजरामर नाम, जिसकी गणना विश्व के उन गिने-चुने दस-पाँच नामों में की जा सकती है, जो कि अनुसन्धान और आविष्कार के क्षेत्र के विज्ञान के महास्तंभ माने जाते हैं ! अतः यह सर्वथा उचित ही है कि इस देश की सांस्कृतिक वेदी का निर्माण और विकास करनेवाले महामहिम जननायकों की इस गौरव-प्रशस्ति में, विज्ञान-क्षेत्र के सर्वश्रेष्ठ प्रतिनिधि महापुरुष के रूप में, हम इस युगपुरुष को भी उसी प्रकार श्रंजलि प्रदान करें, जिस प्रकार कि साहित्य-क्षेत्र के प्रमुख युग-प्रणेता के रूप में कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ को एवं कला-क्षेत्र के सर्वश्रेष्ठ प्रतिनिधि के रूप में आचार्य अवनीन्द्रनाथ को अपनी श्रद्धा के पुष्प पिछले पृष्ठों में हम समर्पित कर चुके हैं !

पूर्वीय बंगाल के ढाका ज़िले में विक्रमपुर नामक एक छोटा-सा क़स्बा है। उसी के राढ़ीखाल नामक गाँव के एक बंगाली कायस्थ परिवार में ३० नवंबर, सन् १८५८ ई०, के दिन हमारे चरितनायक का जन्म हुआ था। आपके पिता—श्री भगवानचन्द्र वसु—थे फरीदपुर के डिप्टी कलक्टर, अतः आपकी शिक्षा-दीक्षा के संबंध में तो पूछना ही क्या था! कहते हैं, आपने आरंभिक शिक्षा पाई अपने गाँव ही की पाठशाला में, जहाँ मानवता और प्रकृति-प्रेम के ऐसे दृढ़ संस्कार आपके चित्त पर जमे कि आजीवन उनका प्रभाव बना रहा! तदुपरान्त उच्च शिक्षा के लिए आप भेजे गए कलकत्ता, जहाँ से बी० ए० करने के उपरान्त विशेष अध्ययन के लिए पहुँचे विलायत, जिसका खर्च पूरा करने के हेतु आपकी माता ने अपने सारे गहने तक बेच डाले! यह एक उल्लेख-योग्य बात है कि युवक जगदीश स्वयं तो उत्सुक थे 'आई० सी० एस०' का प्रमाण-पत्र प्राप्त कर सरकारी शासन-तंत्र के जंजाल में उलझने को ही, परन्तु रत्नपारखी पिता ने उनकी विज्ञान-विषयक जन्मजात प्रतिभा देखकर उच्च वैज्ञानिक शिक्षा प्राप्त करने के लिए ही विशेष रूप से उन्हें प्रेरित किया! अतः लंदन पहुँचकर आप वहाँ के मेडिकल कालेज में भरती हुए और डाक्टरी की शिक्षा लेना शुरू किया। किन्तु विधि का विधान तो और ही कुछ था, अतएव उसमें आपका जी न लगा, साथ ही बीच-बीच में काफ़ी अस्वस्थ रहने के कारण कालान्तर में उस पढ़ाई में बाधा भी पड़ने लगी। फलतः वहाँ से हटकर अब विशुद्ध विज्ञान के अध्ययन के प्रति ही आपने अपना हाथ बढ़ाया। इस प्रकार रसायन, भौतिक विज्ञान एवं वनस्पति-शास्त्र विषयों में लंदन तथा कैम्ब्रिज की उच्च उपाधियाँ प्राप्त कर एवं इस बीच विलायत के अनेक विज्ञानाचार्यों के घनिष्ठ संपर्क में रहने का लाभ उठाकर, सन् १८८५ ई० में, आप वापस स्वदेश लौटे और उसी वर्ष कलकत्ते के 'प्रेसीडेन्सी कॉलेज' में भौतिक विज्ञान के प्रोफ़ेसर के पद पर नियुक्त हो गए। कहते हैं, अपनी इस नौकरी के आरंभिक दिनों में एक विशेष आन के कारण आपको काफ़ी अर्थ-संकट का सामना करना पड़ा और वह आन यह थी कि भारतीय प्रोफ़ेसरों को योरपीय प्रोफ़ेसरों से एक-तिहाई कम वेतन देने संबंधी शिक्षा-विभाग की तत्कालीन भेद-नीति के विरोध में लगातार तीन वर्ष तक आपने अपना वेतन ही न लिया, जिसकी वजह से अर्थाभाव की संकटापन्न स्थिति में पड़कर नदी-पार के क्षेत्र में एक मामूली-से मकान में आप उन दिनों रहते और वहीं से एक छोटी-सी नाव को स्वयं खेकर उसमें रोज़ कलकत्ता पढ़ाने आते, जिसे आपकी धर्मपत्नी वापस खेकर उस पार ले जातीं! अंत में अधिकारियों ही को आपके इस सत्याग्रह के आगे हार मानकर अपने घुटने टेक देना पड़े और वही तनख़्वाह आपको भी देने को उन्हें मजबूर होना पड़ा, जोकि गोरों को दी जाती थी! इसके शीघ्र ही बाद धीरे-धीरे किन्तु निरन्तर ऊँचे उठते हुए एक सोपान-क्रम से आरंभ हुआ आपके अद्भुत चमत्कारों का वह तारतम्य, जिसने कि निकट भविष्य ही में सारे संसार को चकित-विस्मित कर विज्ञान के आँगन में हमारे पुनरुत्थान का अवरुद्ध द्वार मानों फिर से खोल दिया! तो फिर आइए, आपके जीवन की इस लौकिक पृष्ठ-भूमि से ऊपर उठकर अब उन महान् कार्यों एवं सिद्धियों की ही चर्चा करें, जिन्होंने कि एक युग-प्रणेता महापुरुष के रूप में न केवल इस देश ही के प्रत्युत संसार भर के गौरव-मंच पर सदा के लिए आपका नाम अजरामर बना दिया!

यहाँ यह बता देना अप्रासंगिक न होगा कि जिस समय युवक जगदीश ने अपनी नैसर्गिक ज्ञान-पिपासा से प्रेरित होकर प्रकृति का परदा उठा पहलेपहल उस ओर के अज्ञात रहस्यलोक में झाँकने के लिए अपना पैर बढ़ाया था, उस समय न तो कलकत्ते में कोई अच्छी-सी प्रयोगशाला ही थी और न इस ओर बढ़ावा देने का शिक्षाधिकारियों का उत्साह या ध्यान ही था! इधर आप स्वयं उन दिनों इतने संपन्न भी न थे कि सब-कुछ अपने ही बूते पर कर गुजरते। फिर भी कामचलाऊ ढंग पर शुरू में आपको स्वयं ही इस संबंध में अपना प्रबंध करना पड़ा और कठिन आर्थिक परिस्थिति के बावजूद शीघ्र ही एक छोटी-सी प्रयोगशाला क्रमशः आपने घर पर स्थापित कर ली तथा उसकी सहायता से तुरन्त ही अपना अनुसंधान-कार्य आरंभ कर दिया! इन शुरू के दिनों में फ़ोटोग्राफ़ी तथा ध्वनि-आलेखन

(साउण्ड-रेकार्डिङ्ग) की क्रियाओं में आपने गहरी दिलचस्पी ली, जोकि उस ज़माने के लिए बिल्कुल नई चीज़ें थीं। तदुपरांत संसार के अन्य समसामयिक विज्ञानाचार्यों की भाँति आपका भी ध्यान खिंचा हर्ट्ज़ द्वारा निर्दिष्ट उन विद्युत्-चुंबकीय तरंगों के प्रति, जिनके अद्भुत गुणों से चकित हो सारा विज्ञान-जगत् अनोखी संभावनाओं के सपने उन दिनों बुन रहा था! और सरस्वती का कृपा-प्रसाद देखिए कि पहली ही डुबकी में ज्ञान की ऐसी नूतन मुक्तामणियाँ आपके हाथों लग गईं कि प्रसिद्ध इटैलियन आविष्कारक मार्कोनी द्वारा बेतार (वायरलेस) की खोज होने से वर्षों पूर्व ही, कलकत्ते के टाउन-हॉल में प्रान्तीय गवर्नर की उपस्थिति में उपर्युक्त विद्युत्-तरंगों की शक्ति का प्रदर्शन कर, तार की मदद के बिना ही दूर रक्खी हुई एक घंटी बजवा तथा भारी वज़न उठवाकर आपने सबको विस्मय में डाल दिया! इस प्रकार तिथिक्रम की दृष्टि से रेडियो और वायरलेस के आविष्कार के यथार्थ जनक रहे हमारे चरितनायक ही, यद्यपि एक पराधीन देश में जन्म लेने के कारण इसके आगे अपनी खोज का व्यावसायिक उपयोग वह न कर पाए! इन विद्युत्-तरंगों के सम्बन्ध में की गई आपकी महत्त्वपूर्ण गवेषणाओं ने ही पहलेपहल संसार का ध्यान आपकी ओर खींचा और इन तरंगों के गुण, उनके परावर्त्तन-सम्बन्धी नियम एवं मणिभ द्वारा उनके ध्रुवन के बारे में आपके जो गंभीर छानबीन-सूचक लेख इस आरम्भकाल में देश-विदेश की वैज्ञानिक पत्र-पत्रिकाओं में निकले, उनका ही प्रभाव था कि लंदन की प्रसिद्ध 'रायल सोसायटी' द्वारा सम्मानित और पुरस्कृत होकर ब्रिटिश सरकार के हाथों कालान्तर में अपना अन्वेषण-कार्य चालू रखने के हेतु विविध सुविधाएँ और आर्थिक सहायता आपको मिल सकीं! इन्हीं दिनों की बात है कि आपके अनुसंधानों की महत्ता एवं मौलिकता को स्वीकार कर लंदन-युनिवर्सिटी ने 'डी० एस-सी०' की ऊँची उपाधि आपको प्रदान की और उपर्युक्त विद्युत्-तरंगों के सम्बन्ध में जो सूक्ष्मग्राही यंत्र आपने तैयार किए, उनका 'एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका' जैसे लब्धप्रतिष्ठ ग्रंथ तक में ससम्मान विस्तार-सहित उल्लेख किया गया!

परन्तु प्रथम परिचय ही में अपनी बुद्धि-प्रतिभा के चमत्कार से इस प्रकार सारी दुनिया को चकित कर देने पर भी आपकी ज्ञान-साधना के सब से गौरवपूर्ण अध्याय का तो अभी वस्तुतः आरम्भ भी नहीं हो पाया था! क्योंकि भौतिक विज्ञान के क्षेत्र में इस अनुपम सिद्धि के बावजूद आपका यथार्थ भावी कार्यक्षेत्र तो था जड़-चेतन के संधिस्थल सा वनस्पति-विज्ञान का वह रहस्यपूर्ण अनुसंधान-क्षेत्र, जो कि युग-युग के लिए आपका नाम अमर बना देनेवाला था! और अपने इस भावी कर्मक्षेत्र के प्रति आपका झुकाव भी एकदम अनूठे ढंग ही से हुआ! कहते हैं कि विद्युत्-चुंबकीय तरंगों के सम्बन्ध में उपर्युक्त छानबीन करते समय सहसा आपकी निगाह में यह अद्भुत-अनोखी बात आई कि 'जड़' पदार्थ के नाम से पुकारी जानेवाली धातुएँ भी श्रमोपरान्त चेतन तत्त्वों की भाँति एक प्रकार की 'थकान' से अभिभूत हो जाती हैं और वह 'थकान' कुछ समय की विश्रान्ति के बाद दूर हो जाती है! यही नहीं, सजीव मांसपेशियों की भाँति वे भी उत्तेजकों से प्रभावित होती हैं! उनकी संवेदनशीलता पर तापक्रम के उतार-चढ़ाव का असर होता, ठंढ में वे ठिठुरतीं और मादक द्रव्यों तथा विषों के प्रभाव से नशे में आकर निद्राभिभूत हो सुन्न भी पड़ जाती हैं! यहाँ तक कि अधिक तीव्र विषों के प्रयोग से वे 'मर' भी जाती हैं! इन अद्भुत अनुभवों से प्रोत्साहित होकर ही आप अधिक गुह्य रहस्यों के उद्घाटन की आकांक्षा से चराचर-जगत् के उस मध्यवर्ती सीमा-संधि-प्रदेश—वनस्पति-संसार—के सूक्ष्म अनुसंधान की ओर अग्रसर हुए, जिसके कि संबंध में आपके द्वारा प्रकाश में लाई गई अति आश्चर्यजनक नवीन बातों ने शीघ्र ही सारे वैज्ञानिक जगत् को एकबारगी ही हिला दिया! क्योंकि अल्पकाल ही में अपने निगूढ़ अनुसंधानों द्वारा सप्रमाण आपने यह दिग्दर्शित कर दिया कि जीवों की तरह वनस्पतियों में भी एक सचेतन संवेदनशील प्राणधारा संतत प्रवाहित होती है! वे भी सजीव प्राणियों की भाँति अपने-अपने ढंग से सुख-दुःख, भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी का अनुभव करते; परिश्रम और उत्तेजना के बाद थकते और आराम करते; और एक नियमित क्रमानुसार जवान या बूढ़े होते तथा जनमते-मरते हैं!

उनमें भी जीवनरस के प्रवाह तथा श्वसन-संबंधी क्रियाएँ होतीं; हृदय की धड़कन और नाड़ियों के स्पंदन का स्वर विकंपित होता; कष्ट के समय वेदना की टीसें उठतीं तथा मृत्युकाल में यंत्रणा और तड़पन का कारुणिक दृश्य समुपस्थित होते दिखाई देता है! और ये चौंका देनेवाली अद्भुत बातें केवल मौखिक रूप से बताकर ही आप न रह गए, बल्कि कितने ही सूक्ष्मग्राही पेचीदा यंत्रों का निर्माण कर उनकी सहायता से उपर्युक्त सभी क्रियाओं की इस प्रकार प्रत्यक्ष रूप से मूर्त्तिमान् झाँकी भी संसार को आपने दिखा दी, मानों सिनेमा के चित्रपट पर ही वह उतार दी गई हो! इन यंत्रों में से कुछ—जैसे 'मैगनेटिक क्रेस्कोग्राफ़', 'फ़ोटोसिंथेटिक रेकार्डर', 'डाइमेट्रिक कान्ट्रेक्शन अपेरेटस', आदि—तो इतने बारीक़ थे कि बड़े-बड़े वैज्ञानिक तक यह सोचकर दंग रह गए कि आख़िर अपने देश के परिमित निर्माण-साधनों द्वारा आप उन्हें बना सके तो कैसे? इस प्रकार भारत के इस क्रान्तदर्शी आधुनिक ऋषि ने उपनिषद्काल के अपने महिमामय पूर्वजों की हज़ारों वर्ष पूर्व की उस उद्घोषणा को विज्ञान की कसौटी पर पूरी तरह परखकर पुनः एक बार निनादित कर दिया कि सारी सृष्टि एक ही आत्म-तत्त्व की चैतन्यलीला द्वारा अनुप्राणित है और जड़-चेतन का भेद केवल हमारे मन की भ्रान्ति मात्र है! उसने अपने जादूभरे यंत्रों की सहायता से 'जड़' कहलानेवाले मूक पदार्थों ही से अपनी सच्ची आत्मकहानी कहला दी और डंके की चोट पर यह परम सत्य प्रतिष्ठापित कर दिया कि जड़ जैसी कोई वस्तु यथार्थ में विश्व में है ही नहीं! तो फिर क्या आश्चर्य था यदि कुछ जले-भुने पाश्चात्य विरोधियों द्वारा लाख हाथ-पैर पटके जाने के बावजूद विश्व-भर की विद्वन्मण्डलियों के हाथों उच्च से उच्च सम्मान प्राप्त कर अपने जीवनकाल ही में वह यश उसने पाया कि उसका नाम घर-घर की वस्तु बन गया?

इस बीच कितनी ही बार आचार्य वसु विदेशों की यात्रा पर भी गए, जिनके क्रम में संसार के अनेक शिक्षण-केन्द्रों एवं अनुसंधान-समितियों आदि के समक्ष अपने प्रयोगों का दिग्दर्शन करने के साथ-साथ कई एक महत्त्वपूर्ण व्याख्यान भी आपने दिए! तभी देश-विदेश की कई युनिवर्सिटियों द्वारा 'डॉक्टर ऑफ़ सायन्स' की उपाधियाँ आपको मिलीं और सरकार ने भी आपको 'सर' एवं 'सी० एस० आई०' की उपाधि से विभूषित कर अपने आपको गौरवान्वित किया! अंत में कलकत्ते के प्रेसीडेन्सी कॉलेज से अवकाश ग्रहण कर आपने जीवन के आख़िरी बीस वर्ष 'वसु-विज्ञान-मंदिर' नामक उस प्रख्यात अनुसंधानशाला के निर्माण एवं विकास के पुण्यकार्य में लगाए, जिसे १५ लाख रुपए की अपनी संचित निधि अर्पित कर अपनी दानशीलता का एक उज्ज्वल उदाहरण आपने प्रस्तुत कर दिया एवं जो अंततोगत्वा आपका एक जीता-जागता स्थायी स्मारक-सा बन गया! इस प्रकार अपनी अद्वितीय साधना द्वारा प्रकृति की गुप्त मंजूषा का निगूढ़ कपाट उठा एवं जड़-चेतन के ऊपरी भेद का सदा के लिए रहस्योद्घाटन कर, अपने अनुष्ठानों द्वारा इस देश में वैज्ञानिक अध्ययन-अनुशीलन की उज्ज्वल पगडंडियों की स्वर्णलीक की प्रस्थापना करनेवाला भारत का यह सपूत अठहत्तर वर्ष की आयु में २३ नवंबर, सन् १९३६ ई०, के दिन इस असार संसार से सदा के लिए विदा हुआ!

निश्चय ही आचार्य वसु थे न्यूटन और डार्विन, आइन्स्टाइन और माक्स प्लैन्क, एडीसन और मार्कोनी की कक्षा के एक महान् युग-प्रणेता विज्ञान-दूत—अक्षरशः 'पूर्व के जादूगर'! बल्कि विज्ञान की डोर पकड़कर परम तत्त्व की खोज लगाने में समर्थ एक बेजोड़ तत्त्ववेत्ता और क्रान्तदर्शी ऋषि वह थे, जिनका अंतस्तल 'अणोरणीयान् महतो महीयान्' जैसे श्रुतिवाक्यों द्वारा निर्दिष्ट निखिल ब्रह्म के विराट् और वामन रूपों में निहित 'सच्चिदानन्द' तत्त्व की अमृत झाँकी पाने को निरन्तर आतुर था! तभी तो इस युग की अन्य एक विज्ञान-विभूति आइन्स्टाइन ने ऑक्सफ़ोर्ड में उनकी एक वक्तृता सुनकर वर्षों पूर्व ही गंभीर वाणी में यह उद्घोषित किया था कि 'संसार को चाहिए कि राष्ट्र-संघ की राजधानी में इस महापुरुष की एक प्रतिमा प्रस्थापित कर अपने आपको गौरवान्वित करे!' और तभी कवि-सम्राट् रवीन्द्रनाथ ने भी अपनी सर्वश्रेष्ठ काव्यकृति 'खेया' को उन्हें ही समर्पित करने में परम गौरव एवं आत्म-तुष्टि का अनुभव किया था!

'हमें अब भी कौन-सी नवीन वस्तु प्राप्त करना है ? प्रेम, क्योंकि अभी तक तो केवल द्वेष और आत्म-तुष्टि की भावना ही की उपलब्धि हम कर पाए हैं; ज्ञान, क्योंकि अब तक तो केवल विडम्बना, बाह्यावलोकन और तर्क-वितर्क ही हमारे हाथ लगा है; आनन्द, क्योंकि अब तक हम जो कुछ पा सके हैं वह निरे सुख-दुःख अथवा उदासीन भाव ही तक सीमित है; शक्ति, क्योंकि अभी तो असमर्थता, अनवरत श्रम और पराजित विजय ही हम प्राप्त कर पाए हैं; जीवन क्योंकि अब भी हम जन्म, वृद्धि और मरण के विषम चक्र ही में बद्ध हैं; और ऐक्य, क्योंकि अभी तक तो युद्ध तथा गुटबन्दी ही की संप्राप्ति हमें हुई है ! सूत्र रूप में कहा जाय तो अब भी हमारे लिए श्री भगवान् को पाना शेष है और हमें उनकी दिव्य प्रतिमा के अनुरूप फिर से अपने आपको गढ़ना है !'—ऋषियों के-से इन उदात्त वाक्यों में अपने ध्रुव आदर्श की रूपरेखा अंकित कर पिछले लगभग चालीस वर्षों से एकान्त साधना में लीन योगिराज अरविन्द घोष निश्चय ही आधुनिक भारत की एक अन्यतम विभूति हैं ! वह हैं गांधीजी और रवीन्द्रनाथ के समकक्ष के इस युग के ऐसे एक असामान्य महापुरुष, जो देश-काल की सीमाओं को लाँघकर सारे संसार की सम्पत्ति बन गए हैं और जिनका दूरव्यापी प्रभाव न केवल इस महान् राष्ट्र ही की इतिहासधारा पर प्रत्युत निखिल मानवता की भावी गतिविधि पर पड़ना अवश्यंभावी है ! वह हैं संसार के इतिहास में अपने

अरविन्द घोष

ढंग के एक बिल्कुल ही अनूठे अनुष्ठान—एक असाधारण अद्भुत प्रयोग—की सिद्धि के प्रयास में जुटे हुए विश्व-कल्याण के एक अनोखे यजेता, जिनका ध्येय है आध्यात्मिक कायाकल्प द्वारा एक ऐसे नूतन मानव की रचना, जो कि यथार्थ प्रेम, ज्ञान, आनन्द, शक्ति, जीवन और ऐक्य का वरदान पा जरा-वृद्धि-मरण, सुख-दुःख-उदासीनता तथा द्वन्द्व और संघर्ष के बंधनों से सर्वथा मुक्त हो चुका हो एवं सूत्र रूप में जिसमें स्वतः सृष्टि-कर्त्ता परमात्मा ही की दिव्याकृति प्रतिबिम्बवत् स्पष्टतः निखर आई हो ! निश्चय ही उनका यह प्रयत्न हमारे पुराणप्रसिद्ध ऋषि विश्वामित्र के नवसृष्टि-विषयक प्रयोग से भी अधिक जादूभरा एक प्रयास है, क्योंकि जहाँ राजर्षि विश्वामित्र तो केवल प्रकृति को चुनौती देकर निसर्ग से एक स्तर नीचे की रचना करने के

लिए ही अग्रसर हुए थे, वहाँ हमारा आज का यह दूसरा जादूगर तो प्रकृति की सीमा से सर्वथा ऊपर उठकर स्वतः सृष्टिकर्त्ता परमेश्वर ही के साथ मानों होड़ बदनेवाले एक नित्यमुक्त सर्वाङ्गसम्पूर्ण निर्विकार मानव के विकास का बीड़ा उठा मैदान में उतरा है—वह तो ताल ठोंककर सामने आया है निसर्ग और निसर्गकर्त्ता दोनों के बीच के व्यवधान को मिटा देश और काल का सारा क्रम ही मानों उलट-पलट देने के लिए! और उसका यह प्रयास एक महान् प्रयास है, इसे भला कौन अस्वीकार कर सकता है, यद्यपि अभी निश्चयपूर्वक यह कोई भी नहीं बता सकता कि इस प्रयत्न की संपूर्ण सिद्धि में कितना समय लगेगा तथा इस अनुष्ठान के कर्त्ता को स्वयं अपने जीवनकाल में उसका सुफल देखने का सुयोग मिल भी पाएगा कि नहीं।

उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध-काल के उन्हीं चिर-स्मरणीय दिनों में, जब कि हमारे आधुनिक इतिहास की नींव स्थापित करनेवाले अधिकतर राष्ट्रनायक मातृभूमि की गोद में पहलेपहल आए थे, श्री अरविन्द ने भी अपना यह लौकिक शरीर धारण किया था—वह १५ अगस्त, सन् १८७२ ई०, के दिन कलकत्ते के एक नई रोशनी के शिक्षित बंगाली परिवार में पैदा हुए और सन् १८७९ ई० में, सात वर्ष की छोटी-सी उम्र ही में अपने अन्य दो भाइयों के साथ विद्याध्ययन के लिए इंगलैण्ड भेज दिए गए, जहाँ इसके बाद अपने आरंभिक जीवन के लगभग चौदह वर्ष उन्होंने बिताए। इस अवधि में कुछ समय तक तो मैंचेस्टर के एक अंग्रेज़ परिवार में टिककर और तदुपरान्त सन् १८८५ ई० में लंदन के प्रसिद्ध 'सेण्ट पॉल्स स्कूल' में प्रविष्ट होकर उन्होंने शुरू-शुरू की अपनी शिक्षा ग्रहण की। तब एक उच्च छात्रवृत्ति पा दो वर्ष कैम्ब्रिज के प्रख्यात 'किंग्ज़ कालेज' में उन्होंने बिताए, जहाँ से यूनिवर्सिटी की 'ट्राइपॉस' डिग्री लेने के अतिरिक्त साथ ही साथ 'आई० सी० एस०' की भी परीक्षा उन्होंने ससम्मान पास कर ली; यद्यपि बाद में घुड़सवारी के इम्तिहान में सम्मिलित न हो पाने के कारण सरकारी नौकरी से वह वंचित रह गए! तभी सुयोग से बड़ौदा-नरेश स्व० सर सयाजीराव गायकवाड़ के संपर्क में वह आए, जो कि उन दिनों लंदन में थे, और उनके अनुरोध से राज्य का एक उच्च पद स्वीकार कर फरवरी, सन् १८९३ ई०, में वापस स्वदेश लौटे, जिसके बाद सन् १९०६ ई० तक लगभग तेरह वर्ष उन्होंने बड़ौदा में ही बिताए—पहले राजस्व-विभाग तथा सेक्रेटेरियट के एक उच्च पदाधिकारी के रूप में तथा उसके उपरान्त स्थानीय 'बड़ौदा-कॉलेज' के अंग्रेज़ी के प्रोफ़ेसर एवं वाइस-प्रिंसिपल के पद पर काम करते हुए! इस बीच राजकाज के अलावा अपने अवकाश का सारा समय देश की प्राचीन एवं अर्वाचीन संस्कृति और विचारधारा के अध्ययन-अनुशीलन में उन्होंने लगाया, जिससे कि विलायत की शत प्रति-शत विजातीय शिक्षा-दीक्षा के कारण अब तक एकदम अपरिचित वह बने हुए थे! इसके पहले अंग्रेज़ी, फ्रेञ्च, जर्मन, ग्रीक, लैटिन, इटैलियन आदि योरपीयन भाषाओं पर तो पूर्ण रूप से वह अधिकार प्राप्त कर चुके थे ही—तदुपरान्त बड़ौदा के अपने इन अध्ययन-अनुशीलन के दिनों में क्रमशः बँगला, संस्कृत, गुजराती, हिन्दी, मराठी, आदि भारतीय भाषाओं की भी पूरी जानकारी पाकर अपने देश के विशद वाङ्मय की यथार्थ कुंजी उन्होंने प्राप्त कर ली, जिससे कि वेदों, उपनिषदों, और दर्शनों से लेकर मध्ययुगीन संत-साहित्य तक भारतीय विचार-स्रोतस्विनी के चढ़ाव-उतार का विधिवत् सूक्ष्म अध्ययन करने में वह सफल हो सके और फलतः उनका दृष्टिकोण बहुत ही उदात्त बन गया! कहते हैं, इन्हीं दिनों उन्होंने अपनी काव्य-रचना का भी शुभारंभ किया और आगे चलकर अंग्रेज़ी में उनकी जो कविताएँ प्रकाशित हुईं, उनमें से बहुतेरी इसी युग में उन्होंने लिखीं!

तब समसामयिक राष्ट्रीय धारा-प्रवाह से प्रभावित हो, पहले नेपथ्य की ओट में रहते हुए ही, राजनीतिक कार्यों में भी उन्होंने गहरी दिलचस्पी लेना शुरू किया, जिसका कि चरमोत्कर्ष अंततोगत्वा बंगभंग-विरोधी आन्दोलन के उन युगान्तरकारी दिनों में प्रकट हुआ, जब कि विदेशी सत्ता के ख़िलाफ़ इस देश के पहलेपहल सीना तानकर मैदान में उतरते ही बड़ौदा की अपनी नौकरी छोड़ एवं 'गरम' पक्ष के एक प्रमुख नेता के रूप में खुले आम प्रकट हो, कलकत्ते से 'वंदेमातरम्' नामक एक इति-

हास-प्रसिद्ध उग्र राष्ट्रीय दैनिक अपने संपादन में उन्होंने निकालना आरंभ किया! इसके अलावा कुछ समय तक 'बंगाल नेशनल कॉलेज' के प्रिंसिपल का उत्तरदायित्व भी उन्होंने सँभाला। तब तक तो वह बन गए ऐसे सर्वमान्य नेता कि सूरत के तूफ़ानी अधिवेशन के अवसर पर नरम-गरम दलों के संघर्ष के तूल पकड़ने पर जब माडरेटों द्वारा हथियाई गई कांग्रेस से जुदा हो उग्र राष्ट्रीय पक्ष का अलग से एक सम्मेलन किया गया तो उन्हें ही उसके सभापति का आसन प्रदान किया गया! तो फिर अधिक काल तक सरकार के कोपभाजन बने बिना भी क्योंकर वह रह सकते थे? अतः जैसा कि देशबन्धु दास के चरित्र-चित्रण के क्रम में प्रसंगवश विस्तारपूर्वक बताया जा चुका है, सन् १९०८ ई० में इतिहास-प्रसिद्ध 'मानिकतल्ला-षड्यंत्र-केस' में उन्हें भी अभियुक्तों की पंक्ति में ला खड़ा कर जली-भुनी नौकरशाही ने उन पर अपना दमन-चक्र चलाने का एक दुष्ट प्रयास किया, यद्यपि देशबन्धु की योग्यता की बदौलत आख़िर सरकार की दाल न गल सकी और वर्ष भर तक हिरासत में रखने के बाद अन्ततः एकदम निरपराधी क़रार दे उसे उन्हें मुक्त कर देना पड़ा! इसके पहले, सन् १९०७ ई० में, राजद्रोह के अभियोग में एक बार और उन्हें अपने चंगुल में फँसाने का विफल प्रयत्न वह कर चुकी थी। इन मुक़दमों के कारण हमारे चरितनायक की लोकप्रियता दूनी-चौगुनी बढ़ गई और सन् १९०९ ई० में 'कर्मयोगिन्' तथा 'धर्म' नामक दो नए साप्ताहिक निकालकर उन्होंने ज़ोरों के साथ उस पृष्ठभूमि को तैयार करना शुरू किया, जिसे कि मुक्ति का सक्रिय अनुष्ठान आरंभ करने से पूर्व तैयार करना नितान्त आवश्यक था! परंतु अंततः उन्हें यह बात जँचने लगी कि अभी देश में विराट् रूप से सक्रिय अन्दोलन शुरू करने का समय नहीं आ पाया था! परिणामतः राजनीति के क्षेत्र से अलग हटकर एकान्तभाव से केवल आध्यात्मिक साधना में अपने आपको लगा देने को वह कटिबद्ध हो गए, जिसकी कि प्रेरणा पिछले कई वर्षों से प्रबल रूप से उनके मन में उठ रही थी! इस प्रकार फरवरी, सन् १९१० ई०, में जनक्षेत्र से हटकर चंद्रनगर के फ्रेञ्च इलाक़े में एक एकान्त स्थान में वह चले गए, जहाँ से दो महीने बाद समुद्र-मार्ग से वह आ पहुँचे पांडिचेरी, जो कि इसके बाद से उनकी तपस्या का प्रधान केन्द्रस्थल हो गया!

इस बीच एक लेख के आधार पर भारत-सरकार ने पुनः उन पर मामला चलाने की एक कोशिश की। पर यह आरोप भी आख़िर झूठा साबित हुआ! यह थी हमारे चरितनायक के राजनीतिक जीवन की अंतिम कड़ी, जिसके साथ उनके चरित्र के उस पूर्वार्द्धकाल की समाप्ति हो जाती है, जिसे हमारे राष्ट्रीय इतिवृत्त में काफ़ी महत्त्व का स्थान प्राप्त होने पर भी उनके अपने जीवन-नाटक में गौण पद ही प्राप्त है। क्योंकि उनकी कीर्त्ति-पताका का यथार्थ ध्वजदण्ड तो है वस्तुतः लगभग अर्द्ध-शताब्दिव्यापी आध्यात्मिक साधना से ओतप्रोत उनके जीवन का वह ज्वलन्त उत्तरार्द्धकाल ही, जिसमें कि एक महान् योगी, कवि एवं विचारक के रूप में उनका दिव्य व्यक्तित्व निखरकर क्रमशः संसार के आँगन में जगमगाया! तो फिर आइए, अब उनके जीवन की लौकिक भूमिका से ऊपर उठकर उनके उस आध्यात्मिक स्वरूप का ही दिग्दर्शन करने का यत्न करें। इस सम्बन्ध में सबसे पहले उनकी उन महान् रचनाओं का संक्षेप में उल्लेख कर देना अप्रासंगिक न होगा, जोकि उनके विचारों की अमर थाती को अपने कलेवर में बसाकर इस दीर्घ कालावधि में क्रमशः सामने आई हैं। इनमें तिथिक्रम की दृष्टि से प्रथम स्थान निस्संदेह 'आर्य' नामक उस अंग्रेज़ी मासिक पत्र का है, जिसे कि सन् १९१४ ई० में पांडिचेरी से उन्होंने प्रकाशित करना शुरू किया था और जिसमें उनकी अनेक महत्त्वपूर्ण कृतियाँ—यथा, 'ईशोपनिषद्', 'सिन्थेसिस ऑफ़ योग', 'एसेज़ ऑन दी गीता', 'लाइफ़ डिवाइन', आदि—धारावाहिक रूप से पहलेपहल निकली थीं। इन्हीं दिनों उनकी कविताओं का भी एक संग्रह पहलेपहल प्रकाशित हुआ था, जिनमें कि उनकी असाधारण प्रतिभा एवं क्रान्तदर्शिता का सबसे उज्ज्वल रूप मुखरित हुआ था। इसके अतिरिक्त 'भारतीय सभ्यता और संस्कृति का स्वरूप एवं महत्त्व', 'वेद का वास्तविक अभिप्राय', 'भावी कविता', 'मानव समाज की प्रगति-विषयक मनोविज्ञान', 'काव्य का स्वरूप और विकास', 'मनुष्य-जाति के एकीकरण की

संभावना', आदि विषयों पर उनकी और भी कई एक कृतियाँ इसके बाद क्रमशः निकलीं, जिन्होंने एक महान् विचारक, तत्त्ववेत्ता, दार्शनिक, आलोचक एवं ज्ञान-साधक के रूप में उनकी गहरी प्रतिष्ठा देश-विदेश में जमा दी। इस बीच कई बार नेताओं द्वारा राजनीति के आँगन में फिर से उतरकर कांग्रेस का अध्यक्षपद स्वीकार करने के लिए उनसे अनुरोध किया गया। किन्तु जबसे वह पांडिचेरी आए तब से फिर वहाँ से हटे ही नहीं, यहाँ तक कि लगभग बीस वर्ष तक अपने निवासस्थान तक से बाहर वह नहीं निकले! कहते हैं, १९१० ई० में पहली बार पांडिचेरी में जब वह आए थे, तब अपने तीन प्रधान ध्येय वह गिनाया करते थे, जिन्हें अपने 'तीन पागलपन' कहकर वह पुकारते थे! ये ध्येय थे—'मातृभूमि के चरणों में संपूर्णतया आत्मसमर्पण', 'स्वदेश की बन्धन-मुक्ति', और 'परमेश्वर का साक्षात्कार!' पर बहुत शीघ्र उनके ये 'तीन पागलपन' एक ही परमोच्च ध्येय 'भगवत्प्राप्ति' की विराट् साधना में घुलमिल गए और वर्षों की तपस्या के उपरान्त, अंत में २४ नवंबर, सन् १९२६ ई०, के दिन अपनी चिरवांछित सिद्धि की प्राप्ति उन्हें हो गई—वह परम चेतन का साक्षात्कार करने में पूर्ण सफलीभूत हो गए! तब तक उनके आस-पास मुमुक्षु साधकों की एक टोली भी जुट चुकी थी, जोकि कालान्तर में उस प्रख्यात आध्यात्मिक केन्द्र के रूप में विकसित हो गई, जिसे आज 'अरविन्दाश्रम' के नाम से हम पहचानते हैं। इन मुक्तिसाधक अंतेवासियों में एक फ्रेंच महिला का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है, जोकि अब 'माताजी' के नाम से संबोधित की जाती हैं। यही महिला आश्रम की संचालिका हैं, कारण श्री अरविन्द तो न किसी से मिलते, न वार्तालाप ही करते हैं—वह तो इतने अधिक एकान्तवासी हैं कि वर्ष में तीन विशिष्ट दिनों को छोड़कर किसी को दर्शन ही नहीं देते!

किन्तु इस प्रकार बाह्य संसार से सर्वथा दूर हटकर भी वह अपनी दिव्य विचार-रश्मियों द्वारा अज्ञानांधकार में आवृत्त मानव के हेतु सच्ची आशा और योग-क्षेम का मार्ग आलोकित करने के पुण्य-प्रयास ही में सतत संलग्न हैं! वह पिछले लगभग चालीस वर्षों से एक ही स्थल पर समाधिस्थ हो जुटे हुए हैं दृश्य जगत् के दो विरोधी पहलुओं—चेतन और जड़ तत्त्व—के भेद को मिटाने और परम ज्योतिर्मय सच्चिदानन्दस्वरूप परात्परा चेतन-शक्ति के साथ एकात्म्य-सिद्धि द्वारा मानवीय मन, बुद्धि, देह, प्राण का वह दिव्य रूपान्तरीकरण करने में ही, जिसका कि गूढ़ भेद अपनी उस महान् कृति 'दिव्य जीवन' ('दी लाइफ़ डिवाइन') में उन्होंने स्पष्ट कर दिया है, जो सर फ्रान्सिस यंगहसबैंड के कथनानुसार 'इस पीढ़ी की सबसे महान् पुस्तक' कही जा सकती है! इसका कारण उनका यह ध्रुव विश्वास है कि मनुष्य अवश्यमेव एक दिन आज से कहीं उच्च रूप ग्रहण करेगा और उसके विकास का क्रम धीरे-धीरे निश्चित रूप से आज की अपूर्णताओं से उसे मुक्त कर चिदानन्द की स्थिति तक ऊपर उठा देगा! वह दिव्य रूपान्तर की अवस्था कैसी होगी, इसका कुछ आभास 'सावित्री' नामक उनकी प्रसिद्ध कविता की निम्न पंक्तियों में हम पाते हैं—'हृदय इतना स्वच्छ होगा कि अनेक छल-कपटों से भी वह छला नहीं जायगा! अभिलाषाएँ अन्तरात्मा की वाणी से प्रस्फुटित होंगी! शक्ति अपनी द्रुत गति से लड़खड़ाएगी नहीं! आनन्द ऐसा होगा कि जो अपनी छाया से खिन्न न होगा!'

क्या यह स्वप्न सचमुच ही कभी मूर्त्त बन सकेगा? क्या सच ही अपनी अपूर्णताओं को मिटाकर तथा बुराई की केंचुली उतारकर मनुष्य कभी देवत्व की उस ऊँचाई तक ऊपर उठ सकेगा? अभी कौन निश्चयपूर्वक इन प्रश्नों का सही उत्तर दे सकता है! परन्तु कितने पुण्यानुष्ठान इतिहास में ऐसे न हुए होंगे, जिनका कि सुफल अंततः शताब्दियों नहीं बल्कि सहस्राब्दियों बाद प्रकट हुआ? विशेषकर विचारों के क्षेत्र में तो प्रायः ऐसा हुआ है कि कोई महापुरुष आकर बीज बो गया, जिनसे कि कालान्तर में एक ऐसा विशाल विटप उठ खड़ा हुआ कि सदियों तक मानवता ने उसकी छाँह में आश्रय पाया! तो फिर क्या आश्चर्य कि योगिवर अरविन्द का प्रयास भी ऐसा ही एक दीर्घफलदायी पुण्यानुष्ठान प्रमाणित हो और राजर्षि भगीरथ की भाँति जिस गगन-गंगा को भूतल पर लाने के लिए आज वह अपने आपको मथ रहे हैं, वह इस धरती पर प्रकट हो भावी युगों की मुक्ति-मंदाकिनी बन जाय?

सर्वपल्ली राधाकृष्णन्

दार्शनिक मनन-चिन्तन तो भारतवर्ष का मानो जन्मसिद्ध पैतृक अधिकार-सा रहा है ! सुदूर वैदिक काल से लेकर आज के युग तक गंगा के अटूट प्रवाह की भाँति इस देश की तत्त्व-विचारधारा विविध प्रणालियों में बँट जाने पर भी एक ही तारतम्य में अक्षुण्ण अविरल भाव से निरन्तर प्रवाहित होती रही है; वह कभी भी सूखकर एकदम विलुप्त होते नहीं देखी गई—यहाँ तक कि आज के इस कोलाहलमय यंत्र-युग में भी उसका मंगलप्रद धाराप्रवाह ज्यों-का-त्यों अपने कल्याण-संदेश का कलकल स्वर निनादित करता हुआ संतत जारी है, जिसके कि मूर्त्तिमान् प्रमाण के रूप में महान् दर्शनाचार्य डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्णन् का नाम गिना देना ही पर्याप्त होगा ! डॉ० राधाकृष्णन् हैं इस देश की उस अनमोल ज्ञान-निधि के युग-प्रहरी, जिसकी कि थाती 'नासदीय सूक्त' जैसी क्रान्त-दर्शी मंत्रोद्घोषणाओं के उद्गाता वैदिक ऋषियों, आत्मवाद के गहन तत्त्व के विज्ञाता याज्ञवल्क्य आदि औपनिषदिक चिन्तकों, गीता के शाश्वत् संदेश के जनेता श्रीकृष्ण एवं वेद-व्यास जैसे जगद्शिक्षकों, षड्दर्शनों की अद्भुत ज्ञान-राशि के प्रणेता कपिल-गौतम-कणाद-पतंजलि-बादरायण व्यास, प्रभृति तत्त्ववादियों तथा महावीर-बुद्ध-नागार्जुन-शंकर-वल्लभ-रामानुज-मध्व-कबीर-नानक-चैतन्य-तुलसी-दादू-रामकृष्ण-विवेकानन्द-रवीन्द्रनाथ-गांधी-अरविन्द घोष, आदि महान् संत-साधकों की उस अजरामर परंपरा के रूप में हमें मिली है, जिसे लाक्षणिक शब्दावली में हम अपने जातीय मेरुदण्ड के भीतर प्राणधारा जगाए रखनेवाली सांस्कृतिक सुषुम्ना की संज्ञा प्रदान कर सकते हैं ! इस प्रकार इस महादेश के सांस्कृतिक संविधान में हाथ बँटानेवाली विशिष्ट विभूतियों में दर्शन और तत्त्वज्ञान के इस आधुनिक पंडित का भी अपना एक विशिष्ट गौरवपूर्ण स्थान है—वह है विवेकानन्द और रामतीर्थ के बाद इस देश की ज्ञान की मशाल को प्रदीप्त रखने तथा समुद्र-पार के देशान्तरों में उसकी ज्योति पुनर्प्रकाशित करने में विशेष योग देनेवाला अध्यात्म-क्षेत्र का इस युग का हमारा एक महान् दूत, जिसने पश्चिम को पूर्व की नैतिक कमाई का मूल्य जताकर तथा जड़वाद की राह पर लुढ़कते चले जा रहे संसार को सर्वनाश के अतल गर्त्त की ओर से सचेत करने में प्रमुख रूप से हाथ बँटाकर न केवल अपनी मातृभूमि ही की यशोराशि का विस्तार किया है, प्रत्युत निखिल मानवता की सेवा की है ! उसने आज के इस घोर नास्तिकवादी वातावरण में मानव आत्मा की महत्ता, गुरुता एवं अनुल्लंघनीय पवित्रता के प्रति फिर से आस्था और विश्वास का भाव पैदा करने में अपनी शक्तियों का प्रयोग कर, यंत्रों के प्राण-

हारी शिकंजे में कसते जा रहे संसार को नई आशा दिलाई है और मानव व्यक्तित्व की स्वातंत्र्य-चेतना को कुंठित कर देनेवाली पश्चिम की युद्ध-संघर्ष-मूलक वर्ग-व्यवस्था के मुक़ाबले में 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की संघर्षहीन विश्व-बोध की भावना से अभिसिंचित औपनिषदिक 'आत्मवाद' की चुनौती प्रस्तुत कर, उस कल्याण-यज्ञ की ज्योति जगाए रखने में अमूल्य योग दिया है, जिसमें कि भारत की अंतरात्मा शताब्दियों से तल्लीन रही है तथा जिसके युग-पुरोहित के रूप में हमारा वह आधुनिक दधीचि—गांधी—अभी-अभी अपनी अस्थियों का दान दे संसार को कभी भी न भूलनेवाला एक महापाठ पढ़ा गया है ! अतः यह सर्वथा उपयुक्त ही है कि अपनी संस्कृति के निर्माण और विकास के पुनीत अनुष्ठान में हाथ बँटानेवाले प्रतिनिधि लोकनायकों के विगत सात-आठ सहस्राब्दियों के इस सांकेतिक आलेख को इस महान् ज्ञान-दूत ही के चरित्र-चित्रण के साथ हम समाप्त करें; क्योंकि समसामयिक राजनीतिक, आर्थिक एवं सामाजिक हलचलों के तुमुल कोलाहल में दब-सा जाने पर भी इस महादेश की आत्मा का यथार्थ स्पन्दन-स्वर तो रहा है वह महान् ज्ञान का संदेश ही, जो कि हमारी चिरजीवी संपत्ति है और है भविष्य की पीढ़ियों के लिए संचित हमारी सबसे अनमोल देन !

तो फिर आइए, पहले संक्षेप में इस महापुरुष की जीवन-तालिका की मुख्य-मुख्य कड़ियों की तिथिक्रमानुसार एक रूपरेखा यहाँ प्रत्याङ्कित कर दें और तदुपरान्त ज्ञान-क्षेत्र की उसकी उस गौरवपूर्ण साधना की चर्चा करें, जो कि वस्तुतः उसके लौकिक जीवन से कहीं अधिक महत्त्व की वस्तु हमारे लिए है :—

५ सितम्बर, सन् १८८८ ई०, के दिन दक्षिण भारत के तिरुत्तनी नामक तीर्थस्थान में सामान्य स्थिति के एक ब्राह्मण-परिवार में आपका जन्म हुआ। बचपन ही से एकान्तवासी प्रवृत्ति के होने के कारण मनन-चिन्तन और ग्रंथानुशीलन के प्रति आपके हृदय में प्रगाढ़ अनुराग का बीजारोपण हो गया। फलतः अपने गाँव की पाठशाला तथा क्रिश्चियन मिशन स्कूल में आरंभिक शिक्षा प्राप्त करने के उपरान्त, मद्रास के क्रिश्चियन कॉलेज में प्रविष्ट हो, युनिवर्सिटी भर में सर्वोच्च स्थान पाने के अन्यतम गौरव सहित जहाँ एक ओर बी० ए० तथा एम० ए० की उपाधियाँ आपने प्राप्त कीं, वहाँ साथ ही साथ ईसाई पादरियों और संप्रदायवादी कुप्रचारकों के मुख से निरन्तर हिन्दू धर्म एवं संस्कृति के विषय में अनेक ग़लतफ़हमी फैलानेवाली अतिरंजित आलोचनाएँ सुनकर, वस्तुस्थिति की जाँच तथा सत्य-वस्तु की खोज करने के उद्देश्य से अपने देश की महान् धार्मिक, आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक निधि की गंभीर छान-बीन भी आपने कर डाली ! इसी अध्ययन-अनुशीलन के सुफल के रूप में अंततः सन् १९०८ ई० में 'एथिक्स ऑफ वेदान्त' (अर्थात् वेदान्त की नैतिक भूमिका) शीर्षक आपका सर्वप्रथम महत्त्वपूर्ण निबन्ध प्रकाश में आया, जिसने कि देश-विदेश के विद्वानों का ध्यान आपके प्रति आकृष्ट किया ! तब पहले-पहल मद्रास के प्रेसीडेन्सी कॉलेज में दर्शन के असिस्टैण्ट प्रोफ़ेसर के पद पर नियुक्त होकर तथा उसके बाद मैसूर-विश्वविद्यालय में उसी विषय की प्रोफ़ेसरशिप ग्रहण कर अपने जीवनव्यापी शिक्षण-कार्य का श्रीगणेश आपने किया और इसी अवधि में विश्वकवि रवीन्द्रनाथ की कृतियों का मार्मिक अध्ययन कर उनकी दार्शनिक विचारधारा के संबंध में अपनी प्रख्यात पुस्तक—'दी फ़िलासफ़ी ऑफ रवीन्द्रनाथ टैगोर'—की रचना आपने की, जिससे दर्शन-क्षेत्र के उच्च समीक्षक एवं अंग्रेज़ी के एक प्रकाण्ड लेखक के रूप में शिक्षित संसार में आपकी गहरी धाक जम गई ! इसके बाद तो आपकी ख्याति दिन-पर-दिन बढ़ती चली गई और देश-विदेश की गण्यमान्य पत्र-पत्रिकाओं में आपके लेख ससम्मान प्रकाशित किए जाने लगे। तब सन् १९२० ई० में 'दी रेन ऑफ़ रिलीजन इन कान्टेम्परेरी फ़िलासफ़ी' (अर्थात् सामयिक दर्शन के क्षेत्र में धर्म का प्रभाव) नामक दार्शनिक समीक्षा-विषयक आपकी मशहूर कृति प्रकाशित हुई, जिसने म्योरहेड, मैकेन्ज़ी और मैक्टेगार्ट जैसे प्रथम कोटि के पाश्चात्य तत्त्ववादियों का ध्यान खींचकर योरप-अमेरिका में आपकी ऐसी प्रतिष्ठा जमा दी कि उस वर्ष की अमेरिकन फ़िलासाफ़िकल कांग्रेस के अध्यक्ष ने अपने संभाषण के लिए जो विषय चुना, वह था 'राधाकृष्णन् और बोभाएकेट का आत्मवाद!' इसके दूसरे वर्ष

ही की बात है कि सर ब्रजेन्द्रनाथ सील द्वारा रिक्त तत्त्वविज्ञान की प्रख्यात 'किंग जार्ज प्रोफ़ेसरशिप' के पद पर नियुक्त हो मैसूर से कलकत्ता-विश्वविद्यालय में आप चले गए, जिसके बाद इंगलैंड के प्रख्यात दार्शनिक प्रो० म्योरहेड के अनुरोध से भारतीय दर्शन पर दो भागों में नियोजित अपनी उस युगान्तरकारी विश्वविख्यात रचना 'इंडियन फ़िलासफ़ी' का निर्माण आपने किया, जिसमें ऋग्वेद से लेकर आधुनिक काल तक की हमारी विशद ज्ञान-साधना का एक ही धारा-प्रवाह में गंभीर विवेचनात्मक परिचय प्रस्तुत करके तथा वेदों, षड्दर्शनों, बौद्ध-जैन विचारकों एवं शंकर-रामानुज-वल्लभ जैसे वेदान्ताचार्यों की गूढ़ तत्त्वचिन्तना की वैज्ञानिक पद्धति से अंग्रेज़ी में व्याख्या करके संसार भर के जिज्ञासुओं के लिए भारतीय ज्ञान-निधि का लाभ उठाने का एक सहज साधन आपने सुलभ कर दिया।

तब सन् १९२६ ई० में कैम्ब्रिज में आयोजित ब्रिटिश साम्राज्य के विश्वविद्यालय-सम्मेलन में भारत का प्रतिनिधित्व करने के हेतु आपने अपनी सर्वप्रथम विलायत-यात्रा की, और कई महत्त्वपूर्ण भाषणों के अतिरिक्त ऑक्सफ़ोर्ड में 'हिन्दू व्यू ऑफ़ लाइफ़' (अर्थात् जीवन का हिन्दू दृष्टिकोण) शीर्षक अपना वह मशहूर 'अप्टन-व्याख्यान' आपने दिया, जोकि बाद में अलग से पुस्तकाकार भी प्रकाशित हो गया! तदनन्तर 'अंतर्राष्ट्रीय दर्शन-कांग्रेस' में सम्मिलित होने के लिए इंगलैंड से आप अमेरिका पहुँचे, जहाँ के प्रमुख विश्वविद्यालयों में अनेक ओजस्वी भाषण देकर विवेकानन्द-रामतीर्थ जैसे अपने देश के महान् पूर्वगामी ज्ञानदूतों की स्मृति को आपने उस महाद्वीप में मानों फिर से ताज़ा कर दिया! इसके शीघ्र ही बाद 'कल्कि या सभ्यता का भविष्य' नामक अपनी वह प्रसिद्ध पुस्तिका आपने प्रकाशित कराई, जिसमें आधुनिक विज्ञान के उपहारों की चर्चा करते हुए बड़े सुंदर ढंग से इस बात की ओर आपने संसार का ध्यान दिलाया कि भौतिक सुख की दृष्टि से आज का मनुष्य चाहे अपने पूर्वजों की अपेक्षा कहीं अधिक आराम में रहता दिखाई देता हो, किन्तु उसकी आत्मा अपना यथेष्ट आहार नहीं पा रही है और वह सच्ची शांति से सर्वथा वंचित है! इस यात्रा से वापस स्वदेश लौटने पर आन्ध्र-विश्वविद्यालय ने डी० लिट्० की उपाधि प्रदान कर आपको सम्मानित किया, जिसके उपरान्त ऑक्सफ़ोर्ड के मेञ्चेस्टर-कॉलेज में तुलनात्मक धर्म के प्रोफ़ेसर का पद ग्रहण करने का आमंत्रण पा पुनः आपको विलायत जाना पड़ा, जहाँ इस बार लंदन और मेञ्चेस्टर में प्रसिद्ध हिबर्ट-व्याख्यान देने का अन्यतम गौरव आपने प्राप्त किया। यही व्याख्यानमाला बाद में 'दी आइडियलिस्ट व्यू ऑफ़ लाइफ़' (अर्थात् जीवन का आत्मवादी दृष्टिकोण) के नाम से एक पृथक् पुस्तक के रूप में प्रकाशित हुई। इस समय तक आपका व्यक्तित्व एक अंतर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व बन चुका था और देश-विदेश के विद्वानों द्वारा युग के एक महान् तत्त्ववेत्ता विचारक के रूप में आपकी नीराजना की जाने लगी थी। तभी सरकार ने भी 'सर' की उपाधि प्रदान कर आपको सम्मानित किया और एक ओर कलकत्ता-विश्वविद्यालय द्वारा जीवन भर के लिए किंग जार्ज प्रोफ़ेसरशिप स्वीकार करने तथा दूसरी ओर आन्ध्र-विश्वविद्यालय द्वारा उसके वाइस-चांसलर का भार ग्रहण करने के लिए आपसे साग्रह अनुरोध किया गया, जोकि सहर्ष आपने स्वीकार कर लिया। इसी ज़माने की बात है कि लीग ऑफ़ नेशन्स द्वारा नियुक्त बौद्धिक सहयोग विषयक अंतर्राष्ट्रीय समिति के सदस्य आप चुने गए और इसके शीघ्र ही बाद, सन् १९३६ ई० में, पुनः ऑक्सफ़ोर्ड में पूर्वीय धर्म तथा नीतिशास्त्र की स्पैलिंग प्रोफ़ेसरशिप स्वीकार करने का आमंत्रण पा आंध्र-विश्वविद्यालय से विदा हो कुछ समय के लिए आप विलायत पहुँचे, जहाँ पर इन्हीं दिनों दिए गए आपके संभाषणों का एक संग्रह कालान्तर में 'ईस्टर्न रिलिजन्स एण्ड वेस्टर्न थॉट' (पूर्वीय धर्म और पाश्चात्य विचारधारा) के नाम से प्रकाशित हुआ। इस पुस्तक से पश्चिम के विद्वद्समाज पर जो गंभीर प्रभाव पड़ा, उसका कुछ अनुमान उन उद्गारों द्वारा लगाया सकता है, जो कि उसके प्रकाशित होते ही विलायत के गण्यमान्य विचारकों एवं पत्र-पत्रिकाओं द्वारा प्रकट किए गए थे! कहते हैं, एक पत्र ने तो यहाँ तक कहा था कि 'इस कृति के रूप में इस महान् विचारक ने विश्व-धर्म की भावना के पृष्ठपोषण के लिए मानों एक इंजिल या धर्मशास्त्र-सा

प्रस्तुत कर दिया है!' और दूसरे एक विद्वान् ने उसी स्वर में उद्घोषित किया था कि 'अच्छा हो कि हममें से अधिकतर लोग अपनी सभी पुस्तकों को बेच डालें और बदले में यही एक अमूल्य ग्रन्थ ख़रीद लें, क्योंकि युग-युग से मनुष्य ने सत्य की खोज के प्रयास में जो स्वर्ण-निधि पाई है, उसकी यह एक पथप्रदर्शिका-सी है!' इसी अवधि में प्रसिद्ध ब्रिटिश एकेडेमी के समक्ष 'गौतम बुद्ध' विषय पर भी एक व्याख्यान आपने दिया था और तभी उस संस्था के सदस्य भी आप बना लिये गए थे।

इस बीच आन्ध्र, मैसूर, लखनऊ, नागपुर, प्रयाग आदि कितने ही विश्वविद्यालयों में दीक्षान्त-भाषण आपने दिए और एक से अधिक बार अखिल भारतीय शिक्षा-सम्मेलन के सभापति भी आप बनाए गए! इन विविध अवसरों पर आपने अपनी गंभीर विचारधारा के साथ-साथ अपनी अद्वितीय वक्तृत्व-शक्ति का भी ज्वलन्त परिचय दिया। वस्तुतः आपकी टक्कर के मँजे हुए वक्ता इस समय भारत ही क्या संसार भर में इने-गिने ही होंगे! तब महामना मालवीयजी के अवकाश ग्रहण कर लेने पर आपको काशी-हिन्दू-विश्वविद्यालय के वाइस-चांसलर (उप-कुलपति) का गौरवपूर्ण पद प्रदान किया गया, जिसे कई वर्ष तक सफलतापूर्वक आपने निभाया, जिस प्रकार कि इससे पहले प्रसिद्ध आन्ध्र-विश्वविद्यालय के वाइस-चांसलर का पदभार पाँच वर्ष तक आपने उठाया था! इस गहन-गंभीर भार से कुछ ही अरसा हुआ तब आपने अवकाश ग्रहण किया है और अब आपका कार्यक्षेत्र पुनः स्वदेश की सीमा-परिधि लाँघकर व्याप्त हो गया है अंतर्राष्ट्रीय आँगन में; क्योंकि पिछले दिनों प्रख्यात 'यूनेस्को' (युनाइटेड नेशन्स एजुकेशनल, सायण्टिफिक एण्ड कल्चरल आर्गेनाइज़ेशन) के एक सदस्य की हैसियत से आपको पुनः भारत के शांतिदूत के रूप में युद्ध-संघर्ष की भावना से मदान्ध संसार को अपने देश की आध्यात्मिक वाणी निनादित करने का विशिष्ट गौरव प्राप्त हुआ है। साथ ही साथ अपने जीवन-व्यापी शिक्षा-क्षेत्र संबंधी कार्य में भी आप अभी ज्यों-के-त्यों संलग्न हैं, जिसका प्रमाण है नवनिर्मित 'विश्वविद्यालय-सुधार-कमीशन' के प्रमुख के रूप में देशभर की युनिवर्सिटियों का दौरा कर हमारी उच्च शिक्षण-प्रणाली के भावी स्वरूप-निर्धारण-विषयक वह गहन-गंभीर कार्य, जिसे कि राष्ट्रीय सरकार द्वारा आग्रह करने पर आपने ग्रहण किया है।

यह हैं सर्वपल्ली राधाकृष्णन्—इस युग के हमारे प्रमुख ज्ञान-प्रहरी! हमारे आज के प्रधान दर्शनाचार्य तथा पश्चिम को पूर्व का आध्यात्मिक संदेश सुनाने-वाले विवेकानन्द-रामतीर्थ के बाद के हमारे प्रमुख सांस्कृतिक दूत! और क्या है उनका संदेश? यदि थोड़े में उसका सार हम यहाँ प्रस्तुत करना चाहें तो केवल इस एक वाक्य में उसका मर्म आ जाता है कि वह है 'आत्मवाद' का वह शान्ति-स्वस्ति-मूलक संदेश, जो कि उपनिषद्काल से भारत की अनवरत स्वरधारा में लगातार गूँजता आ रहा है! वह है सभी धर्मों में निहित सनातन सत्य का वह अजरामर संदेश, जिसका मूलमंत्र है 'समन्वय'—पूर्व और पश्चिम की एक-दूसरे से विभिन्न प्रतीत होनेवाली संस्कृतियों का समन्वय; दर्शन और धर्म की प्रायः एक-दूसरे से टकरानेवाली युगल स्रोतस्विनियों का समन्वय; एवं संक्षेप में, एक ही महान् परिवार के रूप में व्यक्ति और समाज, राष्ट्र और संसार तथा विविध वर्गों के पारस्परिक संघर्ष से मुक्त मानवमात्र का समन्वय, जो कि आज की इस संकटापन्न घड़ी में हमारी सबसे बड़ी आवश्यकता है! क्योंकि जैसा कि पश्चिम के एक प्रमुख तत्त्वचिंतक सी० ई० एम० जोड ने कहा है—'आधुनिक मानव यद्यपि हो गया है अत्यधिक सामर्थ्यवान् और उसने पक्षी की भाँति आकाश में उड़ना सीख लिया है तथा मछली की तरह सागर की लहरों से खेलने का भी सामर्थ्य प्राप्त कर लिया है, तथापि धरती पर किस प्रकार खड़ा होना चाहिए यह उसने अब तक नहीं सीखा!' इस धरती पर स्वाभाविक रूप से अपने पैर टिकाकर खड़े होने और मानवीय स्वधर्म की भूमिका पर पुनर्प्रतिष्ठित हो सच्चे पृथ्वीपुत्र बनने का यह आवश्यक पाठ सीखकर ही वह यथार्थतः शान्ति-सुख की उपलब्धि कर सकेगा! और यह कठिन पाठ उसे भला इस वृद्ध भारत से अधिक और कौन सिखा सकता है, जिसने कि श्रीकृष्ण, बुद्ध, शंकर और गांधी जैसे महामानवों को पैदा किया और उपनिषद् तथा गीता जैसे रत्नों का अनमोल उपहार जिसने संसार को दिया?

—— o ——